ALOCHANA APR-JUNE G.K.U.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079564

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

सम्पादक : नामवर सिंह

079564

P R
कि ३७ आ
१९६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

ार अफ्रीकी कविताएँ
प्रस्तुतकर्ता : विद्यानिवास मिश्र १

शब्द-अर्थ : भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि
विद्यानिवास मिश्र ४

अस्तित्ववाद और नई कविता
रामविलास शर्मा ७

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कुमार विमल २४

आज की कविता : कुछ मौलिक सवाल
रामदेव आचार्य ३४

दो कविताएँ शिवकुटी लाल वर्मा ४१

● **पुनर्मूल्यांकन**

विश्वविद्यालयों का कवि : प्रसाद
रमेशचन्द्र शाह ४२

मायकोव्स्की की तीन कविताएँ
रणजीत, नरेशकुमार ६१

● **भारतीय परिप्रेक्ष्य**

बंगला के आधुनिक शास्त्र-मुक्त आलोचक
इन्द्रनाथ चौधरी ६५

बंगला कहानी : विभाजन के बाद
इन्दुमती ओझा ६९

● **प्रासंगिकी**

समकालीन कविता : एक दृश्यालेख
अशोक वाजपेयी ७६

● **मूल्यांकन**

निराला की साहित्य साधना : तीन समीक्षाएँ
अमृतलाल नागर ८२
विष्णुकांत शास्त्री ८९
नेमिचन्द्र जैन ९५

सलीके से किस्सा कहने की दुर्लभ कला
विजयदेव नारायण साही १०२

'अतुकान्त' और निरर्थकता का कवि
प्रमोद सिनहा १०९

आदतन लिखते रहने की नियति
विष्णु खरे ११९

वर्ष १८ : नवांक ९, (पूर्णांक ४६) अप्रैल-जून १९६९, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००
शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० बी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

REFERENCE BOOK
TO BE ISSUED
CHECKED 1973

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' त्रैमासिक 'आलोचना' से संपृक्त एक नयी योजना का तुरन्त शुभारम्भ कर रहा है।

यह योजना है—'आलोचना पुस्तक-परिवार'।
पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं।

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—व्यक्तिगत खरीदार (इंडिवीजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा हैं, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर वे पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जायेगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रति मास या नियमित रूप से पुस्तकें मंगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी ख़ास रक़म की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

—यहां से काटिये—

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉज़िट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक.................. हस्ताक्षर......................

पूरा पता......................

....

पोस्ट......................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन......................

—यहां से काटिये—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केशव का आचार्यत्व

डॉ० विजयपाल सिंह

एम० एम०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। 'डी० लिट्' के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध में केशव की पूर्ववर्ती और समकालीन काव्य-परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय !

मूल्य : २०.००

अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना-ग्रन्थ

पाश्चात्य समीक्षा की रूपरेखा : डॉ० प्रतापनारायण टंडन	१२.००
बच्चन का परवर्ती काव्य : डॉ० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य : डॉ० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन	१५.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद : डॉ० देवेन्द्र कुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.५०
समीक्षा-शास्त्र : डॉ० दशरथ ओझा	८.००
तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
केशव सुधा : डॉ० विजयपाल सिंह	१०.००
केशव और उनका साहित्य : डॉ० विजयपालसिंह	१५.००
आज का भारतीय साहित्य : सं० साहित्य अकादेमी	८.००

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नेशनल' के उत्कृष्ट आलोचना-ग्रन्थ

आस्था के चरण	डॉ० नगेन्द्र	५०.००
रस-सिद्धान्त	,,	२५.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	,,	२०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	,,	१७.५०
देव और उनकी कविता	,,	१२.००
आलोचक की आस्था	,,	७.००
रीतिकाव्य की भूमिका	,,	५.५०
विचार और अनुभूति	,,	५.५०
विचार और विवेचन	,,	५.५०
विचार और विश्लेषण	,,	६.००
अनुसंधान और आलोचना	,,	४.००
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां	,,	५.५०
सियारामशरण गुप्त	,,	१०.००
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	,,	३.००
काव्य-बिम्ब	,,	४.००
चेतना के बिम्ब	,,	५.००
कूटकाव्य—एक अध्ययन	डॉ० रामधन शर्मा	१५.००
राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	३५.००
चिन्तन के क्षण	,, ,,	७.५०
समीक्षात्मक निबन्ध	,, ,,	१२.००
युगचारण दिनकर	डॉ० सावित्री सिन्हा	१२.००
तुला और तारे	,, ,,	६.००
ध्यान-सम्प्रदाय	डॉ० भरतसिंह उपाध्याय	१२.५०
छायावादोत्तर काव्य	प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद	१०.००
भक्तिकाव्य में रहस्यवाद	डॉ० रामनारायण पाण्डे	२५.००
हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध	डॉ० उदयभानुसिंह	१५.००
नाट्य-समीक्षा	डॉ० दशरथ ओझा	६.००
आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ	डॉ० निर्मला जैन	३०.००
रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र	डॉ० निर्मला जैन	३०.००
प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त	,, ,,	७.००
शरतचन्द्र—व्यक्ति और साहित्यकार	मन्मथनाथ गुप्त	६.००
गुप्तजी की काव्य-साधना	डॉ० उमाकान्त	१०.००
अज्ञेय का कथा-साहित्य	ओम प्रभाकर	६.५०
भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका	डॉ० फतहसिंह	७.५०
नाट्यकला	डॉ० रघुवंश	७.५०
खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना	डॉ० आशा गुप्ता	२०.००
हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण	महेन्द्र चतुर्वेदी	६.५०
समसामयिक हिन्दी साहित्य-उपलब्धियां	सं० मन्मथनाथ गुप्त	१३.५०
सौन्दर्य-तत्व और काव्य-सिद्धान्त	डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे	८.००
डॉ० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त	नारायणप्रसाद चौबे	८.००
नरेन्द्र शर्मा और उनका काव्य	लक्ष्मीनारायण शर्मा	६.००
प्रेमचन्द के नारी-पात्र	ओम अवस्थी	६.००
साहित्य-समीक्षा	मुद्राराक्षस	६.००
रामचरितमानस और साकेत	परमलाल गुप्त	७.००
जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	रघुबीरसरन झालानी	५.००
रंगमंच और नाटक की भूमिका	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१२.००
आज का हिन्दी साहित्य	प्रकाशचन्द्र गुप्त	१०.००
यशपाल की कहानी-कला	कुमारी अनुविग	२.५०
साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान	सं० डॉ० देवराज उपाध्याय	१०.००
हिन्दी साहित्य को कूर्मांचल की देन	डॉ० भगतसिंह	३०.००
देव ग्रन्थावली	डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय	२०.००
महिमभट्ट	डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	२५.००
हिन्दी समस्या-नाटक	डॉ० मान्धाता ओझा	२५.००
जयशंकर प्रसाद—वस्तु और कला	डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	३५.००
कुछ निबन्ध	डॉ० उमाकान्त	३.००
गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता	डॉ० महीपसिंह	३०.००
मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति	डॉ० मदनगोपाल गुप्त	३५.००
कहानी-स्वरूप और संवेदना	राजेन्द्र यादव	१५.००
हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना	डॉ० प्रेमस्वरूप	३५.००
ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास	प्रभुदयाल मीतल	३५.००
सन्त-साहित्य और साधना	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१४.००
कबीर-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० भगवतप्रसाद दुबे	१५.००
सांख्यकारिका	डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	१३.००
माखनलाल चतुर्वेदी—यात्रा पुरुष	सं० श्रीकान्त जोशी	३०.००
शृंगार-युग में संगीत-काव्य	हेम भटनागर	२५.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२।३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार अफ्रीकी कविताएँ

प्रस्तुतकर्ता : विद्यानिवास मिश्र

एक दिन

बेटे, एक दिन हम सब
खुले दिल आँखें भर
हँसते थे ठहाका मार,
पर अब,
महज दाँत निपोरते हैं
बर्फ़ की डालियों सरीखी दीठ
पीछे ढूँढ़ती परछाइयों में
कहीं खोयी राह ।
बेटे वह दिन गया
जब हाथ में हम हाथ लेते
परस्पर हृदय ही हम थाम्ह लेते
हम दायाँ हाथ अब भी मिलाते हैं,
मरे मन,
पर न जाने
बायाँ हाथ
खाली जेब में क्यों लपक जाता है ।
'यह घर तुम्हारा है, पुनः आना'
लोग कहते हैं
पहली बार आता है
और जब मैं चाहता आऊँ
धरू होकर, अगली बार
अगली बार आती नहीं
भिड़े मिलते द्वार ।
बेटे ज़िन्दगी में सीखा बहुत है,
सीखा है लगाना कई चेहरे
जैसे कि वह भी ऊपरी परेशान हो
धरू चेहरा,
दफ्तरी चेहरा
चेहरा राह चलते का,
मेहमान चेहरा
मेज़बान चेहरा
हर एक की मुस्कान की किस्में अलग हैं
पूर्व निश्चित हैं, तस्वीर की-सी टिकी भी हैं
और सीखी है दंत निपोरी
हँसी खाली
सीखी है हथमिलौवर
विना मन के
भँज गया हूँ विदा लेते कहूँ
'फिर मिलेंगे'
जब कि भीतर हो रहा हो
चलो छुट्टी मिली,
ढँग आ गया है
खुश न हूँ तो भी कहूँ
आपसे मिलकर मुझको खुशी है
ऊबकर भी मैं कहूँ—
बड़ी दिलचस्प बातें आपकी ।

बेटे, पर यह सब झूठ ।
विश्वास मानो,
मैं वही होना चाहता हूँ
जो था जब कि तेरी उम्र पर था
चाहता हूँ भूल जाऊँ
मुर्दादिली का यह सरोसामान
फिर से चाहता हूँ सीखना
कैसे हँसा जाता है,
क्योंकि अब मेरी हँसी
मुझी को आइने में दीखती है
सर्प के विषदन्त सी उघड़ी
उजासी ।

इसलिए बेटे मुझको दिखाओ
कसे हँसा जाता है
कैसे मैं स्वयं भी हँसा करता था
जबकि तेरी उम्र पर था ।

('गेब्रील ओकारा' की कविता के आधार पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीका की विनती

मैं तुम नहीं हूँ—
पर भला तुम मुझे क्यों
देने लगे मौक़ा
मैं मैं बना रहूँ
तुम हमेशा सोचते हो—
'यदि मैं तुम्हारी जगह होता'—
जब कि तुम यह जानते हो—
मैं तुम नहीं हूँ,
फिर भी तुम मुझे
मैं न रहने दे रहे।
तुम हमेशा मेरे मामलों में
दखल देते हो,
मानों ये मामल तुम्हारे हों
और तुम मैं हो गये हो।
बिल्कुल ग़लत है, बेवक़ूफ़ी है
तुम्हारा यह सोचना
मैं हो सकूँगा तुम
मैं तुम्हारी तरह
बोलूँगा, चलूँगा, सोचूँगा।
खुदा ने मुझको मैं बनाया
तुमको बनाया तुम
खुदा के वास्ते
मुझको मैं बने रहने की द छूट।

('रोलैण्ड तोम्बेकइ डेम्पटर' की कविता के आधार पर)

प्रणयगीत

तन की परछाईं मत मानो
प्रिय न मुझे दो
परछाईं की प्रीति।
परछाईं तो घुल जाती है
धुँधली सँझा के गेरू में
और तुम्हें मैं धारण करती
उजली ऊषा की लाली तक।
प्रिय मुझको तनिक न भाता
लाल मिर्च-सा तीखा प्यार
भीतर आग भड़क जाती है।
कभी बताओ शान्त हो सके
भूख हृदय की शोख प्यार से

प्रिय मुझको उपधान न मानो
केवल सोने का सुख साधन
दिन में मिलना भी हो
दुर्लभ
मुझे न ऐसा प्यार चाहिए।
यदि सचमुच ही प्यार तुम्हें है,
मुझको सपनों का दर्जा दो
सपने तेरे जीवन निशि में
सपने मेरी आशा दिन में।

('फ्लेवियेन रनइबो' की कविता के आधार पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विगत समिधा है
प्रस्तुत आग की,
भविष्यत्—
उस आग का भटका धुआँ है
जो कि बादलों से घिरे आकाश में
लुक जा छिपा है ।
तू सदय हो, मृदुल हो, प्रिय
शब्द ही स्मृति जाल बनते
स्मृतियाँ
मूर्ख भाइयों के अनधिकृत हाथ में औज़ार ।
विज्ञजन जब मौन हों,
तब जान लेना,
पढ़ लिया है हाथ यीशू का,
उन्होंने चेहरे में तथागत के ।
प्रिय सुमति की, मार्गदर्शन का!
सीख मत लो उस विज्ञजन की
मृदुल वाणी से
सीख लो उस आग से
जिसने कि उनकी मुखर वाणी को
मौन से संस्कृत किया है ।
वृष्टि मूसलधार
—हम तुम सो रहे थे
वासना के भार—
तड़ित की द्युति में दिपाती
सुमति के नवलेख
विज्ञजन ने
मूर्ख भाण्डों के रहे ही दास ।

('क्वेसी ब्रेड' की कविता के आधार पर)

•

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द-अर्थ : भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि

विद्यानिवास मिश्र

भाषाशास्त्र के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि न केवल भारत के लिए बल्कि समस्त विश्व के लिए महत्त्व रखती है। जिन सिद्धान्तों के बारे में आज भी असंदिग्ध विचार आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन में उपलब्ध नहीं हैं उन्हीं का प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्र में बहुत ही स्पष्ट और तर्कशुद्ध प्रतिपादन मिलता है।

भाषा के सम्बन्ध में मूलभूत भारतीय धारणाएं संक्षेप में इस प्रकार परिगणित की जा सकती हैं—

(१) प्रत्येक ज्ञान के पूर्व भाषा का व्यापार है। समस्त ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध-सा हो, इस प्रकार प्रतिभासित होता है।

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते ।" (वाक्यपदीय)

यह सिद्धान्त आधुनिक चिन्तक हृचेल्म् स्लेफ के इस सिद्धान्त से मिलता है—"भाषागत रूप के लिए प्रतीयमान वस्तु आवश्यक शर्त नहीं है, बल्कि वस्तु के लिए ही भाषागत रूप आवश्यक शर्त है।"

(२) भाषाशास्त्र की दृष्टि में भाषागत विवरण का प्रामाण्य स्वयं भाषा में ही निहित है, भाषा के बाहर नहीं, क्योंकि भाषा ही भाषाबोध तथा भाषाप्रयोग के लिए एकमात्र वास्तविकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा का प्रामाण्य भाषा से बहिर्भूत परिस्थितियों में ढूंढा जाता था या भाषा से विच्छिन्न वैयक्तिक, मानसिक व्यापार में, परन्तु आज अर्थ के स्वरूप के निर्धारण के सम्बन्ध में यह विचारधारा पश्चिम में दबे स्वर में मुखर होने लगी है कि भाषा व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, एक समुदाय के द्वारा स्वीकृत मूल्य है, इसलिए व्यक्ति के लिए मानसिक व्यापार में भाषा का प्रामाण्य ढूंढना उचित नहीं है, साथ ही समुदाय की परिस्थितियाँ भाषा के व्यवहार के लिए केवल माँग पेश करती हैं, भाषा का नियंत्रण भाषा में निहित क्षमता ही कर सकती है।

(३) भाषा किसी भी विचार की सत्यता या तर्कसंगति की अपेक्षा नहीं रखती, नैयायिक की दृष्टि में भले ही यह कहना तर्कसंगत न लगे कि "वह आग से सींचता है, किन्तु भाषाशास्त्री की दृष्टि में इसका महत्त्व नहीं कि विचार स्वयं में तर्कसंगत है कि नहीं, परन्तु बोध्यमान अर्थ असंगत नहीं होना चाहिए और यदि बोध्यमान संगत न होता तो 'वह आग से सींचता है,' इस वाक्य की अर्थप्रतीति न होती और अर्थप्रतीति न होने के कारण यह प्रतिप्रश्न भाषा में सम्भव न होता कि आग को तुम सिंचन व्यापार का साधन कैसे मान सकते हो (नागेश—परमलघुमञ्जूषा—योग्यताविचार) योग्यता इस प्रकार भाषाशास्त्री की दृष्टि में अर्थबोध के लिए अपरिहार्य नहीं है। आधुनिक विचारक लास्लो एन्ताल ने अपने 'नोट्स ऑन ट्रुथ मीनिंग ऐण्ड सिनानिमिटी' शीर्षक लेख में इसी प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि "जहाँ तर्कशास्त्री सत्यता और अर्थ दोनों की समान रूप से अपेक्षा रखता है, वहाँ भाषाशास्त्री सत्यता और योग्यता में कोई दिलचस्पी रखे बिना केवल अर्थ से प्रयोजन रखता है।" लिप्स्ची ने अपने 'प्राब्लेम्स ऑफ़ सिमैंण्टिक्स' शीर्षक लेख में इसी सिद्धान्त का समर्थन इन शब्दों में किया है, "सत्यता और असत्यता के प्रश्न दार्शनिक अर्धचिन्तन के लिए ही संगति रखते हैं, भाषाशास्त्री अर्थ के प्रश्न को इन प्रश्नों से स्वतंत्र रूप में अलग करके देखता है।"

(४) भाषा की संघटना (और अर्थ की संघटना इसका अविभाज्य अंग है) प्रयोग और मात्र प्रयोग पर आधृत है, इसीलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध सम्बन्ध है, पूर्वनिश्चित सम्बन्ध है। किसी वक्ता की यदृच्छा पर अवलंबित नहीं है। 'विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः' (वाक्यपदीय, काण्ड २)। व्याडि के संग्रह में इसी को दूसरे रूप में कहा गया है—कि शब्दार्थ सम्बन्ध का कोई एक स्रष्टा नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः'। महाभाष्यकार पतञ्जलि भी इसीलिए कहते हैं कि अर्थवान् का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है—'नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्ध' और इस सम्बन्ध का प्रामाण्य लोक के द्वारा है। अगर यह सम्बन्ध पूर्वसिद्ध न होता तो ज़मीन पर घड़ा और मुँह में घड़ा इस शब्द का उच्चारण दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं, पर 'घड़ा' शब्द उच्चारण करने से उसी अर्थ की प्रतीति होती है, जो घड़ा नामक वस्तु के लिए वक्ता और श्रोता का एक ही अभिप्राय द्योतित कर देता है। सेरेत्सेमा ने 'ए स्टडी ऑफ़ ग्लासमेटिक्स' में इसी सिद्धान्त को इस रूप में रखा है कि किसी भी शब्द का आत्यन्तिक विच्छेद की अवस्था में कोई अर्थ नहीं होता है, किसी सन्दर्भ में ही अर्थ को उद्भूत करता है और यह सन्दर्भ भाषाप्रयोगगत सन्दर्भ ही हो सकता है। बाहरी आधार पर भी अर्थ का व्यवहार होता है किन्तु पाणिनीय भाषा-चिन्तन में दो प्रकार के अर्थों में स्पष्ट विभेद किया है—बहिर्भूत अर्थ और आन्तरिक वाच्यार्थ। बहिर्भूत अर्थ के आधार पर भाषा का विवेचन सम्भव नहीं है, इसीलिए पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के १-२-५६ सूत्र में यह प्रतिपादित किया है कि समास के निर्धारण में बहिर्भूत अर्थ अवच्छेदक नहीं हो सकता।

(५) चौथे सिद्धान्त से ही उद्भूत है कि भाषागत अर्थ बाह्य अर्थ या प्रतीयमान वस्तु से तथा उस अर्थ के प्रत्यय से एकदम पृथक् है। वाक्यपदीयकार ने स्पष्ट रूप में कहा है कि शब्द के उच्चारण से तीन विभिन्न वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—शब्द के प्रयोग करने वाले और सुनने वाले को उस शब्द का ज्ञान, उस शब्द का बाह्य अर्थ तथा उसका स्वगत अर्थ। तीनों चीजों से शब्द का सम्बन्ध अलग-अलग ज्ञान के क्षेत्र में है। भाषाशास्त्र केवल शब्द और उसके स्वगत अर्थ के सम्बन्ध तक अपने को सीमित रखता है।

"ज्ञानं प्रयोक्तुं बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः।"

(वाक्यपदीय, काण्ड ३)

एन्ताल ने अपने ग्रन्थ 'क्वेश्चन्स ऑफ़ मीनिंग' में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार में किया है, जहाँ कि उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि अर्थ और प्रतीयमान वस्तु एक नहीं है और न अर्थ और अर्थबोध ही एक है। अर्थ वस्तुतः भाषा समुदाय विशेष में, संकेत विशेष में, प्रयोग में अभिव्यक्त होने वाली एक वस्तुनिष्ठ इकाई है। यह इकाई यदि वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होती तो प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता, किन्तु चूँकि समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति को अर्थ की प्रतीति एक-सी होती है इसलिए भाषागत अर्थ आत्मनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ रूप में ही सम्भव है। अर्थ और अर्थ के प्रत्यय में न केवल स्वरूप-भेद है अपितु क्रम-भेद भी है, क्योंकि अर्थ का बोध और अर्थप्रत्यय का बोध—दोनों दो क्षणों में होते हैं। दूसरे क्षण को ही मीमांसाशास्त्र में ज्ञातता और न्यायशास्त्र में अनुव्यवसाय कहा गया है।

भारतीय चिन्तन में अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ा ही गहरा मतभेद है। अर्थ जाति है या व्यक्ति, यथार्थ है या अयथार्थ, आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ, भाव रूप है या अभाव रूप, इन सभी विकल्पों के बारे में विभिन्न दर्शनों में गहरा मतभेद है। प्रत्येक दर्शन ने इस विवाद में अपने-अपने परमार्थ चिन्तन की दृष्टि से अपने विचार रखे हैं। भाषाशास्त्र भी भारत में दर्शन के रूप में विकसित होने के लिए बाध्य हुआ, इसलिए उसे इस विवाद में पड़ना पड़ा, परन्तु उसने वस्तुरूप बाह्य अर्थ की अस्पष्टता और अनिश्चितता का समाधान यह कहकर कर लिया कि बाह्य अर्थ का भाषागत समानान्तर अर्थ वचन, लिंग और अन्य सन्दर्भों के कारण सुनिश्चित है और बाह्य अर्थ जाति हो या व्यक्ति, या दोनों हो, उससे भाषागत अर्थ का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, इसलिए हमें दोनों अर्थ स्वीकार हैं।

भाषाशास्त्र ने, विशेष रूप से इसके पाणिनीय सम्प्रदाय ने, अपने मान-स्तर और प्रामाण्य का स्वतन्त्र ढाँचा खड़ा किया, ताकि भाषा की स्वयंपूर्ण वास्तविकता के बारे में कोई सन्देह न किया जा सके। अपने को दर्शन-रूप में परिणत करने के इस दबाव के कारण ही भर्तृहरि ने 'स्फ़ोट' के सिद्धान्त को सामने रखा और प्रतिपादित किया कि वस्तुतः अखंड वाक्यार्थ ही एकमात्र वास्तविक इकाई है, पद और वर्ण भाषा की दृष्टि से नहीं, भाषाशास्त्र की दृष्टि में उपयोगी साधन के रूप में आरोपित इकाइयाँ हैं। वस्तुतः भाषा की वास्तविकता की दो उपाधियाँ हैं—उसका बाह्य अर्थ और उसका ध्वनिसमुदाय।

'असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा सत्यनिबन्धनम्"

(वाक्यपदीय, काण्ड २)

यह वास्तविकता तर्क से बाधित कभी नहीं होती क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तर्क से परे है। यह भाषा की लोकप्रसिद्धता में अन्तर्निहित है। दूसरे शब्दों में समुदाय विशेष द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति में अन्तर्निहित है। समुदाय की जीवन-पद्धति तर्क से बाधित नहीं होती, वह समुदाय की अस्वीकृति से ही बाधित हो सकती है—

"धर्मस्य-चाव्यवच्छिन्ना पन्थानो ये व्यवस्थिता;
न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण बाध्यते।"

(वाक्यपदीय, काण्ड १)

भाषा की वास्तविकता ऐन्द्रिय प्रतीति या सादृश्य-प्रतीति या धारणात्मक प्रतीति के रूप में गम्य नहीं होती। यह वस्तु जगत् के भाषात्मक अमूर्त्तीकरण के रूप में गम्य होती है। स्फोट इसी प्रकार का अमूर्त्तीकरण है। यह अमूर्त्तीकरण इसीलिए वस्तुनिष्ठ है, क्योंकि उसके प्रतिभास का साझीदार समुदाय-विशेष का प्रत्येक वक्ता-श्रोता है। इस अमूर्त्तीकरण के प्रत्यक्ष के लिए एक स्वतन्त्र प्रत्ययप्रक्रिया की स्थापना इसलिए करनी पड़ी है। यह प्रक्रिया ही 'प्रतिभा' है। 'प्रतिभा', जोकि भाषा के निरन्तर प्रयोग और तत्प्रयोग-जन्य संस्कार के साथ समवेत है। श्री गौरीनाथ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'फिलासफी ऑफ़ वर्ड एण्ड मीनिंग' में भारतीय भाषाशास्त्र में वर्णित प्रतिभा के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया है—

"प्रतिभा अपरोक्ष, सुव्यक्त और अद्वितीय होती है। यह प्रकाशस्वरूप है, मात्र बुद्धिविमर्श स्वरूप नहीं। इसी कारण प्रकाश के स्वतः स्फूर्त्त आलोक में किसी भी उक्ति का अर्थ विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यह प्रकाश शब्द या उसके संस्कार के द्वारा साक्षात् उद्भूत होता है।"

स्फोट सिद्धान्त दो उद्देश्यों की सिद्धि करता है—एक तो यह भाषागत अनुभव के समानान्तर जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व को महत्त्व देता है ताकि ऐन्द्रिय जगत् के ऊपर अवलम्बित होने की आवश्यकता न रह जाए और दूसरे भाषाशास्त्र की दूसरी इकाइयों की कल्पना को प्रमाणित करने के लिए आधार देता है, क्योंकि वे स्फोट से ही उद्भासित होकर भाषा की संरचना का सम्बन्ध स्पष्ट कर सकती हैं।

भाषाशास्त्र के पाणिनीय सम्प्रदाय ने संघटनात्मक दृष्टि का निर्वाह यदि इतनी सफलता से किया, उसका कारण यही था कि यह सम्प्रदाय यह दृढ़ मत रखता रहा है कि भाषा समुदाय की उद्भावना है, इसलिए इसे वस्तुनिष्ठ होना चाहिए, साथ ही भाषागत व्यापार जगत् को वाह्य जगत् के ऊपर अपने प्रामाण्य के लिए अवलम्बित नहीं रहना चाहिए, यद्यपि वह स्वयं चारों ओर घिरे हुए जगत् का एक अमूर्त्त रूप है। यदि वे ऐसा मान के रखते तो बाह्य जगत् की विविधताओं के आनन्त्यदोष से तथा आत्मनिष्ठता से जन्य धूमिलता और असिद्धता के दोष से भाषागत अर्थ को मुक्त न कर पाते।

भारतीय भाषा दृष्टि में अर्थ इसलिए अमूर्त्त है कि इसे भाषा के व्यवहार की सर्वग्राह्यता के कारण मूर्त्त आकार दिया नहीं जा सकता। भाषागत अर्थ मूर्त्त है क्योंकि वह समान रूप से प्रत्येक ऐसे वक्ता द्वारा ग्राह्य है जिसे कि भाषा व्यापार के निरन्तर अभ्यास से भाषागत जागरूकता आ गई। इसी दृष्टि का उन्नयन भारतीय साहित्य-शास्त्र ने रस अनुभव के स्वतन्त्र धरातल के निर्माण के रूप में किया। अनुभव के इस धरातल पर इसीलिए समस्त वाह्य जीवन के अनुभव साधारणीकृत रूप में ही प्रस्तुत होते हैं और व्यक्ति की सीमाओं का परिगलन हो जाता है। भाषाशास्त्र की ही दृष्टि ने साहित्य-शास्त्र के मूल्य को शाश्वत, देशकाल-निरपेक्ष और स्वयं सापेक्ष आधार प्रस्तुत करने के लिए प्रेरणा दी है। इस दृष्टि का प्रयोग आज के विश्वजनीन चिन्तन में भी इसीलिए और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है कि यह दृष्टि आज की अमूर्त्तवादी चिन्तन-पद्धति के अनुरूप है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद और नई कविता

रामविलास शर्मा

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिन विचारकों ने हेगल के दर्शन का विरोध किया, उनमें डेनमार्क के धर्मचिन्तक किरके गार्ड भी थे। एंगेल्स ने 'ऐंटी-डूयरिंग' में हेगल के युगान्तरकारी महत्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि हेगल ने पहली बार प्राकृतिक, ऐतिहासिक और वैचारिक जगत् को एक गतिशील, परिवर्तनशील और विकासमान क्रम के रूप में प्रस्तुत किया। अब मानवजाति का इतिहास हिंसात्मक कृत्यों का निरर्थक समूह न रह गया, मनुष्य का परिपक्व विवेक जिसकी भर्त्सना करता, वरन् वह मानवता के ही विकास का क्रम सिद्ध हुआ।

हेगल ने मनुष्य की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन किया, समाज के अन्तर्विरोधों का विश्लेषण किया, सामन्ती रूढ़ियों और धार्मिक अन्धविश्वासों की आलोचना की। जर्मनी में सामन्ती व्यवस्था की समाप्ति और पूंजीवादी व्यवस्था के अभ्युदय की मिलन-रेखा पर स्थित है हेगल का दर्शन। वह फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समर्थक थे। उनके चिन्तन की सीमाएँ स्पष्ट करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने उनकी विचारधारा के क्रान्तिकारी तत्त्वों को विकसित किया।

किरके गार्ड उल्टी दिशा में चले। उनका कहना था कि मानव-इतिहास और मानव-चिन्तन उस विकासक्रम से संबद्ध नहीं हैं जिसकी व्याख्या हेगल ने की थी वरन् वे संबद्ध हैं मनुष्य के व्यक्तिगत निर्णयों से। केवल व्यक्ति सत्य है; उसकी उलझनें तथ्यों की छानबीन से या तथ्यों के बारे में हमारे सोचने-विचारने के जो नियम हैं उनसे दूर नहीं होतीं। मनुष्य के मन में जो संघर्ष और द्वन्द्व फूटते हैं, जो वेदना वह सहता है, उसी से वह निर्णयों तक पहुँचता है। भय और त्रास से हमें बोध होता है कि अस्तित्व क्या है और मृत्यु क्या हो सकती है। अपराध और पश्चात्ताप की भावनाओं से हमें ज्ञान प्राप्त होता है कि नैतिक आधार क्या है और हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। वेदना से व्याकुल होकर हम ऐसे संसार की आकांक्षा करते हैं जो सोद्देश्य और व्यवस्थित हो। अनिश्चय की स्थिति में जब मन दुखी होता है, तब हमें ज्ञात होता है कि ईश्वर क्या है। किरके गार्ड के अनुसार हमें अपने अस्तित्व की यथार्थता का बोध अपने भीतर से होता है; सत्य हमेशा आत्मगत होता है, वस्तुगत नहीं।

किरके गार्ड ने हेगल के चिन्तन की सीमाओं की आलोचना करके उसके क्रान्तिकारी तत्त्व को विकसित नहीं किया; यह कार्य मार्क्स और एंगेल्स ने किया। किरके गार्ड ने वस्तु-जगत् से ही मुँह मोड़ लिया, ज्ञान की वस्तुगत कसौटी से ही इन्कार किया, क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तन जैसे कामों से उन्हें कोई सरोकार न था। हेगल ने विचारों की सत्ता सर्वोपरि मानी थी, किन्तु समाज की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण किया था; किरके गार्ड भौतिकवाद की छाया से भी दूर थे, वह हेगल से भी बढ़कर 'आइडियलिस्ट' थे।

१८५५ में किरके गार्ड का देहान्त हुआ। साठ-सत्तर साल तक किसी ने विशेष ध्यान न दिया कि किरके गार्ड कौन हैं और क्या लिख गये हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद पराजित जर्मनी में एक ओर साम्यवादी नेतृत्व में क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रबल हुआ, दूसरी ओर पूंजीवाद अपने आन्तरिक संकट से उबरने में असमर्थ होकर क्रमशः फासिस्ट तानाशाही की ओर बढ़ा। इन दोनों के बीच, निराशा और पराजय से अभिभूत, जर्मन बुद्धिजीवी, एक नये दर्शन की तलाश में, किरके गार्ड के पास जा पहुँचे। अस्तित्ववाद ने नया जीवन पाया।

जर्मन दार्शनिक कार्ल यास्पर्स ने सिद्ध किया कि बड़े-बड़े कल-कारखानों वाली वर्तमान सभ्यता एक रोग है। मनुष्य जितना ही विचारों को वस्तुगत कसौटी पर परखता रहा है, उतना ही मानव-अस्तित्व की वास्तविक विशेषता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वह दूर होता गया है। चिन्तन की यांत्रिक और वस्तुगत व्यवस्थाओं ने मानव-मन को कुचल डाला है। मनुष्य अपना बाह्य जीवन देखकर समझता है कि वह प्रगति कर रहा है; वास्तव में वह अपनी मूल आंतरिक शक्ति का नाश कर रहा है। मनुष्य के लिए दो ही रास्ते हैं—या तो घमंड में आकर वह ईश्वर की सत्ता से इन्कार करे या अपना दुखी मन उसे समर्पित कर दे।

कार्ल यास्पर्स के समकालीन विचारक मार्टिन हाइडेगर भी जर्मन थे और उन्हीं के समान वस्तुगत ज्ञान से इन्कार करते थे। इनका सिद्धान्त था कि मनुष्य जो कुछ देखता-सुनता है, वह वस्तुगत ज्ञान नहीं होता, उसकी इच्छा से प्रेरित वह आत्मगत ज्ञान होता है। किसी वस्तु को हम किस रूप में देखें, इसका निश्चय मन पहले ही कर लेता है। मनुष्य जिस संसार में जन्म लेता है, उसे वस्तुगत रूप से जान नहीं सकता; वह स्वयं को रूपों के मायालोक में खोया हुआ पाता है। यह मायालोक निरर्थक और निरुद्देश्य है किन्तु इसी में मनुष्य को जीना है; जीने के इस दायित्व से वह घुट-घुटकर रह जाता है। उसके लिए आवश्यक है कि वह इस सत्य से साक्षात्कार करे कि यह संसार निरुद्देश्य और निरर्थक है; वह स्वयं उद्देश्य निश्चित करके जीवन को सार्थक कर सकता है, निरर्थक बाह्य संसार को एक अर्थ दे सकता है। इस पद्धति से ही उसे अपने अस्तित्व का बोध हो सकता है, किन्तु इस प्रकार अपनी ओर से उद्देश्य निश्चित करना बहुत कम लोगों के लिए संभव होता है। अधिकांश जन दूसरों के गढ़े हुए मंत्र जपते हैं; तरह-तरह के विचारों से मन बहलाते हैं, किन्तु उनमें स्वयं अपना उद्देश्य निश्चित करने की क्षमता नहीं होती। मनुष्य के मन में यह भय विद्यमान रहता है कि उसे एक दिन मरना है। रोज़मर्रा के कामों से चिपके रहकर, अपनी व्यस्तता से, इस भय को हम दूर रखना चाहते हैं। किन्तु मन इस तरह के बहलावे स्वीकार नहीं करता; उसमें यह अपराध-भावना उत्पन्न होती है कि वह सत्य से आँखें चुराता है। इसलिए मनुष्य को दृढ़ता से मृत्यु भय से आँखें चार करनी चाहिए।

किरके गार्ड और यास्पर्स ईश्वर में विश्वास करते थे, हाइडेगर ने अपनी व्यवस्था में ईश्वर को जगह न दी थी। तीनों में सामान्य तत्त्व यह था कि वे वस्तुगत ज्ञान को अमान्य करते थे, केवल आत्मगत ज्ञान को स्वीकार करते थे। किरके गार्ड के बाद यास्पर्स और हाइडेगर अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक हुए। पराजित जर्मनी के बुद्धिजीवियों में इन्होंने अस्तित्ववाद को लोकप्रिय बनाया।

जर्मनी में हिटलर के अभ्युदय के बाद फ्रांस में पूंजी-पतियों और राजनीतिज्ञों का एक दल फासिस्टवाद का समर्थक हो गया; दूसरा दल ब्रिटिश प्रधान मंत्री चेम्बरलेन की तरह इस ताक में रहा कि हिटलर से समझौता कर ले और उसे रूस से लड़ने को प्रेरित करे। बुद्धिजीवियों में कुछ लोग कम्युनिस्ट पार्टी के साथ फासिस्ट-विरोधी अभियान में शामिल हुए; कुछ फासिस्टवाद के समर्थक हुए। एक दल अस्तित्ववाद के प्रभाव में आया। इसके नेता थे सार्त्र। फ्रांस पर हिटलर के आक्रमण से सालभर पहले सार्त्र का उपन्यास 'उवकाई' (ला नौसे) छपा। युद्ध के दौरान उनका एक दार्शनिक ग्रंथ 'अस्तित्व और शून्य' (लेत्र ए ल ने आँ) प्रकाशित हुआ।

यूरोप के जिन देशों पर विजय पाने में हिटलर को सबसे ज़्यादा आसानी हुई, उनमें पहला नम्बर है फ्रांस का। वहाँ का मध्यवर्ग जिस मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त था, उसका एक रूप था---अस्तित्ववाद। ज्ञान की वस्तुगत कसौटी को अस्वीकार करने के अलावा सार्त्र ने मानव-सम्बन्धों को केवल परस्पर संघर्ष के सम्बन्ध माना। प्रेम करने का मतलब है या तो दूसरे के अनुकूल बनकर अपनी स्वतन्त्रता खोना या दूसरे को अपने अनुकूल बनाकर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना। स्वपीड़न या परपीड़न---इनके अतिरिक्त प्रेम की अन्य परिणति नहीं।

युद्ध के बाद फ्रांस में अस्तित्ववाद का प्रभाव और भी फैला। बुद्धिजीवियों का एक दल पूंजीवादी संकट से उबरने के लिए एक ही रास्ता देखता था—व्यापक सामाजिक परिवर्तन द्वारा एक नई व्यवस्था कायम हो। दूसरा दल कहता था—इस तरह के परिवर्तन से कुछ न होगा, असली चीज़ है, निरर्थक संसार में अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करना। १९४६ में सार्त्र ने एक भाषण दिया जो पुस्तक रूप में छपा "अस्तित्ववाद मानववाद है।" इसमें उन्होंने उन लोगों को उत्तर दिया जो अस्तित्ववाद को मानवता का विरोधी मानते थे।

सार्त्र का कहना था कि मनुष्य जब पैदा होता है तब वह तुरंत मानवीयता प्राप्त नहीं कर लेता; वह मानवीयता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जित करता है, स्वतंत्र इच्छा से उद्देश्य निश्चित करके। मानवीयता नाम की कोई ईश्वर-निर्मित वस्तु नहीं है; ईश्वर-विहीन संसार में मनुष्य अपनी मानवीयता स्वयं गढ़ता है। वह जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है तब उसके द्वारा अपना हित ही नहीं करता वरन् उद्देश्य का निश्चय मानव मात्र के लिए हितकर होता है। अपने इस विराट् दायित्व-बोध के कारण ही उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है। मनुष्य के आत्मगत ज्ञान के अलावा मूल्य-निर्धारण की और कोई कसौटी नहीं है। मनुष्य संसार में अकेला है; अपने अलावा वह किसी पर निर्भर नहीं हो सकता। उसे अपना भाग्य स्वयं निर्मित करना है। मनुष्य की यह नियति है कि वह अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे। उद्देश्य से प्रतिबद्ध होना आवश्यक है, प्रतिबद्ध न होकर वह अपने दायित्व से बचता है। भविष्य में श्रमिक-वर्ग की विजय होगी, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। मनुष्य जैसा निर्णय करेंगे, सामाजिक परिस्थिति वैसी ही होगी। मनुष्य का मन पैतृक संस्कारों या सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, यह कहकर हम अपनी स्वतन्त्रता से बच नहीं सकते। मनुष्य का आत्मसम्मान इस बात में है कि वह वस्तु नहीं है। भौतिकवाद के लिए मनुष्य भी एक वस्तु है; अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरितार्थ करके अपना निर्माण स्वयं करता है।

दर्शन और साहित्य—दोनों में अस्तित्ववाद एक हानिकर और अवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। कारण इस प्रकार हैं।

मनुष्य अपना निर्माण स्वयं करे, अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे—इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान होना चाहिए और जिन परिस्थितियों में उसे अपना उद्देश्य चरितार्थ करना है, उनका सही ज्ञान होना चाहिए। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान न हो, तो अपने मन में वह अपने उद्देश्य को चाहे जितना सही समझे, वह उसे ठीक-ठीक जीवन में चरितार्थ कभी न कर पायेगा। आधुनिक मनोविज्ञान की जो सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, वह यह कि मनुष्य के चिन्तन के अपने वस्तुगत नियम हैं जो अक्सर उसकी इच्छाओं से मेल नहीं खाते। अपने कर्म के लिए वह जो तर्क ढूंढ़ निकालता है, उनकी जड़ में कभी-कभी उन इच्छाओं की प्रेरणा होती है, जिन्हें वह स्वयं नहीं जानता। विवेक और इच्छाओं का द्वंद्व उसकी चेतना की गतिशीलता और विकास का एक कारण है। मनुष्य उतना विवेकशील प्राणी नहीं है, जितना अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के अनेक विचारक समझते थे। फ्रान्स में सामन्तवाद के पतन और पूंजीवाद के अभ्युदय-काल में लोगों ने शुद्ध विवेक को देवता बनाकर पूजना शुरू कर दिया था। शुद्ध विवेक की देवता-रूप में प्रतिष्ठा अस्तित्ववाद में बहुत-कुछ बनी हुई है। अन्तर इतना है कि पहले जहाँ यह शुद्ध विवेक बहुजन-सम्मत था, वहाँ अब वह व्यक्ति-सम्मत रह गया है।

परिस्थितियों का सही ज्ञान न होगा तो उद्देश्य चाहे जितना मानववादी हो, उसे कार्य रूप में परिणत करने का फल मनुष्य की इच्छा के विपरीत होगा। कोई भी अस्तित्ववादी शून्य में अपना निर्णय नहीं कर सकता, शून्य में अपनी मानवीयता नहीं गढ़ सकता। सामाजिक परिस्थितियाँ स्थिर न होकर गतिशील हैं; उनकी परस्पर संबद्धता को, उनके अन्तर्विरोध और एकता को, उनकी गतिशीलता और विकास—अथवा ह्रास—को पहचानने के विज्ञान का नाम ऐतिहासिक भौतिकवाद है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से भिन्न, फिर भी जुड़ी हुई, परस्पर निर्भर, अन्योन्याश्रित दो इकाइयाँ हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। परिस्थितियाँ गतिशील हैं तो व्यक्ति की चेतना स्थिर नहीं है। अपने कर्ममय जीवन से मनुष्य अपनी चेतना का उत्तरोत्तर विकास करता है, परिस्थितयों को बदलता है, बदलती हुई परिस्थितियों से स्वयं प्रभावित होता है। जो दर्शन मनुष्य की चेतना को विकासमान नहीं मानता है, वह जड़ है। जो विचारधारा व्यक्ति और समाज की परस्पर-सम्बद्धता को स्वीकार नहीं करती, वह एकांगी है।

मनुष्य कर्म करने में केवल सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र है, निरपेक्ष रूप से सृजनशील का प्रदर्शन करने वाला प्रजापति वह नहीं है। स्वयंभू न होने से वह अपना स्रष्टा आप नहीं है। जान में या अनजान में दूसरों ने उसे पैदा किया है; उसकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता की यह सबसे बड़ी सीमा है। जन्म लेते समय उसकी आत्मा अगोचर ब्रह्म की तरह निर्विकार नहीं होती। वह अपने दैहिक-मानसिक विकास की क्षमता बहुत-कुछ अपने साथ लाता है; उसके व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ उसके साथ होती हैं। पैदा हुआ है दो के मिलने से, लेकिन समझता है अपने को एकमेवाद्वितीयम्! जिस समाज में वह रहता है, उससे विचारों के आदान-प्रदान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम—भाषा—सीखता है; समाज की सांस्कृतिक स्थिति जैसी हो, उसी से विचार करना, संसार से अपने सम्बन्ध पहचानना सीखता है। इस समाज को उसने नहीं रचा, भाषा का निर्माण उसने नहीं किया, इसीलिए वह परम्परा से जुड़ा हुआ है। न भाषा स्थिर है, न समाज; इनके परिवर्तन और विकास में मनुष्य का व्यक्तिगत योग होता है, इसलिए वह परम्परा से विच्छिन्न भी है। व्यक्ति और परम्परा का यही द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है।

पुराने यान्त्रिक भौतिकवादी समझते थे कि संसार मशीन की तरह है। एक बार ब्रह्म ने उसमें चाभी भर दी, उसके बाद घड़ी अपने-आप चलती रही। डारविन ने ब्रह्म को खारिज कर दिया लेकिन ब्रह्म की जगह अपना विकासवाद प्रतिष्ठित किया। संसार अब भी मशीन की तरह था; परिवेश का ज्ञान प्राप्त कर लीजिए, व्यक्ति उसकी उपज है, उसका ज्ञान अपने-आप हो जाएगा। मनुष्य अपनी नियति से बँधा हुआ है जिसकी यांत्रिक गति से एक इंच इधर-उधर हटना उसके लिए असंभव हैं।

साहित्य में इस तरह की यांत्रिक भौतिकवादी धारणाओं का प्रतिफलन था—'नेचुरलिज़्म' (प्रकृतिवाद)। एमिल ज़ोला और अनातोल फ्रान्स अपने समय के प्रकृतिवादी लेखक किसी हद तक क्रान्तिकारी थे। रूस में तोलस्तोय और गोर्की ने यथार्थवाद विकसित किया जो प्रकृतिवाद से अधिक समर्थ और प्रभावशाली था। अस्तित्ववाद पुराने यांत्रिक भौतिकवाद और प्रकृतिवाद के विरुद्ध, दर्शन और साहित्य में घटित होने वाली, एक प्रतिक्रिया है, किन्तु वह जिनके विरुद्ध प्रतिक्रिया है, उन दोनों से अधिक एकांगी है। मार्क्सवाद व्यक्ति और समाज, स्वेच्छित कार्य और स्वेच्छातीत परिवेश, अहंगत विवेक और वस्तुगत परिस्थिति—इनका द्वंद्वात्मक सम्बन्ध मानता है, एक को काटकर दूसरे की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नहीं करता। मानव-चेतना भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है, निश्चित नहीं होती। इसीलिए ग़ैर-श्रमिक वर्ग में उत्पन्न होकर भी मार्क्स और एंगेल्स श्रमिक वर्ग के नेता बने।

अस्तित्ववादी विचारक मूल्यों की बात करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है, तब वह निर्णय मूल्यगत होता है। किन्तु क्या मूल्यवान है, क्या मूल्यहीन है, यह तै करने का सवाल तभी उठता है, जब किसी तरह की मूल्य-सम्बन्धी धारणा पहले से प्रचलित होती है और यह धारणा समाजगत या वर्गगत होती है। अस्तित्ववादी लेखक समझता है कि वह अकेले, अपने तई कोई निर्णय कर रहा है, किन्तु देखने में आता है कि वह अकेला नहीं है, उस जैसे दर्जनों लेखक वैसा ही निर्णय करते चले जा रहे हैं। एक ने निर्णय किया कि दुनिया लिजलिजी है तो दस और बोले, हाँ, लिजलिजी है। एक ने सलीब उठाया तो दर्जनों कवि सलीब ढोते हुए चलने लगे। और इनमें हरएक समझता है कि उसका निर्णय पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। किन्तु जब पराजयवादी भावनाएँ एक नहीं दर्जनों लेखकों में एक साथ प्रकट हों, तब मानना चाहिए कि वे समूहगत हैं, उनके सामाजिक कारण हैं, वे पूर्ण-स्वतंत्र आत्मगत अनुभूतियाँ नहीं हैं। पराजित जर्मनी में अस्तित्ववाद फैला, युद्ध से पहले पराजय के कगार पर खड़े हुए फ्रान्स में वह फैला,—इस घटनाक्रम के वस्तुगत कारण हैं।

अस्तित्ववाद में एक तीव्र विसंगति है। वह केवल आत्मगत सत्य को स्वीकार करता है; दूसरी ओर वह मूल्यों की बात करता है जो स्वभावतः समाजगत हैं। तर्कसंगत विचारक या तो मूल्यों को समाजगत मानकर मार्क्सवाद की ओर बढ़ेगा जैसा सार्त्र ने किया या वह उन्हें पूर्ण स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप से आत्मगत मानकर मूल्यहीनता की ओर बढ़ेगा जैसा कि ब्रिटेन, अमरीका और भारत के बहुत से पराजयवादी 'विद्रोही' कर रहे हैं।

अस्तित्ववाद पर ब्रिटिश और जर्मन विज्ञानवाद का गहरा प्रभाव है। वह चेतना को वस्तुगत भौतिकता से वैसे ही अलग रखता है जैसे ब्रिटिश दार्शनिक बर्कले। यहाँ वह रोमांटिक साहित्य की उस विचारधारा से मिल जाता है जो विज्ञानवाद से प्रभावित थी। शेलिंग के चेतना-संबन्धी विचारों को साहित्य में लागू करते हुए कोलरिज ने 'बायोग्राफिआ लिटरारिआ' में लिखा था कि वस्तुएँ जड़ और मृत हैं; साहित्य में मनुष्य की चेतना ही उन्हें जीवन प्रदान करती है। 'डिजेक्शन' कविता में कोलरिज ने लिखा था :

O Wordsworth, we receive but what we give,
And in our life alone doth nature live!

अस्तित्ववादी लेखक प्रकृति को जिस तरह आत्मसात करते हैं—उसकी वस्तुमत्ता हटाकर उसे आत्मगत करते हैं—उस तरह की क्रिया रोमांटिक कवि बहुत पहले कर चुके थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद पर उस पुराने तर्कशास्त्र का प्रभाव है जो द्वंद्ववाद का विरोधी है। आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ संबद्ध न होकर उसके लिए अलग हैं, भूत और चेतना, व्यक्ति और समाज इसी तरह विच्छिन्न इकाइयाँ हैं। अस्तित्ववाद पर सामन्तकालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का गहरा असर है। उसकी शुरुआत किरकेगार्ड से हुई जो, चर्च की आलोचना करते हुए भी, ईसाइयत के मार्ग से ही मुक्ति का अन्वेषी था। मध्यपूर्व और यूरोप की सामन्तकालीन धार्मिक आस्थाओं के अनुसार ईश्वर ने प्रथम मनुष्य—आदम—को सोचने और कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी थी, किन्तु उसने उस स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया, खुदा ने जिस ज्ञान के वृक्ष का फल खाने को मना किया था, उसी को उसने चख लिया। तब से जितने आदमी पैदा हुए, सभी पापी हुए। खुदा की मर्ज़ी, जिसे चाहे मुक्ति दे दे, वर्ना नरक का चांस तो लिखा ही है उसके भाग्य में। जब तक खुदा था, तब तक पाप-पुण्य की भावना भी थी, नैतिक आचरण के मूल्य भी थे। किन्तु जब विज्ञान ने खुदा को नैतिकता के आसन से हटा दिया तब अस्तित्ववादी के लिए बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। समाज में मूल्यों की कोई कसौटी न रह गई। पाप-पुण्य कुछ नहीं; मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से निर्णय करना है कि क्या मूल्यवान् (पुण्य) है, क्या मूल्यहीन (पाप) है। अँधेरे में बाप का हाथ छूट जाने पर जैसे छोटा बच्चा चीख उठे, वही हालत खुदा को नकारने वाले अस्तित्ववादी की है। उसके त्रास का, अकेलेपन की अनुभूति का, वेदना का यह मुख्य कारण है। पुराने धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईसामसीह ने आत्म-बलिदान करके खुदा को मनाया और मनुष्य की मुक्ति का मार्ग खोला। जो अस्तित्ववादी खुदा को नहीं मानते वे खुदा के बेटे को भी नहीं मानते। इसलिए खुद ही खुदा के बेटे बन जाते हैं; खुद ही सलीब उठाने की दिमागी कसरत करते हैं और यह सोचकर आत्मविभोर हो उठते हैं कि यह कार्य वे समस्त मानवता के हित में कर रहे हैं।

सलीब ढोने की क्रिया से उन्हें जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है, उसमें आत्मनिर्वासन-संबन्धी उनकी धारणा सहायक होती है। निर्वासन पहले समाज से, फिर खुद अपने से। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का विश्लेषण करते हुए डॉ॰ नामवरसिंह ने लिखा है कि इस कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभाजित कर दिया गया है और 'एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार 'आत्म-निर्वासन' (सेल्फ-एलियनेशन) है।" 'अँधेरे में' की अंतिम पंक्तियाँ "उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।"

इस आत्म-निर्वासन की भावना का विश्लेषण द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संस्थापकों ने भी किया था। एंगेल्स ने 'एंटी-ड्यूरिंग' में धार्मिक गाथाओं का विवेचन करते हुए लिखा था कि मनुष्य अपने को पहले प्रकृति की उस बाह्य शक्ति के सामने निर्वासित पाता है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। जब उत्पादन और वितरण का विकास होता है, तब प्रकृति के साथ समाज की वह शक्ति जुड़ जाती है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। समाज की यह शक्ति मनुष्य को उतनी ही ग़ैर—'ऐज़ ईक्वली एलियन'—मालूम होती है जितनी प्रकृति की शक्ति। वर्तमान पूंजीवादी समाज में "मनुष्यों पर आर्थिक परिस्थितियाँ जिन्हें उन्होंने स्वयं रचा है, उत्पादन के साधन जिन्हें उन्होंने स्वयं पैदा किया है, यों हावी रहते हैं मानों वे कोई ग़ैर शक्ति हों—(ऐज़ इफ़ बाई ऐन एलियन फोर्स)।"

आत्म-निर्वासन—सेल्फ-एलियनेशन—की जड़ यह है। यह कोई विशुद्ध मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है जो इस युग की विशेष देन हो या जिसका सम्बन्ध किसी अनुभूतिप्रवण कवि की आत्मसंभव अभिव्यक्ति से विशेष हो। यह मूलतः पूंजीवादी सम्बन्धों के नियंत्रण में न रहकर उनको अपने नियंत्रण में रखने—उन्हें समाजवादी सबन्धों में परिवर्तित करने—की समस्या है। किन्तु अस्तित्ववादी कवि आत्म-निर्वासन की समस्या को इस रूप में नहीं देखते। वे समझते हैं, यह उनकी विशिष्ट आत्मानुभूति है, अथवा अपने विशुद्ध विवेक से उन्होंने इस स्थिति को वरण किया है। वे इस स्थिति को आधुनिकता-बोध से जोड़ते हैं, यद्यपि वह है उन्नीसवीं सदी की, काफी पुरानी, रोमांटिक भावधारा से सम्बद्ध।

१८९७ में फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमील दुरखाइम की पुस्तक 'आत्महत्या' प्रकाशित हुई थी। उसने फ्रांस में बढ़ती हुई आत्महत्याओं का सम्बन्ध औद्योगिक सभ्यता से जोड़ा था। उसका एक निष्कर्ष यह था कि आत्महत्याएँ गाँवों में बहुत कम होती हैं, शहरों में ज्यादा होती हैं। दुरखाइम ने अपना समाजशास्त्र उत्पादन और वितरण की पद्धति का

074564

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषण न करके आत्महत्या के प्राप्त आँकड़ों के बल पर रचा था। उसमें अनेक खामियाँ हैं। फिर भी उसने आत्म-निर्वासन की समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया था और उसका सम्बन्ध मानव-मूल्यों के असन्तुलन से जोड़ा था। आत्महत्या के रुझान का विश्लेषण करते हुए उसने फ्रांसीसी लेखक लामार्तीन की रूमानियत की जो आलोचना की है, उसे पढ़कर लगता है मानो वह सन् '३८ के अस्तित्ववाद की आलोचना कर रहा हो यद्यपि उसका देहान्त १९१७ में हो गया था।

लामार्तीन के नायक रैफेल को आस-पास की वस्तुओं से घृणा हो जाती है। वह अपने को इन वस्तुओं से अलग कर लेता है और अपने अकेलेपन पर ज़ोर देता है। वह प्रेम करता है तो समर्पित होने के लिए नहीं, नारी के साथ प्रजनन-क्रिया के आनन्द के लिए नहीं, वरन् प्रेम का चिन्तन करने के लिए। उसकी वासना एक प्रवंचना है क्योंकि वह नपुंसक है। अपने से अलग वह किसी वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता, इसलिए निरर्थक कल्पना में शक्ति नष्ट करता है। दुरखाइम का कहना है कि मनुष्य को चिन्तन की सामग्री बाह्य जगत् से मिलती है। यदि मनुष्य अपनी चेतना को बाह्य जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों से आमूल विच्छिन्न कर ले, उचित सीमा लाँघकर उसे विशुद्ध आत्मगत बना ले तो वह उस स्रोत का ही नाश कर देता है जिससे चेतना पोषण-सामग्री पाती है। अपने चारों ओर शून्य रचकर वह अपने भीतर भी शून्य की सृष्टि कर लेता है। चिन्तन के लिए अपने दर्द के अलावा उसके पास कुछ रह नहीं जाता। वह इस दर्द के प्रति ही समर्पित होता है और उसके रोगी मानस को इसमें मजा आता है। लामार्तीन ने यह मज़ा चखा था। इसीलिए उसने अपने नायक के बारे में लिखा था, "मेरी आत्मा का अकेलापन एक झीनी चादर है जिससे होकर मेरी दृष्टि मनुष्य को देखना नहीं चाहती थी, केवल ईश्वर और प्रवृत्ति को देखना चाहती थी।

दुरखाइम की यह आलोचना आत्मनिर्वासन की भावना को शून्यवाद से जोड़ती है। आत्मनिर्वासन की भावना को आत्महत्या के रुझान से सम्बद्ध करके उसने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया है।

●

सार्त्र के उपन्यास 'उबकाई' (अंग्रेज़ी में 'नौशिआ', पेंग्विन बुक्स) का नायक अन्त्वान रोकांतँ सोचता है कि संसार में जो कुछ है, व्यर्थ है, फालतू है, वह स्वयं अनावश्यक है। "मैं खयाल दौड़ाने लगा कि आत्महत्या कर लूँ, ये जो तमाम व्यर्थ अस्तित्व हैं, उनमें कम-से-कम एक का नाश कर डालूँ।"

सौभाग्य से वह खयाल दौड़ाकर रह जाता है, निर्णय नहीं करता कि वह आत्महत्या कर ही लेगा। जर्मन, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी साहित्य में आत्महत्या करनेवाले या आत्महत्या की ओर खयाल दौड़ाने वाले कवियों, कथाकारों और उनके नायकों की एक लंबी परम्परा है और इनमें आदि प्रजापति के समान स्थापित है शेक्सपियर का हैमलेट।

O, that this too too solid flesh would melt,
Thaw, and resolve itself into a dew!
Or that the Everlasting had not fix'd
His canon 'gainst self-slaughter!

यूरोप में नवजागरणकाल (रिनैसेंस) से पहले आत्म-हत्याकामी यह भावधारा शून्यवत् है। पूँजीवादी व्यवस्था के अभ्युदय के साथ जो नवजागरणकाल आरम्भ हुआ, उसमें एक स्वर जो बार-बार झंकृत हुआ, वह था आत्महत्या की कामना का स्वर। १८वीं-१९वीं शताब्दियों में यह स्वर और भी गहरा हुआ और बीसवीं सदी में उसकी चरम परिणति हुई सार्त्र के अस्तित्ववाद में। उसके व्यापक प्रभाव का यही कारण है। सार्त्र ने अस्तित्ववाद के दर्शन को इस्तेमाल किया एक पूर्व-निश्चित, पूर्व-प्रवाहित भावधारा का औचित्य सिद्ध करने के लिए। मनुष्य का अहंकार आसानी से स्वीकार नहीं करता कि वह धारा के साथ बह रहा है; वह अपने अस्तित्व की सार्थकता इस तर्क से सिद्ध करता है कि वह स्वयं धारा को बहा रहा है। जब हैमलेट, वर्थर, मैनफ्रेड, रोकांतँ—सभी आत्महत्या की बात सोचें तब मानना होगा कि यह किसी एक लेखक के व्यक्तिगत भावबोध का प्रश्न नहीं है वरन् यह एक सामाजिक भावधारा है।

सार्त्र तर्क और विवाद की भूमि पर विवेक और आत्म-गत निर्णय की बातें करते हैं, किन्तु उनके नायक रोकांतँ की भावदशा जब और जैसे बदलती है, वह सब उसकी सचेत इच्छा से परे, उसके विवेक से परे बदलती है। रोकांतँ को उबकाई के दौरे आते हैं, उसकी इच्छा के विपरीत आते हैं। "लगता है कै कर दूँगा—और अचानक, वहीं आ गया उबकाई का दौरा। बहुत ही बुरा दौरा आया। सर से पैर तक इसने हिला डाला। घंटे भर से मैं देख रहा था कि दौरा आनेवाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, केवल मैं इस बात को स्वीकार न करना चाहता था। मुँह जैसे पनीर से भर गया हो।" ये दौरे हमेशा आकस्मिक होते हैं, अयाचित और अनपेक्षित—कम-से-कम रोकांतैं को ऐसा ही लगता है।

रोकांतैं बैठा हुआ पेड़ देख रहा है, पेड़ की जड़ देख रहा है। "अचानक मेरे लिए जड़ के अस्तित्व की बात सोचना असंभव हो गया।···और तब अचानक मेरे सामने कोई चीज़ हिलने लगी, हल्की, अनिश्चित-सी सिहरन : हवा से पेड़ की फुनगी हिल रही थी।"

सब काम अचानक होते हैं।

Sudden, thy shadow fell on me; I shrieked and clasped my hands in ecstasy!

यह शैली के आत्मबोध—अथवा वास्तविकता-बोध—का क्षण। रहस्यवादियों के बेसुध, भाव-विभोर, अगोचर, अनिर्वचनीय आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान के क्षण के ही समान रोकांतैं को एक विशिष्ट क्षण में अस्तित्वबोध होता है। वह उस क्षण को स्मरण करता हुआ कहता है :

"वह क्षण अपूर्व था। मैं खड़ा रह गया, शरीर गतिहीन, निस्पन्द, मन एक भयानक भाव-विह्वलता से आन्दोलित। उस विह्वलता के दौर में कुछ नया हो गया था। मैं समझ गया, उबकाई क्या है, मैं उस पर हावी हो गया। सच बात यह है कि जो नया हुआ, उसे मैंने अपने तईं शब्दों में व्यक्त नहीं किया। किन्तु लगता है कि अब मैं उसे सरलता से शब्द-बद्ध कर सकूँगा।···कितनी देर यह दौर रहा? उस पेड़ की जड़ मैं स्वयं था। अथवा मैं उसके अस्तित्व की समग्र चेतना था।"

रहस्यवादियों की शब्दावली ही नहीं, उनसे मिलती-जुलती अनुभूति भी—एक ही चेतना की व्यापकता का आभास। वर्डस्वर्थ ने टिटर्न ऐबे वाली कविता में अपनी जिस अनुभूति का वर्णन किया है, उसकी व्याख्या की है लौक-हार्टले के दर्शन-मनोविज्ञान के आधार पर। किन्तु वह अनुभूति ही उस दर्शन-मनोविज्ञान का सबसे बड़ा खण्डन है। सार्त्र ने रोकांतैं की अनुभूति का सम्बन्ध जोड़ा है अस्तित्व-वादी दर्शन से और वह अनुभूति इस दर्शन का भी खण्डन है। सार्त्र के दर्शन में उपचेतन इच्छाओं को जगह नहीं है; सब समस्याओं का फैसला होता है आत्मगत विवेक से, सचेत निर्णय से। विवेक के जिस स्तर पर वह अस्तित्ववाद का तर्कजाल बुनते हैं, रोकांतैं उससे बहुत दूर है; वह जाल खींचते हैं लेकिन रोकांतैं साफ बचकर निकल जाता है।

रोकांतैं अर्ध-विक्षिप्त है—न्यूरॉटिक।

समुद्र के किनारे वह कंकड़ी उठाकर पानी में फेंकना चाहता है। फिर रुक जाता है, कंकड़ी ज़मीन में डाल देता है और एक ओर चल देता है। "मेरा खयाल है कि मेरा चेहरा कुछ-कुछ पागलों जैसा रहा होगा क्योंकि मेरी पीठ पीछे बच्चे हँस रहे थे।"

होरैशो ने हैमलेट के चेहरे पर ऐसे ही पागलपन का भाव देखा था, जब कहा था :

He waxes desperate with imagination.

रोकांतैं निश्चय नहीं कर पाता कि वह कुछ समय के लिए पागल हुआ था या नहीं। कहता है—"विचित्र बात यह है कि मैं यह मानने को बिल्कुल तैयार नहीं हूँ कि मैं पागल हूँ। दरअसल मैं बिल्कुल साफ देख रहा हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ। इन सब तब्दीलियों का सम्बन्ध वस्तुओं से है। कम-से-कम मैं चाहता यही हूँ कि बात ऐसी ही हो।" फिर सोचता है—"शायद पागलपन का हल्का दौरा ही था वह। अब उसका निशान भी नहीं है।" हैमलेट को भी दौरे ही आते हैं। लाएर्टीज़ से उसने जो अभद्र व्यवहार किया है, उसके लिए वह कहता है :

I here proclaim was madness.

इस पागलपन की विशेषता यह है कि हैमलेट को लगता है कि उसके विभाजित व्यक्तित्व का एक अंश उससे दूर चला गया है, दूसरा अंश जो करता है, उसके लिए पहला अंश ज़िम्मेदार नहीं है :

If Hamlet from himself be ta'en away,
And when he's not himself does wrong Laertes,
Then Hamlet does it not, Hamlet denies it.

रोकांतैं की हालत और भी खराब है। उसे लगता है कि उसके शरीर के अंग भी बेगाने हैं। "मेरे भीतर कोई तार टूट गया है। निगाह घुमा लेता हूँ, सर नहीं। खोपड़ी एकदम मुलायम और लुचलुची हो गई है मानो गर्दन पर अभी सँभालकर रखी गई हो, मैं ज़रा हिला कि वह गिरी।"

वह मेज़ पर अपना फैला हुआ हाथ रख देता है। उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगता है कि कोई जानवर उतान पड़ा है, ऊपर पेट है, उसकी अपनी उँगलियाँ उसके पंजे हैं मानो केकड़े के पंजे हों, केकड़ा मर गया है; हाथ उलटता है, लगता है अब वह मछली है। हाथ खींचकर वह जेब में रख लेता है; कपड़े की पर्त से जाँघ की गर्मी हाथ तक पहुँचती है। वह हाथ निकाल लेता है, कुर्सी पर टिका देता है, हाथ का भार उसे महसूस होता है। जहाँ भी रखे, हाथ का अस्तित्व बना रहेगा। वह हाथ से, शरीर से मुक्ति नहीं पा सकता। पसीने से कमीज़ तर हो गई है, वह तमाम गर्म चर्बी मानो कोई चम्मच से धीरे-धीरे चला रहा हो। वह मेज से छोटा चाकू उठा लेता है। बाईं हथेली में चाकू भौंक देता है। "यह काम एकदम अचानक हुआ," चाकू फिसल गया, मामूली-सा घाव हुआ। आत्महत्या की रिहर्सल; लेकिन मंच पर पूरा नाटक नहीं हुआ।

रोकांतें अघोरी है। हर तरफ भीतर-बाहर उसे सड़ाँध दिखाई देती है। बीभत्स उसका सहज आवास है। जुगुप्सा की स्थिति में ही उसे वह दौरा आता है जब वह समझता है, पेड़ की जड़ मैं हूँ। वह शव-साधक है, ऐसे शव का साधक जो सड़ रहा है। स्वाद, स्पर्श और घ्राण का बोध उसमें बहुत तीव्र है। पेड़ की छाल, लगता है, उबाला हुआ चमड़ा है; उसकी नाक में दुर्गन्ध भर जाती है। एक स्त्री है जो मुनीम का काम करती है। वह अपनी स्कर्ट के नीचे सड़ रही है; सड़ते हुए शव से जैसे वायलेट फूलों की गन्ध कभी-कभी आती है। एक स्त्री के साथ लेटे हुए उसे लगता है कि उस स्त्री का शरीर एक पार्क है जिसमें चींटियाँ, कनखजूरे रेंग रहे हैं, वहाँ जानवर हैं जिनके शरीर टोस्ट के उन टुकड़ों के बने हैं जो भुने हुए कबूतरों के नीचे रखे जाते हैं और ये जानवर केंकड़ों की तरह टेढ़े-मेढ़े चलते हैं। रोकांतें कहता है, "इस पार्क में कै की दुर्गन्ध आती है।" वह लगभग हैमलेट का ही वाक्य दुहराता है :

> Tie on't ! Ah, fie ! 'tis an unweeded
> garden.

उपन्यास का नाम ही उबकाई है। कै की उपमा बार-बार आती है, कभी स्त्री-सहवास के पहले उसे उबकाई आती है, कभी उसके बाद। वह खुद भीतर से सड़ रहा है, इसलिए हर चीज सड़ती हुई मालूम होती है। वह सामान्य रति-सुख के अयोग्य है; भोग के पहले हल्की-सी आकांक्षा, बाद को वितृष्णा। उसे हर चीज़ चिकनी, लिजलिजी और लचीली मालूम होती है। कुत्ते, आदमी, तमाम जानदार चीज़ें, चर्बी का ढेर (flabby masses) हैं। हर चीज़ जीवित, अलग अस्तित्व वाली उसे दबाती हुई-सी जान पड़ती है। उसके हाथों और जाकिट की बाँहों पर पीली रोशनी पड़ती है। "मैं कह नहीं सकता, मुझे उससे कितनी घृणा होती है।" वह गली में जाता है; गली मुर्दा है, उसमें तहखाने की-सी बू आती है। वह एक डॉक्टर की ओर देखता है। लगता है, डॉक्टर के चेहरे में आँखें नहीं हैं, वह चेहरा कार्ड-बोर्ड का बना हुआ है और यह आदमी शीघ्र ही मरने वाला है। चारों तरफ की चीज़ें कार्डबोर्ड की बनी हुई हैं। "जो पुस्तक मैं पढ़ रहा था उसे मैंने कसकर पकड़ लिया, लेकिन तीव्र संवेदन भी जैसे सो गए। कुछ भी वास्तविक न मालूम होता था; लगा कि मेरे चारों ओर कार्डबोर्ड सीनरी है जिसे कभी भी हटाया जा सकता है।" वह भागता है; "दुःखी निगाह से मकान मेरा भागना देख रहे थे"। एक मकान खिड़की से अपना काला हृदय उसके सामने रख देता है; एक पीली इमारत चलना शुरू कर देती है। "मैं वस्तुओं के बीच घिरा हूँ जिनका नामकरण असम्भव है। अकेला, अशब्द, अरक्षित—मैं उनसे घिरा हूँ, वे मेरे पीछे हैं, ऊपर हैं।" कभी उसे लगता है, वस्तुएँ गतिहीन अस्तित्व हैं जो उसे घूर रही हैं। उसके सामने एक विचार आता है; विचार गुड़ीमुड़ी हो गया और बिल्ली-जैसा उसके सामने जमा हुआ है। और अन्त में वह कहता है, "अन्त्वान रोकांतें का अस्तित्व किसी के लिए नहीं है। सोचकर हँसी आती है। और यह अन्त्वान रोकांतें आखिर है क्या ? एक निराकार धारणा। स्वयं की छोटी-सी पीताभ स्मृति चेतना में लहराती है। अन्त्वान रोकांतें। और अचानक अहम् पीला पड़ता हुआ मुरझा जाता है और अन्त में गायब हो जाता है।"

रोकांतें आत्महत्या नहीं करता किन्तु कल्पना में उससे मिलती-जुलती स्थिति में पहुँच जाता है। उसके कार्यों का, चिन्तन का विवेक से कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिए उसका जीवन सार्त्र के अस्तित्ववाद को असिद्ध करता है। किन्तु मूलतः अस्तित्ववाद विवेक पर आधारित है ही नहीं। किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद से रोकांतें के जीवन-अनुभवों का गहरा सम्बन्ध है। वह संसार की असारता को देख चुका है, वस्तुएँ उसे वैसे ही परेशान करती हैं जैसे, शुद्ध ब्रह्म का ध्यान करने वालों को माया। संसार का भोग-सुख सब क्षणभंगुर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार दुख का कारण है। उसे उबकाई आती है; चारों ओर बीभत्स है। जब उसे अपने चिन्तन की व्यर्थता पर पश्चात्ताप होता है तब वह कहता है, "जल के समान निर्मल विचारों से मुझे अपने को धोकर साफ़ करना है।" अपने बारे में वह जो कुछ कहता है या लिखता है, वह सब पादरी के सामने 'कनफ़ेशन' के समान है। छोटी-बड़ी पाप की सारी बातें कहकर ही वह मुक्ति-लाभ कर सकता है। सार्त्र का रोकांतैं एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति है जो एक होटल से दूसरे होटल में, एक औरत के पास से दूसरी औरत के पास खानाबदोश का-सा जीवन बिताता है। वह किसी के साथ मिलकर कोई काम नहीं करता; कमाने-खाने की चिन्ता से वह मुक्त-सा है।

रोकांतैं अपने को अकेला महसूस करते हुए दुनिया के संघर्षों को दूर से तटस्थ होकर देखता है। "यूरोप के शहरों में बत्तियाँ जल गई हैं; बर्लिन की सड़कों पर कम्युनिस्ट और नाज़ी एक-दूसरे पर गोलियाँ दाग रहे हैं, न्यूयार्क के फ़ुटपाथों पर बेकारों की भीड़ चहलकदमी कर रही है।" इस सबसे उसे वास्ता नहीं है। सन् '३८ में 'उबकाई' उपन्यास छपा। अगले साल नाज़ियों ने फ्रांस पर हमला किया। सार्त्र ने देशभक्तों को लड़ते, नाज़ियों के अत्याचार सहते देखा। उन्होंने युद्ध के बाद तीन उपन्यास लिखे जिनमें उन्होंने दिखाया कि युद्ध में फ़्रान्स पर क्या बीती थी। सार्त्र अब अकेले, अप्रतिबद्ध नहीं थे। वह स्वभावतः मार्क्सवाद के निकट आये और उनके पुराने प्रशंसक निराश होने लगे कि मार्क्सवाद-विरोधी मोर्चे का नेता उन्हें अकेला छोड़कर भीड़ में शामिल होने जा रहा है।

हिन्दी के बुद्धिजीवियों ने सार्त्र के अस्तित्ववाद को तब अपनाना शुरू किया जब वह स्वयं उसे छोड़ रहे थे।

●

हिन्दी के अधिकांश नई कविता लिखने वालों का हाल रोकांतैं जैसा है। ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, सड़ाँध का बोध, भीड़ में अजनबीपन का अहसास होने की समस्या से परेशानी आदि-आदि लच्छन इसमें भी मिलते हैं। बीमार आदमी को कभी-कभी हर चीज़ बीमार नजर आती है; इन कवियों को चीजें बीमार ही नहीं मुर्दा भी नज़र आती हैं। श्रीकान्त वर्मा को लगता है—सारी पृथ्वी से उठती है सड़ाँध; वह 'एक पब्लिक लेवेटरी में' बैठे हुए मानों सोचते हैं, उनकी कविता में लय क्यों नहीं है, उनके पैरों पर चींटियाँ चढ़ती हैं, कंधे पर रीछ पंजे गड़ाता है, और "भुजा पर प्रेमिका करती है क़ै।" कैलाश वाजपेयी को सब तरफ़ पिचकी घुमावदार आँतों की गलियाँ दिखाई देती हैं, "जहाँ सिर्फ़ उबकाई का शब्द आता है", जो भी, जहाँ भी है, बीमार है, सभी को किसी-न-किसी तरह का बुखार है, थूक, पीक, मलवा, गँधाती धुआँ देती बस्तियाँ, और

"लगातार—
मैं मर रहा हूँ
मर रहा है एक—संसार !"

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना को लगता है, जैसे मैं मुर्दों के बीच हूँ, उन्हें ही उठा रहा हूँ, रख रहा हूँ, उनसे ही लिपट रहा हूँ, लड़ रहा हूँ, उन्हें ही बाँध रहा हूँ, छोड़कर आगे बढ़ रहा हूँ इस मृत नगर में। "मैं जीवित हूँ या मृत कुछ समझ में नहीं आता।" चारों तरफ दुर्गन्ध है, प्रार्थनाघरों के घंटे तक जंगली जानवरों की तरह "दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं।"

गिरिजाकुमार माथुर का हाल यह है कि हर चीज़ मैले टीन के डिब्बे में बन्द है, हवा का अँगूठा मूसली से कुचल गया है, वनस्पति की आँख आई है, ज़मीन उबले हुए मोटे खुरंट-सी है, बादल 'घाव-सा फूलकर' कीचड़-सी गाढ़ी बूँदें टपका देता है, चेतनाएँ पक गई हैं भय और घृणा से, और "सारा जीवन प्रमेहग्रस्त लकवा मारे रोगी" सा हो गया है !

राजकमल चौधरी की अनुभूति यह थी कि वह वर्तमान के शव को कंधों पर रखे हैं और "मैं इस शव के गर्भ में हूँ और वह शव मेरे कंधों पर है।" दुर्गन्ध और वमन की कमी नहीं। शालिग्राम के बदले खरीद लाये गये "शक्तिपीठ योनि मुखों में सात नरकों की दुर्गन्धियाँ",

"नींद नहीं, क्षुधा नहीं पागलपन केवल वमन यह दुराग्रह
उपदंश महादंश की नरककुंड बीजात्माएँ।"

पागलपन के मुकाबले जगदीश चतुर्वेदी की अनुभूति बहुत हल्की है—

"घुट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें
मुझे उबकाई आ रही है।"

स्वभावतः नयी कविता में विक्षिप्तता और पागलपन की चर्चा विशेष हुई है; और इसमें, यह कहना कठिन है, कितना हिस्सा काल्पनिक है, कितना यथार्थ पर आधारित है। लक्ष्मीकान्त वर्मा कहते हैं कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"संशय, शंका, विक्षिप्तता की व्याकुलता
वह केवल मेरा नहीं
उसमें वे सब हैं
जो मेरे ही समानधर्मा हैं।"

समानधर्मा विजयदेव नारायण साही कहते हैं कि यद्यपि उन्हें मृत्यु का साक्षात्कार नहीं हुआ, फिर भी किन्हीं रातों में—

"देर तक मैंने
अट्टहास और संगीत सुने हैं
क़रीब तीसरे पहर जाकर
भयानक चीख सुनाई पड़ती है।"

कैलाश वाजपेयी पूछते हैं कि—

"इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूं गरदन पर
हाथ में ज़हर-बुझा कोड़ा लिये हुए
सड़ासड़
मारता चला जाऊँ...
या दबा दूं जलती रेत में
ये अपनी आंखें, नाक, कान, जिह्वा
कूद जाऊं ताज़े चून के
हौज में
या कि
फिर क्या करूँ?"

विभाजित व्यक्तित्व वाले विक्षेप में यह देखा जाता है कि रोगी कभी एक व्यक्ति की भूमिका पूरी करता है, कभी दूसरे की, कभी वह पूर्ण असम्पृक्त होकर दोनों का द्वन्द्व देखता है। भारतभूषण अग्रवाल ने इस स्थिति का बड़ा सटीक चित्रण किया है। लिखा है कि "एक दीखने वाली मेरी इस देह में दो 'मैं' हैं। एक मैं और एक मेरा पिट्ठू। मैं तो, खैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ पर, मेरा पिट्ठू? वह जीनियस है!" उन्हें अपने पिट्ठू पर तभी हँसना चाहिए जब वह स्वयं क्लर्क हो, या जीनियस। वैसे मामूली-सा क्लर्क भी जीनियस हो सकता है, जैसे चार्ल्स लैम्ब।

गिरिजाकुमार माथुर कहते हैं कि मेरे दो मन साथ-साथ रहते हैं, दोनों एक-दूसरे के घोर शत्रु हैं, बोलचाल बन्द है,

"एक कहता
हूँ उदास
दूसरा कहता है
अबे, खूब खिलखिला के हँस।"

सूर की गोपियों को शिकायत थी कि मन दस-बीस नहीं हैं। आज का कवि अपने भीतर एक से अधिक मन ही नहीं देखता, बाहर एक से अधिक देह भी देखता है यानी अपनी देह के विभाजित रूप। गिरिजाकुमार माथुर ने निर्जन दूरियों के ठोस दर्पणों में चलते हुए देखा कि—

"सहसा मेरी एक देह
तीन देह हो गई।"

यहाँ तो एक देह की तीन हुईं; ऐसा भी होता है कि एक ही देह के दो हिस्से हो जाएँ, सर अलग, धड़ अलग। तब सर धड़ का नाच देखता है और श्रोताओं को नाच का आँखों देखा हाल भी सुनाता जाता है। गिरिजाकुमार माथुर की ही अभिव्यक्ति है—

"मेरा कटा हुआ सिर
पाताल राज-सा
अपने ही कबन्ध का विक्षिप्त नृत्य देखता है
देखता है
और रनिंग कमेण्ट्री करता जाता है।"

इस अभिव्यक्ति के मुकाबले दुःस्वप्नों की अनुभूति हल्की ठहरती है। जैसे गिरिजाकुमार माथुर का यह कहना कि मैं एक भूकम्प दबे नगर के नीचे फिरता हूँ, सीढ़ियों पर चढ़ता हूँ तो छत से टकराता हूँ, मुझे बेहद प्यास लगी है और आस-पास हत्यारे कुएँ हैं जिनमें सिर्फ गिर सकता हूँ; या सर्वेश्वर दयाल की अनुभूति कि एक अदृश्य इमारत मेरे ऊपर गिर पड़ी है, और जो 'नहीं है' उसके बोझ से मैं दब गया हूँ; या लक्ष्मीकान्त वर्मा की यह अनुभूति—

"मैंने सिर हिलाया
खाली बिस्कुट के डिब्बे-सा वह सो गया
गरदन हिलायी
नहीं हिली, अकड़ी थी"—

यह सब कबन्ध-डान्स के आगे फीका है। पृथ्वी के नीचे दब जाने, अँधेरे कमरों में खो जाने का सपना आदमी अक्सर तब देखता है जब देर से खाना खाकर बाईं करवट सो जाए, खासकर तली-भुनी चीजें खाकर। व्यायाम करने, उचित समय पर अल्पाहार करने से ये दुःस्वप्न दूर हो सकते हैं। उम्र पचास ज्यादा से हो तो रात्रि को केवल फलाहार अति उत्तम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ही नगर में यह अनुभव करना कि वह अपरिचित है, मित्रों के बीच में सहसा यह बोध होना कि ये अजनबी हैं—न्यूरॉसिस के बहुत हल्के-फुल्के रूप हैं। सड़कों का उछलना-कूदना, लैम्प पोस्टों की बातें करना न्यूरॉसिस को छूनेवाले दिवास्वप्न मात्र हैं—कल्पना की अतिशयता जो अर्धविक्षेप का रूप भी ले सकती है। एक ने लिखा—

"सड़कें चाबुक-सी उछलती हैं
मैदान पैंट झाड़ कर
उठ खड़े
होते हैं"।

दूसरे ने लिखा,

"सब सड़कें
हाथों में हाथ फँसाकर
एक घेरे में नाचने लगती हैं।"

तीसरे ने लिखा,

"बेतरतीब ढोती सड़कें
घबड़ाकर मकानों पर चढ़ गई हैं।"

चौथे ने लिखा,

"सड़कें दौड़ती हैं
मिलने को गले,
चौराहे भागते हैं
एक दूसरे से।"

पाँचवें ने लिखा,

"क्षण-भर बाद उठकर यह सड़क
उस रेत पर बैठेगी, तट पर खड़ी होगी,
जाने क्या सोचेगी, फिर डूब जायगी।"

यानी नदी में डूब जायगी क्योंकि इस सड़क के पास नदी बहती है। जब सड़कों का यह हाल है तब दीवारें दूसरों की बातें सुनें, उन पर विचार करें, यह वाजिब ही है। उनके कान बहुत दिनों से हैं।

"मुंडेरों के कन्धे हिलते हैं
झरोखे झाँकते हैं,
दीवारें सुनती हैं,
मेहराबें जमुहाई लेती हैं।"

एक अन्य कविता में—

"दीवारें खड़ी सोचती रहीं···
माइक ने जाते समय
शहर की दीवारों से कहा···"

अस्तित्ववादी दर्शन में भले ही वस्तुजगत् मृत हो, मानव-चेतना ही सत् हो, व्यवहार में कवि के लिए मुर्दा चीज़ें जानदार हैं और जानदार चीज़ें मुर्दा हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि नई कविता में आत्महत्या का ज़िक्र बार-बार आता है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा :

"आज मैं प्रेत हूँ
क्योंकि मैं अपनी मौत से नहीं मरा हूँ
मैंने की है आत्महत्या जान-बूझकर !"

विजयदेव नारायण साही :

"ऐसे ही मैंने सृजन को देखा है
और उसे मृत्यु की तरह पहचाना है
वह हत्या से उपजता है
और आत्महत्या की ओर बढ़ता है।"

जगदीश गुप्त :

"मानता हूँ खुदकशी को कायरों का काम
निश्चय, आत्मघाती भावना से घृणा करता हूँ।
मगर इस क्षण न जाने क्यों यही जी चाहता है
झाँक लूँ उस अन्ध तमसावृत अजाने लोक में
जिसमें हजारों प्रेत बसते हैं।"

गिरिजाकुमार माथुर :

"किसी ने भी
मेरी अन्तिम आत्महत्या नहीं देखी।"

श्रीकान्त वर्मा :

"न मैं आत्महत्या
कर सकता हूँ
न औरों का
खून !"

यह मूल्यों के विघटन का युग है। हर चीज़ टूट रही है, कवि टूट रहा है, कविता टूट रही है। फासिस्ट तानाशाही के पनपने के लिए वह हवा बहुत मुफ़ीद होती है जिसमें मनुष्य के लिए हत्या और आत्महत्या में ज़्यादा फ़र्क़ न रहे। नई कविता रचने वाले देश, जनता और इतिहास को जिस ढंग से याद करते हैं, उससे अन्दाज़ होता है कि जनतन्त्र खत्म हो जाय और फासिस्ट तानाशाही कायम हो तो इन्हें कोई खास तकलीफ़ न होगी। जीवन व्यर्थ है, इतिहास व्यर्थ है, इसलिए दो तरह की शासन-व्यवस्थाओं में भेद करना व्यर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बड़े हाल में सिंहासन पर सुनहरी पोशाक पहनकर एक आदमी बैठ जाता है। "यन्त्रवत् दर्शक ताली बजाते हैं।" दूसरा व्यक्ति सबसे हाथ उठवाकर पहले को गद्दी से नीचे बिठा देता है। "सहमत दर्शक शोर मचाते हैं।" तीसरा आकर दोनों को खिड़की से बाहर फेंक देता है। "भयभीत दर्शक जोश दिखाते हैं।" चौथा आकर सिंहासन उठा ले जाता है, हाल पर बाहर से ताला जड़ देता है। "बन्द हुए दर्शक नारे लगाते हैं।" गिरिजाकुमार माथुर के लिए इतिहास का इस तरह का तमाशा है। और—"इतिहास अन्धा है", "इतिहास बहरा है", "इतिहास गूँगा है", "इतिहास लँगड़ा है।"

इतिहास इसलिए भी लँगड़ा है कि उसके कई 'हीरो' लँगड़े हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा पूछते हैं,

"इतिहास के जंगों से
म्यूज़ियम के जिरह बख्तरों से
टूटी बन्दूक से
लँगड़े तैमूर से
क्या मिला ?"

विजयदेव नारायण साही के लिए अग्निकुण्ड में 'बदहवास शताब्दियाँ' नागों की तरह गिर रही हैं और

"जो है
धधक-धधक कर जल रहा है
और जो नहीं है
वह भी धधक-धधक कर जल रहा है।"

कैलाश वाजपेयी के लिए—

"वे तानाशाह
जनहितैषी
वे धर्मपुत्र
सब अपनी-अपनी तरह के नरभक्षक थे।"

ये कवि कभी-कभी कृपा करके देश के बारे में भी सोचते हैं। सोचते हैं और बेहद निराश होते हैं। दुःखी स्वर में पूछते हैं, इस देश का मैं क्या करूँ ? उनका सबसे विकट दुर्भाग्य मानों यह है कि वे इस भारत देश में पैदा हुए हैं। यहाँ के नेता तो बेईमान हैं ही, जनता मूर्ख है जो उनके पीछे चलती है। भीड़ से जितनी नफरत नयी कविता के रचयिता को है, उतनी और किसी दूसरे को नहीं। अपने अकेलेपन, होने या न होने की अनोखी अनुभूति और प्रगाढ़ सर्जनात्मक पीड़ा के कारण उसे शेष भारतवासी गँवार, असमय और मूर्ख लगते हैं, उनमें जो पढ़े-लिखे हैं, वे निहायत 'मीडिओकर' हैं, बौने हैं। "टूटी चाय की प्यालियों और तश्तरियों-जैसे निरर्थक लोग;" स्वभावतः ऐसे लोगों के बीच में लक्ष्मीकान्त वर्मा को लगता है, उफ़ कितना अजनबी हूँ, कितना निर्वासित हूँ मैं! लोकमत, मानवता, जनता—सिर्फ चेहरे हैं, गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार · हिटलर का जो कहना था, वही गिरिजाकुमार ने कविता में उतारा है,

"लोग न्याय से नहीं
शक्ति से प्रसन्न होते हैं
आतंक से प्रीत करते हैं।"

श्रीकान्त वर्मा ने तो "देश को खोकर ही" कविता प्राप्त की। कुछ राजनीतिज्ञ इस भीड़ को संगठित करने का प्रयत्न करते हैं, उसे नारे लगाना सिखाते हैं। भारतभूषण अग्रवाल इन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं,

"भावों को भूलो, और
नारों के हो जाओ
भीड़ों से निकलो और
भीड़ों में खो जाओ!"

नारेबाज़ी की बीमारी खासतौर से कम्युनिस्टों को होती है। पूँजीपतियों को शिकायत है कि ये सब मास्को या पीकिंग के दलाल हैं। इससे मिलता-जुलता खयाल भारतभूषण अग्रवाल का है। रेस्तराँ में किसी महिला से कहते हैं,

"लजाओ मत सुन्दरी! ···
आस-पास बैठे ये लोग···
यहाँ नहीं कहीं और हैं···
और ये कामरेड ?
ये यहाँ नहीं
ये चीन और रूस में हैं।"

अस्तित्ववादी कवि की निगाह में दुनिया के मार्क्सवादी—क्या साहित्य में, क्या राजनीति में—हमेशा सस्ते समाधान ढूँढ़ते हैं।

"मगर हम और हम जैसे
कि जिनसे ज़िन्दगी की बात का मतलब निकलता है
महज़ आसान रस्तों में भुलाये जा नहीं सकते।"

इसलिए विजयदेवनारायण साही और उनके समानधर्मा मित्र आत्महत्या द्वारा मृत्यु के साक्षात्कार की तलाश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूमते हैं (यानी कविता के कल्पना-लोक में)। पर साही की अनुभूति में वह प्रगाढ़ता अभी नहीं है जो कैलाश वाजपेयी या राजा दुबे की रचनाओं में है। कैलाश वाजपेयी ने 'एक नया राष्ट्रगीत' लिखा है, जिसकी शुरुआत यों होती है :

"सौ करोड़ से ज्यादा लिजलिजे पंजे
दलदल में धँसे हुए,
रीढ़ की जगह एक केंचुआ···"

और अन्त इस प्रकार :

"यही क्या कम है कि मैं संतमेंत में
पिछले बीस साल से दुनिया का 'महान्' गणतंत्र
कहला रहा हूँ।"

राष्ट्रगीत लिखने की इस प्रतियोगिता में स्वर्णपदक मिलना चाहिए राजा दुबे को।

"सड़े हुए केले जैसा
मेरा अंग अंग गलता जाता है···
हो गया सारा का सारा राष्ट्र
किसी तवायफ के घर उतरी जूती···
और जनता ?
जापानी बबुआ
सो भी बिन चाभी···
गोल बाँधकर अब
खड़ी हो गई है तमाशों की अभ्यस्त भीड़
मेरे चारों ओर !
भ्रष्ट है भीड़, और भ्रष्ट है भीड़ का शोर···
लोगो, सुनो लोगो,
मैं किसी फाहशा के मुखारविन्द से
'जनगणमन अधिनायक जय हे' सुनकर
मरना चाह रहा हूँ।"

तवायफ के घर उतरी जूती ! "भारतमाता ग्रामवासिनी" के बाद से अब तक नई कविता ने कितनी प्रगति की है !

तवायफ, वेश्या—इससे अधिक चालू उपमान नई कविता में शायद ही दूसरा हो। नयी कविता का सर्जक उसकी तरफ खिंचता है, उस पर थूकता भी है। वेश्या उस वीभत्स की प्रतीक है जिसे कवि ने अपने मनोविनोद के लिए कल्पना लोक में रचा है। कैलाश वाजपेयी के हाथ में धुआँजली 'वेश्या-इच्छाओं की' राख है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की राय में शान्ति के बारे में उस कुलवधू से पूछना चाहिए जो "कई बार विचारों की वेश्या हो गई है" (विचारों की वेश्या का अर्थ जो भी हो)। अजितकुमार सड़क से सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते हैं :

"पड़ी हुई है एक बेहया की तरह
—खुली, ठंडी, उदासीन !···
—सबको सहती।
अपने में लीन।
—एक वेश्या।"

वीभत्स-विशेषज्ञ श्रीकान्त वर्मा के यहाँ औरों की अपेक्षा वेश्या-उपमान की खपत ज्यादा है। एक चित्र : एक कवि दूसरे कवि से समय पूछ रहा है, "वेश्याएँ खुश हैं", कुत्ते हड़बड़ाकर उठ आये हैं। कवि के सामने समस्या है, इस सारे क्रम का मैं क्या करूँ ? क्या बागडोर दे दूँ वेश्याओं के हाथ में ? एक परेशानी और है। जिस कवि की वाणी में आज तेज है, वह दस साल बाद इस तरह लौट आता है।

"जैसे किसी वेश्या के कोठे से
अपने को बुझाकर।"

अब एक प्राकृतिक दृश्य : अपूर्व दिशा के नितंब पर स्खलित करता है अपने शौर्य को तेजस्वी सूर्य, कराहती हैं सारे शहर की वेश्याएँ जैसे सारे शहर की वेश्याओं पर सूरज सवार था। दूसरा दृश्य : नावें कई यात्रियों को उतारकर वेश्याओं की तरह थकी पड़ी हैं घाट में। तीसरा दृश्य : कवियों की झूठ में लिपटी हुई 'वेश्या—माँ' अपनी सन्तानों का स्वर्ग देख रही है। दुनिया के बन्दरगाहों पर अन्धकार बरस रहा है "मगर वेश्याई स्वर्ग में" फोड़ों की तरह उत्सव फूट रहे हैं। फिर एक प्रशंसनीय समाज-सेवा का काम : "मैं एक पेशाब घर की दीवार पर" जाकर लिख आता हूँ चाक से, खबरदार ! हैजा फैलाती हैं मक्खियाँ, खबरें, अखबार,

"टाँगें फैलाती हैं
रंडियाँ,
घनी रोजगार !"

इसके बाद कवि घर लौट आता है और प्रश्न करता है :

"क्या मैं पड़ा रहा हूँ अपनी स्त्री की जाँघ की दराज
में ?"

कहीं कोई खामी है जो इन कवियों को त्रास देती रहती है, इनके मन को आक्रान्त करने वाले दुःस्वप्नों की रचना करती है, जो इनका ध्यान संसार के अन्य व्यापारों से खींच-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर एक ही विषय पर केन्द्रित कर देती है।

"मैं तुममें घुटता रहा और
अपने में चुकता रहा किन्तु
तुमको सारा सका न पा
अपने को सारा सका न दे।"

इसलिए स्वभावतः

"प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे।"

फ्रायड की बात सच मालूम होती है। मनुष्य की दमित, अतृप्त कामेच्छाएँ उसके सारे सामाजिक दृष्टिकोण को रंग देती हैं। यह सोचकर उसे कुछ सान्त्वना मिलती है कि

"कुछ स्त्रियाँ
प्रेम करती हैं
वर्दी से;
बाकी
नामर्दी से।"

अजनबीपन, अकेलेपन और प्रेम की निस्सारता के दर्शन का स्रोत यही है :

"प्रेम
अकेले होने का ही
एक और ढंग है।"

सार्त्र और श्रीकान्त वर्मा की सह-अनुभूति का मूल उद्गम एक है। इन अकेले होने वाले प्रेमियों की काफी बड़ी भीड़ है, भले ही उनमें हरएक अपने को बहुत अकेला महसूस करता हो। राजा दुबे कहते हैं : तुम्हारा प्रेम जैसे एक फ्रेम है जिसमें तुम मुझे अपनी मनचाही आकृति में कस लेती हो। फिर पुष्ट कंधों से उड़ाती हुई बदन गन्ध इत्यादि। प्रणय-व्यापार की परिणति यह है :

"और हमारे बीच
रह जाती है कविता बनते-बनते
टूट जाता है छन्द मँजते-मँजते
और हम थक जाते हैं रचते-रचते
कुछ का कुछ।"

इस सफलता के बाद वह एक कविता रचते हैं, 'सारी प्रेयसियों के नाम'। शीर्षक भिन्न है, प्रणय-व्यापार की परिणति अभिन्न है :

"एक लड़की जैसे एक बहुत अच्छा सपना!
और मुझे घेर लेता है
मेरा ही हारा हुआ अकेलापन।"

एक अन्य कविता में अकेलेपन से सपनों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा :

"एक आदमकद आइना :
टूटता है जिसमें एक दृश्य
मैं ही हूँ उसका एक नपुंसक नायक।"

'आत्मजयी' के कवि कहते हैं :

"तत्पर शरीर के कण-कण में लपकता काम-वेग···
देह के अश्लील आकर्षण
थमे संकेत सहसा स्पष्ट होते जा रहे हैं···
वह जो बीत गया
निष्प्रयोजन-सा एक सुख—
जहाँ से अभी-अभी समाप्त होकर
लौटा वह अनर्थ और बे-स्वाद
मानो कुछ पाकर नहीं—खोकर···
मरा नहीं
किन्तु फिलहाल पूरी तरह चुका हुआ।"

कुछ तो जन्मजात नये कवि हैं; कुछ लड़कपन में नये कवि बनने के आवश्यक गुण प्राप्त कर लेते हैं; कुछ ऐसे भी हैं जो प्रौढ़ वय में—अनेक वर्षों तक सुखी गृहस्थ जीवन बिताने के बाद—उस मार्मिक स्थिति तक पहुँचते हैं। गिरिजाकुमार माथुर की कुछ कविताएँ बड़ी ही हृदयस्पर्शी हैं। यथा :

"डूबकर भोगे हुए
कितने अद्वितीय रसगोपन क्षण
होम पर धरे मैंने
—गन्ध पर उठी नहीं।"

अन्य कविता में :

"जितने चटकदार क्षण आये
बिना बोले चले गये
जितने चटखारे-भरे दिन पाये
सबको हम थोड़ा-थोड़ा जूठा कर
छोड़ चुके
कुछ भी ललचाने वाली चीज़ अब रही नहीं।"

इस नई कविता ने न जाने कितनों की गृहस्थी बरबाद कर दी है। शकुन्त माथुर की स्पष्टवादिता देखिए :

"मेरा और तुम्हारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अ. जू. ६६

अभी तक चलता प्यार
कहाँ खींचकर ले आया है
जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं
सपाट धरती पर
सिर्फ एक-दूसरे को बैठे
हम घूर रहे हैं
और सामने के दो खण्डहर
सिद्ध कर रहे हैं अपना क्रम ।"

नयी कविता लिखने वालों में पुरुष ही अधिक हैं, स्त्रियाँ बहुत कम, उतनी भी नहीं जितनी छायावादी कविता लिखती थीं। वे शायद नयी कविता तब लिखती हैं जब नये कवि से डूबती हैं—यानी उस कवि से जो कविता चाहे बहुत पहले से करता आया हो, पर जो नया कवि हाल में बना हो।

सार्त्र के नायक रोकांतैं को हर चीज़ थुलथुल, निर्जीव, लिजलिजी मालूम होती थी। हिन्दी के अस्तित्ववादी कवि आत्मवत् सर्वभूतेषु देखते हुए उसी प्रकार संसार और उसके सजीव-निर्जीव पदार्थों का वर्णन करते हैं। रघुवीरसहाय की एक कविता है 'दुनिया'। कैसी है यह दुनिया ?

"दुनिया एक पपड़ियाई हुई-सी चीज़ हो गई है…
दुनिया एक चिपचिपाई हुई-सी चीज़ हो गई है…
दुनिया एक फँफूदियाई हुई-सी चीज़ हो गई है…
दुनिया एक बजबजायी हुई-सी चीज़ हो गई है।"

कैलाश वाजपेयी के राष्ट्रगीत की शुरुआत होती है, 'लिजलिजे' पंजों से। वह स्वयं 'मांस ढके गिजगिजे अन्धकार में' हर रात अपने को फेंककर सुख से नष्ट होते हैं! गिरिजाकुमार माथुर की अन्तर्दृष्टि के सामने :

"एक निश्चेष्ट मिट्टी के लोंदे सा बादल
आसमान में ठसकर बैठा है।"

लेकिन ये बादल वगैरह के उपमान पुराने पड़ गए। नये उपमानों में उल्लेखनीय हैं कछुए और केंकड़े। जगदीश चतुर्वेदी कहते हैं :

"सभी मर्द घिनौने कछुओं से पहने हुए हैं खोल
केंकड़े-सी सिमटी जा रही हैं रतिक्रान्त युवतियाँ
बुझे बल्बों की कतार-सी टिड्डियों की टोली;
नपुंसकों का हुजूम !"

नयी कविता में उपमानों का 'पासिंग' खूब होता है। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ बुझे बल्बों की कतार है तो शकुन्त माथुर के लिए जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ युवतियाँ केंकड़े-सी सिमट रही हैं, कैलाश वाजपेयी के यहाँ :

"सूर्याकृति केंकड़ा खिसकता है
मांस के बुरादे पर ?"

079564

नयी कविता में केंचुए भी काफी हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने लिखा :

"बिलबिलाकर बिछ गए हैं
केंचुए अन्धे !"

कैलाश वाजपेयी ने सौ करोड़ लिजलिजे पंजों से जोड़ा : "रीढ़ की जगह एक केंचुआ"। सौ करोड़ पंजों से अलग अपने दिमाग और होठों के बारे में लिखा :

"मेरे दिमाग में ततैयों का छत्ता
होंठों पर कनखजूर चिपका है।"

मकड़ा भी अच्छा उपमान है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने एक कविता में लिखा—"वृद्ध मकड़ा आयु का चुप जाल है बुनता।" दूसरी में लिखा :

"चाँद आकाश में
बड़े सुनहरे मकड़े की तरह
धीरे-धीरे गर्व से रेंगता हुआ आता है
मुझे दबोच लेता है।"

केंकड़ों, केंचुओं, कछुओं, मकड़ों से कहाँ तक काम चले ! इस भारत देश में जहाँ और बहुत-सी खराबियाँ हैं, वहाँ एक यह भी है कि उसने कवियों के लिए काफी उपमान पैदा नहीं किए। इसलिए उपमानों की तलाश में कवि मिस्र, यूनान, फिलिस्तीन कहाँ-कहाँ की यात्रा नहीं करते। बहुत साल पहले 'नाश और निर्माण' के युग में गिरिजाकुमार ने लिखा था :

"पर गीतों के इन पिरामिडों,
—इन धौला गिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आकर।"

पिरामिडों के साथ उसी कविता में ममी :

"अब ये वसन्त
कितने सहस्र वर्षों की ममी बना आया…"

भारतभूषण ने लिखा :

"और निस्तब्धता का यह पिरामिडी प्रसार
मेरे बस का नहीं।" (अनुपस्थित लोग)

फिर लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी लिखा :

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"और मैं केवल एक अस्तित्वहीन
निर्जीव ममी सा···
पिरामिड की पर्तों में दफनाया हुआ-सा लगता हूँ।"

फिर पीयूष वर्मा ने लिखा :

"···ममियों ने
आज सदियों के उपरान्त
फिर करवट ली है
सोये हुए फराओं की आत्मा
आज फिर जग पड़ी है।"

नई कविता से यदि ये पिरामिड, ममी, केंकड़े, मकड़े, कछुए, केंचुए हटा दिए जाएँ तो उसका मूल भाव-तत्त्व उत्तर-कालीन छायावाद, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध वाली यूरोपीय रूमानियत, से कहाँ भिन्न है? कवि की ऊब, उसका अकेला-पन, आत्म-निर्वासन की भावना, आत्महत्या की आकांक्षा—कुछ भी नया नहीं है; पूंजीवादी सभ्यता के आरंभ से साहित्य में यह सब घटित होता आया है, औद्योगिक पूंजीवाद के प्रसार के बाद वह सब और घनीभूत हुआ है। अन्तर यह है कि आज का अस्तित्ववादी अकेलेपन के आगे जैसे घुटने टेकता है, सामाजिक प्रतिबद्धता से जैसे बचकर भागता है (सिद्धान्तचर्चा के दौरान भले ही वह प्रतिबद्धता की बात करे), वैसे न शेक्सपियर और मिल्टन ने घुटने टेके—यूरोप के नवजागरणकाल में; न रोली और बायरन बचकर भागे—इंगलैंड के रोमांटिक युग में; न प्रसाद और निराला ने आत्म-समर्पण किया—हिन्दी के छायावादी काव्य में। ये सब लेखक अपनी सामाजिक प्रतिवद्धता पहचानते थे। हिन्दी के नयी कविता-लेखकों की सामाजिक प्रतिबद्धता कहाँ है? निराला की शूर्पणखा की तरह साधारण मानवों पर—डाल अवज्ञा की दृष्टि—वे अपने आत्मगत संसार में खो जाते हैं। इन्होंने अपने भीतर नया क्या देखा है जो इनके पूर्वजों ने न देखा था? उन देखी हुई पुरानी बातों को ही अपनी नवीन, मौलिक अनुभूति के बल पर कलात्मक संवेदनशीलता से चित्रित करते। वह भी नहीं। जिसके पास दृष्टि है, वह बाहर भी देखता है, भीतर भी। संसार में कोई ऐसा महा-कवि अभी तक नहीं हुआ जिसने भीतर देखा हो, बाहर को छोड़ दिया हो या बाहर देखा हो, भीतर को छोड़ दिया हो। यथार्थ की इकाई बहुरूपी, अनेक-स्तरीय, स्थूल से स्थूलतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है। पर है वह इकाई, आन्तरिक रूप से सम्बद्ध और अविभाज्य। इसीलिए जो दर्शन आत्मगत चेतना को निरपेक्ष मानता है वह साहित्यकार के मूल रचना-त्मक दृष्टिकोण का ही नाश करता है, वैसे ही जैसे यांत्रिक भौतिकवाद मानवचेतना को वस्तुजगत् का प्रतिबिंब मात्र मानकर साहित्यकार की रचनात्मक क्षमता को ही अस्वीकार करता है।

यूरोप की रोमांटिक कविता में यह कमज़ोरी मौजूद थी कि वह यथार्थ से मुँह मोड़कर कवि की व्यक्तिगत आशा-निराशा, दुख-सुख, स्वप्नशीलता, पलायनप्रियता से उलझ जाती थी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद समाज का पुराना ढाँचा तोड़कर जो व्यक्तिवाद उदय हुआ, उसका एक आर्थिक आधार था, सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका सापेक्ष महत्त्व भी था। १८वीं सदी के रीतिवाद की सीमाएँ लाँघता हुआ यूरोप का नया लिरिक-काव्य इसी व्यक्तिवाद के सहारे पनपा, फला-फूला और हमारे देश समेत संसार के अनेक देशों के साहित्य को प्रभावित कर सका। किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यह धारा अपना कार्य सम्पन्न करके क्षीण हो रही थी। नये रूमानी कवि अनुभूति की तलाश में ऐबसिन्थ, हशीश, लौड-नम का सहारा ले रहे थे। गाँजा-चरस से स्फूर्ति पाने के आकांक्षी कोई नया काम नहीं कर रहे हैं जिसे—या जिससे मिलता-जुलता काम—उनके आदि प्रेरणा स्रोत न कर चुके हों। वैसे चिलम से लौ उठाना भारतीय संस्कृति के अधिक अनुकूल माना जा सकता है।

रोमांटिक काव्य की व्यक्तिवादी-प्रवृत्ति क्रमशः विकृत होती हुई अब अस्तित्ववाद के रूप में प्रकट हुई है। चरम व्यक्तिवाद को वह सामाजिक दर्शन का रूप देकर प्रस्तुत करती है। रोमांटिक कवि रूढ़ियाँ तोड़कर नये सौन्दर्यबोध और नवीन सामाजिक मूल्यों की ओर बढ़े थे। अस्तित्ववाद ने सौन्दर्यबोध की उपेक्षा और मानवमूल्यों की अस्वीकृति को ही एक रूढ़ि का रूप दे दिया। यह बात फ्रांस के अस्तित्व-वादियों पर उतनी लागू नहीं होती जितनी हिंदी में उनके अनुवर्तियों पर। रोमांटिक कवियों में एक प्रदर्शनवादी रुझान था, दुनिया को यह दिखाने की आकांक्षा कि वह कितने पतित, पीड़ित अथवा त्रस्त हैं। नई कविता में यह रूमानी प्रदर्शनप्रियता चरम सीमा तक पहुँच गई है।

जो अपने को पीड़ित, पतित, निर्वासित, अर्द्ध-विक्षिप्त महसूस करता है, वह सहानुभूति का पात्र है, सह+अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नहीं। 'न्यूरॉसिस' का गहरा सम्बन्ध सामाजिक परिस्थितियों से है; मनुष्य निरुपाय और त्रस्त होकर ही अर्धविक्षिप्त होता है। किन्तु अस्तित्ववादी लेखक होशहवास में, अपना भाग्य स्वयं रचने का जन्मजात अधिकार सिद्ध करते हुए 'न्यूरॉसिस' का वरण करते हैं। सार्त्र के अस्तित्ववाद में एक मूल असंगति है। वह दार्शनिक स्तर पर विवेक से अपना रास्ता आप चुनने का पक्षधर है। कलात्मक स्तर पर वह अपने को अर्ध विक्षेप से ग्रस्त पाता है। सार्त्र ने जब-जब स्वस्थ मन से अपने अर्ध-विक्षेप को देखा है, उन्होंने तटस्थ होकर उसकी आलोचना की है। 'उबकाई' कहानी का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा था, "उस समय मुझमें यथार्थ-बोध की कमी थी। तब से अब मैं बदल गया हूँ। यथार्थ को अनुभव करना मैंने धीरे-धीरे सीखा है। मैंने बच्चों को भूखों मरते देखा है। मरते हुए बच्चे के आगे 'उबकाई' में कोई वज़न नहीं है।" ('लाइफ' में फ्रैंक कैपलर का लेख : डीलिंग विद अर्थली हेल्स)

हिन्दी कवियों ने 'न्यूरॉसिस' को तटस्थ दृष्टि से देखने वाला यह विवेक छोड़ दिया है। वह उसे महान दार्शनिक उपलब्धि मानकर ध्यानाकर्षण द्वारा अनुभूति के स्तर पर उसे उतारने की कोशिश करते हैं।

"हर बार नये-नये
अनदेखे काँटों के कपड़े पहने मैंने
हाथ बाँध फिर भी
अस्पृश्य सा खड़ा रहा
—प्रतिमा पर बोली नहीं।"

कैसे बोले ? प्रतिमा पुरुषत्व देखकर बोलती है, नये-नये काँटों के कपड़ों पर नहीं रीझती। सौभाग्य से नयी कविता-लेखकों में अधिकांश विक्षिप्त होने का अभिनय करते हैं, वास्तव में विक्षिप्त हैं नहीं। विक्षिप्त होना उनके 'होने' से कोसों दूर है। बड़े पूंजीपतियों के किस पत्र के सम्पादकीय विभाग में नौकरी करने से कितनी तनखाह मिलेगी, किस सम्पादकीय नीति पर चलने से मालिक निकालेगा नहीं, या अन्य किसी सरकारी संस्था से चिपकने के लिए कौन-सा फलसफा अपनाना चाहिए—यह सब वे बखूबी पहचानते हैं। पूंजीवाद की खुली वकालत करके न साहित्य में जीना संभव है, न राजनीति में। विद्रोही का बाना ज़रूरी है। अस्तित्ववादी कवि विद्रोही हैं—पूरे समाज से, नैतिक मूल्यों से, कविता से, अपने से। पूंजीवादी नेता जब भ्रष्टाचार देखकर दुखी होते हैं, तब कहते हैं—सारे देश का नैतिक पतन हो गया है, जनता का ही चरित्र भ्रष्ट हो गया है, हम सब लोग स्वार्थी और कायर हो गये हैं। इस प्रकार वे पूंजीपतियों को और अपने को भ्रष्टाचार की ज़िम्मेदारी से साफ़ बचा जाते हैं। नयी कविता के लेखक जब सारी दुनिया को सड़ती-बजबजाती हुई देखते हैं, जब वे सारे देश को पस्त और मुर्दा देखते हैं, जब वे जनता को निष्क्रिय और मूर्ख कहते हैं, समस्त इतिहास की व्यर्थता सिद्ध करते हैं तब वे पूंजीवादी दृष्टिकोण से ही यथार्थ को देखते और परखते हैं। हिन्दी में अस्तित्ववाद एक अराजकतावादी धारा है। अराजकतावाद जनता की संगठनबद्ध, सामूहिक कार्यवाही का विरोध करता है। वह समझता है कि कुछ अद्वितीय महापुरुषों के बलिदान और वीरता से जनता का उद्धार हो जाएगा। हिन्दी के अस्तित्ववादी ऐसे किसी भ्रम के शिकार नहीं हैं कि वे जनता का उद्धार कर रहे हैं किन्तु उन्हें यह भ्रम अवश्य है कि वे हिन्दी कविता का विकास कर रहे हैं। विकास की इस सर्जनात्मक प्रक्रिया में वे कभी अपने को तुलसीदास और शेक्सपियर से बढ़कर मानते हैं, कभी—आत्मबोध के विरल क्षणों में—उन्हें सारा प्रयास व्यर्थ जान पड़ता है और वे कहते हैं, "हम सब बौने हैं।"

अस्तित्ववाद यदि समाज-व्यवस्था के प्रति वास्तविक विद्रोह हो तो वह साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूंजीवाद के प्रति विद्रोह हो। किन्तु वह भरसक अपने अन्तर्जगत् को सामाजिक सम्बन्धों की छूत से बचाकर रखता है। जब वह इन सामाजिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करता है तब समाजवाद और पूंजीवाद, जनता और उसके शोषक—दोनों को कोसकर अपना सामाजिक दायित्व निवाह डालता है। यदि नयी कविता के लेखक वास्तव में विद्रोही होते तो नये यथार्थ बोध से वे हिन्दी कविता को समृद्ध करते। स्थिति इससे बिल्कुल उलटी है। नई कविता ने अपने भावबोध और उपमानों का ऐसा कल्पनालोक रच लिया है। छायावाद से कहीं ज़्यादा काल्पनिक और रीतिवाद से कहीं ज़्यादा रूढ़िबद्ध है। गनीमत यही है कि पिछले बीस साल में बहुत सी कविता अस्तित्ववाद से हटकर भी लिखी गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

कुमार विमल

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का उद्भव किसी व्यवस्थित या पूर्वनियोजित प्रयास का फल नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण अनेक बिखरे सूत्रों के वयन से हुआ है। कीर्कगार्ड और नीत्शे की कृतियों में उपलब्ध संकेतों के अलावा आधुनिक अस्तित्ववादियों के विभिन्न विभावनों के समीकरण से अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से अत्याधुनिक अस्तित्ववादियों के कई विभावन, जैसे—कामू का 'अब्सर्ड'[1], हाइडेगेर का 'बेफिंडलिख्काइट',[२] यास्पर्स का 'ट्रेन्सेन्डेन्स',[3] मार्सेल का 'होप'[४] और सार्त्र का 'नासिया'[५]—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह एक विशिष्टता है कि इसमें चिन्तन और सृजन का एकान्वय है, जबकि पूर्ववर्ती सौन्दर्यशास्त्रीय विचारधारा के विवेचकों ने चिन्तन और सृजन को एकदम अलगाकर कलाकार तथा चिन्तक के बीच एक मोटी दीवार खड़ी कर दी थी। बात यह हुई कि एक दार्शनिक विचार-धारा या दार्शनिक निकाय के रूप में अस्तित्ववाद दर्शन से साहित्य में नहीं आया। अस्तित्ववाद की यह विलक्षणता है कि अस्तित्ववादी धारणा पहले सर्जनात्मक साहित्य में उभरी और बाद में दर्शनशास्त्र की एक विशिष्ट विचारधारा बन गई। अर्थात् सर्जनात्मक साहित्य ही अस्तित्ववाद की जन्म-भूमि है। अतः साहित्य-दर्शन, कला-दर्शन या सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत प्रश्नों से अस्तित्ववाद का सम्बद्ध रहना नितान्त स्वाभाविक है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी विचारकों ने, जो प्रायः कांट और हीगेल की कला-सम्बन्धी मान्यताओं से असन्तुष्ट या असहमत रहे हैं, सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत अध्येतव्य विषयों पर परम्परागत शब्द-जाल से हटकर नितान्त नई शब्दावली में सोचने की कोशिश की है तथा साहित्य और कला को एवं इनसे सम्बद्ध धारणाओं को गहन दार्शनिक प्रश्नों की तरह ही विचारणीय माना है।

यों कई विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में किसी अपारम्परिक नवीनता की झलक नहीं स्वीकार करते। जैसे, हर्बर्ट रीड अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध रोमांटिक सौन्दर्यशास्त्र के साथ जोड़ते हैं। आशय यह कि इनकी दृष्टि में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र रोमांटिक भाव-बोध और सौन्दर्य-चेतना की ही किंचित् परिवर्तित भंगिमा है। इनका तो यहाँ तक कहना है कि अस्तित्ववादी चिन्ताधारा में जो आधारभूत विभावन[६] मिलते हैं, वे सभी शेलिंग और कॉल-रिज की विचारधारा में विद्यमान हैं।[७] किन्तु मेरी समझ से अस्तित्ववाद या अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को रोमांटिसिज़्म या रोमांटिक सौन्दर्यशास्त्र की शाखा, सन्तान या 'कार्बन कापी' सिद्ध करना दो पृथक् वस्तुओं के बीच घनिष्ठ बाद-रायण सम्बन्ध स्थापित करने जैसा है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अस्तित्ववादी तात्त्विकी[८] पर आधारित है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र भी मूलतः व्यक्तिवादी है और कला-सर्जना अथवा उसके विश्ले-षण के माध्यम से अस्तित्व की सार्थकता का अविरल अन्वेषण है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला का लक्ष्य अस्तित्व की सार्थकता की खोज, अतः, व्यक्ति के गहन अन्तर्जगत् का अकृत्रिम चित्रण है तथा उसका मुख्य प्रयोजन अस्तित्व के विदरण या दरार[९] को पाटना या भरना है। फलस्वरूप अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इस कसौटी पर किसी कलाकृति का मूल्यांकन करता है कि उसमें अस्तित्व की सार्थकता की कितनी खोज हुई है अथवा उसमें व्यक्ति के गहन अन्तर्जगत् का चित्रण किस प्रकार किया गया है या उसमें अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले जीव-जगत्[१०] का कैसा समीपी अंकन किया गया है। बात यह है कि अस्तित्व-वादियों के अनुसार अस्तित्व ही व्यक्ति को सक्रिय बनाता है और अस्तित्वहीनता से निष्क्रियता पैदा होती है। इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व ही अस्तित्ववादियों के सम्पूर्ण अन्वेषण का केन्द्र है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास में कीर्कगार्ड और सार्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को कीर्कगार्ड से सुनिश्चित 'प्रारम्भ' और सार्त्र से व्यवस्थित 'परिणति' मिली है। कीर्कगार्ड ने सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध उस नन्दतिक अस्तित्व के साथ माना है, जो उसकी विशिष्ट शब्दावली में 'द फ़र्स्ट स्फ़िअर'[11] है। कीर्कगार्ड द्वारा निरूपित त्रयात्मक 'अस्तित्वक्षेत्र'[12] के सिद्धान्त में 'क्षेत्र' (स्फ़िअर) का आशय है 'विधि' (मोड)। इस तरह कीर्कगार्ड के अनुसार सौन्दर्यानुभूति भी एक प्रकार का 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' अर्थात् 'अस्तित्व की विधि' (मोड ऑफ़ इग्ज़िस्टेन्स) है। अतः कीर्कगार्ड का सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन इसी 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' या 'अस्तित्व विधि' पर निर्भर है। कीर्कगार्ड के अनुसार अस्तित्व के तीन क्षेत्र हैं— नन्दतिक क्षेत्र (इस्थेटिक्स स्फ़िअर)[13] नैतिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र। क्रम तथा व्याप्ति की दृष्टि से इन क्षेत्रों में नन्दतिक क्षेत्र निम्नतम किन्तु सर्वाधिक व्यापक है तथा धार्मिक क्षेत्र सर्वोपरि है। अस्तित्व के उक्त तीन क्षेत्रों में क्रमशः आनन्द, कर्म और वेदना की प्रधानता रहती है। इस सन्दर्भ में कीर्कगार्ड ने यह निर्देश किया है कि नन्दतिक तत्त्व अस्तित्व-लोक का सर्वाधिक व्यापक तत्त्व है। अतः अस्तित्व के नैतिक और धार्मिक धरातलों पर भी नन्दतिक तत्त्व का सर्वथा लोप नहीं होता। अस्तित्वविधि में न्यस्त नन्दतिक तत्त्व का गहन सम्बन्ध, कीर्कगार्ड के अनुसार मनुष्य के अन्तर्जगत् के साथ है, बहिर्जगत् के साथ नहीं। शायद अन्तर्जगत् को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने के कारण ही कीर्कगार्ड ने कला से सम्बद्ध तत्त्वों में मनोवेग (पैशन) को बहुत ऊँचा स्थान दिया है और मनोवेग को अस्तित्वानुभूति का एक अनिवार्य घटक माना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कीर्कगार्ड का सौन्दर्य-सिद्धान्त हीगेल के सौन्दर्य-सिद्धान्त की तरह अतीन्द्रिय या आधितात्त्विक (मेटाफ़िज़िकल) नहीं है, आनुभविक (एम्पिरिकल) है। यह आनुभविक रुझान सम्पूर्ण अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में मिलता है। फिर भी यह निश्चित है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र क्रमशः आधितात्त्विक होता जायगा, कारण, 'मेटाफ़िज़िक्स' की ओर झुकना मानो सौन्दर्यशास्त्र की नियति है। दूसरी बात यह है कि कीर्कगार्ड ने अपने सौन्दर्य-सिद्धान्त के निरूपण में 'बीइंग'[14] को अपनी विचारणाओं का प्रस्थान-बिन्दु नहीं माना है। इनका ध्यान निश्चितरूपेण 'बिकमिंग'[15] की ओर है। हालांकि ऐसा कहना निर्विवाद नहीं है, कारण, सभी अस्तित्ववादी किसी-न-किसी रूप में 'बीइंग' पर ही बल देते हैं।

जहाँ तक सार्त्र की बात है, सार्त्र के द्वारा अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को एक निश्चित 'परिणति' मिली है। सौंदर्यशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से सार्त्र ने बहुत अधिक नहीं लिखा है, किन्तु इनके कृति-साहित्य, विशेषकर उपन्यासों[16] में और विचारात्मक लेखन में सौंदर्यशास्त्र की अंगीभूत मान्यताएँ अनुपेक्षणीय मात्रा में मिलती हैं। यों सार्त्र के निबन्ध-संकलन 'एसेज इन इस्थेटिक्स' में अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र से संबद्ध इनकी कई सुस्थ मान्यताएँ एक जगह पर मिल जाती हैं। इस पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य में यह दावा किया गया है कि यह पुस्तक अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र का घोषणा-पत्र है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह पुस्तक सौंदर्यशास्त्र पर लिखा गया कोई सुनियोजित प्रबन्ध नहीं, कुछ कलाकारों पर अलग-अलग लिखे गये निबन्धों का संकलन है, जो निबन्ध पुस्तक-रूप में प्रकाशित होने से पहले सार्त्र की साहित्यिक पत्रिका[17] में छप चुके थे। इस पुस्तक की दूसरी सीमा यह है कि इसमें सार्त्र के सभी निष्कर्ष केवल मूर्तिकला और चित्रकला की विवेचना पर निर्भर हैं, यद्यपि ये निष्कर्ष समग्र ललित कला पर थोपकर सौंदर्यशास्त्रीय निष्कर्ष बना दिये गए हैं। इसमें जिन चार कलाकारों की विवेचना की गई है, उनमें एक भी प्रतिनिधि कवि या साहित्यकार नहीं है।[18] इस प्रकार उक्त पुस्तक की अनेक सीमाएँ हैं, यद्यपि इन सीमाओं के बावजूद अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र को परिपुष्ट करने में इस पुस्तक का उल्लेखनीय योगदान है। सबसे बड़ी बात यह है कि सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र में पहली बार सामाजिक चेतना को स्थान दिया है अन्यथा अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र सामाजिक चेतना से पराङ्मुख व्यक्तिवादी कला-दर्शन-मात्र बनकर रह जाता। किन्तु परवर्ती सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र में एक नई कड़ी जोड़ दी।[19] सच पूछिये तो कला-विवेचन में सामाजिक सन्दर्भ को एक परिप्रेक्ष्य के रूप में स्वाकार कर सार्त्र ने अस्तित्ववादी सीमा में एक प्रगतिशील कदम उठाया है। अल्जीरिया की आजादी की माँग कर, वियतनाम में अमरीकी सैनिक आक्रमण का विरोध कर और नोबेल पुरस्कार को १९३५ ईसवी में ठुकराकर सार्त्र ने अस्तित्ववादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शम्बूक से बाहर निकलने की कोशिश की है तथा अपने युग की प्रगतिशील विचारधारा को वैचारिक समर्थन दिया है। सार्त्र की इस वैचारिक क्रान्ति या प्लुति का प्रच्छन्न प्रभाव गत दशाब्द में लिखे गए इनके कला-दर्शन-सम्बन्धी निबन्धों और स्वतन्त्र रचनात्मक कृतियों में मिलता है। तभी तो सार्त्र ने अस्तित्ववादी होकर भी जिस अस्तित्ववाद का मूल आस्पद अन्तर्जगत् और वैयक्तिकता है, 'सुन्दरम्' का सम्बन्ध 'शिवम्' (लोक मंगल) के साथ जोड़ दिया है।[२०] मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि सार्त्र ने अस्तित्ववाद की मूल भूमि छोड़ दी है। सार्त्र ने तो अपनी अस्तित्ववादी धारणाओं के अनुरूप सौंदर्यशास्त्र से सम्बद्ध मान्यताओं के निरूपण में संत्रास और निराशा को काफी महत्त्व दिया है। शायद इसीलिए सार्त्र को ऐसे कलाकार[२१] ने भी आकृष्ट किया, जिसके अनुसार कला एक 'अब्सर्ड एक्टिविटि' है—ऐसी 'अब्सर्ड एक्टिविटि' जिसमें केवल शून्यता (नाइहिलटी), निराशा (डिस्पेअर), त्रास (टेरर) और नियति के आक्रोश की अभिव्यक्ति रहती है।

सार्त्र द्वारा संकेतित उपर्युक्त सामाजिक प्रासगिकता की बात यदि छोड़ दी जाए, तो अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र मुख्यतः व्यक्ति-वैचित्र्य और स्वानुभूति को महत्त्व देता है। अतः यह संस्थात्मक मनुष्य[२२] से संबद्ध कथ्य को नहीं, व्यक्ति-वैशिष्ट्य से युक्त कथ्य को प्रश्रय देता है। इसके अनुसार वैयक्तिक भावना और अनुभूत धारणा से ही कला-सर्जना सम्भव है। निर्वैयक्तिक भावनाएँ और कल्पित धारणाएँ कला-सर्जना की दृष्टि से अनुर्वर होती हैं। सच्ची अनुभूति व्यक्ति-विशिष्ट और काल-सापेक्ष होती है। एक व्यक्ति क्षण-विशेष में जिस किसी अनुभूति को पूरी ईमानदारी के साथ भोगता है, उस क्षण में उस अनुभूति को उस प्रकार केवल वही व्यक्ति भोग सकता है, अन्य कोई नहीं। क्षण, अनुभूति और व्यक्ति की इसी अनन्वयता को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला-सर्जना का मुख्य उपजीव्य मानता है। हम जानते हैं कि क्षणानुभूतियों के संदर्भ में व्यक्ति सदैव तर्क-बुद्धि से ही संचालित नहीं होता है और न वह वस्तु-सत्य के निर्देश का ही पालन करता है। अतः उपरिविवेचित मान्यता से यह निष्पन्न हो जाता है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र नन्दतिक अनुशासन (आर्डर) को तर्कात्मक और वस्तुवादी अनुशासन से भिन्न मानता है। यह दृष्टिकोण, निश्चय ही, कला में आत्मनिष्ठ स्वतःस्फूर्ति[२३] के महत्त्व को स्थापित करता है तथा यह बतलाता है कि कला का प्रत्येक 'आलम्बन', 'आश्रय' के 'अस्तित्व-बन्ध' की उन्मुक्ति का प्रतीक हुआ करता है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में अंकित आलम्बन राम, कृष्ण, ईसामसीह या गौतम बुद्ध-जैसा चरित्र अथवा अन्य प्रकार का परम्परित आलम्बन नहीं हुआ करता। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन परम्परा से नितान्त भिन्न हुआ करता है। यह आलम्बन न किसी परम सत्य या तथाकथित उच्चादर्श से संबद्ध रहता है और न किसी आमुष्मिक कामना से। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन तो कलाकार के निजी उच्छ्वास, असन्तोष या अस्तित्व की अर्थहीनता का प्रतिबिम्ब-मात्र हुआ करता है, क्योंकि अस्तित्ववादियों की दृष्टि में सम्पूर्ण मानव-जीवन ही एक 'दुखान्त यथार्थ'[२४] है। अर्थात्, अस्तित्ववादी कला का कथ्य हमारे दग्ध अन्तर्जगत् और चुभन से भरे बाह्य परिवेश का यथावत् चित्रण है। यथावत् चित्रण रहने के कारण अस्तित्ववादी कला हमारे लिए केवल 'दर्पण' का काम करती है, 'दीपक' का नहीं। यह तो दुनियावी ज़िन्दगी[२५] को हू-ब-हू हमारे सामने रख-भर देती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अस्तित्ववादी कलाकार कला को 'दीपक' बनाना चाहते ही नहीं। अस्तित्ववादियों के अनुसार यथार्थानुभूतियों का नन्दतिक रूपान्तरण ही कला है। इसलिए यथार्थ ही (आवश्यक नहीं कि एक व्यक्ति के लिए जो यथार्थ है, वह अन्य सबके लिए भी यथार्थ हो) कला का मूलाधार प्रस्तुत करता है। कल्पना उसका मंडन करती है या उस पर मीनाकारी। इसी परिपार्श्व में अस्तित्ववाद का दूसरा विश्वास है कि व्यक्ति के लिए जगत् की सार्थकता जीवन-सापेक्ष है। मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति के लिए इस जगत् की कोई सार्थकता नहीं रहती है। सचमुच, मृत्यु के साथ प्रत्येक व्यक्ति का बहुत विचित्र और अनिवार्य सम्बन्ध है। जन्म लेते ही प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से संबद्ध हो जाता है। समय की साँस के सहारे मृत्यु हर क्षण व्यक्ति के जीवन-द्वार पर दस्तक देती रहती है। यानी मनुष्य चाहे या न चाहे, जन्म लेने के बाद उसे मृत्यु के लिए सदैव तैयार रहना पड़ता है। इस तरह अस्तित्ववादियों की यह धारणा है कि मृत्यु की रेखा के खिंचते ही यह सार्थक जगत् मृत व्यक्ति के लिए निरर्थक हो जाता है। अर्थात्, हर व्यक्ति के लिए उसका जीवन-सन्दर्भ इस जगत् की सार्थकता को प्रमाणित करने के हेतु अनिवार्य है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हीं कलानुभूतियों को महत्त्व देता है, जो 'व्यक्ति' के जीवन-सन्दर्भों से छनकर—यथार्थ बनकर आती हैं। यथार्थ के प्रति ऐसे आग्रह के बावजूद, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि में, कल्पना के मंडन या मीनाकारी की बात व्यर्थ नहीं है। इसीलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह मान्यता है कि अनुभूति और कल्पना में पगा हुआ या विन्यस्त 'यथार्थ' ही 'वास्तविक' (ऐक्चुअल) हो पाता है। जो 'यथार्थ' को अनुभूति और कल्पना की ओप से उजागर नहीं रहता या अनुभूति और कल्पना से परित्यक्त होता है, वह कभी भी 'वास्तविक' नहीं हो सकता। 'यथार्थ' को 'वास्तविकता' बनने के लिए 'कल्पना' के योग की आवश्यकता होती है—यह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की एक नायाब धारणा है।

यथार्थ और कल्पना के संबंध में इस स्वतोव्याघातपूर्ण धारणा से स्पष्ट है कि यथार्थ और कल्पना के प्रश्न पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि उलझी हुई है। एक ओर अस्तित्ववादियों ने अपने सर्जनात्मक साहित्य में जीवन के खुरदरे यथार्थों, संत्रास और फ़ालिजज़दा लमहों के प्रति आसक्ति दिखलाई है और दूसरी ओर नन्दतिक (सौन्दर्यात्मक) मूल्य के धरातल पर इन्होंने यथार्थ को उचित महत्त्व नहीं दिया है। जैसे, सार्त्र ने सौन्दर्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'यथार्थ' कभी सुन्दर नहीं हो सकता। सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है, जिसका संबंध केवल कल्पना-जगत् के साथ है।[२६] इस सूत्र की व्याख्या में सार्त्र का कथन है कि सौन्दर्यास्वादन से प्राप्त आनन्द वास्तविक होता है, किन्तु, सौन्दर्य के घटक-रूप में कलाकार द्वारा आयोजित वस्तुएँ अवास्तविक (अन्-रिअल) होती हैं। सार्त्र ने इसी तथ्य को सौन्दर्यानुभूति के पारम्परिक विश्लेषण में बहुचर्चित 'ताटस्थ्य' (डिस्-इन्-टरेस्टेड्नेस) का मूलभूत आधार माना है तथा अपनी स्थापना के समर्थन में कांट की एतद्संबंधी मान्यता का उल्लेख किया है।[२७] सार्त्र के अनुसार प्रत्येक कलाकृति सृजन के समय कलाकार के मन में बने बिम्बों का 'एक्स्टर्नल ऐनलॉग' हुआ करती है। यह 'ऐनलॉग' या मूर्त्तविधान से युक्त 'तुल्य-रूप सादृश्य' ललित कला के विभिन्न प्रकारों और विधाओं के अनुसार अपना स्वरूप बदलता रहता है। उदाहरण के लिए चित्रकला में यह मूर्त औपम्य-विधान या तुल्यरूप सादृश्य की योजना उपादानमूलक (मैटिरियल) होती है और काव्य-कला में वाचिक (वर्बल)।

अस्तित्ववादियों ने एक शब्द-जाल बिछाकर इस तथ्य को ढँक-सा दिया है कि कला यथार्थ का अनुकरण या प्रति-रूपीकरण-मात्र नहीं है। वस्तुतः कला की सार्थकता केवल यथार्थ के चित्रण में नहीं, सत्य के उद्घाटन (रेविलेशन) में है।

कला-सर्जना में जहाँ तक नन्दतिक ईमानदारी (इस्थे-टिक सिन्सेरिटि) का प्रश्न है, उस पर अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि एकदम सुलझी हुई है। अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र नन्दतिक ईमानदारी को कला के लिए आवश्यक मानता है। जिस कलाकृति में नन्दतिक ईमानदारी न हो, वह व्यर्थ है। अस्तित्ववादियों के अनुसार कलाकार के स्वभाव में नन्दतिक ईमानदारी जीवन की खुरदरी अनुभूतियों को भोगने से पैदा होती है। जो कलाकार अपनी जिन्दगी के खट्टे-मीठे अनुभवों को किसी दुराव-छिपाव के बिना व्यक्त करता है, उसी की कला में नन्दतिक ईमानदारी रहती है।

यथार्थ की ओर झुकाव का प्रभाव अस्तित्ववादी सौंदर्य-शास्त्र के काल-दर्शन पर भी पड़ा है। नन्दतिक कार्य-कलाप[२८] के प्रसग में अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र का काल-दर्शन बहुत ही तादात्विक है—वर्तमाननिष्ठ है। यह कला में अंकित क्षणों को अतीत और भविष्य के सन्दर्भों से मुक्त देखना पसन्द करता है। शायद, इसी कारण यह चित्रकला में 'स्टिल लाइफ़'[२९] के अंकन को महत्त्व देता है। इस प्रकार काल को केवल 'वर्तमान' के आयाम में कैद करने की चेष्टा और सामान्यतः त्रिधा-विभक्त काल के शेष दो आयामों—अतीत और भविष्य को अवहेलित करना अस्तित्ववादी कला-रुचि की ध्यातव्य विशेषता है। यह सोचने की बात है कि अतीत का कृतघ्न और भविष्य से पराङ्मुख 'वर्तमान' आखिर कैसा हो सकता है। बात इतनी-सी है कि हर निषेध में एक स्वीकृति रहती है और इसलिए किसी वस्तु या धारणा के निषेध में उसकी प्रच्छन्न प्रकारान्तर स्वीकृति रहती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अतीत और भविष्य को नकारता नहीं है, बल्कि अतीत और भविष्य को भी सम्पीड़ित (कॉम्प्रेस्ड) करके सम्पूर्ण काल का एकान्वय केवल 'वर्तमान' में करना चाहता है। यानी ऐसा वर्तमान, जिसमें भूत और भविष्य—दोनों निहित हों। इसी वर्तमान-निष्ठा का यह फल निकला है कि अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र प्रत्येक कलाकृति को समसामयिकता से युक्त मानता है। जिस कलाकृति की मूल-चेतना समसामयिक न होगी, वह कभी भी उत्कृष्ट नहीं हो सकती। कहना तो यह ठीक होगा कि किसी भी कलाकृति की अभिशंसा 'क्लाइमेट ऑव द एज'[३०] से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती।

'दर्पण' और 'दीपक' की बहसतलब बात उठाने के बाद यह जरूरी है कि कला और सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की धारणा का, संक्षेप में ही सही, विवेचन कर लिया जाए। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में कला-सर्जना और सोद्देश्यता पर प्रासंगिक विचार मिलता है। इसका झुकाव 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की ओर है। 'प्रयोजनहीन' इसलिए कि कृति-विशेष को रचने के पहले उसकी कोई पूर्वझलक कलाकार के मनश्चक्षुओं में नहीं बनी रहती है। रचना स्वयं बन जाती है। रचयिता को उस रचना की प्रत्येक विकास-भंगी का पता नहीं रहता। जैसे गर्भस्थ शिशु का कौन अंग कब बना—इसे स्वयं गर्भिणी भी नहीं जानती। किन्तु, जब कृति बन जाती है—रचना तैयार हो जाती है, तब जगत्-प्रपंच उसमें कोई प्रयोजन भर देता है अथवा उसमें कोई प्रयोजन ढूंढ़ लेता है। व्यावहारिक शुभ-लाभ से दूर रहनेवाले प्रत्येक ईमानदार कलाकार को रचना-काल में, शायद ऐसे प्रयोजन का भान या पूर्वाभास तक नहीं रहता। इसी विश्लेषण प्रक्रिया के आधार पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की बात करता है। अतः स्वतोव्याघातपूर्ण निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न प्रयोजनशील है और न प्रयोजनहीन है। अस्तित्ववादी कला मुखर होकर हमें कोई उपदेश नहीं देती है और न किसी आदर्श की ओर हमें उछालकर फेंकना चाहती है। इसलिए वह प्रयोजनशील नहीं है। इसी तरह अस्तित्ववादी कला प्रयोजनहीन भी नहीं है, क्योंकि वह हमें जीवन का 'समानान्तर यथार्थ' देती है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इसे सिद्धान्ततः मानता है कि कला (सही मानी में अस्तित्ववादी कला) हमारे सामने कोई नया 'प्रस्ताव' लेकर नहीं आती है। वह 'प्रस्ताव' करना जानती ही नहीं। वह सदैव हमारे यथातथ जीवन का समर्थन करती है। यानी कला की भूमिका एक समर्थक की भूमिका होती है। वह 'यथालब्ध' या यथावत्' जीवन का समर्थन छोड़कर जब 'प्रस्ताव' करती है, तब वह आचेष्टित प्रयोजनशीलता से ग्रस्त हो जाती है। इसका आशय यह निकला कि अस्तित्ववादी कला हमें आधुनिक जीवन की पूरी अर्थहीनता और असंगति को किसी हिचक के बिना स्वीकार करने के लिए कहती है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला का कोई पूर्वव्यवस्थित (प्रि-अरेंज्ड) प्रयोजन नहीं होता। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में सायास प्रयोजनशीलता नहीं भरी जाती। सायास प्रयोजनशीलता या अर्थहीन में अर्थ भरने की चेष्टा अनुभूतिशून्य दर्शनशास्त्र में होती है। अस्तित्ववादी कला में यदि घुणाक्षर न्याय से प्रयोजनशीलता रहती है, तो अयास प्रयोजनशीलता रहती है। प्रयोजनशीलता सायास हुई कि वह निरर्थक हो जाती है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की मान्यता है कि कला में कोई आचेष्टित प्रयोजनशीलता नहीं होनी चाहिए। रचना-क्रम में स्वतः कोई प्रयोजन समाविष्ट हो जाए अर्थात्, अयास प्रयोजनशीलता आ जाए तो दूसरी बात है। ऐसी अयास प्रयोजनशीलता सार्थक होती है और कला के शील को भ्रष्ट नहीं करती है।[३१] शायद, इस मान्यता के मूल में अस्तित्ववादियों (विशेषकर नास्तिक अस्तित्ववादियों) के द्वारा प्रस्तावित 'नई नैतिकता' की धारणा है। अस्तित्ववादी दार्शनिक और कलाकार परम्परावादियों की तरह पुण्य से प्रेम और पाप से घृणा नहीं करते। ये हर सहज पाप में एक आधितात्त्विक अर्थ[३२] ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं। इस तरह अस्तित्ववाद ने जिस उदार 'नई नैतिकता' का प्रवर्त्तन किया है, उसका सीधा प्रभाव कला की सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों पर है।

यह ध्यातव्य है कि अन्तर्जगत् के साथ अस्तित्ववादी कला का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कलानुभूति और आत्मनिष्ठा में अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। अन्तर्जगत् की स्वस्ति के बिना कोई भी कथ्य कलात्मक नहीं हो सकता। बाह्य जगत् के पदार्थ तभी कला-वरेण्य हो पाते हैं, जब उनका प्रतिबिम्ब अन्तर्जगत् में उतर जाता है। यह अन्तर्जगत् व्यक्ति-विशिष्ट होता है। बाह्य गोचर जगत् सबके लिए एक है, किन्तु, प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्जगत् एक-दूसरे से भिन्न हुआ करता है। अतः अन्तर्जगत् से सम्बद्ध रहने के कारण प्रत्येक कला-कृति पर उसके स्रष्टा व्यक्तित्व की छाप रहती है। अर्थात्, कला वैयक्तिक होती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वैयक्तिकता से कलाकृति का सम्बन्ध अविच्छेद्य होता है। इसलिए सार्त्र ने बहुत ही निर्णयवादी स्वर में यह मान्यता व्यक्त की है कि प्रत्येक कलाकृति किसी-न-किसी 'व्यक्ति' की होती है। आशय यह है कि कलाकृति कलाकार के 'व्यक्तित्व' से सदैव जुड़ी रहती है। फलस्वरूप, वैयक्तिकता से संश्लिष्ट रहना कला की एक अनिवार्यता है।

प्रकट है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, अस्तित्ववादी दर्शन के अनुरूप 'व्यक्ति-सत्य' को विशेष महत्त्व देता है। यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का सत्य अलग-अलग हो सकता है—कुछ मानी में अपना हो सकता है। इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन वैयक्तिकता को स्वीकारता है और कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अनन्वय होता है—किसी भी व्यक्ति का सच्चा स्थानापन्न नहीं चुना जा सकता। इसलिए एक व्यक्ति के उठ जाने से जो रिक्तता पैदा होती है, वह अपूरणीय होती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववाद व्यक्ति-विशिष्ट सत्य को प्रचुर महत्त्व देता है और अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र वैयक्तिक जीवनानुभूतियों को कला का मूल उपादान मानता है। ये ही वैयक्तिक जीवनानुभूतियाँ व्यक्ति और जगत् के द्विविध वैचित्र्य को ढोती हैं। यह एक अचरज है कि पूरी जिन्दगी जीकर भी व्यक्ति अपने से और अपने को परिवृत्त करनेवाले जगत् से अपरिचित रह जाता है। न व्यक्ति दुनिया को जान पाता है और न दुनिया उसे जान पाती है। प्रत्येक व्यक्ति जीने के बहाने—कोई-न-कोई काम करते रहने के बहाने अपने को ठगता रहता है और इसी आत्म-वंचना के क्रम में एक दिन धोखे से चुक जाता है। इस तरह 'अकेलापन' व्यक्ति का एकमात्र साथी बन जाता है। तब व्यक्ति मात्र 'भोक्ता' ही नहीं रहता, वह अपने सारे भोगों का एकमात्र 'साक्षी' भी बन जाता है। एक ही व्यक्ति का 'भोक्ता' और अपने भोगों का एकमात्र 'साक्षी' होना—उसके अकेलेपन की चरम सीमा का प्रमाण है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र व्यक्ति और जगत् के उक्त 'परिचय-मुख-अपरिचय' की तल्ख-तुर्श अभिव्यक्ति को ललित कला का प्रच्छन्न प्रयोजन (सोद्देश्यता के अर्थ में नहीं) मानता है।

व्यक्ति-सत्य को विशेष महत्त्व देने का सहज परिणाम यह है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र एक ओर मनुष्य की बोध-शक्ति के अनुद्घाटित कोषों की खोज पर बल देता है और दूसरी ओर कला का विषय केवल उन वैयक्तिक अनुभूतियों को मानता है, जो बौद्धिक नियंत्रण से मुक्त होती हैं। ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' का अंकन कहा जाता है। किन्तु, आदर्शवादी और साम्यवादी विचारकों का यह संयुक्त आरोप है कि व्यक्ति-सत्य, बौद्धिक नियंत्रण-मुक्त वैयक्तिक अनुभूति या 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' के नाम पर अस्तित्ववादी साहित्य और कला में हम मनुष्य के अशुभ, निम्नग और आर्त्तरूप का ही चित्रण पाते हैं। अतः इनके विचार से अस्तित्ववादी दृष्टिकोण व्यापक और मूलतः नन्दतिक न होकर एकपक्षीय है। इस सन्दर्भ में यह लक्ष्य करने योग्य है कि अस्तित्ववाद के धार्मिक और आस्तिक रूप के प्रस्तोता विचारकों ने कला को 'साइफर'[33] कहा है और उसे अलौकिक शक्ति का संकेत-चिह्न तथा लोक-अलोक के बीच का 'इन्टर्मीडिएट किंगडम[34] माना है। अतः इस कोटि के अस्तित्ववादी विचारक किसी कलाकार की सामर्थ्य का मूल्यांकन इस दृष्टि से करते हैं कि उसने अस्तित्व को कैसे संकेतों द्वारा व्यक्त किया है, उसने व्यक्ति की मूल वैयक्तिकता को किस प्रकार उरेहा है और उसने मनुष्य की सीमान्त दशाओं में कितनी गहराई से पैठने की कोशिश की है। किन्तु, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों की इस धारणा से भी अनेक प्रगतिशील विचारक असन्तुष्ट हैं और वे इसे समकालीन पूँजीवादी समाज की आध्यात्मिक अधोगति की प्रतिच्छाया मानते हैं।

भावना और बिम्ब के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का चिन्तन पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र से एकदम अलगा हुआ नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र भी यह मानता है कि भाव और बिम्ब के परस्पर घुल-मिल जाने से कला में अर्थ-वैमल्य की सिद्धि होती है। इस सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की इतनी-सी विशेष मान्यता है कि बिम्बों की ऊर्जा से कलाकार में अस्तित्व-धारणा की शक्ति प्रमाणित होती है। अस्तित्व की यह धारक शक्ति मनुष्य को खुलकर या निर्भीक होकर जगज्जीवन की सारी विडम्बनाओं और हिड़िबा विद्रूपताओं को—उबकाई और अश्लीलता को भोगते हुए जीने का साहस देती है। इस प्रकार, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न किसी सूक्ष्म आध्यात्मिक आवश्यकता से उत्थित होती है और न मनुष्य की अनिवार्य अपूर्णता का पूरक-मात्र हुआ करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वह तो केवल 'नॉस्टैल्जिक'[३५] होती है—पीड़ा की आवृत्ति से युक्त होती है। पीड़ा की आवृत्ति से तरंगित रहने के कारण ही अस्तित्ववादी कला में मालीखूलिया या अवसाद की अतिरंजना रहती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र यहाँ तक कहता है कि कला में नन्दतिक सौन्दर्य के लिए ऐन्द्रिय सुखदता और आकर्षण का आधान नहीं, उदासी या अवसाद और करुण मनोवेदना (पेथॉस) के समावेश की आवश्यकता है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अवसन्न, कुत्सित और कुरूप को पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र की तुलना में नितान्त भिन्न दृष्टि से देखता है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ने कला और स्वप्न के सम्बन्धों पर किंचित् नवीन दृष्टि से विचार किया है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों का यह दृष्टिकोण फ्रायड के स्वप्न-विचार से कुछ भिन्न है। अस्तित्ववादियों ने कला और स्वतःस्फूर्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण के प्रसंग में ही कला तथा स्वप्न पर विचार किया है। इनके अनुसार स्वप्न-तंत्र और कला-तंत्र में अद्भुत समानता है। इसीलिए स्वप्न-चेतना और नन्दतिक चेतना में भी पारस्परिक समानता है। कला और स्वप्न-सम्बन्धों के सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह विशेषता है कि उसने स्वप्नों पर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार नहीं किया है। उसका स्वप्न-विश्लेषण मुख्यतः 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' है।[३६] सार्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'द साइकॅलॉजि ऑव इमैजिनेशन' में हम इसी 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' दृष्टिकोण का उपयोग स्वप्न और कला-बिम्बों के विश्लेषण में पाते हैं। जिस तरह कला की सार्थकता अस्तित्व की गहराइयों में डूबी हुई अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में है, उसी तरह स्वप्नों का काम अचेतन की अतुल गहराइयों में दबी या छिपी हुई वासनाओं को छद्मवेष में अभिव्यक्त करना है। अन्तर यह है कि स्वप्न-चेतना व्यावहारिक अर्थ में जहाँ कल्पना-विलास मात्र होती है, वहाँ नन्दतिक चेतना से नये-नये जीवन-मूल्यों का आविर्भाव होता है। यह अन्तर स्वप्न और कला के फलितार्थ का अन्तर है, स्वप्न-वस्तु और कला-वस्तु का तात्त्विक अन्तर नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेक खूबियों के रहने पर भी अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की अनेक सीमाएँ हैं। इसकी पहली सीमा यह है कि इसमें अनेक विसंगतियाँ और विरोधाभास हैं। कई विरोधाभास और विसंगतियाँ तो एकदम अनावश्यक हैं। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि आस्तिक-नास्तिक, जर्मन-फ्रेंच, पुराने-नये—कई प्रकार के अस्तित्ववादियों ने अस्तित्ववादी दर्शन को एक ऐसा वाद्य-वृन्द (आर्केस्ट्रा) बना दिया है, जिसमें समभंग और विसंवादी स्वरों की कमी नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को 'विचित्र'-वीणा बनाने का गौण कारण यह है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों ने अपनी मान्यताओं के निरूपण में स्वरचित विशिष्ट शब्दावली (जार्गन) की क्रीड़ा दिखलाई है। जैसे, सार्त्र ने साहित्य और कला की विवेचना के प्रसंग में 'प्लेजर' शब्द का तिरस्कार करते हुए सौन्दर्यानुभूति से प्राप्त प्रसादन को 'इस्थेटिक जॉइ'[३७] कहना पसन्द किया है।[३८] सार्त्र के अनुसार 'प्लेजर' 'सुख' का वाचक है, जिसके द्वारा की गई सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या अपूर्ण रह जाएगी। इसलिए सार्त्र ने 'जॉइ' की व्याख्या अपने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार की है। इसी तरह हाइडेगर की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं में भी शब्द-क्रीड़ा मिलती है, जिसके फलस्वरूप हाइडेगर द्वारा प्रतिपादित कला-सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्रीय कम, दार्शनिक या आधितात्त्विक अधिक है। हाइडेगर का कहना है कि 'बीइंग'[३९] विद्यमान यथार्थ[४०] से एकदम पृथक् है। 'बीइंग' तथा विद्यमान यथार्थ के इसी तात्त्विक पार्थक्य[४१] को हाइडेगर 'कला-कृतियों के सृजन का मूल'[४२] मानता है। हाइडेगर का झुकाव कला के रूप-विधान को 'गेस्टाल्ट' मानने की ओर है। इनका कहना है कि कला-जगत् में जिसे अस्तित्व मिल जाता है, वह वस्तु-जगत् की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सच्चा हो जाता है। एक ओर सार्त्र ने 'एसेज़ इन इस्थेटिक्स' में ललित कलाओं के बीच कविता के पारम्परिक आभिजात्य को प्रश्नास्पद दृष्टि से देखा है और दूसरी ओर हाइडेगर ने अन्य कलाओं की अपेक्षा कविता की श्रेष्ठता को युक्तिपूर्वक स्थापित किया है। हाइडेगर का कथन है कि सत्य का आकलन या उद्घाटन कला का आधार है। सत्य का यह उद्घाटन, आकलन या निबन्धन सबसे अधिक अच्छी तरह 'भाषा'[४३] के माध्यम से होता है और कविता ही भाषा का मूल (ऑरिजिन) है। इसलिए इन्होंने कविता को कला का सार[४४] कहा है। इतना ही नहीं, इन्होंने यह भी कहा है कि कविता का सार ही सत्य का आधार[४५] है। इस तरह कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कला का सार कहना और कविता के सार को सत्य का आधार मानना कविता के प्रति हाइडेगर के अत्युच्च समादर का द्योतक है। शायद, इसीलिए कई विचारकों ने हाइडेगर का आदर्श 'फिलॉसफर-पोयेट' को माना है।

परम्परावादियों के अनुसार भी अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे बड़ी सीमा उसमें न्यस्त विरोधाभास है। कारण, एक ओर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र निष्कलुष तथा अनाविल कला-चेतना को मूलतः अप्रतिबद्ध मानता है और दूसरी ओर वह उत्कृष्ट कला को प्रत्येक ईमानदार या जायज़ प्रतिबद्धता के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध मानता है। यह दूसरी बात है कि इस प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धता के पचड़े से परे तटस्थ विचारकों को यह तथ्य साफ मालूम पड़ता है कि अस्तित्ववादी कला जगत्-जीवन की निरर्थकता, शून्यता, उबकाई, घिनौनेपन और कुत्सा को व्यक्त करना चाहती है। कामू की कृतियाँ इसे सर्वाधिक सशक्त रूप में उदाहृत करती हैं। अस्तित्ववादी कला की इस मुख्य प्रवृत्ति पर भी आदर्शवादी और उग्र आशावादी विचारक झुंझलाते हैं। किन्तु, मेरी दृष्टि में यह झुंझलाहट पूर्णतः सार्थक नहीं है। कारण, आज हमारे जीवन ने, वस्तुतः अर्थहीन प्रतीक्षा, अनावश्यक स्थगन और बाह्यारोपित निलम्बन का रूप धारण कर लिया है। अतः अस्तित्ववादी कला यदि आधुनिक जीवन के इसी विद्रूप का प्रतिबिम्बन और प्रतिरूपीकरण अपना कार्य-विशेष[46] मानती है, तो इसमें अनुचित क्या है ? ऐसा प्रतीत होता है कि अस्तित्ववादी कला जीवन के कटु-तिक्त यथार्थ को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित कर जगत्-जीवन की निरर्थकता से ग्रस्त मानव-मन को 'निर्भीक निराशावादिता[47] से तरंगित करना चाहती है। इसलिए अस्तित्ववादी कला हमारे जीवन को अकृत्रिम रूप में हमारे सामने रखती है और हमें अपनी नंगी ज़िन्दगी को रू-ब-रू देखने का साहस देती है। सचमुच, अस्तित्ववादी कलाकार पराजय, उन्माद, जुगुप्सा, मृत्यु इत्यादि को चित्रित कर ही अपनी 'अनुभूतियों का त्योहार' मनाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि अस्तित्ववादी कला जीवन में, जो वस्तुतः निरर्थक और अर्थहीन है, वैसा कोई बाह्यारोपित अर्थ नहीं भरना चाहती है, जैसा कि अब तक कला पारम्परिक दर्शन का सहारा लेकर करती रही है। सच पूछा जाए तो अब तक दर्शन और कला ने जीवन में ज़बर्दस्ती अर्थ भरते रहने की बेशुमार कोशिश की है। लेकिन अर्थशून्य जीवन में अर्थ भरा जाए, तो कैसे ? बलात् ढाला गया अर्थ सछिद्र जीवन में ठहरे, तो कैसे ? इसलिए इस वस्तुतः निरर्थक जीवन में बाह्यारोपित सार्थकता भरने का प्रयास व्यर्थ है। फलस्वरूप, परिवेश की दुर्गति से ऊबे हुए अस्तित्ववादी कलाकार ने अस्तित्व की करुणा तथा 'अनाहत' पीड़ा की आवृत्ति को जिस तीव्रता के साथ भोगा और अभिव्यक्त किया है, वह अभूतपूर्व है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववादी कला में जगत् के दुख-दैन्य (वेल्ट्शमर्त्स)[48] का ही विशेष अंकन किया गया है और उसमें हमें मनुष्य के 'प्रसन्न' मुख की नहीं, 'ग्लपित' मुख की ही झाँकी मिला करती है। सम्भवतः इसी कारण अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि अस्तित्व कलाकार या सौन्दर्यशास्त्री जिस मूर्त्त जीव-जगत्[49] की चर्चा करते हैं, वह वस्तु-सत्य नहीं, एक दार्शनिक पूर्वधारणा है।

आलोचकों की दृष्टि में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे बड़ी खामी उसकी खाँटी आत्मनिष्ठता है। कारण, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं को केवल 'ह्यूमैन इन्टिअरर'[50] में भटकना चाहता है। इसीलिए प्रगतिशील विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र और जीवन-दर्शन को एक कल्पित विश्व-बोध पर निर्भर आधुनिक दर्शन की अविवेकी चिन्ताधारा कहते हैं। इनके अनुसार अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला और जीवन-दर्शन के धरातल पर वर्तमान पूंजीवादी समाज के दैन्य तथा प्रतिवादों का समाधान ढूंढ़ने में असमर्थ है। इस तरह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, इनकी विचार-दृष्टि में, पूंजीवादी समाज के अनिवार्य दूषण-त्रास, असन्तोष, निराशा, नैतिक पक्षाघात, अखलाक़ी गिरावट इत्यादि से आविर्भूत तथा समकालीन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की प्रगति-चेतना से पराङ्मुख (परवर्त्ती सार्त्र की कुछ बातें इसका अपवाद हैं) एक निष्क्रिय चिन्ताधारा है। कुल मिलाकर लोकमंगल और सामाजिकता में विश्वास रखनेवाले उग्र वस्तुनिष्ठ विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को अतिवैयक्तिकतावाद का दर्शन मानकर उसे अग्राह्य (निषिद्ध !) घोषित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. कामू ने अपने 'Absurd' सम्बन्धी विभावन को 'सिसिफ़स' के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है। द्रष्टव्य 'द मिथ ऑफ़ सिसिफ़स'।
२. Bifindlichkeit.
३. Transcendence.
४. Hope.
५. Nausea.
६. जैसे—'सत्त्व' (Essence) की तुलना में 'अस्तित्व' की प्राथमिकता, 'Augst' इत्यादि।
७. द्रष्टव्य : Coleridge as critic, Herbert Read, Faber & Faber, London, 1949, pages 29, 32, 36.
८. Ontology.
९. Cleavages of existence.
१०. Lebenswelt : life-world.
११. 'The First Sphere'.
१२. 'Existence-spheres'.
१३. मतलब यह कि कीर्कगार्ड के अनुसार यह 'इस्थेटिक्स स्फ़िअर' ही 'फ़र्स्ट स्फ़िअर' है। शायद इसीलिए ए० जी० जार्ज ने कीर्कगार्ड के सौन्दर्यशास्त्र पर लिखित अपनी पुस्तक का नाम 'The First Sphere' रखा है। द्रष्टव्य : The First Sphere by A. G. George, Asia Publishing House, Bombay, 1965.
१४. Being.
१५. Becoming.
१६. कारण, सार्त्र के उपन्यासों की विशेषता उनके 'Situational Characters' में है, जब कि पुराने उपन्यासों की खूबी केवल उनके 'reflexive method' तक सीमित रहती थी।
१७. Les Temps Medomes.
१८. उक्त पुस्तक में सार्त्र ने जिन कलाकृतियों को उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है, उनके शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं—'Self portrait' by Tintoretto, 'The dog' by Alberto Giacometti, 'Mobile' by Alexander Calder and 'the Rioters' by Robert Laponjade.
१९. Essays in Aesthetics, Sartre, New York, 1966, p.p. 50-51.
२०. "Beauty seems indestructible; its sacred image protects us; so long as we have it in our presence, no catastrophe will occur." —Sartre, Essays in Aesthetics, New York, 1966, page 72.
२१. Alberto Giacometti (1901-1966).
२२. 'Institutionalized man.'
23. 'Subjective spontaniety'.
24. Tragic reality.
25. 'Life in the world'.
26. "The Real is never beautiful. Beauty is a value applicable only to the imaginary". Sartre, The Psychology of Imagination translated by Bernard Frechtman Washington Square Press, 1966, page 252
27. The Philosophy of Jean-Paul Sartre, edited and introduced by Robert Denoon Cumming, The Modern Library, New York 1966, page 93.
28. Aesthetic factum.
29. Still life.
30. इस प्रसंग में Gabriel Marcel का यह कथन विचारणीय है—"Our appreciations of work of art are always·········affected by the 'climate of the age', they reflect the unconscious general assumptions which we spare with our contemporaries during some given period in history; the historically conditioned attitude is something which for all of us, is quite inescapable; and perhaps we can not even imagine, without tangling ourselves in contradictions a dehistoricized attitude in the name of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

which completely objective judgments, judgments quite untainted by the local, the temporal, the personal, and in a word quite free from relativity, could be made about works of art, literature and philosophy."

—The Mystery of Being

३१. द्रष्टव्य : 'The Existential Basis of Contextual Criticism', collected in 'The Play and Place Criticism', Murray Krieger, Baltimore, 1967.

३२. Metaphysical meaning.

३३. Cipher.

३४. Intermedite Kingdom.

३५. 'Nostalgia' में पीड़ा और प्रत्यावर्त्तन की अनिवार्य स्थिति रहती है। यह शब्द ही 'Nostos' और 'Algos' के मेल से बना है, जिनका प्रयोग क्रमशः 'Return' और 'Pain' के अर्थ में होता है।

३६. A. B. Fallico, Art and Existentialism, Prentice Hall, INC, 1962, page 33.

३७. Aesthetic joy.

३८. Sartre, What is Literature, translated by Bernard Frechtman, Methum & Co, London, 1950, page 41.

३९. Das Sein.

४०. Das Seinde.

४१. Ontological difference.

४२. Der Ursprung des Kunstwerks.

४३. 'Dic Sprache', collected in 'Unterwegr zur Sprache', by Heidegger, १९५९। इस पुस्तक में 'Die Sprache' पहला निबन्ध है, जिसके अन्तर्गत हाइडेगर ने कविता की भाषा पर विस्तृत विचार किया है। 'शुद्ध' भाषा के संबंध में हाइडेगर का एक प्रसिद्ध सूत्र है—'Die Sprache sprieht als das Gelant der Stille'—Langnage speaks as the sound of silence.

४४. 'the essence of Art is Poetry'.

४५. Stiftung.

४६. Factum.

४७. Courageous pessimism.

४८. Weltschmerz.

४९. Lebenswelt.

५०. Human interior.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की कविता : कुछ मौलिक सवाल

रामदेव आचार्य

आज की कविता पर दुर्बोधता तथा व्यक्तित्वहीनता का आरोप लगाया जाता है। व्यक्तित्वहीनता रचना की वह स्थिति है, जब रचना से रचनाकार के स्वतंत्र व्यक्तित्व का आभास नहीं मिले। ऐसी रचना, बोझिल, अनुकरणात्मक तथा शुष्क होती है। समयानुकूल मुहावरों में जड़ी अनुभूति-शून्य कविता अपनी संवेदनशील प्रेषणीयता से विरक्त होकर व्यक्तित्वहीन हो जाती है तथा वह एक-स्वरूप और एक-लय का जड़ स्वाद देने लगती है। ऐसी स्थिति में उस पर दृष्टिहीनता तथा व्यक्तित्वहीनता के आरोप लगते हैं।

आज की कविता पर ऐसे एतराज़ों को समझना ज़रूरी है। नयेपन के अन्वेषण में जो कविता जीवन से दूर रहकर चमत्कारों को तलाशती है, वह वस्तुतः काव्यात्मा से दूर है। रचना-प्रक्रिया यदि फ़ैशन बन जाती है तो उसे कोई भी ओढ़ सकता है, लेकिन जब रचना रचना रहती है तो वह रचनाकार की निधि बन जाती है। रचना ही स्रष्टा की कृति है, सृष्टि का आनन्द है। फ़ैशन अनुकरण का प्रतिफल है। स्रष्टा जीवन-यथार्थ को दैहिक या मानसिक स्तर पर भोगकर उसे अनुभूति बना लेता है और इस अनुभूति को काव्य-संवेदना के साथ सम्प्रेषित कर देता है। रचनात्मक क्षमता इसी का नाम है। फ़ैशन में नक़ल की प्रधानता होती है, अतः रचनात्मक क्षमता की वहाँ आवश्यकता ही नहीं होती। आज की अनेक कविताओं में यह फ़ैशननुमा जड़ता इस कदर समाहित हो रही है कि अनेक कविताएँ एक ही कवि की एक ही केन्द्र पर आवृत्तियों का अहसास बनती जा रही हैं। अनेक कवियों की अनेक कविताएँ जब एक ही कवि द्वारा किये गए सृजन का भ्रम पैदा करें तो उन्हें कृतियाँ न कहकर अनुकृतियाँ या आवृत्तियाँ कहना अधिक युक्ति-संगत लगता है।

ऐसी कृतियों में मौलिकता की तलाश एक व्यर्थ की शोध होगी। रचना तो सबसे अलग, विलक्षण होती है, उसकी विलक्षणता स्वतः ही पहचान में आती है। आज की अधिकतर कविताएँ पढ़ें तो लगेगा कि एक आकारहीन घिसा सिक्का हथेलियों में बन्द हो गया है और खोटे सिक्के को प्राप्त करने का पश्चात्ताप भावक पर आच्छादित हो गया है। सच्ची व जागरूक कविता भी लिखी जा रही है, पर उनकी संख्या इतनी नगण्य है कि वह बासी आवृत्तियों की भीड़ में लुप्त हो रही है। पोषण न मिलने से पौधे का सूख जाना आश्चर्यजनक नहीं होता। आधुनिकता के शोर-गुल में खरी कृतियां खो रही हैं, क्योंकि उनके साथ तथाकथित आधुनिकता के विज्ञापन नहीं होते। रंग-बिरंगे विज्ञापनों वाली कविता की स्थापना हो रही है और विज्ञापन-हीन परिवेश के दंश की ईमानदार प्रस्तुति भी ध्यान आकर्षित करने में असमर्थ सिद्ध हो रही है।

आज कविता के नाम पर स्थान-स्थान पर शिविर-बन्दी है। एक शिविर के कवि दूसरे शिविर के कवियों को परशुराम की भंगिमा या ठण्डी उपेक्षा से नकारते हैं। अपने शिविर के कवियों को छोड़कर शेष कवियों को वे क्षुद्र प्राणी समझते हैं। इस साहित्यिक लामेबन्दी में अकेली आवाज़ अस्त हो जाती है, क्योंकि उसमें आत्म-निर्भरता का दम्भ रहता है। आत्म-गरिमा की सज़ा भी उसे ही भोगनी पड़ती है। मतलब यह है कि शिविरबन्दी के इस युग में सच्ची काव्यात्मा को प्रश्रय नहीं दिया जा रहा है तथा पक्ष-विपक्ष के हिसाब से नकली काव्य-स्थितियों की स्थापना की जा रही है। यह एक दुःखद तथ्य है। आलोचनात्मक गद्य इतना हावी हो रहा है कि इसमें नक़ली कविता की वकालत इतने सबल तरीके से की जा सकती है कि उसे असली कविता की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। गद्य का चमत्कार इस बात में भी है कि कुछ खेमेधारी अग्रज कविता को भी गद्य के स्तर तक खींच लाने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दावा कर रहे हैं। इस दावे के परिणामस्वरूप ही इस दौर की अधिकतर कविताएँ शुष्क, नीरस, वक्तव्यपूर्ण तथा बौद्धिक गद्यात्मक कविताएँ हो गई हैं, जिन्हें सुविधा व स्नेह-दान के लिए ही कविताएँ कहा जा सकता है। इन रचनाओं की छोटी-बड़ी पंक्तियाँ तथा इनकी काव्य-भाषा एक प्रकार की काव्य-मनःस्थिति का भ्रम पैदा करती है, हक़ीक़त में ये रचनाएँ चालू मुहावरों में ढली हुई व्यक्तित्वहीन अनुकृतियाँ हैं।

●

रचना के क्षेत्र में इन दिनों दो तरह के बोध बहुत खतरनाक सिद्ध हुए हैं—नगर-बोध और मृत्यु-बोध; इन दोनों के साथ-साथ कभी-कभी एक और बोध भी जुड़ जाता है—सेक्स-बोध। इन सभी बोधों का केवल एक इलाज है, जिसका नाम है आत्मबोध। कवि अपने स्वत्व से साक्षात्कार करे तो आत्म-ज्ञान के क्षणों में वह सोचेगा कि जिस नगरीय परिवेश को या मृत्युमुखी आस्था को या देहवादी जुगुप्सा को वह आँक रहा है, उसकी हज़ारों आवृत्तियाँ तो पहले इन दो-चार वर्षों में हो चुकी हैं; अब उस बासी संवेदना को शब्दों के सिक्के बदल-बदलकर चलाना आत्म-वंचना या स्वयं का दुहराव नहीं है तो क्या है? व्यक्ति को इतनी बार 'बौना' और 'नगण्य' घोषित किया जा चुका है कि अब 'बौना' व 'नगण्य' जैसे शब्द अपने अर्थ में ही बौने व नगण्य बन चुके हैं। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ स्थान-स्थान पर कविताएँ, कहानियाँ व उपन्यास बिखरे पड़े हैं—लोगों की करोड़ों तरह की ज़िन्दगियाँ कविताएँ भी हैं, कहानियाँ भी और उपन्यास भी—ऐसी भारतीय ज़िन्दगी को केवल नगर, मृत्यु और सेक्स की धुरी पर केन्द्रित कर देना सच्ची धुरीहीनता है। यह समझ-हीन दार्शनिकता ही आज की कविता की सच्ची गद्यात्मकता है, जिसमें न सही चिन्तन है, न आत्मानुभूति।

'ज्ञानोदय' के अप्रैल, १९६८ के अंक में चिली की कवयित्री गैब्रेला मिस्ट्राल की 'मातृत्व की छह अनुभूतियाँ' पढ़ीं तो लगा कि व्यक्ति की सच्ची प्रतिमा और नक़ली मिट्टी की मूर्ति में अन्तर कहाँ है! चिली की ये कविताएँ नारी के भाव-जगत् की खरी, सहज-ग्राह्य व संवेदनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। जब अनुवाद में ही इतनी क्षमता है तो मूल की कल्पना की जा सकती है। नारी के मनोभाव अनुभूति की इतनी गहनता से प्रस्फुटित हुए हैं कि वे सार्वजनीन और सार्वकालिक हो गए हैं। इनकी तुलना में यह सोचकर दुःख होता है कि इस देश का कवि कविता की प्रकृति को लाँघकर उसे आडम्बर बनाने के चक्रव्यूह में क्यों फँसता जा रहा है!

इस सारी प्रस्तावना से मेरा यह अर्थ नहीं है कि हमारे यहाँ सच्ची कविता विलुप्त हो गई है या हो रही है। वह दिखती है—मेघाच्छन्न आकाश से फूटती एक आलोक-किरण की तरह। धूमिल की 'पटकथा' (आलोचना, जनवरी-मार्च, १९६८) अपने सम्पूर्ण विस्तार में सुखद यात्रा है, जो वर्तमान भारत की कुरूपता, छविहीनता, राजनीतिक आधारहीनता को आक्रोशपूर्ण वाणी में ईमानदारी से चित्रित करती है। ऐसी ही चन्द और कविताएँ जो यदा-कदा देखने को मिलती हैं, इतना विश्वास सौंपती हैं कि गद्य के नीरस रेगिस्तान में भटक-भटककर कविता अभी भी मरी नहीं है। यह स्पष्ट है कि उसकी व्याधि-ग्रस्तता किसी कुशल चिकित्सक की प्रतीक्षा में है।

●

हर युग में लेखकों की एक पौध पनपती है। इस पौध में पनपे लेखक अपने इर्द-गिर्द एक व्यामोह का किला बना लेते हैं तथा इस किले में स्वयं को सुरक्षित समझते हैं। अंग्रेज़ी के अठारहवीं सदी के लेखकों ने अपने चारों ओर एक स्वप्निल व ऐन्द्रजालिक जाला बुन लिया था। इन लेखकों ने कीर्ति-शिखर पर आरूढ़ विश्व-कवियों की पंक्ति में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लिया था। इस महत्त्वाकांक्षी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तात्कालिक आलोचना उनकी सहायक थी। आत्म-रति-लीन ये लेखक अपने युग को स्वर्ण-युग समझने के आडम्बर में मस्त रहे तथा मीठे भ्रमों के शिकार रहे। परवर्ती आलोचना की स्याही ने उनके स्वप्निल कुहरे को भेद दिया तथा उन्हें उनकी सीमाओं के धरातल पर खड़ा कर दिया। इस पूरे युग को 'गद्य व तर्क का युग' घोषित किया गया। इतिहास का यह पुनर्मूल्यांकन हमारे सामने एक संकेत के रूप में खड़ा है। कहीं हमने अपने-आपको किसी मोह के चक्रव्यूह में क़ैद तो नहीं कर लिया है! कहीं हमारे चारों ओर सपनों का कोई इन्द्रधनुष तो नहीं खिंच आया है! जिन नये धरातलों की तलाश कर हम अपनी लेखनी की सक्षमता पर गौरवान्वित हो रहे हैं, कहीं वे धरातल उलझन-भरे, प्रबुद्ध दिखने वाले पद्य बनने का नाटक करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले तो नहीं हैं।

हमारी उपलब्धियों की माला-जपती-समीक्षा ने हमें कविता में नये वातायन खोलने का गौरव दिया है, राजनीतिक टकराव को साधारण व्यक्ति की दृष्टि से देखने का श्रेय दिया है, तथा लघु मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करने की महत्ता दी है। इन सन्दर्भों में यह सोचना है कि अपनी सहजता-साधारणता-लघुता के वातावरण में कहीं हमारी कविता अतिवादी नाटकीयता तो नहीं बन रही है! सही अभिव्यक्ति को नकली अभिव्यक्ति से अलग देखने की ज़रूरत पहले है तथा उपलब्धियों की सूची बनाने का कार्य बाद में सम्पन्न किया जा सकता है।

●

इन सब तर्कों के सन्दर्भ में काव्यात्मा को परिभाषित कर लेना लाभदायक होगा। सच्ची कविता भावक से बरबस एक प्रतिक्रिया खींचती है, यही कविता की भेदन-शक्ति है। कविता का आस्वाद पाठक के अभिभूत होने में है। भावाभिभूत होने का अर्थ है पाठक के मन में एक भाव-तरंग का पैदा होना। यह भाव-तरंग रचनाकार की निजी भाव-तरंग को सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने से उत्पन्न होती है और इस तरंग की मौलिक आकृति रचनाकार की वह तरंग रही है, जो उसने सृजन-प्रक्रिया के क्षणों में अपने में अनुभव की थी। कवि का सत्य ऐसे क्षण में पाठक का सत्य वन जाता है तथा यों काव्यात्मा का स्थानान्तर हो जाता है। कवि की इस भावानुभूति के निर्यात को ही हम पाठक की रसानुभूति कह सकते हैं। कवि के मानस का इन्द्र-धनुष पाठक के मानस का इन्द्र-धनुष बन जाता है। काव्यात्मा के इस स्थानान्तर को वहन करती है काव्य-संवेदना, जो कवि के बिम्ब को पाठक का बिम्ब बनाने की सामर्थ्य रखती है। काव्यात्मा से भावानुभूति के इस निर्यात की कमज़ोरी कविता को बौद्धिक गद्य बनाकर छोड़ देती है। हम यों कह सकते हैं—काव्य-संवेदना से रिक्त कविता केवल काव्य-स्थिति है, उसमें काव्यात्मा नहीं है। काव्यात्मा अनुभूति के रागात्मक सम्प्रेषण में है, काव्य-स्थिति में रागानुभूति का अभाव होता है। काव्य-स्थिति केवल बौद्धिक चिंतन की काव्य दिखनेवाली-सी स्थिति है, जो शुष्कता का वातावरण पैदा करती है। इस प्रकार की कविता कविता के नाम पर चिन्तन की उलझन का निर्यात करती है। आज की अधिकतर कविताएँ चिंतन की इस उलझन के चक्कर में लड़खड़ा रही हैं। उनमें काव्य-संवेदना का नितान्त अभाव है। ऐसी कविताएँ कुछ चमकदार वक्तव्यों के सहारे ही कविताएँ बने रहने की नाटकीयता निभा सकती हैं तथा पाठकों के गले 'उपलब्धियों' की उपाधियों के साथ उतारी जा सकती हैं।

काव्य-संवेदना से मेरा अभिप्राय किसी भी प्रकार की संस्कार-बद्ध, छायावादी, रूमानी-रेशमी, अभिजात-वर्गीय भावुकता से नहीं है। मेरे चेतन या अचेतन में ऐसी किसी भी काव्यात्मा की आधुनिक तस्वीर नहीं है। मैं नयी कविता और परवर्ती कविता के सन्दर्भ में काव्य-संवेदना के औचित्य की बात कहता हूँ। अज्ञेय की भाषा का रूप-विन्यास छायावादी काव्य-भाषा-सा ही है, यद्यपि कथ्य व शिल्प की दृष्टि से उन्होंने राह के अन्वेषी बनने का श्रम किया था। छायावादी काव्य की सुकुमारता व भाव-प्रवणता आज कल्पनातीत है। रूमानियत की जो सृष्टि नीरज, भारती तथा गिरिजाकुमार माथुर ने एक समय की थी, वह भी आज की जीवन-प्रतीति से दूर है। भाषा व भाव की कमनीय रूप-सज्जा, शब्दों का रस-सिक्त अलंकरण आज के जीवित यथार्थ को अभिव्यक्ति देने में सुयोग्य नहीं है। आज की कविता वे कवि ही लिख रहे हैं, जिन्होंने भाषा व भाव की रंगीनी को शासित किया है तथा जो कविता को ज़िन्दगी के करीब-से-करीब खींचने में प्रयत्नशील हैं। हमारे जीवन की पेचीदगी तथा तनाव को ढोने में किसी भी प्रकार की सुकुमारता या रस-सिक्तता अनुकूल नहीं लगती। इस सबके बावजूद मेरा विचार है कि कविता को उसके लक्ष्य तक ढोने वाली वस्तु काव्य-संवेदना होती है, जो कविता को कविता बनाये रखने के लिए ज़रूरी है। इस काव्य-संवेदना से विरक्त कविता महज़ अभिनय है, ढोंग है, नाटक है। जो शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना सर्वेश्वर, नईम, कैलाश वाजपेयी, कीर्ति चौधरी, विजयदेव नारायण साही अदि की कविताओं में है कविता से यदि उसका निष्कासन कर दिया गया तो कविता में क्या बचेगा? कविता के नाम पर बोझिल, ऊटपटांग तथा शुष्क गद्य लिखा जाना एक पथ-भ्रष्ट स्थिति लगती है। काव्य राजनीति को घसीटने से ही सिद्धि नहीं पा लेगा, न वह प्रबुद्धता के नाम से चलाया जा सकेगा। कविता में काव्य-संवेदना ही काव्यात्मा का निर्माण करती है और इस काव्य-संवेदना की रिक्तता का अर्थ है कविता की इति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गद्य का जन्म।

इस बिन्दु पर पहुँचते ही कविता और गद्य के बीच सीमा-रेखा खींचना नितांत आवश्यक हो जाता है। कुछ लोग गद्य की भाषा व कविता की भाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं देखते, यह एक भ्रम की स्थिति है। कविता के शब्द जिस फ्रेम में फिट होते हैं, उसमें गद्य के शब्द अजनबी लगते हैं। पद्य व गद्य की मूल संवेदनाओं में मौलिक अन्तर है। कविता में शब्द **चिंतन तथा भावना के सम्मिश्रण** का कार्य करते हैं (फ़्यूज़न ऑव इन्टलेक्ट एण्ड इमोशन : टी० एस० एलियट), जबकि गद्य में भावना की परिधि एकदम संकुचित होती है। गद्य एक प्रकार की तार्किक बौद्धिकता की सृष्टि करता है। कविता की भावुकता प्रलाप न बने, अतः उस पर चिंतन का अंकुश लगा रहना चाहिए, लेकिन यह भी एकदम स्पष्ट होना चाहिए कि कविता कोरी बुद्धि नहीं है। कविता न छन्द में होती है, न लय में; अब कविता न शब्दालंकरण में है, न रस-सिक्त रूमानियत में। कविता का सच्चा निकष है शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना (पोइटिक सेन्सिबिलिटि) तथा आधुनिक ज़िन्दगी के करीब से ली गई काव्य-भाषा, जो कथ्य को काव्यमय बना सके। ज़िन्दगी के करीब से ली गई भाषा को गद्य की भाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कविता की भाषा गद्य की भाषा से अधिक कोमल व परिमार्जित होती है।

शब्द और शब्दों के अर्थ कविता को जन्म देते हैं। अर्थ-हीन संगीतमय शब्द केवल सतही जमघट बनकर साधारण संगीत-प्रधान काव्य-स्थिति पैदा करते हैं, शब्दों के बिम्बात्मक अर्थों में व्यंजित ध्वन्यात्मकता सच्ची काव्यात्मा की जननी होती है। शब्दों के अभिधात्मक प्रयोगों से सीधी-सपाट ध्वनि उत्पन्न की जाती है, वह ध्वनि कविता का बाह्य देहालंकरण करती है। पंतजी का 'नौका विहार' या मैथिलीशरण गुप्त की अनेक कविताएँ शब्दों के अलौकिक संगम बनकर रह गई हैं। शब्दों की सपाट संगति से भाषा का तिलिस्म उभरता है, काव्य-संवेदना का खरापन नहीं उभरता।

आज 'मन-कमल' 'घन-अलक-जाल' 'शशि-वदन' वाली नज़ाकत बेमानी लगती है। यह काव्य-सूरज एक युग में तप-कर, दहककर अस्त हो गया है। इस तथ्य के बावजूद लगता है कि कविता में भावाभिभूत करने की क्षमता का विद्यमान रहना उसे पद्य बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें काव्य-संवेदना को सही काव्य-भाषा ढो रही है, परिणामतः काव्यात्मा की निर्मिति हुई है—

इन तमाम
शव-भोगी लोगों के बीच
ओ ! मेरे मरे हुए देश
आँसू आ जाते हैं सोचकर,
कल सुबह तेरी लाश तक
पहिचानी न जायेगी।

—कैलाश वाजपेयी

मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने-आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता—
सिर्फ पूंछ होने की मजबूरी नहीं है।

—धूमिल

यहाँ ऊँची-ऊँची इमारतें
आश्रय के लिए नहीं,
आत्म-भोग के लिए हैं;
उन्हें पीठ पर लादकर रेंगता हूँ,
समय एक विशाल पहिए-सा
लुढ़कता हुआ आता है
और मुझे किसी ढाल पर
कुचला हुआ छोड़कर
आगे निकल जाता है।

—सर्वेश्वर

इन उदाहरणों की भावना शासित-अनुशासित है। इस काव्य-संवेदना से कविता को वियुक्त करना कविता की ही इति है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें आधुनिकता के मोह में नक़ली काव्य-स्थितियों को उठाया गया है। नये मुहावरे की तलाश तथा जीवन की साधारणता से सम्पृक्ति प्राप्त करने की लालसा ने उन्हें शुष्क व बोझिल गद्य बना दिया है—

लगातार छत्तीस सौ पचास दिन
एक नदी-भरा तरबूज फाँक करके
कई सह्याद्रि, एल्पस, विन्ध्यारावलियाँ
हँफती हुई टापू से छू सपाट करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगातार मैंने दाँतदार चक्कर घुमाया···
—कैलाश वाजपेयी

सड़क है सामने न लेटी है न बैठी
उठाकर मोड़ दूँ हण्टर की तरह आसमान
की पीठ पर सड़ाक से फटकार दूँ
खयाल में······
—श्याम परमार

यही सोचते हुए गुज़र रहा हूँ मैं कि गुज़र गई
बगल से
गोली दनाक से।
राहज़नी है या क्रान्ति ? जो भी हो, मुझको
गुज़रना ही रहा है
शेष।
—श्रीकान्त वर्मा

थोड़ी-सी देर को लगता है सही
टोपियों का रखरखाव
जब तक कमरे में कोई बोले नहीं।
जैसे ही मैंने कहा देश मेरा भी है यह
बाजा बैताल हो गया मैं अकेला
टोपियाँ समेटकर ले गए दीनानाथ
रह गए फूलदान और कुछ मसौदे
और अभी तक तो है मेरी नौकरी
—रघुवीर सहाय

कविता में काव्य-संवेदना काम सूत्रात्मक, नगण्यता-बोधक अकविताओं में भी प्राप्त होती है, विशेषकर जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं में—(द्रष्टव्य : 'विजप')जबकि इसी संग्रह में श्याम परमार की कविताएँ नुस्खेबाज़ी तथा गंगाप्रसाद विमल की कविताएँ ओढ़ी हुई मनःस्थितियों से लदी पड़ी हैं। ऐसी कविताएँ केवल कविता का भ्रम पैदा करती हैं।

●

कविता के क्षेत्र में निकष-निर्धारण की अव्यवस्था समाप्त होनी चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा जैसे जागरूक आलोचक ने 'सम्प्रेषण—३' में भावुकता तथा काव्योचित भाव में अन्तर किया है। उनकी राय में हिन्दी-कविता का बहुत-सा आधुनिकता-बोध महज़ भावुकना है। "भाव-विचार और यथार्थ-चित्रण के अभाव पर कवि जरी के काम का ऐसा पर्दा डालते हैं कि आँखें चौंधिया जाएँ, लेकिन ध्यान से देखो तो पहले जो सोना-चाँदी लगा था, वह गिलट निकलता है।" यह बात बड़े सीमित दायरे में कही गई है और इसकी चोट नकली कविता पर नहीं पड़ी। आज की कविता से रिसते घावों वाले नक़ली चेहरों को साफ़-सुथरे चेहरों से, कल्पित-खण्डों को यथार्थ-खण्डों से पृथक् देखने की आवश्यकता है, वर्ना प्रामाणिक कविता लुप्त होती जाएगी और प्रदर्शनकारी कविता प्रतिष्ठित होती जाएगी।

●

अब ज़रा आन्दोलनों की चर्चा छेड़ें ! आन्दोलन सबसे अधिक कविता के क्षेत्र में ही पनपे हैं और क्रमशः सब आन्दोलनों की शोभा-यात्राएँ समाप्त हो गई हैं। कारण थी पृष्ठभूमि की धुरी-हीनता। आन्दोलनों का आविष्कार चमत्कार द्वारा चौंका देने की महत्त्वाकांक्षा से होता है, उसके पीछे गम्भीर व बुनियादी चिन्तन नहीं होता। जितनी भी कवि-पीढ़ियाँ पिछले चन्द वर्षों में पनपी हैं, सतही भावुकता के आधार पर पनपी हैं। उन्होंने चन्द नारे दिए हैं तथा चन्द तथाकथित कवि उछाले हैं, फिर ये पीढ़ियाँ या तो विभाजित हो गई हैं या अस्त हो गई हैं। कुछ ऐसे भी स्वनाम-धन्य कवि रहे हैं, जो हर आन्दोलन के साथ हो लिए हैं, बावजूद इस तथ्य के कि एक आन्दोलन की प्रवृत्ति दूसरे आन्दोलन की विपरीत-धर्मा रही है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ एक ही महत्त्वाकांक्षा के पोषण के लिए निकाली जाती रही हैं—नाम उछालने की महत्त्वाकांक्षा के लिए, एक प्रपंच को उपलब्धि बनाने की महत्त्वाकांक्षा के लिए।

इन आन्दोलनों, घोषणा-पत्रों तथा कवि-पीढ़ियों ने कविता को मखौल बनाकर छोड़ दिया है। भाव-जगत् में व्याप्त अर्थ-हीनता तथा जीवन-प्रतीति से विरक्ति इन कवि-पीढ़ियों की देन है। कविता को आडम्बर बनाने का श्रेय भी इन्हें है। इन संकुचित आन्दोलनों को दार्शनिक गरिमा प्रदान करने के लिए आलोचक भी कहीं-न-कहीं मिलता ही रहा है। ये आन्दोलन साहित्य के काल-प्रवाह के अस्थायी यात्री ही नहीं रहे हैं, इन्होंने बुराइयों को भी जन्म दिया है, समीक्षा के नाम पर गाली-गलौज किया है और रचना के नाम पर सेक्स तथा मृत्यु की विराट्ता को रचा है। इसे आलोचक महोदय युवा-पीढ़ी का विद्रोह तथा 'समय का गुस्सा' कहते हैं। परस्पर-प्रशंसा तथा आत्म-रति में लीन इन कवियों-आलोचकों ने आलोचना को व्यंग्य-विनोद बनाकर छोड़ दिया है। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि कुछ आन्दोलनों के नाम-मात्र ही शेष बचे हैं; पर, इन आन्दोलनों ने नफ़रत का कुछ ऐसा वातावरण तैयार कर दिया है कि साहित्य परस्पर स्नेह-दान तथा विरोध के लिए विरोध करने का माध्यम बन गया है। इन आन्दोलनों के कुप्रभाव से ही कविता में रेखागणित तथा अंकगणित की समस्याएँ हल की गईं; इनकी कृपा से ही कार्टून, नक्शे, विराम-चिह्न, प्रश्न-चिह्न, विस्मय-चिह्न, सरगम के स्वर, टूटे हुए शब्द, टूटी हुई पंक्तियाँ तथा पंक्तियों के ऊटपटाँग मोड़ कविता में प्रवेश पाते गए तथा अपना परिवार बढ़ाते गए। इन नुस्खों को ढोती कविता हास्य व प्रलाप बनती गई। कविता को रचते हैं शब्दों के बिम्ब, शिल्प के ये सतही प्रयोग कविता को दृष्टि-हीन ही बना सकते हैं। इन पेचीदा अस्त्र-शस्त्रों का संचालन जिन योद्धाओं ने किया, वे प्रचलित लकीरें तो मिटाते रहे, पर नई लकीरें बनाने में एकदम असमर्थ रहे।

●

कविता को जीवन से सम्पृक्त करने के प्रयास ने एक और दुराग्रह का रूप धारण कर लिया और गीत की सत्ता को नकार दिया गया। गीत अपनी स्पर्शी तन्मयता से जीवन की अनास्था व अतृप्ति को बहलाता है। गीत को हवाई कहकर रद्दी की टोकरी में नहीं फेंका जा सकता। वे लोग, जो गीत का नाम सुनते ही कानों में उँगलियाँ डाल लेते हैं, उनसे बहस करना तो व्यर्थ होगा, पर जिस गीत का विकास 'निराला' से बच्चन तक तथा बच्चन से आज तक हुआ है, वह कोई फ़िल्मी विधा ही नहीं है। जो लोग गीतों को सुधियाँ बहलाने वाली रचना कहते हैं, उनसे पूछा जा सकता है—क्या हमारे जीवन में युद्ध, प्रणय, स्नेह, बन्धुत्व और प्रकृति की सभी सूक्ष्म भावनाएँ नष्ट हो गई हैं ?

कभी 'धर्मयुग' में राही मासूम रज़ा की हिन्दी में रूपान्तरित एक गज़ल पढ़ी थी, उसकी पंक्तियाँ आज भी मुझे किसी भी अच्छी नई कविता से कम प्रभावित नहीं करतीं—

कल कुछ ऐसा हुआ मैं बहुत थक गया
इसलिए सुनके भी अनसुनी कर गया
कितनी यादों के भटके हुए कारवाँ
दिल के जख्मों के दर खटखटाते रहे।
ज़हर मिलता रहा, ज़हर पीते रहे
रोज़ मरते रहे, रोज़ जीते रहे
ज़िन्दगी भी हमें आज़माती रही
और हम भी उसे आज़माते रहे।

हिन्दी-गीत की यह एक अछूती अभिव्यक्ति भी ध्यान देने योग्य है—

ना तो सतर का हूँ
ना ही कतारों का
जो सर उठाये हैं, उन देवदारों का।
× × ×
ना भीड़ लहरों की
ना हूँ कगारों का
जो प्यार से भेंटे, उन यादगारों का।
× × ×
ना फूल अचकन का
ना शूल अड़चन का
ना फूल गमलों का, मैं फूल बन बन का।

—उमाकांत मालवीय

व्यर्थता और अकेलेपन का बोध किसी भी कविता से कम मुखरित इस गीत में नहीं है—

झरती भाँप, खाँसता बिस्तर, चिथड़ा साँसें
उबकाई
धक्के देकर मुझे ज़िन्दगी आखिर कहाँ
गिरा आई
टेढ़ी दीवारों पर चलते
मुरदा सपनों के साये
जैसे कोई हत्यागृह में
रह-रहकर लोरी गाये
यह अधनंगी शाम और
यह टूटा हुआ
अकेलापन
मैंने फिर उकताकर कोई पन्ना मोड़ दिया।

—कैलाश वाजपेयी

गीत का जन्म व्यक्ति को यथार्थ के त्रासक जगत् से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हटाकर कला के जगत् में ले चलने को होता है। यह पलायन रचनात्मक होता है। गीत की रचनात्मक क्षमता को नकारना जीवन को रस-हीन, जड़ व लयहीन कहने की भूल करना है। यह बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि आज गीत का वह स्वरूप ही स्वीकार्य हो सकता है, जो आधुनिक ज़िन्दगी की मुद्रा व तनाव को अभिव्यक्ति दे रहा हो; जिसकी लयात्मकता नयी कविता के समकक्ष हो। जीवन के यथार्थ को जो गीत आधुनिक अर्थवत्ता की कोमलता प्रदान करे, वही गीत सही गीत है तथा स्थिर रहने वाला है। यहाँ उस गीत की चर्चा नहीं है, जिसे नव-गीत कहा जाता है, क्योंकि कविता की कोई विधा शीर्षक पकड़कर मशीनी प्रक्रिया बन जाती है। यहाँ केवल उस गीत की चर्चा है, जो शब्द-संगीत का उद्घाटक न होकर जीवन-जगत् की असंगतियों का वाहक होता है। वह गीत जो अपने लयात्मक स्पर्श से हमारे जीवन की संत्रस्तता को बहला सकता हो।

●

इन सब आग्रहों का आशय यह है कि कविता के मूल्यांकन के निकषों की पुनः जाँच हो, नये निरीक्षण-परीक्षण हों, ताकि सही कविता की पुनः स्थापना हो सके। सही कविता वह कविता होती है, जो अपनी सहजता में ग्राह्य होती है तथा जिसका काव्यात्मक दंश पैना होता है। इस अवधारणा के केन्द्र में रखकर यदि हम कविता के प्रस्तरत्व का उद्धार कर सकें तो वह इस पीढ़ी का आत्म-साक्षात्कार होगा, वर्ना यंत्र बनी कविता के घिसते हुए चालू पुर्जे उसे ठप्प कर देंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ

शिवकुटीलाल वर्मा

लिपि

: १ :

संकेतों की लिपि अत्यन्त जटिल होती है।
अब मैं आपको कैसे समझाऊँ
कि हँसी के संकेत समझने की प्रक्रिया में आप
रो पड़ेंगे।
दर्द की व्याख्या होते ही दर्द काफ़ूर हो जाएगा
और आपमें सिर्फ दर्द की महक रह जाएगी।
महक आपको हँसा भी सकती है।
पर वह हँसी एक अजोबोगरीब हँसी होगी।
संकेतों की लिपि में कैसे पैठ पाएगी ?
उसे वहाँ फिर प्रवेश दिलाने के लिए
आपको पक्षियों की शरण में जाना पड़ेगा।
पर पक्षियों की शरण में जाने वालों में लगभग
सभी का
स्थलीय भाषा में एक उथला अनुवाद होकर
रह गया।
तब आप भी अनुवाद से कैसे बच पाएँगे।
और यदि मान भी लिया जाए कि आप
यह खतरा उठाने को तैयार हैं
तो भी क्या आप उत्सुक भ्रान्तियों द्वारा अपने-
आपको
केवल एक ऐतिहासिक महत्त्व की पाण्डुलिपि
समझा जाना गवारा करेंगे
जबकि आप पक्षियों के बीच में
एक निष्कासित हँसी के लिए
एक सूक्ष्म पर जीवंत लिपि रच रहेंगे।

: २ :

आकाश बिल्कुल रुक गया था।
पक्षी भी रुक गए थे।
गलियाँ सहमी हुई थीं
और सड़कें चलते-चलते जैसे जम गई थीं।
फूल खिलते-खिलते रुक गए थे
और पेड़ों में न नई पत्तियाँ उग रही थीं
और न पुरानी झड़ रही थीं।
आवाज़ों में तेज़ी आने के बजाए एकरसता थी
और रोशनी में चमक के बजाय एक ऐसा
फीकापन
जिसे पहिचानने की अब कोई जरूरत नहीं रह
गई थी
न कहीं कोई भूचाल था
न कहीं कोई दुर्घटना।
माथे का पसीना तक गिरते-गिरते थम गया था
(पर मैं चल रहा था, निरन्तर चल रहा था।)
अचानक मैंने पाया
कि सब एक साथ ही चल पड़े।
आकाश, पक्षी, सड़कें, गलियाँ सभी चल पड़े !
रोशनी चमकीली होती गई
और आवाज़ें तेज़।
फूल मौत का डर छोड़कर
पूरी तरह खिलने को आतुर हो गए।
पेड़ों ने पुरानी पत्तियाँ अस्वीकार कर दीं
और नई पत्तियों के साथ हिल-मिल गए।
भूचाल भी आने शुरू हुए
और नित्य नई दुर्घटनाएँ भी होने लगीं।
माथ पसीने से तरबतर हो गए
और दिल जज़्बातों से सराबोर।
सचमुच यह सब-कुछ कितना अनहोना था।
शायद मैं ही था
जो कहीं घटित होते-होते भी
बच गया था। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्मूल्यांकन

विश्वविद्यालयों का कवि : प्रसाद

मुख्यत: 'लहर' की छोटी कविताओं के अध्ययन-प्रसंग में

रमेशचन्द्र शाह

फ़तवे—और खासतौर से साहित्यकारों द्वारा दिये गए फ़तवे तो—कभी-कभी बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद सिद्ध होते हैं, चाहे वे नितान्त गम्भीर भाव से दिये गए हों चाहे निहायत, महज़ छेड़खानी की गरज़ से। अब यों तो प्रसादजी भी लिख गए कि (यथार्थवाद) "लघुता पर एक 'साहित्यिक' दृष्टि-पात" ही है : कौन कह सकता है कि उनका इरादा मख़ौल उड़ाने का था ? वे तो बेचारे अपने जाने एक सटीक व्याख्या और परिभाषा ही दे रहे थे। आज अगर किसी को यह लगे कि वे बड़ी सफ़ाई से बड़ी बारीक चुटकी काट गए तो इसमें प्रसाद जी का क्या दोष ! ···अपनी-अपनी समझ है। श्रीकान्त वर्मा की समझ में छायावादी कविता शब्दों के खिलवाड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ठीक है, आप भी उनसे प्रतिप्रश्न कर सकते हैं कि साहब ! कविता मात्र इसके अलावा और क्या होनी है ? या कि ख़ुद आपकी ही कविता क्या है ? मगर इससे क्या उनका फ़तवा कट जायगा ? इतना तो वे भी जानते ही हैं। तब ? एक फ़तवा वह होता है जो जानते-बूझते, पूरे होशोहवास में दिया जाता है। वह पारदर्शी फ़तवा होता है और कोई आड़ नहीं देता। उसमें आपकी समझ के लिए काम करने की पूरी गुंजाइश होती है। समझ को सम्बोधित करने का यह भी एक खासा तरीका है; उसे दुरुस्त करने का भी, हालाँकि चिन्ता वहाँ समझाने की उतनी नहीं है, जितनी कि समझे जाने की। कवियों के बारे में कवियों द्वारा दिये गए फ़तवे ज्यादातर इसी कोटि के हुआ करते हैं। किन्तु एक दूसरे प्रकार का फ़तवा भी होता है जो हमारी समझ को उकसाने के लिए नहीं, बल्कि उसे बहकाकर उस पर हावी होने के लिए दिया जाता है। वह ठोस और अपारदर्श होता है ताकि आप उसमें निहित 'समझ' (या समझहीनता) को न देख पाएँ।

चूंकि "प्रसाद विश्वविद्यालयों के कवि हैं", यह फ़तवा एक कवि की ओर से ही आया है, अतः इतनी उम्मीद तो की ही जा सकती है कि उक्त दूसरी कोटि का तो यह नहीं ही होगा। या फिर यह एक और तीसरी ही कोटि का फ़तवा होगा जिसके लक्षणों का पता अभी हमें नहीं है। हालाँकि हमें याद पड़ता है कि कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात टी० एस० एलियट ने भी मैथ्यू आर्नाल्ड की कविता के बारे में कही थी, "ही इज़ एन एकेडेमिक पोएट इन द बेस्ट सेन्स आव द टर्म"। इसे कहते हैं—"डैम विद फ़ेण्ट प्रेज़···"; मगर दूसरी ओर हम पाते हैं कि प्रसादजी को तो यह 'फ़ेण्ट प्रेज़' भी नसीब नहीं है। मैथ्यू आर्नाल्ड के साथ कम-से-कम इतनी तो ग़नीमत है कि आधुनिक काव्य के लक्षणों की शुरुआत उसमें देख ली जाती है: अतीत मोह और क्लैसिक रुझान के साथ-साथ थोड़ी-बहुत सार्थक आधुनिकता (समसामयिक भाव-बोध) भी उसे बख़्शी गई है। मगर प्रसादजी को तो वह सांत्वना भी नहीं है। उनमें आधुनिकता कैसे ढूँढ़ी जाए ? हाँ, एक मुक्तिबोध को ज़रूर, जाने कैसे यह इलहाम हो गया कि समस्त छायावादियों में प्रसाद ही एक ऐसे कवि हैं जो अपने बाद की पीढ़ी को चुनौती-सी देते हैं और उनसे निपटे बिना चलेगा नहीं; वर्ना हमारी पीढ़ी के लिए तो वे हुए-न-हुए एक जैसे ही हैं।

तो क्या प्रसाद सचमुच इतने अल्पप्राण और अप्रासंगिक कवि हैं कि विश्वविद्यालयों की सुरक्षित चारदीवारी के बाहर ज़िन्दा न रह सकें ? क्या उनकी सार्थकता सिर्फ़ इतनी ही है कि उन्होंने कुछ प्राध्यापकों को बौद्धिक व्यायाम का अवसर सुलभ कराया और भाष्यकारों की एक भीड़ अपने आस-पास बटोर ली ? क्या उनका दीर्घायु होना 'कठिन काव्य के प्रेत' की हैसियत से ही सम्भव है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे नहीं मालूम कि विश्वविद्यालयों में प्रसाद को वास्तव में कठिन काव्य के प्रेत की तरह पढ़ाया जाता है या नहीं; किन्तु इतना जरूर जानता हूँ कि विद्यार्थियों के बीच निराला, पन्त और महादेवी के प्रति जितना उत्साह दीखता है उसका दशमांश भी प्रसाद की रचनाओं के प्रति नहीं दीखता। विद्यार्थियों में ही क्यों, कविता से जिन्हें कुछ भी लेना-देना है, ऐसे अपेक्षाकृत सयाने लोगों के बाच भी मुश्किल से कभी कोई ऐसा मिल जाता है जिसे सचमुच प्रसाद का चस्का हो। 'विश्वविद्यालयों का कवि'—अगर इस फ़तवे में व्यंग्य हो तो वह व्यंग्य भी ऐसा है जिस पर हँसा भी नहीं जा सकता क्योंकि अपने तमाम समकालीनों में प्रसाद ही ऐसा कवि है जिसके बारे में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उसको समझने की शुरुआत ही विश्वविद्यालय से निकलने के बाद होती है क्योंकि मुझे तो यह विशेषता ही प्रतीत होती है कि जहाँ दूसरे कई कवियों के साथ अर्थग्रहण करने की सजगता बढ़ने के साथ-साथ कविता का आस्वाद और मूल्य भी कम होता जाता है. वहाँ प्रसाद में ठीक इसके विपरीत मामला है। एक तरह से प्रसाद की कविता का आस्वादन कविता के पाठक की रीझ-बूझ की कसौटी बन जाता है। दूसरे कवि हैं जिनकी कविता हमें बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है लेकिन तभी तक, जब तक कि हम कविता के भीतर गहरे पैठने का उद्यम नहीं करते, बहुत ज्यादा शिक्षित संवेदन और प्रश्नाकुल जिज्ञासा लेकर उनका सामना नहीं करते। होता यह है कि अर्थान्वेषण की सजगता बढ़ने के साथ-साथ उनकी कविता की महिमा भी हमारे मन में घटने लग जाती है। पन्तजी की अनेक कविताओं का प्रभाव मेरे लिए इसी तरह क्षीण होता चला गया है। जबकि इसके ठीक विपरीत आज से दस साल पहले प्रसाद की जो कविताएँ मेरे मन पर कोई छाप ही नहीं छोड़ती थीं—वे ही आज मुझे सबसे ज्यादा विशिष्ट और सारपूर्ण लगती हैं। शायद ऐसा इसी कारण सम्भव हो सका है कि अब जाकर मैं उस मानसिक स्तर से किसी क़दर सहानुभूति स्थापित कर सकने योग्य हो सका हूँ कि जहाँ पर, जहाँ से इन कविताओं का उद्भव हुआ है।

यहाँ पर प्रसाद की छोटी कविताओं का उल्लेख ही अभीष्ट है क्योंकि एक तो उनका महत्त्व अपने-आपमें भी कम नहीं है, बल्कि ज्यादा ही है, इस दृष्टि से कि जो उनके वैशिष्ट्य को नहीं समझ सकता, वह कामायनी के साथ भी न्याय नहीं कर सकता। उनकी प्रतिभा की बनावट को समझने के लिए ये कविताएँ बुनियादी महत्त्व की हैं। यह ठीक है कि प्रसाद उन थोड़े-से कवियों मे हैं जो गीति और स्फीति दोनों को समान गरिमा के साथ निबाह सकते हैं किन्तु इसके साथ एक दूसरा तथ्य यह भी है कि वे ऐसे कवि (भी) हैं जिनके रचना-क्रम में शुरू से आखिर तक एक ख़ास क़िस्म की एकता, एक बुनियादी पर्युत्सुकता का 'पैटर्न' दिखाई देता है, मानों सृष्टि और अस्तित्व की मूलभूत चुनौतियों से निपटने के लिए, उनको अपनी जीवनानुभूति और वेदनदन्त्र द्वारा सिद्ध और हल करने के लिए ही इन्हें कवित्व दिया गया हो: मानों इनकी कविता और इनकी यह पर्युत्सुकता सहजात हों, परस्पराश्रित हों। ऐसे कवियों के साथ दिक्कत यह आ जाती है कि उन्हें पूरा पढ़ना पड़ता है; उनके विकास के प्रत्येक चरण को ध्यानपूर्वक समझना पड़ता है। इस दृष्टि से भी इन कविताओं का अध्ययन बहुत आवश्यक है। यह भी है कि शायद इन पर ध्यान एकाग्र करके ही हम कामायनी के लिए अपेक्षित स्फूर्ति इकट्ठा कर सकते हैं और उस पर जमी हुई काई छुड़ा सकते हैं।

●

ऊपर संकेत किया गया है कि प्रसाद अपने अन्य सहवर्तियों की तरह प्रथम साक्षात् में ही आकर्षित करने वाले कवि नहीं हैं। हिन्दी में लिखने वाले ऐसे अनेक कवि होंगे जिन्होंने अपने विकास के आरम्भिक सोपानों पर पन्त और निराला से प्रेरणा पायी होगी। किन्तु विरला ही कोई कवि होगा जिसे प्रसाद उस दौर में आकर्षित कर सके हों। कारण, प्रसाद में ऐसा बहुत कम, नहींवत् है जो किशोर कल्पना को उत्तेजित कर सके, किशोर और युवा भावनाओं को स्फूर्ति दे सके। वे थिराये हुए आवेग के हृदय की प्रशान्त बोधशीलता के कवि हैं:

"कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्ष-पत्र की मधु छाया में
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है"

प्रसाद उन कवियों में हैं जो अपेक्षाकृत जल्दी वयस्क हो जाते हैं। अकाल परिपक्व नहीं; बल्कि वयस्क जिज्ञासाओं से उन्मथित। ऐसे कवि जल्द ही अपनी भावनाओं को जीवन-जगत् के प्रति एक दृष्टि अर्जित करने के अनिवार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष में नियोजित करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। एकदम शुरू की कविताओं में ही :

"भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गया उस पार
न हो मुझको ही जब सन्तोष
तुम्हारा इसमें क्या है दोष"

× × ×

क्या अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी ?
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नहीं
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर सुनो,
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही
....
....
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही,
मिलता नहीं हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नहीं

× × ×

इसीलिए यह कवि अपने मानसिक संघर्ष को, भावनाओं के झंझावात को सीधे अभिव्यक्ति देने को प्रेरित नहीं होता; बल्कि उसे अनवरत चिन्तन-मंथन में से छानकर ही अपनी कविता प्राप्त करता है। व्यक्तित्व का सीधा प्रकाशन उसे 'भोंडा' लगता है। प्रकृति पर अपने भाव-संवेगों को थोपकर उनसे मुक्त होने की चेष्टा के बजाय वह प्रकृति को पढ़ते हुए उसके जरिए अपने अन्तर्जगत् को व्यवस्थित और परिभाषित करने का धैर्यपूर्ण उद्यम करता है :

"आज इस घन की अँधियारी में
कौन तमाल झूमता है, इस सजी सुमन-क्यारी में"

× × ×

"किन्तु न मेरी करो परीक्षा प्राणधन !
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से,
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है"
"चन्दकिरण हिमविन्दु, मधुर मकरन्द से,
बनी सुधा रख दी है हीरक पात्र में,
मत छलकाओ इसे, प्रेम-परिपूर्ण है।"

एक ओर अनुभव का यह कड़वा पाठ :

तुम्हारी आशालता सिंचाव, बहुत ले चुकी, न देती दाँव
सींचकर क्या फल पाया, फूल भी हाथ न आया
नील नीरदमाला की वृष्टि
दीनता की करती थी सृष्टि

और, दूसरी ओर यह प्रशान्त, धीर अवबोध :

सृष्टि में सब-कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास
बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक देखो तब यह सौन्दर्य

या, इससे भी गहरे :

"गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहें
अन्तरिक्ष विशाल में हैं मिल रहीं"

स्वाभाविक ही, इस प्रकार कवि-मन के भावावेग ज्ञानात्मक अनुभूति में ढलते चले जाते हैं। बाह्य विश्व, ऐन्द्रिय संवेदना का जगत् कवि-कल्पना के लिए कलात्मक विलास के उपकरण जुटाने के बजाय उसे एकाग्र संवेदन और अर्थान्वेषण की प्रेरणा देता है। प्रसाद में प्रारम्भ से यह रुझान स्पष्ट है: अपनी ही अनुभूतियों और भाव-संवेगों के अध्ययन-मनन की प्रवृत्ति···।

"बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
....
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना"

जोकि आगे जाकर ऐसी प्रौढ़-परिपक्व, संश्लिष्ट व्यंजनापूर्ण काव्यपंक्तियों का सृजन करती है···

"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई"

ये पंक्तियाँ मुझे बरबस प्रख्यात मैटाफ़िज़िकल कवि एण्ड्रू मार्वेल का स्मरण करा देती हैं—

बट हार्क अपॉन माइ पल्स आइ हियर
टाइम्स ह्वीलिंग चैरियट ड्राइंग नियर
....

प्रसाद की बौद्धिकता कोई अलग ऊपर से थोपा हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य नहीं है; वह उनकी जिजीविषा की अनिवार्य उपज है : उनके अन्तर्जीवन की अनिवार्य लय और दिशा···। अपनी अनुभूतियों के प्रति उनकी काव्यात्मक प्रतिक्रिया सर्वथा उनकी अपनी है, सर्वथा मौलिक और अनूठी। यह कहना कि शुरू से ही उन पर किसी विचार-दर्शन का अंकुश था, निहायत गलत होगा। उन पर किसी का अंकुश नहीं था : यदि अंकुश था भी तो, वह उन्होंने स्वेच्छा से परिश्रमपूर्वक अर्जित किया था। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया, उनकी आरम्भिक कविताओं में ही अपनी निजी अनुभूतियों के प्रति एक ऐसी गहरी ईमानदारी और आलोचनात्मक निरीक्षणशीलता मिलती है जैसी कि बिरले ही कवियों में पाई जाती : "जब लेता हूँ, आभारी हो, बल्लरियों से दान/कलियों की माला बन जाती अलियों का हो गान/विकलता बढ़ती हिमकन में विश्वपति ! तेरे आँगन में/जब करता हूँ कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार/तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार/चमत्कृत होता हूँ मन में/विश्व के नीरव-निर्जन में/···

अपनी अनुभूति को कल्पना द्वारा नाना प्रकार से अलंकृत करने—जितनी जैसी वह है, उससे बड़ी दिखाने, अतिरंजित करने की बजाय—वे उसे समझने-बूझने की कोशिश करते हैं। इसी से उनकी अभिव्यक्ति में एक सहज गरिमा है; ताप और तीव्रता नहीं। और कौन कह सकता है कि इस कविता में सौन्दर्य नहीं ?···

मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थीं सो रहीं, अन्त करण नवीन
मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय था हो रहा, बाह्य आन्तरिक
प्रकृति सभी सोती रहीं

●

प्रसाद प्रतीकों से बहुत काम लेते हैं : उनके यहाँ हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। प्रसाद देखा जाय, तो पन्त के ठीक विपरीत हैं। पन्त में अर्थ (भाव-कथ्य) अधिकतर सामान्य मनोभूमि का होता है : उसको वे कल्पना (और फैंसी) से, इच्छित चिन्तन और शब्द-शिल्प से फैला लेते हैं। प्रसाद अपने बोध में छने हुए अर्थ को शब्द के जरिए और भी ज़्यादा छानकर गाढ़ा कर लेते हैं। पन्त में शब्द ही वस्तुएँ हैं; प्रसाद में शब्द केवल इंगित हैं···उन्हें शब्दों के रूपरंग में ज़्यादा दिलचस्पी नहीं। यदि पन्त की कविता में शब्द ठोस हैं अपेक्षाकृत, तो निराला में वे अधिक द्रवित हैं और प्रसाद में सीधे उद्वाष्पन। कोई आश्चर्य नहीं, यदि हम पाएँ कि लगभग एक-जैसी विषय-वस्तु को लेकर कविता करते हुए पन्त सबसे ज़्यादा शब्दों का प्रयोग करते हैं; निराला उनसे कम; और प्रसाद सबसे कम। पन्त में शब्द अलग-अलग पच्चीकारी के टुकड़ों से दीखते हैं; निराला में रिलेमिले बहते-से···। प्रसाद में वे अलोप-से हो जाते हैं···। एक-एक शब्द को आँखें फाड़-फाड़कर देखना होता है। पूरे 'पाद' को तीन-तीन, चार-चार बार पढ़ना होता है। तब जाकर उस शब्द की सही जगह का अन्दाज़ लगता है। शरीर से वह जहाँ रखा होता है, वहाँ वह होता ही नहीं, कहीं और···कहीं और होता है।

ओ री मानस की गहराई
तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल
मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर सुन्दर अविरल
तू हँस जीवन की सुघराई
हँस ले भय, शोक, प्रेम या रण
हँस ले काला पट ओढ़ मरण
हँस ले जीवन के लघु-लघु क्षण
नाविक अतीत को उतराई

प्रसाद के यहाँ कुछ शब्द रूढ़ पदों की तरह बार-बार दुहराए जाते हैं मानो उनके बिना उनका काम ही न चलता हो। मज़े की बात यह है कि ये उतने और उस तरह खलते नहीं जैसे कि किसी दूसरे कवि में खलते। वस्तुत: ये 'रूढ़ पद' भी दूसरे कवियों द्वारा प्रयुक्त 'रूढ़ पदों' की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक और जानदार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद 'मधु' या 'माया' से जितना काम ले लेते हैं, उतना पन्तजी 'स्वर्ण' को उनसे कई गुना ज़्यादा पुकारकर भी नहीं ले पाते। विशेषण उनके यहाँ कम हैं : वे उन पर बहुत कम निर्भर करते हैं। उनका एक खास अपना लहज़ा है : खास अपनी 'लय' जो अपने नितान्त औचित्य के बल पर पर हमारे मन को पकड़ता है।

वे अनेक भावों की सजावट नहीं दिखाते; न किसी आवेग में बह जाते हैं। वे भाव को अर्जित करते हैं गहन चिन्तन-मन्थन द्वारा; और उसे फिर शब्दों द्वारा आकर्षित करते हैं। उनसे ज़्यादा अन्तर्मुख शायद ही कोई दूसरा कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। कविता उनके लिए आत्माभिव्यक्ति से ज्यादा अपने आत्मशोध-आत्मपरिष्कार को जाँचते-समझते रहने की प्रक्रिया है। वह प्रथमतः उनके अपने लिए है। उसमें बहुत आँच या उबाल नहीं है;—केवल निथरा हुआ तत्त्व है : संवेदनात्मक अनुभूति और ज्ञानात्मक चेतना दोनों के दीर्घकालिक संपीड़न से निचुड़ा हुआ सार-तत्त्व। उनका अनुभव-संवेदन जब तक शोधित-परिशोधित होते-होते एक स्थायी भाव का, विचार का गौरव प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक शायद उन्हें अभिव्यक्ति का कोई उत्साह ही अनुभव नहीं होता। और जब वे उसे अभिव्यक्त कर रहे होते हैं तब भी मानो वे अपने को ही सम्बोधित करते होते हैं; इसलिए कि उनके संवेदनशील मन और अर्थान्वेषिणी चेतना के बीच जो द्वंद्व रहा है, उसका पर्यवसान पूरी तरह उस कविता में हुआ है या नहीं, यह शंका उन्हें बेचैन किए रहती है। इसलिए वे विचार-संवेदन के उस संश्लिट स्वरूप को अपनी बुद्धि और संकल्प की पूरी एकाग्रता के साथ अपने सामने मूर्त्त करना चाहते हैं।

नहीं; प्रसाद रहस्यवादी कवि नहीं हैं। वे प्रथम और अन्तिम रूप से बौद्धिक कवि हैं। अनुभूति की बौद्धिक प्रतीक व्यवस्था के, अनुभूति और बुद्धि के रासायनिक संश्लेष के कवि हैं।

अरे आ गई है भूली-सी, यह मधुऋतु दो दिन को
छोटी-सी कुटिया में रच दूं, नई व्यथा-साथिन को
मेरे किसलय का लघु भव यह
आह खलेगा किनको ?

प्रसाद की दुरूहता भाषा की नहीं, भाव की है। उस एक भाव तक (जो कि अनेक भावनाओं, संवेदनाघातों और विचारों का रसायन होता है) पहुंचने की प्रक्रिया उनकी कविता में उजागर नहीं होती। स्थूल अर्थ में जिसे आत्माभिव्यक्ति कहा जाता है, वह उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान, संवेदन और आवेग जब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के दौर से गुज़रकर चिन्तन-मनन द्वारा अपनी चंचलता खोकर थिर हो जाते हैं···तभी वे लिखने बैठते हैं। निष्कर्ष वे नहीं देते; निरावेग ढंग से, किन्तु प्राण की समूची ललक के साथ, भावना के पूरे सौकुमार्य में शब्द को दे दिए जाते हैं—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।"

इस अपार धीरज और कवि-कर्म के साथ गहन अन्तरात्मिक सम्पृक्ति का ही परिणाम है कि ऐसी विलक्षण और दिमाग में घुमड़ती पंक्तियाँ रची जा सकीं :

"मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूंजने कानों में
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में"

'ले चल मुझे भुलावा देकर' पलायन की आकांक्षा से प्रेरित नहीं है। वह प्रसाद के कवि की स्वाभाविक और जायज़ माँग है। "जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया/ढीले अपनी कोमल काया,नील नयन से ढुलकाती हो/ताराओं की पाँत घनी रे/ जिस गम्भीर मधुर छाया में/विश्व चित्रपट चल माया में/ विभुता विभु-सी पड़े दिखाई/दुख-सुख वाली सत्य बनी रे/··· यह कोलाहल की अवनी से घबराने वाले दुर्बल-प्राण कवि का गीत नहीं है। प्रसाद दिन के कवि नहीं हैं : वे 'श्रम-विश्राम क्षितिज-बेला' के कवि हैं। इसलिए नहीं कि वे दिन का सामना नहीं कर सकते; बल्कि इसलिए कि उन्हें अपनी कविता वहीं पर मिलती है। कवि के रूप में उनकी खोज उसी 'गम्भीर मधुर छाया' की है जिसमें 'विश्व-चित्रपट चल माया' में 'दुख-सुख वाली विभुता', 'विभु'-सी दिखाई पड़े। एक-एक शब्द पर ध्यान दीजिए : कवि कितनी गहरी बात कह रहा है ! 'नील नयन से ढुलकाती हो, ताराओं की पाँत घनी रे'······यह किस मानवीय स्थिति का बिम्ब है ? साँझ अपने-आप में इष्ट नहीं है। वह कोई निरपेक्ष स्वप्न-लोक नहीं है। न वह प्रतिकृति है। वह जीवन की प्रगाढ़ अन्तर्मुख अनुभावना है जहाँ साक्षात्कार सम्भव हो सके। वहाँ प्रकाश होगा; पर ऐसा प्रकाश जिसमें वस्तुएँ नहीं, उनका आन्तर-सत्य झलक जाय······। जीवन की करुणा का जो अन्तरंग अनुभव कवि ने अर्जित किया है, उसी का सघन अन्तरावलोकन उसे अभीष्ट है।

सन्ध्या और रात्रि के चित्र ही प्रसाद में सबसे ज्यादा हैं। और हाँ 'उषा' के। इसी कविता की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए—

श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा-नयन से, बिखराती हो ज्योति घनी रे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…ताराओं की पाँति भी 'घनी' थी और यह ज्योति भी 'घनी' है। साँझ-सी जीवन छाया के नील-नयन से ढुलका हुआ जीवन का राशिभूत संवेदन ही चहुँओर परिव्याप्त अन्धकार की थाह लेता हुआ उसके भीतर, उसकी निविड़ सम्पृक्ति में से, पुनः सृजित होकर, अमर जागरण की ज्योति बनकर उषा नयन से (बाहर को) विकीर्ण होता है। यह 'घनी ज्योति' सृजन की (पूर्ण में से पूर्ण के सृजन की) है। इसी से वह 'अमर जागरण' है।

आपने देखा होगा कि 'उषा' के अंकन में जो औदात्य प्रसाद में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

●

प्रसाद जिस युग में कविता करने लगे, वह युग—प्रसाद जिस संस्कृति के कवि हैं—उस संस्कृति की सन्ध्या सरीखा है। हम पाते हैं कि हमारे जातीय-सांस्कृतिक इतिहास की सबसे प्रखर आत्म-चेतना प्रसाद में ही मिलती है। निश्चय ही प्रसाद ने अतीत का गौरव-गान किया है किन्तु वे उस तरह अतीतजीवी नहीं थे। अतीत इस कवि के लिए उस तरह अतीत है भी नहीं। नहीं तो अन्य कवियों की तरह वे भी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाते दिखाई देते। जबकि उनकी रचनाओं में अतीत इस तरह स्पन्दित और सृजित है मानो वह वर्तमान की ही बात हो। कुछ कवियों में अतीत से तादात्म्य की—अतीत के माध्यम से आत्म-स्थितियों के साक्षात्कार की—क्षमता स्वाभाविक और जन्मजात होती है। प्रसाद ऐसे ही कवि हैं।

वे पलायन के कवि नहीं हैं। देखने की बात है कि उनका नाविक भी उन्हें भुलावा देकर आखिर ले किस ओर को जाता है?…वहीं न, जहाँ "अमर जागरण उषा नयन से बिखराती हो ज्योति घनी रे"? क्या यहाँ भी भ्रम की गुंजाइश है?

और यह नाविक कौन है?…स्वयं काल? स्वयं कवि का इतिहास-बोध भी—शायद! ऊपर प्रसादजी की एक बहुत निजी छाप वाली कविता उद्धृत की गई थी: "ओ री मानस की गहराई…। नाविक अतीत को उतराई।…" अब यहाँ पर उसे थोड़ा ग़ौर से देख लिया जा सकता है।

व्यक्तिगत कवि-मानस की गहराई को अतीत रूपी नाविक ही जान सकता है। वर्तमान को—कितने ही लघु क्षणों की नौकाओं को वह खेता है। प्रतिदान इतना ही कि हम उन्हें—एक-एक क्षण के 'गुण' को—पूरे मन से जी सकें। कोई भी अनुभूति हमारी संवेदना के समूचे प्रसार में से तभी उत्तीर्ण हो सकती है जब हम नाविक अतीत को उसकी उतराई दे सकें, क्योंकि वही हमें उतारता है। क्योंकि वह नाविक हमसे—हमारे व्यक्तिगत मन से—बड़ा है; क्योंकि वह पूरी जाति के अनुभवों का राशिभूत व्यक्तित्व है। एक गहरे अर्थ में वह हमारा 'इतिहास-बोध' है। हमारे व्यक्ति-मानस की गहराई को वह जानता है, जिसमें से कि सारी जीवनानुभूतियाँ उत्तीर्ण होना चाहती हैं। यह 'गहराई' भी स्वयं क्या है, किसकी है?…"तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल…।" यह तरलता कोई भावुक, रूमानी तरलता नहीं है…

"इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में।"

यह 'नील विषाद गगन' ही वह 'नील नयन' है जो 'तारों की पाँति' ढुलकाता है।

अतीत हमारे व्यक्तिगत जीवन का भी होता है जो पल-पल हमारे वर्तमान को प्रभावित करता है और उससे प्रतिकृत भी होता है। यह अतीत तो स्वयं-सिद्ध स्वयं-स्फूर्त सत्ता है जो हमारे सहयोग के बिना भी अपना काम जारी रखता है। हाँ, खुली संवेदना होनी चाहिए वर्तमान 'क्षण' की अनुभूति के प्रति; तभी अतीत भी उसे हमारी सम्पूर्णता में रचा सकता है; हमारे 'ज्ञान' का अंग बना सकता है। प्रसाद की कविता का 'नाविक' महज़ प्रसाद के कवि का व्यक्तिगत अतीत ही नहीं है; वह एक प्रकार से समूची जाति का अतीत है; संस्कृति है; सामूहिक अवचेतना भी आप चाहें तो उसे कह सकते हैं। वही हमारे क्षणिक अस्तित्व को सनातन काल में से उत्तीर्ण करता है।

व्यक्तिगत विषाद का मोक्ष विश्व-वेदना की प्रगाढ़ अनुभूति (करुणा) में; और उस अनुभूति को अपनी सांस्कृतिक चेतना एवं इतिहास-बोध के द्वारा सर्जनात्मक सार्थकता एवं संतुलन देने की प्रेरणा…यह है कवि के रूप में प्रसाद की आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा भी, आप चाहें तो कह लें उसे।

हो सकता है प्रसाद की कविता अपने उद्गम में, मूल प्रेरणाओं में अत्यन्त व्यक्तिगत हो जैसी कि किसी भी कवि की कविता हो सकती है, होती ही है। हो सकता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत वैकल्य और विषाद के कटु अनुभवों ने भी उन्हें कवि बनाया हो; किन्तु उनकी कविता में ये प्रेरक मूल 'हृत्कंपन' की तरह अन्तर्धान हो जाते हैं, जो कि चुपचाप रच-पच गए हैं; ···विचारों, भाव-तरंगों में ढलकर अपने-आपको भूल गए हैं। ऐसा लगता है जैसे प्रसाद अपनी अनुभूतियों को सीधे 'बुद्धि' और 'आत्मा' में परिणत करने के लिए ही कविता करते हैं; उन्हें अपना शरीर नहीं बनाने देते। शरीर में तो हृत्कंपन तब भी अधिक स्थूलता के साथ रचता है: मन और मस्तिष्क तक पहुँचते-पहुँचते तो उसकी गति बहुत ही सूक्ष्म-विरल हो जाती होगी। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि प्रसाद में किसी भी अन्य कवि, मसलन निराला की ही, अपेक्षा संवेदन-क्षमता कम थी। एकमात्र और महत्त्व-पूर्ण अन्तर यह है कि प्रसाद की कविता में वह संवेदन अधिक लम्बा पथ पार करके, अधिक जटिल स्तरों से छनकर संक्रमित होता है और इसीलिए स्वभावतः उस तक पहुँचने के लिए हमें शायद परिश्रम भी ज्यादा करना पड़ता है। कवि के लिए जो स्वाभाविक है, वही हमारे लिए श्रमसाध्य और दीक्षागम्य भी हो जा सकता है।

प्रसाद को रागात्मक ऐश्वर्य का कवि कहने के बजाय विराम के ऐश्वर्य का कवि कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। रागात्मक ऐश्वर्य की बात ही की जाय, तो वह उनके कथा-साहित्य में अधिक है। कविता में वे अधिक निर्लिप्त, अधिक सारमय हैं। ऊपर कहा गया कि व्यक्तिगत अनुभव-क्षण की तात्कालिक त्वरा और तीव्रता उस तरह उनकी कविता में नहीं मिलती। यह भी कहा गया कि उनमें अनुभूति अपना शरीर न रचकर सीधे-साधे अपना मस्तिष्क अपनी 'आत्मा' रचती जान पड़ती है। इसका आशय यह, कि उनकी कविताओं में मांसलता नहीं है। इस बात को सही-सही समझने की ज़रूरत है। यदि उनकी जीवन-चेतना पंतजी की तरह स्वप्निल और वायवीय होती तो कहानी-उपन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती; न उनमें इतना रूप-रंग, चरित्र और मानवीय वैविध्य सृजित होता। हमें स्मरण रखना होगा कि हिन्दी कहानी में यथार्थवाद की नींव उन्होंने ही डाली थी। ठेठ यथार्थवादी कहानियों की तो बात ही क्या, 'ममता' और 'आकाशदीप' जैसी भावोच्छ्वसित कहानियों का भी थोड़ा-सा विश्लेषण यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी होगा कि उनकी भी बुनियाद ठोस मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर रखी गई है। इसीलिए भाषा की एक अभिजात दूरी के बावजूद, रुचि-सम्बन्धी सारी कठिनाइयों के रहते भी उनका प्रभाव हम पर पड़ता है और हमारा मन एकाएक यह मानने को तैयार नहीं होता कि ये रचनाएँ नश्वर भी सिद्ध हो सकती हैं। नहीं, हम यही सोचने को विवश होते हैं कि यदि प्रसाद की कविता में वाञ्छित मांसलता भी नहीं है, तो इसका कारण उनकी अक्षमता ही नहीं है। यह भी तो हो सकता है कि वे कविता में अधिक सूक्ष्म उपकरणों से काम करना चाहते हैं याकि कविता की उनकी धारणा ही यह है कि वह एक अत्यधिक सूक्ष्म उपकरण है अनुभूति के यथार्थ को पचाने और आत्मसात् करने के लिए। इस प्रकार यहाँ उनका उद्देश्य और आग्रह ही भिन्न हो जाता है। निराला और प्रसाद की कुछ पंक्तियाँ आमने-सामने रखकर देखिए :

"कहाँ
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष
संभव है क्या ?
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?"

यह हैं निराला। अब ज़रा प्रसादजी पर कान लगाइए :

"निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता"

निश्चय ही निराला अधिक आत्मीय लगते हैं; क्योंकि उनका 'टोन' अधिक नज़दीकी का, सहज-संलापी और मुक्त-मुखर-वैयक्तिक है। तुलना में प्रसाद का स्वर वैसा घनिष्ठ और 'वैयक्तिक' नहीं प्रतीत होता; एक पर्दा-सा उनके और हमारे बीच रहता है। उनका टोन, उनका लहज़ा अधिक निर्वैयक्तिक लगता है। फिर भी, कौन कह सकता है कि प्रसाद कम मार्मिक हैं? निरालाजी का कथ्य उनकी पंक्तियों में प्रवाहित होता चलता है: उसमें गति है और उसे इसी रूप में हम देखते-अनुभव करते हैं। प्रसादजी में गति 'विधि' बन गई है। उनका कथ्य गति से आगे बढ़कर विधि में समाहित होता हुआ कविता में उतरा है।

एक बात और···। प्रसादजी गहरे अर्थों में संस्कृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि हैं। उनके शब्दों का संसार पावनता, सरलता और गरिमा के एक अद्भुत रासायनिक यौगिक से रचा हुआ जान पड़ता है। व्यक्तिगत वैफल्य और निराशा की तीव्र संवेदनाएँ उनके काव्य में अभिव्यक्त नहीं दीखतीं। "स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है" जैसी तीव्र-वेधक आत्माभिव्यक्तियाँ उनके यहाँ दुर्लभ हैं। फिर क्या कारण है कि उनकी कविता का अनुभव एक गहरे औदास्य का अनुभव भी होता है ?

"प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्यशिथिल बिछली पड़ती है, वहन कर रहा उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता ?
वंचित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम ?"

यह 'अतीत की विकल कल्पना' ही मानो कवि की कविता का प्रमुख उत्स है: अतीत का संमोह नहीं; 'अतीत की विकल कल्पना'!' जो कि एकसाथ नितान्त आत्मीय-वैयक्तिक भी है और सामूहिक-सांस्कृतिक भी। एक ओर 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में :

"आह इस खेवा की !
कौन थामता है पतवार इस अन्धड़ में
अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा
उमड़ रहा है ज्योति-रेखाहीन क्षुब्ध हो
खींच ले चला है काल-धीवर अनन्त में
साँस सफरी-सी अटकी है किसी आशा में"

और दूसरी ओर,

सागर-लहरों-सा आलिंगन निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल-वैभव है सीमाविहीन, वह रहा एक कन को निहार
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार
ढल विरज डालियाँ भरी मुकुल, झुकतीं सौरभ-रस लिए अतुल
अपने विषाद-विष से मूर्च्छित, काँटों से बिंधकर बार-बार धीरे से वह उठता पुकार।
पागल रे वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन से गिन-गिनकर, यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अपने 'विषाद-विष से मूर्च्छित' मन को कवि ने किस प्रकार जगाया है, यह देखिए; और तुलना कीजिए पहली कविता से "तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल, सुखलहर उठा री सरल-सरल, तू हँस जीवन की सुधराई···।" यह है इस कवि के आत्म-परिष्कार, आत्म-विकास की अनिवार्य दिशा और सूचना।

●

अन्य छायावादी कवियों के बीच प्रसाद की स्थिति को समझने के लिए कुछ मसाला शायद ऊपर के विवेचन में इकट्ठा हो गया होगा। तथापि उस अन्तर और वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए शायद इतना काफ़ी नहीं है। बहरहाल प्रसाद की 'लहर' शीर्षक कविता को पढ़ने के दौरान मेरे दिमाग़ में दो कविताएँ आई थीं: एक तो पंतजी का 'हिलोरों का गीत' और दूसरा निराला का 'तरंगों के प्रति'। तीनों कविताओं को साथ-साथ रखकर पढ़ने से मुझे लगा कि इस तुलना से हम कुछ और निकटता हासिल कर सकते हैं। तीनों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर शायद अप्रासंगिक न लगे। ज़रूरी होगा कि इस विश्लेषण से गुज़रते हुए कविताएँ सामने हों। समूची उद्धृत करना तो संभव नहीं है: इतने सहयोग की अपेक्षा पाठक से की ही जानी चाहिए।

पंतजी की कविता में सौन्दर्य-संवेदन और अर्थ (कथ्य) की स्थिति एकाकार नहीं है। दूसरे शब्दों में हिलोरों का संवेदन कवि की अन्य जीवनानुभूतियों से—व्यापक जीवन की उसकी पहचान और संवेदना से—जुड़कर एकाकार नहीं होता। मुख्य प्रेरणा वहाँ एक दृश्य-सौन्दर्य से मुग्ध होने और उस मुग्ध भाव को शब्दबद्ध करने की है। वह सौन्दर्य आँखों से उतरकर हमारे अन्तर्जीवन को नहीं पकड़ता। "अपने ही सुख से चिरचंचल, हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल···।" एक दृश्य-संवेदन दूसरे समानान्तर दृश्य-संवेदन को उकसाता है और बिम्ब उत्पन्न करता है। 'खिल-खिल' में खिलखिलाहट भी है और फूलों की खिलावट भी। आगे दूसरी पंक्ति में इसको और स्पष्ट फैला दिया गया है "जीवन की लतिका में लहलह, विकसा इच्छा के नव-नव दल"। इसके तुरन्त बाद 'रास' का बिम्ब कवि की सूझ में आता है। "सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि/गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल/हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल/खस-खस पड़ता उर से अंचल"/··· एक-एक ब्योरा इकट्ठा करके चित्र को पूरा कर दिया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि कवि को दृश्य-चित्रण ही अभीष्ट है: उसका स्वयं का व्यक्तित्व उस दृश्य-संवेदन से सम्पृक्त नहीं होता भीतर तक; वह अलग, असम्पृक्त एक दृष्टि-बिम्ब को रचने-सजाने, उसे पूरा उभारने में संलग्न है। उसकी अनुभूति प्रथम और अन्तिम रूप से सौन्दर्य (छवि) की ही अनुभूति है; अर्थानुभूति या मार्मिक जीवनानुभूति नहीं। 'लहर' का जीवन उसके जीवन से अलगाया हुआ है; लहर का जीवन भी उसकी आँख और 'चितेरे हृदय' में है; मस्तिष्क में नहीं।

किन्तु अन्त की चार पंक्तियाँ बताती हैं कि यह सौन्दर्यानुभूति वैसी शुद्ध और निरपेक्ष नहीं है। यहाँ कवि अर्थ को निकाल रहा है। इस तरह कि मूल सौन्दर्यानुभूति पर यह प्रक्षेप जैसा लगता है। एक दार्शनिक पश्चाद्बुद्धि से प्रेरित जान पड़ती हैं ये पंक्तियाँ:

"चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर,
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर,
फिर-फिर उसमें हो हो ओझल"

'लहलह' और 'खिलखिल' में जिस प्रकार कवि की अनुभूति का स्पन्दन है उस प्रकार इस 'चिर जन्म-मरण' में नहीं। वहाँ कविता है; यहाँ कविता से ज्यादा काव्यरूढ़ि।

कुल मिलाकर यह एक स्थिर चित्र है। हम अलग-अलग शब्दों के संवेदन से आर्कषित होते हैं। रास का चित्र भी उस तरह गतिमय-सजीव नहीं हो पाता: एक तो छन्द की लय ही उतनी स्वतन्त्र और लचीली नहीं; दूसरे, कवि ने रास के बिम्ब की उद्भावना एक सादृश्य के रूप में हिलोरों के चित्र-संवेदन को पुष्ट करने के लिए की है; वह भावना उतनी नहीं जितनी उद्भावना है; आवेग उतना नहीं जितना कि रूप-संवेदना।

अब निराला की 'तरंगों' का अनुभव लीजिए और दोनों कवियों का अन्तर देखिए—

यहाँ रास का संकेत देने वाला कोई शब्द नहीं है—सिवा 'मण्डलाकार' के, जोकि अनायास ही तरंगों का सहज विशेषण बनकर आ गया है—फिर भी चित्र में उसका पूरा सजीव स्पन्दन अनुभव होता है। पंत में 'मरुत-मुरली की धुन' भी है; लहरों के 'गृह-पुलिन नांघने' का ज़िक्र भी है: रूपक को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु निराला की पंक्तियों में शिल्प का वैसा सचेतन उद्योग नहीं है। ए[क] तीव्र भावना, एक रसावेश है जो तरंगों से उत्पन्न हो[कर] तरंगों से ही तदात्म हो जाता है, और उन्हें भी अपने भीत[र] खींच ले जाता है। "किस अनन्त का नीला अंचल हिला हिलाकर, आती हो तुम सजी मण्डलाकार"···यह दृश्य संवेदन अनुभूति के एक ही क्षण में पूरे बिम्ब को प्रत्यक्ष सजी[व] कर देता है। किसी सादृश्य-विचार का अंतराल महसूस नहीं होता।

यह एक पूरी चित्रानुभूति है। दूसरे पैराग्राफ़ में संवेदन अपनी ही लयगति से दूसरे संवेदनों को अपनी ओ[र] आर्कषित कर लेता है। पहला चित्र अपने-आप में पूर्ण उसमें अभी कवि की आत्म-स्थिति का उलझाव-जुड़ाव न[हीं] है: वह एक निरपेक्ष सौन्दर्य का निरपेक्ष-सम्पूर्ण संवेदन है दूसरे पैराग्राफ़ में यह संवेदन और अधिक आन्तरिक बनक[र] कवि के अन्तर्जीवन में और गहरे उतरता है; दूसरे शब्दों सौन्दर्यानुभूति और अधिक 'जीवन' समेटती है अपने प्रव[ाह] में; और यह 'जीवन' तरंगों के अपने 'जीवन' से अभिन्न उस पर आरोप नहीं है, न उसकी सजावट। तरंगों जीवन और मनुष्य का जीवन दोनों एक-दूसरे में प्रवाहि[त] होने लगते हैं:

"गन्ध-मन्द-गति कभी पवन का मौन भंग उच्छ्वास
छाया-शीतल तट के तल आ तकतीं कभी उदास
क्यों तुम भाव बदलती हो
हँसती हो, कर मलती हो।"

यहाँ लहरें 'कवि' हैं और कवि 'लहरें'···। किन्तु इस[के] फ़ौरन बाद 'लहरें' फिर लहरें हो जाती हैं और दूसरा पैरा[ग्राफ़] ग्राफ़ पहले की लय को फिर समेट ले जाता है (चंचल च[रण] बढ़ाती हो, किससे मिलने जाती हो?)

पहले की टेक दुहराकर मूल संवेदन की एकता व्यंजित करते हुए कवि बड़े बारीक़ प्रच्छन्न कौशल के द्व[ारा] दूसरे पैराग्राफ़ का नया संवेदन भी उसमें मिला देता है।

तीसरे पैराग्राफ़ के शुरू होते-न-होते तरगों के साथ क[वि] के संघर्षशील व्यक्तित्व का अधिक घनिष्ठ उलझाव प्रकट जाता है।

"बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी
दग्ध चिता के कितने हाहाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी
अबलाओं की कितनी करुण पुकार!"

विशेषता यह, कि तरंगें जिस प्रकार आवेग के एक धक्के को समेटकर, दूसरे धक्के से प्रभावित होती हुई···अपने को लगातार विस्तृत करती चलती हैं—सहज नम्यता और समीकरणशीलता के साथ; उसी प्रकार कवि की भाव-तरंगें भी उसी लय-गति के साथ अपने आवेगों को क्रमशः समेटती हुई अग्रसर हो रही हैं। जो सन्तुलित गत्वरता तरंगों में है, वही कवि के आवेगों में और वही उसके लय-तुक और शब्द-विन्यासों में।

इन पंक्तियों में कवि एक साथ व्यक्ति और व्याप्ति होकर बोल उठा है। यहाँ कवि का व्यक्तिगत जीवन और व्यापक मानवीय जीवन दोनों एक सुपरिचित बिम्ब-दृश्य की अनुभूति से एकाकार हो गए हैं। तरंगों का अनुभव अपने ही अन्दरूनी दबाव से जीवन और मृत्यु के अनुभव में अर्थान्तरित हो गया है : बिना किसी अतिरिक्त विचारणा (आइडिएशन) के आरोप के। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति की लय-गतियाँ पृथक्-पृथक् न रहकर कवि की वैयक्तिक संवेदना के संपीड़न में एक हो जाती हैं। रूपक का आश्रय लेकर कहूँ तो यहाँ कवि की संवेदना वह पैण्डुलम है जो सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति के दो छोरों को पल-पल एक-दूसरे की ओर आकर्षित करती रहती है—करते रहने को विवश है। कवि के रूप में वह अपने व्यक्तिगत जीवन की लय को प्रकृति की लय में और दूसरी ओर व्यापक मनुष्य की लय में ढूँढता-खोजता-मिलाता चला जाता है। इस प्रकार एक ही कविता में तरंगों का अपना जीवन भी पूरी छविमयता में अभिव्यक्त हुआ है और कवि का अन्तर्जीवन तथा व्यापक जीवन का सत्य भी। पन्त की कविता में "चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर, हम आलिंगन करतीं पल-पल···" यह आवेग-सृजित विचार नहीं है; इसमें चित्र और विचार एकीभूत नहीं; वे मिलाये गए हैं। जबकि इसके विपरीत "बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी दग्ध चिता के कितने हाहाकार···" में एक वास्तविक बिम्ब का अनुभव कवि की भोगी गई व्यक्तिगत अनुभूति और देखे हुए समष्टिगत हाहाकार का मर्म खींचे लेता है। इसीलिए उसके प्रति हमारी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी सीधी और गहरी होती है।

अब इन कविताओं के साथ प्रसाद की 'लहर' को रखकर देखें :

"उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परछाईं-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर···"

इन पंक्तियों को पढ़िए और देखिए, क्या दीखता है? क्या जो आप देख रहे हैं, वह 'लहर' है? आप देख रहे हैं या सोच रहे हैं? शायद आप एक-एक शब्द पर अटकते हुए सोच रहे हैं। नहीं, ऐसे कुछ हाथ नहीं आएगा। पहले पूरी कविता पढ़ जाइए। तब कहीं जाकर आपको ये शब्द दीखेंगे, पकड़ में आएँगे। जोकि अभी हाथ में आ-आकर भी फिसले जा रहे हैं।

लीजिए, अब आपने समूची कविता पढ़ डाली और अब फिर से पढ़ रहे हैं। आप इस 'लहर' को पकड़ना चाहते हैं··· अनेक अमूर्त चित्रों से घिर-घिर जाते हैं। आपने पन्त में 'मलय-मारुत' की वंशी सुनी थी; यहाँ आप 'मलयानिल की परछाईं' को पकड़ने दौड़ रहे हैं। यह मलयानिल आपको छायावाद में बीसियों बार मिला है। प्रथम आवृत्ति में आपका ध्यान इस ओर गया भी नहीं होगा। काव्य-रूढ़ि में काव्य कहाँ?···आपने सोचा होगा; और प्रसाद की रूढ़िग्रस्तता से आप संकुचित भी हुए होंगे। फिर आप यहाँ अटके क्यों हैं? क्या कोई सूक्ष्म तत्त्व झलक मार रहा है?

स्पष्ट ही, यह 'मलयानिल' भिन्न है। वह रूढ़ार्थ पीछे छूट गया है। एक तो मलयानिल वैसे ही अमूर्त···, फिर उसकी भी परछाईं···यह लहर! 'परछाईं' से कितना कुछ व्यंजित होता है! आपको 'अभिनयमय परिवर्तन' की याद आती है और इसी कविता के आगे की पंक्ति—'यह खेल खेल ले ठहर-ठहर'। यह परछाईं 'करुणा की नव अँगराई' और 'सूखे तट' से जुड़कर क्या देती है? ऊपर कहा गया कि प्रसाद में हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। इसलिए नहीं कि वे प्रतीक रचना चाहते हैं बल्कि इसलिए कि प्रतीक उन्हें घेर-घेर लेते हैं। वे सीधे भावावेश में या सौन्दर्य-संवेदन में से कविता रचने नहीं बैठते—बल्कि वे अपनी संवेदना का मनन-मंथन करते हैं—अपने तमाम जीवनानुभव और ज्ञानात्मक चेतना के आलोक में; यहाँ तक कि वस्तु का मूल संवेदन एक बोध-संवेदन में रूपान्तरित होने लगता है और इस अवस्था में वे लिखने बैठते हैं। मानो वे किसी एक कविता द्वारा किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक वस्तु को, किसी एक भावस्थिति को अभिव्यक्त नहीं करना चाहते बल्कि प्रत्येक कविता द्वारा अपने सम्पूर्ण बोध को, अपनी सम्पूर्ण आत्मवत्ता को पकड़ना चाहते हों। इस प्रकार उनकी प्रत्येक कविता उसी एक 'बड़े जीवन' की छोटी कथा बन आती है।

और यह कथा कभी बासी नहीं पड़ती। शब्द दुहराए जाते हैं मगर उनके अर्थ और प्रयोजन नहीं। प्रत्येक बार वे नये ढंग से हमारे साथ पेश आते हैं। समझने-बूझने की नई चुनौतियाँ लेकर। मैंने कहा कि प्रसाद बौद्धिक कवि हैं। रहस्यवादी वे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। बौद्धिक कवि से अभिप्राय बुद्धि का कवि नहीं, बल्कि बौद्धिक संवेदना का कवि है। प्रसाद गहन संवेदना के कवि हैं और संवेदन भी कैसा ?···"संवेदन जीवन-जगती को, जो कटुता से देता घोंट" (मनु का मन था विकल हो रहा, खाकर संवेदन की चोट) किन्तु वे इस 'संवेदन' को उसकी तात्कालिक विह्वलताओं से नहीं गढ़ते। वे उसे अपनी बुद्धि—अपनी प्रचण्ड बौद्धिकता—में से छानकर थिराने देते हैं। प्रसाद की यह बौद्धिकता उनकी नितान्त अपनी बौद्धिकता है जिसे उन्होंने साधना द्वारा अपना 'पितृऋण' चुकाकर—परम्परा को अस्थि-मज्जा तक पचाकर अर्जित किया है। यह पचाने की प्रक्रिया इतनी दीर्घ और अनवरत रही है—इसमें उनकी इतनी जिजीविषा खपी है कि परम्परा का जीवन उनके भीतर उनकी व्यक्तिगत जीवनी के समान ही रच गया है। और दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध स्थापित होता चला गया है। उनकी व्यक्तिगत अनुभूति—व्यक्तिगत संवेदन—इस सांस्कृतिक जीवन की ज्ञानात्मक चेतना से टकराकर परावर्तित और प्रतिच्छायित होता है। इसीलिए, यदि उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाए तो अचरज की बात नहीं। वह स्वाभाविक है। जो व्यक्तिगत है, निजी है, वह इस संस्कारी बोध से छनकर उससे संघर्षित और अनुकूलित होकर ही बाहर को आता है। इतना अवश्य कहा जाएगा और यह प्रसाद की आलोचना का एक बुनियादी नुक्ता हो सकता है कि इस प्रक्रिया में अनुकूलन जितना है, संघर्षण उतना नहीं। यह प्रसाद की सीमा—शायद हमारी पीढ़ी के दृष्टिकोण से बहुत बड़ी सीमा—है।

ऊपर उद्धृत अनेक परस्पर सम्बद्ध कविताओं के भीतर से गुज़रते हुए हम पहली कविता पर लौटें तो हम उसे अधिक पाते हैं। 'अशोक की चिन्ता' में हम पढ़ते हैं :

"आँसू कन-कन ले छल-छल, सरिता-भर रही दृग
सब अपने में हैं चंचल, छूटे जाते सूने प

'करुणा की नव अँगराई' एक मानवीय चित्र और प्रज्ञात्मक अनुभूति का यौगिक है। 'आँसू कन-कन ले छ छल' यहाँ अधिक संवेदनमय, अधिक संश्लिष्ट ज्ञानात्म अर्थ पा जाता है; इसीलिए अधिक मार्मिक भी। 'करु और 'अँगराई'—दो दूरवर्ती शब्दों की अर्थात्माओं को प खींचकर कवि ने कैसी व्यंजना उत्पन्न कर दी है! 'करु की नव अँगराई-सी'···जीवनानुभूति यहाँ विशिष्ट होकर सामान्यता से बहिष्कृत नहीं है। 'अँगराई' में जागर यौवन, सौन्दर्य और सुषमा की व्यंजनाएँ बोलती हैं 'करुणा' में एक सांस्कृतिक बोध का अर्जित संवेदन। दो को एक कर दिया गया है। 'मलयानिल की परछाई' तरह। परछाईं भ्रम होते हुए भी सत्य (गोचर-संवेद्य) मलयानिल अदृश्य-अमूर्त होते हुए भी लहर का स्रष्टा कारणभूत है। मूर्त और अमूर्त का सन्धि-स्थल है मनुष्य 'चेतना' जो दो दुनियाओं में एक साथ विचरने को विवश है उसकी प्रत्येक अनुभूति उसके अस्तित्व के इस मूलगत द्वैत निहित है। और कवि की हैसियत से उसकी एक लड़ अपनी इस 'अस्तित्वपरक स्थिति' (एक्जिस्टेंशियल कंडीशन से भी है। उसे 'जीवन की सुघराई' भी चाहिए और 'स की सुघराई' भी······। फ़िलहाल इस कविता की आगे पंक्तियाँ देखिए :

"उठ-उठ, गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पदचिह्न बना जाती
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल-सिहर"

'तरल-सिहर' की व्यंजना पर ध्यान दीजिए और पंक्तियों के मर्म-वैशिष्ट्य को पकड़ने के लिए एक दूस कविता पढ़िए। वही इसकी व्याख्या और पर्याप्त टिप्प भी होगी शायद।

"कितने दिन जीवन जलनिधि में,
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी कूल चूमने चलकर,
उठती-गिरती-सी रुक-रुककर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी मधु-संगीत निनादित,
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गाएगी वंचित,
पागल-सी इस पथ-निरवधि में
दिनकर, हिमकर, तारा के दल,
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनावेंगे निज चंचल,
आशा की माधुरी अवधि में

प्रसाद की लहर "अस्थिर आशा का अभिनय" नहीं है। वह 'आशा की माधुरी अवधि' है; 'करुणा की नव अँगराई' है। चूँकि जिनके लिए उसने "सब अपने में हैं चंचल" कहा है, वह स्वयं उनमें न होकर उनका साक्षी, उनका कवि है, अतः इसीलिए वह अकेला भी है ("छूटे जाते सूने पल"···)। इन सूने पलों को सार्थकता कौन देगा? इसके लिए वह उसी 'करुणा' का आह्वान करता है।

"तू भूल न री पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर"

यह करुणा महज़ भक्ति के रसावेश में से प्राप्त किया गया आश्वासन नहीं है। 'कन-कन अनन्त अम्बुधि' बनते देखकर वह कहता है, "कब रुकती लीला निष्ठुर"; और मनुष्य के अश्रुओं को समेटने वाले सूर्योदय में वह 'रोष भरी लाली' देखता है। नर की करुणा से ही वह संवेदित है। वह स्वयं को 'तरल गान' गाते हुए भी 'वंचित' ही महसूस करता है। विकल अनिल (ज़रा 'मलय-अनिल' से इसकी संगति मिलाइए) से प्रेरित जीवन जलनिधि की लहरें उस निरवधि, उपलब्धि-शून्य पथ की यात्रिक सरीखी ही जान पड़ती हैं। फिर वह किस करुणा का आह्वान कर रहा है? निश्चय ही वह रूढ़ आस्तिक विश्वास की करुणा नहीं है। प्रसाद उस तरह के आस्तिक नहीं हैं। तब? क्या यह बौद्ध करुणा ('महाकरुणा') है? उत्तर इतना आसान नहीं है। संभवतः इसका सम्बन्ध उस 'प्रज्ञा' से है, जिसका अनुभव पाने के लिए प्रसाद ने आजीवन साधना की और जिस साधना में उन्होंने अपने व्यक्तित्व से भरसक लगातार पलायन किया। पलायन! लेकिन जीवन से नहीं; अपनी व्यक्तिता से। यदि 'व्यक्तित्व से पलायन' में आपको एलियटी छूत प्रतीत होती हो तो आप 'व्यक्तित्व का होम' कह सकते हैं। उसमें छूत भी न होगी और भारतीयता भी ज्यादा रहेगी।

ऊपर 'लहर' के विश्लेषण के दौरान प्रसाद के कवि की एक मूलभूत पर्युत्सुकता का संकेत उभरा है। मानवीय चेतना में निहित अस्तित्व के द्वैत की समस्या, जो प्रसाद में बार-बार उभरती है। हम पाते हैं कि प्रसाद की कवि-चेतना वैराग्य-विषाद और अनुराग-आह्लाद की एक अजीब रंग-स्थली-सी है। उनका वैराग्य अधिक मूलभूत है (हालाँकि इतनी विलासी, ऐश्वर्यमयी कल्पना छायावादी कवियों में किसी को प्राप्त नहीं): नील (विषाद) गगन की भाँति, जिसमें अनुराग के रंग खिलते और विलीन हो जाते हैं। प्रसाद का विराग व्यक्तिगत अनुभूति और सांस्कृतिक अनुभव का अविच्छेद्य यौगिक है। यही उनके अनुराग-क्षणों को—विलास-वृत्ति को भी—सौन्दर्य, अर्थ और एक पवित्र प्रभामयी गरिमा दे देता है। (उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की कितनी है मोहमयी माया···)

मनुष्य की अस्तित्वपरक परिस्थिति में निहित द्वैत की करुणा प्रसाद की कवि-संवेदना में एक स्थायीभाव की तरह बद्धमूल है।

वेदना-विकल यह चेतन
जड़ का पीड़ा से नर्तन
लय-सीमा में यह कम्पन
अभिनयमय है परिवर्तन
चल रहा कभी से यह कुढंग

इन पंक्तियों की संश्लिष्ट व्यंजना को देखिए। यह पश्चिमीय या फ्रायडीय दुःखवाद नहीं है। उमरखैयामी बिम्ब-योजना तक प्रसाद के यहाँ नई अर्थच्छवियाँ उभारती है।

इन पंक्तियों में 'बिम्ब' है। किन्तु कवि की दृष्टि सर्वथा आशय के सारपूर्ण अंकन की है। एक-एक शब्द सटीक-सारगर्भित है। 'लय-सीमा में यह कम्पन' पढ़ते ही हमें 'आँसू' की "चेतना-लहर न उठेगी; जीवन-समुद्र थिर होगा" का स्मरण हो आता है। देखने की बात है कि किस प्रकार प्रसाद अपनी अनुभूति को बौद्धिक सारतत्त्व में—कहूँ कि 'बौद्धिक बिम्ब' में ढालने के अभ्यस्त हैं। दर-असल वे अनुभूति की बजाय अनुभूति का आसव पेश करते हैं। चौथी पंक्ति की गढ़न देखिए···"अभिनयमय है परिवर्तन"। वे चाहते तो मायामय भी कह सकते थे। फिर उन्होंने 'अभिनयमय' क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा ? अभिनयमय में जो व्यंजनाएँ हैं (एक साथ खीझ, नैराश्य, वंचना, विनोद और लीला की) वे भायामय में कहाँ ?

"आलोक किरन है आती, रेशमी डोर खिंच जाती
दृग-पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती"
कलरव कर सो जाते विहंग

कितनी नश्वरताओं का अनश्वर बिम्ब है ! ···आयु की, संकल्प की, प्रेरणा की, दृष्टि की।···

इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में
उलझा है चंचल मन-कुरंग

यह है विशुद्ध वैराग्य का काव्य ! विशुद्ध और सारमय। प्रसाद में कोई भी शब्द महज़ अलंकरण नहीं होता। प्रत्येक शब्द उनके अन्तर्जीवन (और बुद्धिजीवन) में गोता लगाकर बाहर आता है। यह ऐसा दावा है जो छायावाद के किसी अन्य कवि के बारे में नहीं किया जा सकता।

●

अपने सहवर्त्तियों के बीच प्रसाद की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए—पन्त और निराला के साथ उनकी तुलना के आधार जुटाने के लिए तीनों की लगभग एक ही विषय से प्रेरित एक-एक कविता को नज़दीक से विश्लेषित करने के बाद अब कुछ सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है।

प्रसाद का अपना स्वर, अपनी टोन है जिसके द्वारा वे अपनी एक-दो पंक्तियों के द्वारा ही पहचान में आ जाते हैं। उनकी प्रारंभिक कविताओं की भाषा और शिल्प में पंत और निराला जैसा विस्फोटक नयापन नहीं है। किन्तु जहाँ इन दोनों कवियों की कविता में उनकी अपनी व्यक्तिगत आवाज़ काफ़ी देर बाद सुनाई देती है, वहाँ प्रसाद का कवि अपेक्षाकृत जल्द ही वयस्क होकर अपनी आवाज़ में अपनी बात कहने का आत्मविश्वास प्राप्त करने लगता है। इसके बावजूद वह कम रोचक और श्रुतिमधुर है क्योंकि उसकी समस्या पद्य में सच बोलने की एक पुष्ट और समर्थ शैली विकसित करने की है—परम्पराप्राप्त भाषा को अपनी वाणी के रूप में स्पष्ट अनुभव करने की है; वह उतना आत्म-सम्मोहित नहीं है जितना कि वाक्-सम्मोहित। न केवल ब्रजमाधुरी के विरुद्ध हिन्दी गद्य के ठण्डे विकास को—व्यवस्थित और स्पष्ट अभिव्यक्ति की उसकी नवजात क्षमताओं को—प्रसाद का पद्य अपने भीतर समेटता है, बल्कि अपने पूर्ववर्त्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्दविधियों की भी सामर्थ्य की भरपूर छानबीन करता चलता है।

प्रसाद में आवेग-सर्जित लयकारियों की वैसी समृद्धि नहीं है जैसी कि निराला में हम देखते हैं। उनमें भाषा के प्रति वैसी मोहमुग्धता, रूपतंत्र की नई-नई उद्भावनाओं का उत्साह भी नहीं लक्षित होता। उनके भाषिक संवेदन में निराला का लचीलापन नहीं है। शब्दों के रंग-रूप की उनकी रीझ-बूझ सीमित है। शब्दों का वज़न और तुमुल भी उन्हें आकर्षित नहीं करता, शब्द उनके यहाँ बाँध तोड़कर नहीं बहते···धीरे-धीरे विन्यस्त होते हैं। निराला कई बार शब्दों को किसी शाहखर्च की तरह अबाध-अरोक गति से अपने भीतर से बाहर को फेंकते प्रतीत होते हैं : अपने निहित-संभाव्य अर्थों के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का प्रचण्ड दुर्दम वेग भी उनके शब्द वहन करते और झलकाते प्रतीत होते हैं मानो यह भी उनके कवि-कर्म की अनिवार्यता हो और कमाल यह कि अक्सर यह अतिरिक्तता पाठक को खलती नहीं—उसके आलोचकत्व को उकसाती नहीं; वह छूट दे देता है। बिना जाने-महसूसे कि वह छूट दे रहा है। निराला का प्रचण्ड वेग ही मानो पाठक की सजगता को शिथिल कर देता है। शब्दों की यह ऊर्जस्विता और अतिरिक्त दीप्ति प्रसाद के यहाँ बहुत कम देखने को मिलती है। हाँ, उनकी ध्वन्यात्मक संवेदना निश्चय ही विशिष्ट है। हालांकि उसमें निराला जितना वैविध्य नहीं है; तो भी यह शायद इसीलिए है कि वह स्वभावतया अधिक विशेषीकृत है और इसी कारण उनकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए पर्याप्त भी। प्रसाद शब्द की ध्वनि का अपने स्वरों की सीमाओं में विशिष्ट उपयोग करते हैं (उनका संगीत व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों पर अधिक अवलम्बित है) किन्तु उनकी लयगति निराला की अपेक्षा कम स्वतन्त्र है। निराला का छन्द पर असाधारण अधिकार है। यह कहना कुछ विचित्र लगेगा किन्तु कहे बिना रहा भी नहीं जाएगा कि मुक्त छन्द में मुझे प्रसाद की गति अधिक सहज और मुक्त प्रतीत होती है—बनिस्बत निराला के। विशेषकर लम्बी कविताओं में। 'शिवाजी का पत्र' की तुलना आप 'प्रलय की छाया' से करके देख सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक न होगा कि अपने भाव-संवेगों (अन्ततः अपने व्यक्तित्व) पर प्रसाद को निराला की अपेक्षा अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशासन सिद्ध था। और उपयुक्त वस्तु-स्थिति पाकर उसकी अभिव्यक्ति भी अधिक मितव्यय-सुघर हो जाती थी।

निराला की वे लम्बी रचनाएँ अधिक सफल हैं जिनमें छन्द का अनुशासन है। बल्कि छोटी कविताओं तक में जहाँ छन्द जितना ही जटिल है, भाव-संवेग उतनी ही सुन्दरता के साथ व्यक्त हुए हैं। प्रसाद में स्थिति इसके विपरीत नहीं, तो भिन्न अवश्य है। वे चुनी हुई सरल-साधारण लयगतियों में सूक्ष्म-संश्लिष्ट भावों की योजना कर देते हैं। बात यह है कि प्रसाद में भाव-संवेगों की मूल शक्ति-प्रेरणाएँ काव्य नहीं रचतीं—एक दीर्घ अनुशासित भाव-साधना में से छनकर कविता निष्पन्न होती है। इसीलिए वे पहले से सुघर-व्यवस्थित रहती हैं और मुक्त छन्द की मुक्तता में भी बिखरती नहीं; जबकि निराला में भाव-संवेग अपनी मौलिक तीव्रता और विह्वलता में ही काव्य का कारण बनता है। अतः उसके सुन्दर काव्याभिव्यक्ति में परिणमित होने के लिए छन्द का अनुशासन आवश्यक और सहायक-साधक होता है। प्रसाद के स्वभाव में ही इतना संयम और अनुशासन है कि उन्हें अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनुशासन और अतिरिक्त सजगता की उतनी ज़रूरत नहीं पड़ती।

प्रसाद की कुछ लयगतियाँ उन्हें इतनी अनुकूल पड़ती हैं—उनके कवि-स्वभाव से इतनी समरस हो गई हैं कि वे कवि की अपनी विशिष्ट आवाज़ की अनुगूंज-सी रच जाती हैं हमारे कानों में।··· "जगे हम लगे जगाने विश्व"···, "हिमाद्रि तुंग-श्रृंग से"···, "इस शिथिल आह से खिंचकर, आओगे तुम आओगे···", "उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की, कितनी है मोहमयी माया"···, "अब जागो जीवन के प्रभात", "हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर", "बीती विभावरी जाग री"··· इत्यादि उनकी कुछ चुनी हुई लयगतियाँ हैं, जिनकी सामर्थ्य का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है और जिनका संगीत मानों प्रसाद की कविता का खास अपना, बहुत अपना संगीत है; उनका खास अपना आविष्कार है। निराला की प्राणशक्ति अधिक दुर्दम है। इसलिए उनकी लयात्मक उद्भावनाएँ भी संख्या में अधिक हैं; अधिक रोचक भी। निराला ने हिन्दी भाषा की सांगीतिक संभावनाओं का अधिक दूरगामी उपयोग और विस्तार किया है। उनकी कविता भाषा के अधिक स्तरों पर कार्यशील हुई है—पन्त या प्रसाद की तुलना में। पन्त का भावजगत् इन दोनों की अपेक्षा संक्षिप्त और सीमित है, अतः उनके यहाँ शिल्प-तंत्र को अतिरिक्त महत्त्व मिला है और उस दृष्टि से उनका योगदान उल्लेखनीय है। किन्तु वह योगदान "वागर्थसम्पृक्ति" के सूक्ष्म स्तरों पर बहुत कम है; रूपगठन और कलात्मक परिष्कार के स्तर पर ही वह अधिक सक्रिय है। उनकी कोमलवृत्तियाँ स्वभावतः वहीं अधिक रमती हैं जहाँ मानवीय जटिलताएँ अनुपस्थित हों या उन्हें सरल कर लिए जाने की गुंजाइश हो। प्रकृति-वर्णन में वे इसीलिए सफल और काफी कुछ मौलिक हो सके क्योंकि यह उनके लिए अनुकूल क्षेत्र था। प्रकृति जड़ है और वह कल्पना को कम-से-कम प्रतिरोध देती है। पन्त उसी सौन्दर्य के कवि हैं जिस तक कम-से-कम प्रतिरोध और संघर्ष द्वारा पहुँचा जा सके। प्रकृति उन्हें यह सुविधा देती है। उनकी वृत्ति हर चीज़ को सरल, सुन्दर और स्वप्निल करने की है और अक्सर वे ऐसी ही वस्तु चुनते भी हैं। विवादी भावों को साधना उनके बस की बात नहीं (निराला तो स्पष्ट ही कहते हैं: "स्वरविवादी ही लगा")। न वह 'पैशन' ही उनमें था कि वे अपने-आपको किसी आवेग में या किसी दार्शनिक बेचैनी में पूरी तरह झोंक सके। फिर भी उनके 'परिवर्तन' में एक आश्चर्यजनक (अभूतपूर्व और अभूतपश्चात्) लयात्मक उत्तेजन है। शायद पहली बार उन्हें उद्वेग, शंका और अनाश्वस्ति की मनःस्थितियों को झेलने-समझने की कोशिश करने का उत्साह और साहस हुआ। 'ग्रंथि' और 'उच्छ्वास' में भी कुछ ऐसे स्थल हैं। ऐसे स्थलों पर उनका रूपतंत्र भी विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। किन्तु मुश्किल यही है कि वे ऐसी मनःस्थितियों को देर तक सहन नहीं कर पाते। एक स्वप्नशीलता ही उनके अन्तर्जीवन की नियामक-प्रेरणा बन रहती है। एक बार फिर 'ग्राम्या' में आकर वे अपनी अतिस्वप्निलता से जगते हैं और प्रकृति की पृष्ठभूमि में जीवित मनुष्य पर दृष्टिपात करते हैं। पूरी तरह उलझ जाना तो उनके बस की बात नहीं है पर उन्होंने कम-से-कम उसके नज़दीक आने का प्रयास तो किया ही है। जीवन से थोड़ी भी निकटता हासिल करने पर एक सौन्दर्य-चेतन शिल्पी कवि कितना कुछ दे जा सकता है, इसका प्रमाण 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ देती हैं: 'धोबियों का नृत्य' जैसा मौलिक छन्द-शिल्प, 'भारतमाता ग्रामवासिनी' जैसी गहरी भाव-सृष्टि और "अन्धकार की गुहा-सरीखी उन आँखों से डरता है मन" जैसे टिकाऊ शब्दचित्र और मानवीय संस्पर्श···।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नौकाविहार' इसीलिए बराबर अच्छी लगती है कि उसमें कवि छन्द को और शब्दों को अपने साथ चला सकने में सफल हुआ है। उसमें विषयवस्तु की एक विश्वस्त प्रगति है। उसका शब्द-कोष भी ज्यादा लचीला है और लय-योजना भी। हर पंक्ति को कविता बनाने की अस्वाभाविक और व्यर्थ कोशिश उसमें नहीं है। वर्णन के साथ विचार और संवेदन (सेंसेशन) की लय गुँथी हुई है और अपनी भाषा को कवि अवसरानुकूल मोड़ सका है। साथ ही उसमें थोड़ी हरकत (एक्शन) भी है: वर्णन जड़ और अगत्यात्मक नहीं है। अनावश्यक अलंकरण भी कम-से-कम है। 'धोबियों का नृत्य' में भी शिल्प की यह समतोल व्यवस्था और यथेष्टता सराहने योग्य है। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत 'ग्राम-युवती' में सन्तुलन बिगड़ जाता है। कौशल उघड़ जाता है और वस्तु की संवेदना उससे आच्छादित हो जाती है। कौशल यूँ ज़रूरी है किन्तु वह वस्तु में अंतर्हित हो जाना चाहिए। वही उघड़ जाए तो बाकी सब-कुछ गड़बड़ा जाता है। 'वसन्त' में क्या कम कौशल निहित है? किन्तु वह वस्तु-संवेदन में रच-खप जाता है और हम उस अनुभूति में ही रम जाते हैं—उसके उपकरणों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। सामान्यतया पन्त में यह खूबी समूची कविताओं में कम और अलग-अलग खण्डों में अधिक परिलक्षित होती है। जबकि इसके विपरीत प्रसाद की कविता का आस्वाद एक समूची, अखण्ड रचना का आस्वाद होता है।

प्रसाद को अपना कौशल छिपाने की ज़रूरत ही नहीं जान पड़ती। वे कौशल से बहुत काम लेते प्रतीत ही नहीं होते। उनका 'अर्थ' रूप के साथ संघर्ष करता नहीं महसूस होता। उनकी प्रतिभा का रुझान रूपकथात्मक है। भाषा से भी ज्यादा वे रूपों में (मधुप, झरना, लहर, भिक्षुक आदि) अपनी अभिव्यक्ति खोजते हैं। क्या ऐसा किसी भाषिक अक्षमता के कारण था? शायद नहीं; क्योंकि वे भाषा के कई प्रकारों से अच्छी तरह परचे हुए थे। उनकी कुछ कविताएँ ही नहीं, उनकी कहानियाँ भी प्रमाण हैं कि न वे आदमी की सामाजिक-वैयक्तिक जटिलताओं के प्रति उदासीन थे और न उसके वास्तविक परिवेश और भाषा के प्रति। निश्चय ही, जैसा कि पहले ही संकेत किया गया, उनकी भाषिक संवेदना निराला की तुलना में कम विस्तृत और कम सजग है और उनकी शब्द-साधना भी अधिक विशेषीकृत होने के कारण अन्य कवियों के लिए निराला की तरह आकर्षक और फलदायी नहीं जान पड़ती। (निराला का अनुकरण किया जा सकता है और यह प्रारम्भिक अभ्यास फ़ायदेमन्द भी हो सकता है; कवियों के दीक्षागुरु वे हो सकते हैं रूपतंत्र की दृष्टि से विशेषकर। किन्तु प्रसाद का अनुकरण न तो उतना आसान है और न उतना सुरक्षित; उस अर्थ में कवियों के कवि वे नहीं हैं; उनके शब्द एक विशेष वातावरण में ही साँस लेते हैं—कदाचित् इसीलिए भाषा के सामान्य प्रदूषण और भ्रंश की प्रक्रियाओं से वे अपेक्षाकृत सुरक्षित और मुक्त भी साबित हों; किन्तु क्या इसी कारण विशेष रुचि और दीक्षा की माँग करने वाला उनका कवि सुदूर और दुर्लभ नहीं पड़ जाता?)

दरअसल उनकी रूप-आसक्ति एक विशेष प्रकार की अर्थाशक्ति का अनिवार्य परिणाम है, जिसका विश्लेषण करते हुए हम किसी नतीजे पर शायद पहुँच सकें। सभी जानते हैं कि प्रसाद भारतीय संस्कृति और भारतीय तत्त्व-चिन्ता के गहरे अध्येता थे। परन्तु इस तथ्य को भी महसूस करना आवश्यक है कि उनका यह अध्ययन मात्र अध्ययन—पांडित्य-लालसा—नहीं था। उसमें उन्होंने अपना व्यक्तित्व—अपनी जिजीविषा ही—झोंक रखी थी। अतीतजीवी का भ्रम यहीं से खड़ा होता है। पर वह भ्रम ही है और भ्रम से भी भयंकर अर्द्धसत्य। प्रसाद उन लोगों में से हैं जो अपने-आपको भी संस्कृति की आँख से देखते हैं। उन्होंने आजीवन उस सांस्कृतिक आँख को पाने के लिए तप किया। यह तप कठिन है और ज़रूरी भी; ऐसे युग में तो और अधिक (खासकर हमारे यहाँ) जबकि आदमी की संवेदना और उसकी संस्कृति के बीच के सारे सेतु भरभरा चुके हों। भारतवर्ष में तो यह स्थिति सबसे ज्यादा करुण है जिसका विश्लेषण फिलहाल अप्रासंगिक होगा। बहरहाल मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रसाद ने स्वयं को भारतीय दृष्टि से इस कदर तदात्म कर दिया था कि उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति काव्य में उसी दृष्टि के द्वारा सम्मत विधियों से ही सम्भव थी। उनका अतिक्रमण करना उसके लिए बेईमानी होती। हमारे दृष्टिकोण से तो नहीं, किन्तु उनके दृष्टिकोण से—शायद। अतिक्रमण वे कर सकते थे लेकिन नहीं कर सके। क्यों? ('स्कन्दगुप्त' की रचनात्मक विडम्बना ही देख लीजिए)

प्रसाद की व्यक्तिगत मनीषा पर भारतीय मनीषा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोझ था जो उन्होंने स्वेच्छा-आग्रहपूर्वक धारण किया था। उसके साथ अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को उन्होंने तदाकार कर लिया था। मेरा अन्धविश्वास है कि बीसवीं सदी के किसी भी भारतीय कवि ने इस बोझ को इतना और इस तरह वहन नहीं किया होगा, जितना कि प्रसाद ने। प्रसाद की भारतीयता निराला, अज्ञेय और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा कहीं अधिक ज़िम्मेदार, आधिकारक और विशाल थी। वे ब्राह्मणों के ब्राह्मण और बौद्धों के भी बौद्ध थे।

निराला के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी कविता की सीमाएँ अनेक व्यक्तित्व की सीमाएँ हैं। एक दूसरी अतिवादी स्थापना यह भी देने को मन करता है (क्योंकि बिना अतिरंजना के तो सत्य भी नहीं कहा जाता; हिन्दी में तो और भी नहीं) कि प्रसाद के कवित्व की सीमा भारतीय काव्य-दृष्टि की सीमा है। इस बात पर थोड़ा विस्तार से विचार करना होगा।

रचना क्या होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके पीछे जो भी कारणभूत दबाव और वस्तुस्थितियाँ रही हैं, उन्हें बोध के किस स्तर पर एकाग्र और संघटित होना पड़ा है। जिस तरह जीव के विकास का इतिहास अस्तित्व के लिए संघर्ष का इतिहास है, उसी प्रकार जीवन के अर्थ का इतिहास भी अस्तित्व के लिए संघर्ष का ही इतिहास है। इसलिए सबसे ज्यादा कविता वहाँ होनी चाहिए जहाँ यह संघर्ष सबसे ज्यादा बुनियादी और व्यापक हो। कवि का व्यक्तित्व मानो एक रणक्षेत्र है जिसमें अब तक का अर्जित मानवीय ज्ञान और अर्थ उन सारी चीज़ों और स्थितियों के विरुद्ध संघर्षरत होता है जो उस अर्थ को निरर्थक किया चाहता है।

प्रसाद की कविता में मानवीय अर्थ के लिए यह संघर्ष मौजूद है। वही उसे एकत्व भी देता है। किन्तु कठिनाई यह है कि उनका आग्रह इस संघर्ष को कुछ आदिम रूपों (रूपकथाओं) और एक विशिष्ट संस्कृति-प्रसूत प्रतीकों और अवधारणाओं के टर्म्स में परिभाषित करने का जान पड़ता है। उनके औज़ार कुछ पुराने पड़ गये लगते हैं। अर्थ के लिए भारत में जो संघर्ष किया गया उसको प्रसाद का कवि—झरना से लेकर कामायनी तक—एक उपलब्धि के रूप में मान लेता है। किन्तु मुश्किल यह है कि हमारी विचित्र विडम्बनापूर्ण ऐतिहासिक परिस्थितियों ने—शताब्दियों के सूने अन्तराल ने—हमारे भीतर उस अर्थ की जीवन्त सक्रियता को समाप्त-सा कर दिया है; उसे सुदूर और दुर्लभ बना दिया है। वह हमें इस युग के पूँजीपति 'अनर्थ' से संघर्ष करने के लिए पर्याप्त आत्मविश्वास और उत्साह नहीं जुटाता। एक अजीब अयथार्थता से ग्रस्त हो गई है हमारी सांस्कृतिक चेतना। दूसरे शब्दों में हमारी सामान्य मानवीय चेतना और हमारी सांस्कृतिक चेतना के बीच कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं रह गया, क्योंकि दोनों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष की परम्परा ही हमारे यहाँ नहीं बन सकी। जितना जो कुछ संघर्ष रहा, वह बहुत ही खण्डित और बिखरा-बिखरा···।

यह नितान्त सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी कठोर साधना द्वारा उस सांस्कृतिक चेतना-परम्परा के सर्वोत्कृष्ट को अर्जित कर ले (जैसा कि प्रसाद ने कर दिखाया) किन्तु इससे कवि की हैसियत से उसकी मुक्ति नहीं हो जाती। उसके अपने दृष्टिकोण से हो भी जाए, तो भी दूसरे परवर्ती कवियों के लिए उसका कृतित्व उतना सार्थक-उन्मेषकारी नहीं बन पाता।

हमने देखा कि प्रसाद अतीतजीवी नहीं थे। उनका व्यक्तित्व सरलीकृत भी नहीं था। वह निरन्तर संघर्षशील था अर्थ के लिए: बिलकुल विरोधी मनोभूमियों की कविता भी उनके यहाँ आमने-सामने मिल जाएगी। किन्तु हमें ऐसा लगता है कि वे पर्याप्त आलोचक नहीं थे—उस संस्कृति, उस दृष्टि के प्रति जिसे उन्होंने साधनापूर्वक अर्जित किया। उन्होंने उस दृष्टि को अपनी जीवनानुभूति का, अपनी बौद्धिकता का भी निकष-सा बना लिया। उनमें 'ट्रैजिक सेन्स' था। उनकी 'करुणा' एक जटिल संवेदना का समतुल्य है; सरल संवेदना का नहीं (जैसा कि उनकी कविताओं के पाठ से हम अनुभव करते हैं)। किन्तु यहीं तो एक गहरी शिकायत उमड़ती है कि उन्होंने अपनी जटिल संवेदना को ऐसे उलझे हुए (अर्थात् ज़रूरत से ज्यादा साफ़-सुथरे) रूप में क्यों व्यक्त किया? क्यों नहीं उन्होंने अपनी मन:स्थितियों को उनकी मूल आवेगात्मकता में उद्घाटित किया? क्यों उनकी कविता की ऊर्जा आवेगात्मक उन्मोचन की बजाय अर्थ के ऊर्ध्वगामी संचरण को ही संभव बनाने में व्यय हो जाती है। क्यों कवि के रूप में उनकी ज़िद अपनी चेतन-अवचेतन जीवनानुभूति को अति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतन (सुपरकांशस) बोध में उद्वाष्पित करने की है ? क्या कविता प्रसादजी के लिए आत्म-परिष्कार में ही है; आत्मा की अस्तव्यस्तता अराजकता और अनगढ़ता में नहीं ?

ग़ौर करके देखने पर यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्रसादजी ने अपनी कविता को अपने सांस्कृतिक बोध की सीमाओं के भीतर ही पाना और पनपाना चाहा। नहीं; उसकी सीमाओं के प्रति पर्याप्त स्वचेतन होने की निर्ममता उनसे नहीं सधी। उनके कवि-व्यक्तित्व पर 'व्यक्तित्व' की भारतीय धारणा का अंकुश रहा। काव्य में 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति कितनी, कैसी होनी चाहिए—इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि बहुत उन्मुक्त और उदार नहीं है। इस युग में वह चल नहीं सकती। किन्तु हम मानें, न मानें, हमारे अनजाने ही वह धारणा भारतीय कवि की स्वतन्त्रता को संकुचित और बाधित करती रही है। प्रश्न उस तरह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का ही नहीं है। वह दूसरी गहरी समस्या उपजाता है—अस्तित्व की अभिव्यक्ति की। और उस प्रकार का अंकुश यहाँ अनिष्टकर हो सकता है। कविता की समस्याएँ मात्र व्यक्तित्व की समस्याएँ नहीं हैं। आपने अपने व्यक्तित्व को कितना धीर, उदार, गहन या विस्तृत बनाया, इसे आपकी कविता प्रमाणित करे यह आवश्यक नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आपकी कविता आपके व्यक्तित्व के माध्यम से मानवीय अस्तित्व का कितना दबाव अपने ऊपर झेलती है; उसे कितना मूर्त और परिभाषित करती है। और अस्तित्व की समस्याओं को किसी एक संस्कृति (जो सक्रिय नहीं रही) की भाषा में प्रतिबिम्बित देखने की चेष्टा ग़लत न होते हुए भी अपर्याप्त है। वह प्रक्रिया बाद में अपने-आप काव्य-विकास की अनिवार्य परिणति के रूप में आए तो वह उस तरह आलोचना का विषय नहीं बन सकती। (हालांकि बनती ही है फिर भी) किन्तु पहले से इस प्रक्रिया में उलझ जाना उसके काव्य-फल को कच्चा ही तोड़ लेने जैसा है। कविता जिन दबावों में से निष्पन्न होती है, उनमें से एक सांस्कृतिक चेतना भी है। किन्तु सबसे ज़रूरी और फलदायी दबाव वह है जो कवि को कहीं टिकने नहीं देता; उसके संस्कारी मन, सांस्कृतिक बोध में भी नहीं।

निश्चय ही ऊपर प्रसाद की कविता का जो विश्लेषण-विवेचन किया गया है, वह उक्त आरोप की धार को जगह-जगह कुन्द भी कर सकता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष में कविता और कवित्व की जो धारणाएँ रही हैं, उनमें उक्त प्रकार के संघर्ष के लिए गुंजाइश कम—काफ़ी कम—रखी गई है। उन पर वास्तविक मानवीय जीवनानुभूतियों का दबाव कम और दार्शनिक धारणाओं एवं भावनाओं का दबाव अधिक रहा है। रस ही कविता का निकष नहीं है; कविता भी रस की निकष है, इस तथ्य को तो कभी से हमारा युग हमें पहचनवा रहा है, किन्तु इस पहचान का पूरा-पूरा उपयोग होने में अभी काफ़ी कसर है।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व से पलायन का नुस्खा भारतीय कवि के लिए उतना प्रासंगिक और प्रखर नहीं है जितना कि व्यक्तित्व में पलायन का नुस्खा। दार्शनिक—या अन्ततः काव्यात्मक दृष्टि से भी यदि वह बुरा हो, तो भी इस बुराई की ज़रूरत हिन्दी कविता को है। शायद यही कारण है कि आज हमारे चारों ओर व्यक्तित्व में पलायन का ही दृश्य फैला हुआ है। हिन्दी का कवि इस स्वतंत्रता में से समूचा पूरा गुज़र निकले, तभी वह तथाकथित भारतीय दृष्टि का युगानुकूल सही उपयोग करने की स्थिति में आएगा। यही नहीं, उसे अपनी भारतीयता का ही सही और समूचा अहसास तभी होगा। फ़िलहाल हिन्दी कवि की, कवि के रूप में ज़िन्दगी इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसमें भारतीयता है या नहीं। वह इससे ज़्यादा इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें व्यक्तित्व, 'पैशन', कट्टरता है या नहीं। भारतीय आदमी में कट्टरता का अभाव होता है। जहाँ उसे लचीला होना चाहिए, वहीं वह कट्टर होता है। बाकी सारे स्थलों पर वह ढुलमुल हुआ करता है। इसीलिए वह तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता।

ये बातें यदि अवान्तर ही हों, तो भी नितान्त अप्रासंगिक नहीं हैं क्योंकि प्रसाद का कवि हमें इन पर सोचने का अवसर देता है। यह भी उसका एक अतिरिक्त माहात्म्य है। किसी भी अन्य कवि का अनुशीलन हममें इस प्रकार के विचारों को नहीं उकसाता। प्रसाद इसलिए उकसाते हैं कि उनके काव्य का वैशिष्ट्य अच्छे लगने, न लगने की कोटि से ऊपर अवस्थित है। बात महज़ इतनी ही नहीं कि वे एक अत्यन्त शालीन और संस्कारी कवि हैं: महत्त्व की बात यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे संस्कृति के कवि हैं—एक समूची संस्कृति के प्रतिनिधि कवि। ऐसे कवि से हमारा रिश्ता वास्तविक प्रेम और वास्तविक असंतोष और घृणा का ही हो सकता है : उपेक्षा और अवहेलना का कदापि नहीं। कोई भी संस्कृति ऐसे कवियों के बग़ैर चल नहीं सकती। परम्परा उनके भीतर अपने-आपको पहचानती है; आत्म-चेतन बनती है और नया जीवन पाकर आगे को बढ़ती है। इसीलिए उनका महत्त्व है। इसी अर्थ में वे 'विश्वविद्यालयों के कवि' हैं। उनकी भाषा में द्विवेदी-युग का अर्जित परिष्कार और छायावाद की नई व्यंजकताएँ दोनों का एकत्र परिपाक हुआ है। वे नई व्यंजकताएँ स्वयं उनकी अपनी वैयक्तिक संवेदना और प्रतिभा का फल हैं। उनकी कविता की गरिमा संस्कृत की मोहताज नहीं : हिन्दी के तद्‌भव संस्कार का तब तक का विकास ही उसके लिए यथेष्ट है : कम-से-कम छूट लेकर अधिक-से-अधिक कविता उन्होंने उससे निचोड़ी है। उनका वाक्य-विन्यास उनकी अपनी विशिष्ट आवाज़ की रक्षा करते हुए हिन्दी के वाक्य-विन्यास की भी रक्षा करता है। हिन्दी की प्रकृति में निहित अनगढ़ताओं से यह कवि सकुचित और बाधित नहीं। कविता का आस्वाद अन्ततः भाषा का आस्वाद है; और हम पाते हैं कि प्रसाद की कविता की तरह प्रसाद की भाषा का आस्वाद—भी नितान्त वैयक्तिक—विशिष्ट और विलक्षण होते हुए भी सहज-विश्लेष्य नहीं है। इसीलिए उसका अनुकरण भी आसान नहीं है (उनके गद्य की तरह) हालांकि उनके पद्य की तरह उनके गद्य की भी लय विशिष्ट है; तो भी, चूंकि गद्य अपेक्षाकृत स्थूल माध्यम है और प्रसाद का असली अन्तरात्मिक लगाव पद्य से है; अतः उनका गद्य—उनके अपेक्षाकृत स्थूलतर प्रयोजनों का संवाहक होने के कारण—अपने बाहरी लक्षणों और रूप-रंग में आसानी से अनुकरणीय हो जाता है। (अनुकरण हुआ भी काफ़ी)। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि जहाँ उनका काव्य 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' में से आता है, वहाँ उनका गद्य संभवतः उन मनः-स्थितियों से प्रेरित होना चाहता होगा जिन्हें उन्हीं की शब्दावली के वज़न पर 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूतियाँ' कह सकते हैं। इससे यह अनुमान लगाना अस्वाभाविक न होगा कि प्रसाद के भीतर अपने ही रचनात्मक स्वभाव को लेकर एक घपला-सा था। यूरोपीय काव्य-चिन्तन और आलोचना में 'सोल' का प्रयोग सहज भाव से सुनिश्चित अर्थों में किया गया है। उससे लिपटी हुई दार्शनिकता उसके साहित्यिक सन्दर्भ को धूमिल नहीं करती। हमारे यहाँ दुर्भाग्य-वश यह संभव नहीं है। 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' इसलिए भी एक गोलमोल मुहावरा बन जाता है हालांकि जैसाकि ऊपर के विश्लेषण से प्रकट है, प्रसाद की कविता एक गहरे अर्थ में इस परिभाषा को प्रतिफलित करती प्रतीत होती है। जहाँ तक यह परिभाषा भारतीय चिन्तन और भारतीय काव्य-परम्परा की उपज है हम देखते हैं कि यह 'मानवीय' से ज़्यादा 'आदर्शात्मक' अधिक है। काव्य की अनेक 'प्रकृत' भूमियों को इस परिभाषा में निहित 'आग्रह' छांट-छिनगाकर बहिष्कृत कर देता प्रतीत होता है। हम समझ नहीं पाते कि 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' काव्य की उतनी ही स्वाभाविक और जायज़ प्रेरणा क्यों नहीं बन सकती? ऐसा आग्रह क्यों? हमें तो ऐसा लगता है कि पश्चिम के काव्य की अपेक्षाकृत अधिक मानवीय समृद्धि का कारण यही है कि वहाँ ऐसा कोई आग्रह-निषेध नहीं है। 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' वहाँ के साहित्य में उतनी ही गहरी स्वतंत्रता के साथ सक्रिय है जितनी कि आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति; बल्कि शायद पहली चीज़ का पलड़ा ही भारी पड़े। हम यही सोचने को विवश हैं कि हमारी दार्शनिक धारणाओं और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं में—हमारी 'भारतीयता' में ही—कुछ घपला है। क्या ऐसी शंका निर्मूल है कि जो उस दृष्टि से जितना प्रतिश्रुत है जितना ही उसका प्रतिनिधित्व अपनी रचनात्मकता द्वारा करता है, उसको यह अन्तर्निहित घपला उतना ही नुकसान भी पहुँचा सकता है। कोई अचरज न होगा यदि कोई आलोचक यह फतवा दे दे कि प्रसाद की कविता में भारतीय काव्य-परम्परा की सारी खूबियाँ और सारी कमियाँ एक साथ इकट्ठी मिलती हैं। आज की पीढ़ी का कवि और पाठक जब कालिदास और वाल्मीकि तक के काव्यगुणों से तत्काल संवेदित होने में कठिनाई का—दूरी का—अनुभव करता है, तो प्रसाद की कविता से पहले ही सम्पर्क में आकर्षित न हो पाने की स्थिति सहज ही समझी जा सकती है। यूँ भी 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' जैसी सहज-गोल परिभाषा से कोई भी बिदक सकता है : प्रसाद को विश्वविद्यालयों का कवि कहने वाला कवि भी। क्या कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनको प्रेम करने और पाने के लिए पहले उनसे ईमानदारी से नफ़रत करना आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है ? यदि यह सच है, तो कहना पड़ेगा कि प्रसाद ऐसे ही कवि हैं। प्रसाद को समझने और प्रेम करने की पहली सीढ़ी शायद यही है कि हम उनसे घृणा करें। कौन जाने, जिसे हम भारतीयता या भारतीय संस्कृति कहते हैं, उसके साथ भी कुछ ऐसी ही बात हो !

यह एक रोचक कल्पना होगी कि यदि प्रसाद अकस्मात् सशरीर उपस्थित हो जाते और हम उनको यह संवाद देते कि "महोदय ! न केवल यह कि हमारे कवि ही आपको विश्वविद्यालयों का कवि घोषित करते हैं बल्कि आपके पाठक और आलोचकों की भी राय यही है कि आपको विश्वविद्यालयों से बाहर न निकाला जाय, क्योंकि आपकी सही जगह वही है" तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होती ?

मुझे तो यही लगता है कि वे इस संवाद से बिलकुल विचलित न होते हुए केवल मुस्करा देते और अपनी ही कविता की एक पंक्ति की ओर चुपके से इशारा कर देते :—

"यह विडम्बना ! अरी सरलते, तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं !"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मायकोव्स्की की तीन कविताएँ[1]

रणजीत, नरेश कुमार

: १ :

रुचियों की भिन्नता

घोड़े ने देखा ऊँट को
और हिनहिनाया :
"कैसा दैत्याकार दोगला घोड़ा है !"
ऊँट बलबलाया :
"तुम ? घोड़े ?—बिलकुल नहीं।
तुम महज़ एक अविकसित ऊँट हो !"
और सिर्फ़ सफ़ेद दाढ़ी वाला ईश्वर ही जानता था
कि वे दोनों अलग-अलग नस्लों के जानवर हैं।

: २ :

जवाब के लिए

युद्ध के नगाड़े बजते हैं
और माँगता है लोहा
ज़िन्दा मांस का बलिदान !
प्रत्येक देश से गुलामों के बाद गुलाम
संगीनों के फौलाद पर फेंके जाते हैं।
किसलिए ?
काँपती है धरती
नंगी और भूखी !
मानवता नहलाई जाती है : खून की फुहारों में।
सिर्फ़ इसलिए कि कहीं कोई व्यक्ति
अल्बानिया को अपनी जेब में रखे रखना चाहता है।
मनुष्यों के वहशी गिरोह
खूँख्वार आवाज़ों के साथ
खींचते हैं धरती की खाल
सिर्फ़ इसलिए
कि किसी के जहाज़
निःशुल्क बॉसफोरस से गुज़र सकें।
थोड़े ही दिनों में
धरती की कोई पसली साबत नहीं रह जाएगी
वे उसकी आत्मा तक को खींच लेंगे
और उसे कुचल देंगे
सिर्फ़ इसलिए
कि कोई मेसोपोटामिया को हथिया सके।
किसके नाम पर ?
घुटनों तक पहुँचने वाले खुरदरे फ़ौजी जूते
शहरों को कुचलते हैं ?
कौन है युद्ध के आकाश में ?
स्वाधीनता ?
ईश्वर ?
नहीं, सिर्फ़ रुपया !
अपना जीवन उन्हें चढ़ाने वालो !
कब तुम उठोगे ?
पूरी शक्ति और बुलन्दी के साथ ?
और कब ?
अपने सवाल को सीधे उनके चेहरे पर मारोगे :
"आखिर हम क्यों लड़ें ?"

१. विभिन्न अंग्रेज़ी अनुवादों से सहायता लेते हुए सीधे रूसी से हिन्दी रूपान्तरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

टक्स इन्स्पेक्टर से कविता के बारे में बातचीत

नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर !
माफ़ करना मुझे, कि मैं तुम्हारे काम में बाधा डाल
रहा हूँ
धन्यवाद···चिन्ता मत करो···मैं खड़ा ही ठीक हूँ
मुझे तुमसे एक नाज़ुक मसले पर बातचीत करनी है :
मज़दूरों के समाज में कवि के स्थान के बारे में।
दुकानदारों और ज़मींदारों की तरह
मैं भी टैक्स अदा करता हूँ
और जुरमाना भी।
तुम मुझसे पाँच सौ प्रति छमाही चाहते हो
और पच्चीस इसलिए
कि मैंने पहले अपने बारे में सूचनाएँ नहीं भेजीं।
मेरा काम किसी भी दूसरे काम की तरह है
देखो, मुझे कितना नुकसान उठाना पड़ा है
मेरे उत्पादन के खर्चों पर ध्यान दो
और देखो कि कच्चे माल पर मुझे कितना खर्च
करना पड़ता है।
निश्चय ही तुम 'तुक' से परिचित होगे
मान लो कि एक पंक्ति का अन्तिम शब्द है 'पिता'
तब एक पंक्ति लाँघते हुए
मात्राएँ और अक्षर गिनते हुए
अगली पंक्ति में हमें लाना होगा 'चिता' या 'स्मिता'
या ऐसा ही कुछ और।
तुम्हारी शब्दावली में कहा जाय
तो तुक एक प्रामेसरी नोट की तरह है
जिसका भुगतान तीसरी पंक्ति में किया जाता है
यही है तुक का नियम।
और इस तरह हमें प्रत्ययों और विभक्तियों की
रेज़गारी ढूँढनी पड़ती है
क्रियारूपों और संज्ञारूपों की खाली होती हुई
तिजोरी में से
हम एक शब्द को किसी पंक्ति में धकेलने
कोशिश करते
पर वह वहाँ नहीं जमता
और ज़ोर लगाने से टूट जाता है।
नागरिक कर-निरीक्षक !
मैं कसम खाकर कहता हूँ
कि कवि के लिए ये शब्द
रुपयों से कहीं कीमती हैं।
अपनी शब्दावली में कहूँ
तो एक तुक एक कनस्तर है—
डाइनामाइट से भरा हुआ
और एक पंक्ति एक पलीता
जब वह सुलगती हुई पंक्ति अन्त तक पहुँचती है-
विस्फोट होता है
और सिर्फ एक छन्द
एक पूरे शहर को उड़ा सकता है।
कहाँ और किस कीमत पर मिल सकती हैं ऐसी तु
जो ठीक निशाने पर मार करती हों
शायद पाँच-छह अभूतपूर्व तुकें
मुझे वेनेज्युअला में मिलें
इसीलिए मैं अग्रिम और कर्ज़ से दबा हुआ
ठण्डे प्रदेशों से गर्म प्रदेशों तक भटकता रहता हूँ
सुनो,
क्या तुम मेरे लिए मार्गव्यय नहीं मंजूर करोगे ?
कविताएँ
—सब कविताएँ—
अज्ञात की ओर की गई यात्राएँ हैं।
कविता करना रेडियम निकालने की तरह है :
वर्षभर मेहनत और रत्तीभर प्राप्ति !
कई बार हमें सिर्फ एक शब्द के लिए
वाणी की टनों कच्ची धातु बरबाद करनी होती है
लेकिन कितनी ज्वलन्त होती है उन तराशे हुए
शब्दों की ऊष्मा
वाणी की धुँधुवाती हुई कच्ची धातु की तुलना में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये शब्द
लाखों हृदयों को प्रेरित कर देते हैं
हज़ारों बरसों के लिए ।

निश्चय ही कवि भी कई तरह के होते हैं
उनमें से कई हाथ की करामात दिखाते हैं
वे मदारियों की तरह खींच लेते हैं पंक्तियाँ
अपने और दूसरों के मुँह से ।
जैसे कविनपुंसकों के बारे में कोई क्या कह सकता है
जो कोई पराई पंक्ति अपनी कविता में रखते हैं
और खुश हो लेते हैं
यह सीधी-सादी चोरी है, ग़बन है
देशव्यापी धोखेबाज़ी का एक रूप मात्र ।
ये सब कविताएँ
जो आज प्रशंसा के शोर के बीच
चिंघाड़ती और सिसकियाँ भरती हैं
इतिहास में बेकार का खर्च ही मानी जाएँगी
हम दो या तीन लोगों की उपलब्धियों की तुलना में ।

बहुत-सा नमक, मैं खा चुकूँगा,
जैसा कि मुहावरा है,
और बहुत-सी सिगरेटें पी चुकूँगा
मानव की पाताल-स्पर्शी गहराइयों में से
एक अमूल्य शब्द प्राप्त करने के लिए !
इसलिए मेरा बढ़ता हुआ टैक्स एकदम कम हो
जाना चाहिए
यह एक पहिए-सा शून्य काट दो मेरे टैक्स से,
एक नव्वे—
सौ सिगरेटों के लिए
और एक साठ—
नमक के लिए ।
तुम्हारी प्रश्नावली में कितने ही प्रश्न हैं :
"क्या व्यवसाय-सम्बन्धी यात्राएँ आपने की हैं ?"
पर यदि मैं कहूँ कि मैं पिछले पन्द्रह बरसों में
दस बार मौत तक जाकर आया हूँ
कविता पर सवार होकर, तो ?
और यहाँ मेरी स्थिति लिख लो—आर्थिक और
सामाजिक :

मैं जनता का नेता हूँ
और साथ-ही-साथ उसका नौकर भी
वर्ग मेरे शब्दों में बोलता है
और मैं सर्वहारा हूँ—
कलम का मेहनतकश !

घिसते जाते हैं आत्मा के पुरजे
वर्षों की गति के साथ-साथ
लोग कहते हैं : समय हो गया है
इसे अब अभिलेखागार में रख देना चाहिए
ढेर सारी कविताओं में यह अपने आपको लिख
चुका है ।
और तब कम-से-कम होती जाती हैं प्यार और
साहस की क्षमताएँ
और वक्त की गड़गड़ाहट
मेरे माथे को झकझोर जाती है
और तब आता है मूल्यह्रासों में से सबसे भयानक
—हृदय और आत्मा का मूल्यह्रास !

और जब यह सूर्य
एक मोटे होते हुए सूअर की तरह सन्तुष्ट
एक ऐसे भविष्य के क्षितिज पर उगेगा
जहाँ कोई भिखमंगा और कोई अपंग नहीं होगा
मैं युगों से मृत, कभी का मिट्टी में मिल चुका हूँगा
किसी बाड़ के नीचे
एक दर्जन सहयोगी कवियों के साथ ।
मेरा मरणोत्तर हिसाब तैयार कर लो
मेरा निश्चित दावा है
—और मैं जानता हूँ कि यह कितना सच है—
कि अपने समय के व्यापारियों और धोखेबाज़ों की
पृष्ठभूमि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं अकेला कभी न चुकने वाले कर्ज़ से लदा रहूँगा।
मेरा कर्तव्य है
ताम्रकण्ठी साइरन की तरह ऊँची आवाज़ में बोलना
टटपूँजियेपन के कोहरे में
तूफ़ानी हलचलों के बीच

कवि हमेशा संसार का देनदार रहता है
व्यथाओं में ब्याज और जुरमाने अदा करता हुआ
मैं देनदार हूँ
राजपथ की रोशनियों का
बगदादी[1] के आसमानों का
लाल फ़ौज का
जापान के चेरी वृक्षों का
और उन सबका
जिनके बारे में मैं लिख नहीं सका।
पर यह काव्यात्मक पक्षपात क्यों ?
कि तुकें लक्ष्य हों
और लयें विशृंखल हो जाएँ।
कवि के शब्द तुम्हारा पुनर्जीवन हैं
और तुम्हारा अमरत्व, नागरिक अधिकारी !

शताब्दियों बाद
कागज़ पर लिखी हुई एक पंक्ति कोई उठाएगा
और आज के दिन को वापस बुला लेगा
अपने तमाम टैक्स इन्स्पेक्टरों और चमत्कारों के साथ
और आज की स्याही की गन्ध गमक उठेगी।

तुम जो सिर्फ अपने युग के ही निवासी हो
जाओ और जन-परिवहन-विभाग से अमरता क
एक टिकिट ले आ
और मेरी कविताओं के प्रभाव की गणना कर
मेरी उपलब्धि को आने वाले तीन सौ बरसों
विभाजित कर दो
पर किसी कवि की शक्ति सिर्फ इसी बात में नहीं
कि भविष्य में लोग हिचकियों के साथ उसे या
करते
नहीं, आज भी
कवि का एक शब्द
एक आलिंगन है,
और एक नारा,
और एक संगीन,
और एक कोड़ा !
नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर
अपने मूल्यांकन में से सब शून्यों को काट दो
मैं तुम्हें सिर्फ पाँच सिक्के दूँगा
और माँगता हूँ, अपने अधिकार के अनुसार
एक बालिश्त ज़मीन
निर्धनतम मज़दूरों और किसानों की श्रेणी में।
और अगर तुम्हें ऐसा लगता है
कि यह सब पराये शब्दों की दुहराहट मात्र है
तो यह लो मेरी कलम, साथी !
और तुम खुद जितना चाहो लिख लो।

१. मायकोव्स्की का जन्मस्थान, जार्जिया में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जित करता है, स्वतंत्र इच्छा से उद्देश्य निश्चित करके। मानवीयता नाम की कोई ईश्वर-निर्मित वस्तु नहीं है; ईश्वर-विहीन संसार में मनुष्य अपनी मानवीयता स्वयं गढ़ता है। वह जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है तब उसके द्वारा अपना हित ही नहीं करता वरन् उद्देश्य का निश्चय मानव मात्र के लिए हितकर होता है। अपने इस विराट् दायित्व-बोध के कारण ही उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है। मनुष्य के आत्मगत ज्ञान के अलावा मूल्य-निर्धारण की और कोई कसौटी नहीं है। मनुष्य संसार में अकेला है; अपने अलावा वह किसी पर निर्भर नहीं हो सकता। उसे अपना भाग्य स्वयं निर्मित करना है। मनुष्य की यह नियति है कि वह अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे। उद्देश्य से प्रतिबद्ध होना आवश्यक है, प्रतिबद्ध न होकर वह अपने दायित्व से बचता है। भविष्य में श्रमिक-वर्ग की विजय होगी, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। मनुष्य जैसा निर्णय करेंगे, सामाजिक परिस्थिति वैसी ही होगी। मनुष्य का मन पैतृक संस्कारों या सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, यह कहकर हम अपनी स्वतन्त्रता से बच नहीं सकते। मनुष्य का आत्मसम्मान इस बात में है कि वह वस्तु नहीं है। भौतिकवाद के लिए मनुष्य भी एक वस्तु है; अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरितार्थ करके अपना निर्माण स्वयं करता है।

दर्शन और साहित्य—दोनों में अस्तित्ववाद एक हानिकर और अवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। कारण इस प्रकार हैं।

मनुष्य अपना निर्माण स्वयं करे, अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे—इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान होना चाहिए और जिन परिस्थितियों में उसे अपना उद्देश्य चरितार्थ करना है, उनका सही ज्ञान होना चाहिए। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान न हो, तो अपने मन में वह अपने उद्देश्य को चाहे जितना सही समझे, वह उसे ठीक-ठीक जीवन में चरितार्थ कभी न कर पायेगा। आधुनिक मनोविज्ञान की जो सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, वह यह कि मनुष्य के चिन्तन के अपने वस्तुगत नियम हैं जो अक्सर उसकी इच्छाओं से मेल नहीं खाते। अपने कर्म के लिए वह जो तर्क ढूंढ़ निकालता है, उनकी जड़ में कभी-कभी उन इच्छाओं की प्रेरणा होती है, जिन्हें वह स्वयं नहीं जानता। विवेक और इच्छाओं का द्वंद्व उसकी चेतना की गतिशीलता और विकास का एक कारण है। मनुष्य उतना विवेकशील प्राणी नहीं है, जितना अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के अनेक विचारक समझते थे। फ्रान्स में सामन्तवाद के पतन और पूंजीवाद के अभ्युदय-काल में लोगों ने शुद्ध विवेक को देवता बनाकर पूजना शुरू कर दिया था। शुद्ध विवेक की देवता-रूप में प्रतिष्ठा अस्तित्ववाद में बहुत-कुछ बनी हुई है। अन्तर इतना है कि पहले जहाँ यह शुद्ध विवेक बहुजन-सम्मत था, वहाँ अब वह व्यक्ति-सम्मत रह गया है।

परिस्थितियों का सही ज्ञान न होगा तो उद्देश्य चाहे जितना मानववादी हो, उसे कार्य रूप में परिणत करने का फल मनुष्य की इच्छा के विपरीत होगा। कोई भी अस्तित्ववादी शून्य में अपना निर्णय नहीं कर सकता, शून्य में अपनी मानवीयता नहीं गढ़ सकता। सामाजिक परिस्थितियाँ स्थिर न होकर गतिशील हैं; उनकी परस्पर संबद्धता को, उनके अन्तर्विरोध और एकता को, उनकी गतिशीलता और विकास—अथवा ह्रास—को पहचानने के विज्ञान का नाम ऐतिहासिक भौतिकवाद है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से भिन्न, फिर भी जुड़ी हुई, परस्पर निर्भर, अन्योन्याश्रित दो इकाइयाँ हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। परिस्थितियाँ गतिशील हैं तो व्यक्ति की चेतना स्थिर नहीं है। अपने कर्ममय जीवन से मनुष्य अपनी चेतना का उत्तरोत्तर विकास करता है, परिस्थितयों को बदलता है, बदलती हुई परिस्थितियों से स्वयं प्रभावित होता है। जो दर्शन मनुष्य की चेतना को विकासमान नहीं मानता है, वह जड़ है। जो विचारधारा व्यक्ति और समाज की परस्पर-सम्बद्धता को स्वीकार नहीं करती, वह एकांगी है।

मनुष्य कर्म करने में केवल सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र है, निरपेक्ष रूप से सृजनशील का प्रदर्शन करने वाला प्रजापति वह नहीं है। स्वयंभू न होने से वह अपना स्रष्टा आप नहीं है। जान में या अनजान में दूसरों ने उसे पैदा किया है; उसकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता की यह सबसे बड़ी सीमा है। जन्म लेते समय उसकी आत्मा अगोचर ब्रह्म की तरह निर्विकार नहीं होती। वह अपने दैहिक-मानसिक विकास की क्षमता बहुत-कुछ अपने साथ लाता है; उसके व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ उसके साथ होती हैं। पैदा हुआ है दो के मिलने से, लेकिन समझता है अपने को एकमेवाद्वितीयम्! जिस समाज में वह रहता है, उससे विचारों के आदान-प्रदान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम—भाषा—सीखता है; समाज की सांस्कृतिक स्थिति जैसी हो, उसी से विचार करना, संसार से अपने सम्बन्ध पहचानना सीखता है। इस समाज को उसने नहीं रचा, भाषा का निर्माण उसने नहीं किया, इसीलिए वह परम्परा से जुड़ा हुआ है। न भाषा स्थिर है, न समाज; इनके परिवर्तन और विकास में मनुष्य का व्यक्तिगत योग होता है, इसलिए वह परम्परा से विच्छिन्न भी है। व्यक्ति और परम्परा का यही द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है।

पुराने यान्त्रिक भौतिकवादी समझते थे कि संसार मशीन की तरह है। एक बार ब्रह्म ने उसमें चाभी भर दी, उसके बाद घड़ी अपने-आप चलती रही। डारविन ने ब्रह्म को खारिज कर दिया लेकिन ब्रह्म की जगह अपना विकासवाद प्रतिष्ठित किया। संसार अब भी मशीन की तरह था; परिवेश का ज्ञान प्राप्त कर लीजिए, व्यक्ति उसकी उपज है, उसका ज्ञान अपने-आप हो जाएगा। मनुष्य अपनी नियति से बँधा हुआ है जिसकी यांत्रिक गति से एक इंच इधर-उधर हटना उसके लिए असंभव है।

साहित्य में इस तरह की यांत्रिक भौतिकवादी धारणाओं का प्रतिफलन था—'नैचुरलिज्म' (प्रकृतिवाद)। एमिल ज़ोला और अनातोल फ्रान्स अपने समय के प्रकृतिवादी लेखक किसी हद तक क्रान्तिकारी थे। रूस में तोल्स्तोय और गोर्की ने यथार्थवाद विकसित किया जो प्रकृतिवाद से अधिक समर्थ और प्रभावशाली था। अस्तित्ववाद पुराने यांत्रिक भौतिकवाद और प्रकृतिवाद के विरुद्ध, दर्शन और साहित्य में घटित होने वाली, एक प्रतिक्रिया है, किन्तु वह जिनके विरुद्ध प्रतिक्रिया है, उन दोनों से अधिक एकांगी है। मार्क्सवाद व्यक्ति और समाज, स्वेच्छित कार्य और स्वेच्छातीत परिवेश, अहंगत विवेक और वस्तुगत परिस्थिति—इनका द्वंद्वात्मक सम्बन्ध मानता है, एक को काटकर दूसरे की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नहीं करता। मानव-चेतना भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है, निश्चित नहीं होती। इसीलिए ग़ैर-श्रमिक वर्ग में उत्पन्न होकर भी मार्क्स और एंगेल्स श्रमिक वर्ग के नेता बने।

अस्तित्ववादी विचारक मूल्यों की बात करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है, तब वह निर्णय मूल्यगत होता है। किन्तु क्या मूल्यवान है, क्या मूल्यहीन है, यह तै करने का सवाल तभी उठता है, जब किसी तरह की मूल्य-सम्बन्धी धारणा पहले से प्रचलित होती है और यह धारणा समाजगत या वर्गगत होती है। अस्तित्ववादी लेखक समझता है कि वह अकेले, अपने तईं कोई निर्णय कर रहा है, किन्तु देखने में आता है कि वह अकेला नहीं है, उस जैसे दर्जनों लेखक वैसा ही निर्णय करते चले जा रहे हैं। एक ने निर्णय किया कि दुनिया लिजलिजी है तो दस और बोले, हाँ, लिजलिजी है। एक ने सलीब उठाया तो दर्जनों कवि सलीब ढोते हुए चलने लगे। और इनमें हरएक समझता है कि उसका निर्णय पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। किन्तु जब पराजयवादी भावनाएँ एक नहीं दर्जनों लेखकों में एक साथ प्रकट हों, तब मानना चाहिए कि वे समूहगत हैं, उनके सामाजिक कारण हैं, वे पूर्ण-स्वतंत्र आत्मगत अनुभूतियाँ नहीं हैं। पराजित जर्मनी में अस्तित्ववाद फैला, युद्ध से पहले पराजय के कगार पर खड़े हुए फ्रान्स में वह फैला,—इस घटनाक्रम के वस्तुगत कारण हैं।

अस्तित्ववाद में एक तीव्र विसंगति है। वह केवल आत्मगत सत्य को स्वीकार करता है; दूसरी ओर वह मूल्यों की बात करता है जो स्वभावतः समाजगत हैं। तर्कसंगत विचारक या तो मूल्यों को समाजगत मानकर मार्क्सवाद की ओर बढ़ेगा जैसा सार्त्र ने किया या वह उन्हें पूर्ण स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप से आत्मगत मानकर मूल्यहीनता की ओर बढ़ेगा जैसा कि ब्रिटेन, अमरीका और भारत के बहुत से पराजयवादी 'विद्रोही' कर रहे हैं।

अस्तित्ववाद पर ब्रिटिश और जर्मन विज्ञानवाद का गहरा प्रभाव है। वह चेतना को वस्तुगत भौतिकता से वैसे ही अलग रखता है जैसे ब्रिटिश दार्शनिक बर्कले। यहाँ वह रोमांटिक साहित्य की उस विचारधारा से मिल जाता है जो विज्ञानवाद से प्रभावित थी। शेलिंग के चेतना-संबन्धी विचारों को साहित्य में लागू करते हुए कोलरिज ने 'बायोग्राफिआ लिटरारिआ' में लिखा था कि वस्तुएँ जड़ और मृत हैं; साहित्य में मनुष्य की चेतना ही उन्हें जीवन प्रदान करती है। 'डिजेक्शन' कविता में कोलरिज ने लिखा था :

O Wordsworth, we receive but what we give
And in our life alone doth nature live!

अस्तित्ववादी लेखक प्रकृति को जिस तरह आत्मसात करते हैं—उसकी वस्तुसत्ता हटाकर उसे आत्मगत करते हैं—उस तरह की क्रिया रोमांटिक कवि बहुत पहले कर चुके थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद पर उस पुराने तर्कशास्त्र का प्रभाव है जो द्वंद्ववाद का विरोधी है। आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ संबद्ध न होकर उसके लिए अलग हैं, भूत और चेतना, व्यक्ति और समाज इसी तरह विच्छिन्न इकाइयाँ हैं। अस्तित्ववाद पर सामन्तकालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का गहरा असर है। उसकी शुरुआत किरकेगार्ड से हुई जो, चर्च की आलोचना करते हुए भी, ईसाइयत के मार्ग से ही मुक्ति का अन्वेषी था। मध्यपूर्व और यूरोप की सामन्तकालीन धार्मिक आस्थाओं के अनुसार ईश्वर ने प्रथम मनुष्य—आदम—को सोचने और कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी थी, किन्तु उसने उस स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया, खुदा ने जिस ज्ञान के वृक्ष का फल खाने को मना किया था, उसी को उसने चख लिया। तब से जितने आदमी पैदा हुए, सभी पापी हुए। खुदा की मर्ज़ी, जिसे चाहे मुक्ति दे दे, वर्ना नरक का चांस तो लिखा ही है उसके भाग्य में। जब तक खुदा था, तब तक पाप-पुण्य की भावना भी थी, नैतिक आचरण के मूल्य भी थे। किन्तु जब विज्ञान ने खुदा को नैतिकता के आसन से हटा दिया तब अस्तित्ववादी के लिए बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। समाज में मूल्यों की कोई कसौटी न रह गई। पाप-पुण्य कुछ नहीं; मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से निर्णय करना है कि क्या मूल्यवान् (पुण्य) है, क्या मूल्यहीन (पाप) है। अँधेरे में बाप का हाथ छूट जाने पर जैसे छोटा बच्चा चीख उठे, वही हालत खुदा को नकारने वाले अस्तित्ववादी की है। उसके त्रास का, अकेलेपन की अनुभूति का, वेदना का यह मुख्य कारण है। पुराने धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईसामसीह ने आत्म-बलिदान करके खुदा को मनाया और मनुष्य की मुक्ति का मार्ग खोला। जो अस्तित्ववादी खुदा को नहीं मानते वे खुदा के बेटे को भी नहीं मानते। इसलिए खुद ही खुदा के बेटे बन जाते हैं; खुद ही सलीब उठाने की दिमागी कसरत करते हैं और यह सोचकर आत्मविभोर हो उठते हैं कि यह कार्य वे समस्त मानवता के हित में कर रहे हैं।

सलीब ढोने की क्रिया से उन्हें जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है, उसमें आत्मनिर्वासन-संबन्धी उनकी धारणा सहायक होती है। निर्वासन पहले समाज से, फिर खुद अपने से। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का विश्लेषण करते हुए डॉ० नामवरसिंह ने लिखा है कि इस कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभाजित कर दिया गया है और 'एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार 'आत्म-निर्वासन' (सेल्फ-एलियनेशन) है।" 'अँधेरे में' की अंतिम पंक्तियाँ "उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।"

इस आत्म-निर्वासन की भावना का विश्लेषण द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संस्थापकों ने भी किया था। एंगेल्स ने 'एंटी-ड्यूरिंग' में धार्मिक गाथाओं का विवेचन करते हुए लिखा था कि मनुष्य अपने को पहले प्रकृति की उस बाह्य शक्ति के सामने निर्वासित पाता है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। जब उत्पादन और वितरण का विकास होता है, तब प्रकृति के साथ समाज की वह शक्ति जुड़ जाती है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। समाज की यह शक्ति मनुष्य को उतनी ही ग़ैर—'ऐज़ ईक्वली एलियन'—मालूम होती है जितनी प्रकृति की शक्ति। वर्तमान पूंजीवादी समाज में "मनुष्यों पर आर्थिक परिस्थितियाँ जिन्हें उन्होने स्वयं रचा है, उत्पादन के साधन जिन्हें उन्होंने स्वयं पैदा किया है, यों हावी रहते हैं मानों वे कोई ग़ैर शक्ति हों—(ऐज़ इफ़ बाई ऐन एलियन फोर्स)।"

आत्म-निर्वासन—सेल्फ-एलियनेशन—की जड़ यह है। यह कोई विशुद्ध मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है जो इस युग की विशेष देन हो या जिसका सम्बन्ध किसी अनुभूतिप्रवण कवि की आत्मसंभव अभिव्यक्ति से विशेष हो। यह मूलतः पूंजी-वादी सम्बन्धों के नियंत्रण में न रहकर उनको अपने नियंत्रण में रखने—उन्हें समाजवादी सबन्धों में परिवर्तित करने—की समस्या है। किन्तु अस्तित्ववादी कवि आत्म-निर्वासन की समस्या को इस रूप में नहीं देखते। वे समझते हैं, यह उनकी विशिष्ट आत्मानुभूति है, अथवा अपने विशुद्ध विवेक से उन्होंने इस स्थिति को वरण किया है। वे इस स्थिति को आधु-निकता-बोध से जोड़ते हैं, यद्यपि वह है उन्नीसवीं सदी की, काफी पुरानी, रोमांटिक भावधारा से सम्बद्ध।

१८९७ में फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमील दुरखाइम की पुस्तक 'आत्महत्या' प्रकाशित हुई थी। उसने फ्रांस में बढ़ती हुई आत्महत्याओं का सम्बन्ध औद्योगिक सभ्यता से जोड़ा था। उसका एक निष्कर्ष यह था कि आत्महत्याएँ गाँवों में बहुत कम होती हैं, शहरों में ज्यादा होती है। दुरखाइम ने अपना समाजशास्त्र उत्पादन और वितरण की पद्धति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषण न करके आत्महत्या के प्राप्त आँकड़ों के बल पर रचा था। उसमें अनेक खामियाँ हैं। फिर भी उसने आत्म-निर्वासन की समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया था और उसका सम्बन्ध मानव-मूल्यों के असन्तुलन से जोड़ा था। आत्महत्या के रुझान का विश्लेषण करते हुए उसने फ्रांसीसी लेखक लामार्तीन की रूमानियत की जो आलोचना की है, उसे पढ़कर लगता है मानो वह सन् '३८ के अस्तित्ववाद की आलोचना कर रहा हो यद्यपि उसका देहान्त १९१७ में हो गया था।

लामार्तीन के नायक रैफेल को आस-पास की वस्तुओं से घृणा हो जाती है। वह अपने को इन वस्तुओं से अलग कर लेता है और अपने अकेलेपन पर ज़ोर देता है। वह प्रेम करता है तो समर्पित होने के लिए नहीं, नारी के साथ प्रजनन-क्रिया के आनन्द के लिए नहीं, वरन् प्रेम का चिन्तन करने के लिए। उसकी वासना एक प्रवंचना है क्योंकि वह नपुंसक है। अपने से अलग वह किसी वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता, इसलिए निरर्थक कल्पना में शक्ति नष्ट करता है। दुरखाइम का कहना है कि मनुष्य को चिन्तन की सामग्री बाह्य जगत् से मिलती है। यदि मनुष्य अपनी चेतना को बाह्य जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों से आमूल विच्छिन्न कर ले, उचित सीमा लाँघकर उसे विशुद्ध आत्मगत बना ले तो वह उस स्रोत का ही नाश कर देता है जिससे चेतना पोषण-सामग्री पाती है। अपने चारों ओर शून्य रचकर वह अपने भीतर भी शून्य की सृष्टि कर लेता है। चिन्तन के लिए अपने दर्द के अलावा उसके पास कुछ रह नहीं जाता। वह इस दर्द के प्रति ही समर्पित होता है और उसके रोगी मानस को इसमें मज़ा आता है। लामार्तीन ने यह मज़ा चखा था। इसीलिए उसने अपने नायक के बारे में लिखा था, "मेरी आत्मा का अकेलापन एक झीनी चादर है जिससे होकर मेरी दृष्टि मनुष्य को देखना नहीं चाहती थी, केवल ईश्वर और प्रवृत्ति को देखना चाहती थी।

दुरखाइम की यह आलोचना आत्मनिर्वासन की भावना को शून्यवाद से जोड़ती है। आत्मनिर्वासन की भावना को आत्महत्या के रुझान से सम्बद्ध करके उसने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया है।

●

सार्त्र के उपन्यास 'उबकाई' (अंग्रेज़ी में 'नौशिआ', पेंग्विन बुक्स) का नायक अन्त्वान रोकांतैं सोचता है कि संसार में जो कुछ है, व्यर्थ है, फालतू है, वह स्वयं अनावश्यक है। "मैं खयाल दौड़ाने लगा कि आत्महत्या कर लूँ, ये जो तमाम व्यर्थ अस्तित्व हैं, उनमें कम-से-कम एक का नाश कर डालूँ।"

सौभाग्य से वह खयाल दौड़ाकर रह जाता है, निर्णय नहीं करता कि वह आत्महत्या कर ही लेगा। जर्मन, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी साहित्य में आत्महत्या करनेवाले या आत्महत्या की ओर खयाल दौड़ाने वाले कवियों, कथाकारों और उनके नायकों की एक लंबी परम्परा है और इनमें आदि प्रजापति के समान स्थापित है शेक्सपियर का हैमलेट।

O, that this too too solid flesh would melt,
Thaw, and resolve itself into a dew !
Or that the Everlasting had not fix'd
His canon 'gainst self-slaughter !

यूरोप में नवजागरणकाल (रिनैसेंस) से पहले आत्म-हत्याकामी यह भावधारा शून्यवत् है। पूँजीवादी व्यवस्था के अभ्युदय के साथ जो नवजागरणकाल आरम्भ हुआ, उसमें एक स्वर जो बार-बार झंकृत हुआ, वह था आत्महत्या की कामना का स्वर। १८वीं-१९वीं शताब्दियों में यह स्वर और भी गहरा हुआ और बीसवीं सदी में उसकी चरम परिणति हुई सार्त्र के अस्तित्ववाद में। उसके व्यापक प्रभाव का यही कारण है। सार्त्र ने अस्तित्ववाद के दर्शन को इस्तेमाल किया एक पूर्व-निश्चित, पूर्व-प्रवाहित भावधारा का औचित्य सिद्ध करने के लिए। मनुष्य का अहंकार आसानी से स्वीकार नहीं करता कि वह धारा के साथ बह रहा है; वह अपने अस्तित्व की सार्थकता इस तर्क से सिद्ध करता है कि वह स्वयं धारा को बहा रहा है। जब हैमलेट, वर्थर, मैनफ्रेड, रोकांतैं—सभी आत्महत्या की बात सोचें तब मानना होगा कि यह किसी एक लेखक के व्यक्तिगत भावबोध का प्रश्न नहीं है वरन् यह एक सामाजिक भावधारा है।

सार्त्र तर्क और विवाद की भूमि पर विवेक और आत्म-गत निर्णय की बातें करते हैं, किन्तु उनके नायक रोकांतैं की भावदशा जब और जैसे बदलती है, वह सब उसकी सचेत इच्छा से परे, उसके विवेक से परे बदलती है। रोकांतैं को उबकाई के दौरे आते हैं, उसकी इच्छा के विपरीत आते हैं। "लगता है कै कर दूँगा—और अचानक, वही आ गया उबकाई का दौरा। बहुत ही बुरा दौरा आया। सर से पैर तक इसने हिला डाला। घंटे भर से मैं देख रहा था कि दौरा आनेवाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, केवल मैं इस बात को स्वीकार न करना चाहता था। मुँह जैसे पनीर से भर गया हो।" ये दौरे हमेशा आकस्मिक होते हैं, अयाचित और अनपेक्षित—कम-से-कम रोकांतैं को ऐसा ही लगता है।

रोकांतैं बैठा हुआ पेड़ देख रहा है, पेड़ की जड़ देख रहा है। "अचानक मेरे लिए जड़ के अस्तित्व की बात सोचना असंभव हो गया।··· और तब अचानक मेरे सामने कोई चीज़ हिलने लगी, हल्की, अनिश्चित-सी सिहरन : हवा से पेड़ की फुनगी हिल रही थी।"

सब काम अचानक होते हैं।

Sudden, thy shadow fell on me; I shrieked and clasped my hands in ecstasy !

यह शेली के आत्मबोध—अथवा वास्तविकता-बोध—का क्षण। रहस्यवादियों के बेसुध, भाव-विभोर, अगोचर, अनिर्वचनीय आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान के क्षण के ही समान रोकांतैं को एक विशिष्ट क्षण में अस्तित्वबोध होता है। वह उस क्षण को स्मरण करता हुआ कहता है :

"वह क्षण अपूर्व था। मैं खड़ा रह गया, शरीर गतिहीन, निस्पन्द, मन एक भयानक भाव-विह्वलता से आन्दोलित। उस विह्वलता के दौर में कुछ नया हो गया था। मैं समझ गया, उबकाई क्या है, मैं उस पर हावी हो गया। सच बात यह है कि जो नया हुआ, उसे मैंने अपने तईं शब्दों में व्यक्त नहीं किया। किन्तु लगता है कि अब मैं उसे सरलता से शब्द-बद्ध कर सकूंगा।···कितनी देर यह दौर रहा ? उस पेड़ की जड़ मैं स्वयं था। अथवा मैं उसके अस्तित्व की समग्र चेतना था।"

रहस्यवादियों की शब्दावली ही नहीं, उनसे मिलती-जुलती अनुभूति भी—एक ही चेतना की व्यापकता का आभास। वर्डस्वर्थ ने टिटर्न ऐबे वाली कविता में अपनी जिस अनुभूति का वर्णन किया है, उसकी व्याख्या की है लौक-हार्टले के दर्शन-मनोविज्ञान के आधार पर। किन्तु वह अनुभूति ही उस दर्शन-मनोविज्ञान का सबसे बड़ा खण्डन है। सार्त्र ने रोकांतैं की अनुभूति का सम्बन्ध जोड़ा है अस्तित्ववादी दर्शन से और वह अनुभूति इस दर्शन का भी खण्डन है। सार्त्र के दर्शन में उपचेतन इच्छाओं को जगह नहीं है; सब समस्याओं का फैसला होता है आत्मगत विवेक से, सचेत निर्णय से। विवेक के जिस स्तर पर वह अस्तित्ववाद का तर्कजाल बुनते हैं, रोकांतैं उससे बहुत दूर है; वह जाल खींचते हैं लेकिन रोकांतैं साफ बचकर निकल जाता है।

रोकांतैं अर्ध-विक्षिप्त है—न्यूरॉटिक।

समुद्र के किनारे वह कंकड़ी उठाकर पानी में फेंकना चाहता है। फिर रुक जाता है, कंकड़ी ज़मीन में डाल देता है और एक ओर चल देता है। "मेरा खयाल है कि मेरा चेहरा कुछ-कुछ पागलों जैसा रहा होगा क्योंकि मेरी पीठ पीछे बच्चे हँस रहे थे।"

होरेशो ने हैमलेट के चेहरे पर ऐसे ही पागलपन का भाव देखा था, जब कहा था :

He waxes desperate with imagination.

रोकांतैं निश्चय नहीं कर पाता कि वह कुछ समय के लिए पागल हुआ था या नहीं। कहता है—"विचित्र बात यह है कि मैं यह मानने को बिलकुल तैयार नहीं हूँ कि मैं पागल हूँ। दरअसल मैं बिल्कुल साफ देख रहा हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ। इन सब तब्दीलियों का सम्बन्ध वस्तुओं से है। कम-से-कम मैं चाहता यही हूँ कि बात ऐसी ही हो।" फिर सोचता है—"शायद पागलपन का हल्का दौरा ही था वह। अब उसका निशान भी नहीं है।" हैमलेट को भी दौरे ही आते हैं। लाएर्टीज़ से उसने जो अभद्र व्यवहार किया है, उसके लिए वह कहता है :

I here proclaim was madness.

इस पागलपन की विशेषता यह है कि हैमलेट को लगता है कि उसके विभाजित व्यक्तित्व का एक अंश उससे दूर चला गया है, दूसरा अंश जो करता है, उसके लिए पहला अंश ज़िम्मेदार नहीं है :

If Hamlet from himself be ta'en away,
And when he's not himself does wrong
Laertes,
Then Hamlet does it not, Hamlet denies
it.

रोकांतैं की हालत और भी खराब है। उसे लगता है कि उसके शरीर के अंग भी बेगाने हैं। "मेरे भीतर कोई तार टूट गया है। निगाह घुमा लेता हूँ, सर नहीं। खोपड़ी एकदम मुलायम और लुचलुची हो गई है मानो गर्दन पर अभी सँभालकर रखी गई हो, मैं ज़रा हिला कि वह गिरी।"

वह मेज़ पर अपना फैला हुआ हाथ रख देता है। उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगता है कि कोई जानवर उतान पड़ा है, ऊपर पेट है, उसकी अपनी उँगलियाँ उसके पंजे हैं मानो केकड़े के पंजे हों, केकड़ा मर गया है; हाथ उलटता है, लगता है अब वह मछली है। हाथ खींचकर वह जेब में रख लेता है; कपड़े की पर्त से जाँघ की गर्मी हाथ तक पहुँचती है। वह हाथ निकाल लेता है, कुर्सी पर टिका देता है, हाथ का भार उसे महसूस होता है। जहाँ भी रखे, हाथ का अस्तित्व बना रहेगा। वह हाथ से, शरीर से मुक्ति नहीं पा सकता। पसीने से कमीज़ तर हो गई है, वह तमाम गर्म चर्बी मानो कोई चम्मच से धीरे-धीरे चला रहा हो। वह मेज़ से छोटा चाकू उठा लेता है। बाईं हथेली में चाकू भौंक देता है। "यह काम एकदम अचानक हुआ," चाकू फिसल गया, मामूली-सा घाव हुआ। आत्महत्या की रिहर्सल; लेकिन मंच पर पूरा नाटक नहीं हुआ।

रोकांतैं अघोरी है। हर तरफ भीतर-बाहर उसे सड़ाँध दिखाई देती है। बीभत्स उसका सहज आवास है। जुगुप्सा की स्थिति में ही उसे वह दौरा आता है जब वह समझता है, पेड़ की जड़ मैं हूँ। वह शव-साधक है, ऐसे शव का साधक जो सड़ रहा है। स्वाद, स्पर्श और घ्राण का बोध उसमें बहुत तीव्र है। पेड़ की छाल, लगता है, उबाला हुआ चमड़ा है; उसकी नाक में दुर्गन्ध भर जाती है। एक स्त्री है जो मुनीम का काम करती है। वह अपनी स्कर्ट के नीचे सड़ रही है; सड़ते हुए शव से जैसे वायलेट फूलों की गन्ध कभी-कभी आती है। एक स्त्री के साथ लेटे हुए उसे लगता है कि उस स्त्री का शरीर एक पार्क है जिसमें चींटियाँ, कनखजूरे रेंग रहे हैं, वहाँ जानवर हैं जिनके शरीर टोस्ट के उन टुकड़ों के बने हैं जो भुने हुए कबूतरों के नीचे रखे जाते हैं और ये जानवर केंकड़ों की तरह टेढ़े-मेढ़े चलते हैं। रोकांतैं कहता है, "इस पार्क में कै की दुर्गन्ध आती है।" वह लगभग हैमलेट का ही वाक्य दुहराता है :

> Tie on't ! Ah, fie ! 'tis an unweeded
> garden.

उपन्यास का नाम ही उबकाई है। कै की उपमा बार-बार आती है, कभी स्त्री-सहवास के पहले उसे उबकाई आती है, कभी उसके बाद। वह खुद भीतर से सड़ रहा है, इसलिए हर चीज सड़ती हुई मालूम होती है। वह सामान्य रति-सुख के अयोग्य है; भोग के पहले हल्की-सी आकांक्षा, बाद को वितृष्णा। उसे हर चीज़ चिकनी, लिजलिजी और लचीली मालूम होती है। कुत्ते, आदमी, तमाम जान[दार] चीज़ें, चर्बी का ढेर (flabby masses) हैं। हर च[ीज] जीवित, अलग अस्तित्व वाली उसे दबाती हुई-सी जान पड़[ती] है। उसके हाथों और जाकिट की बाँहों पर पीली रो[शनी] पड़ती है। "मैं कह नहीं सकता, मुझे उससे कितनी घृ[णा] होती है।" वह गली में जाता है; गली मुर्दा है, उसमें तहख[ाने] की-सी बू आती है। वह एक डॉक्टर की ओर देखता [है], लगता है, डॉक्टर के चेहरे में आँखें नहीं हैं, वह चेहरा का[र्ड]बोर्ड का बना हुआ है और यह आदमी शीघ्र ही मरने वा[ला] है। चारों तरफ की चीज़ें कार्डबोर्ड की बनी हुई हैं। "[...] पुस्तक मैं पढ़ रहा था उसे मैंने कसकर पकड़ लिया, लेकि[न] तीव्र संवेदन भी जैसे सो गए। कुछ भी वास्तविक न मालू[म] होता था; लगा कि मेरे चारों ओर कार्डबोर्ड सीनरी है [जो] कभी भी हटाया जा सकता है।" वह भागता है; "दु[...] निगाह से मकान मेरा भागना देख रहे थे"। एक मक[ान] खिड़की से अपना काला हृदय उसके सामने रख देता है; [...] पीली इमारत चलना शुरू कर देती है। "मैं वस्तुओं के [बीच] घिरा हूँ जिनका नामकरण असम्भव है। अकेला, अश[क्त], अरक्षित—मैं उनसे घिरा हूँ, वे मेरे पीछे हैं, ऊपर हैं।" [...] उसे लगता है, वस्तुएँ गतिहीन अस्तित्व हैं जो उसे घूर [रही] हैं। उसके सामने एक विचार आता है; विचार गुड़ीमुड़ी [हो] गया और बिल्ली-जैसा उसके सामने जमा हुआ है। [...] अन्त में वह कहता है, "अन्त्वान रोकांतैं का अस्तित्व किसी [के] लिए नहीं है। सोचकर हँसी आती है। और यह अन्त्[वान] रोकांतैं आखिर है क्या ? एक निराकार धारणा। स्वयं [...] छोटी-सी पीताभ स्मृति चेतना में लहराती है। अन्त्[वान] रोकांतैं। और अचानक अहम् पीला पड़ता हुआ मुरझा जा[ता] है और अन्त में गायब हो जाता है।"

रोकांतैं आत्महत्या नहीं करता किन्तु कल्पना में उ[...] मिलती-जुलती स्थिति में पहुँच जाता है। उसके कार्यों [...] चिन्तन का विवेक से कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिए उ[...] जीवन सार्त्र के अस्तित्ववाद को असिद्ध करता है। [...] मूलतः अस्तित्ववाद विवेक पर आधारित है ही नहीं। कि[र्के]गार्ड के अस्तित्ववाद से रोकांतैं के जीवन-अनुभवों का ग[हरा] सम्बन्ध है। वह संसार की असारता को देख चुका है, व[स्तुएँ] उसे वैसे ही परेशान करती हैं जैसे, शुद्ध ब्रह्म का ध्यान क[रने] वालों को माया। संसार का भोग-सुख सब क्षणभंगुर [है]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार दुख का कारण है। उसे उबकाई आती है; चारों ओर बीभत्स है। जब उसे अपने चिन्तन की व्यर्थता पर पश्चात्ताप होता है तब वह कहता है, "जल के समान निर्मल विचारों से मुझे अपने को धोकर साफ़ करना है।" अपने बारे में वह जो कुछ कहता है या लिखता है, वह सब पादरी के सामने 'कनफ़ेशन' के समान है। छोटी-बड़ी पाप की सारी बातें कहकर ही वह मुक्ति-लाभ कर सकता है। सार्त्र का रोकांतैं एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति है जो एक होटल से दूसरे होटल में, एक औरत के पास से दूसरी औरत के पास खानाबदोश का-सा जीवन बिताता है। वह किसी के साथ मिलकर कोई काम नहीं करता; कमाने-खाने की चिन्ता से वह मुक्त-सा है।

रोकांतैं अपने को अकेला महसूस करते हुए दुनिया के संघर्षों को दूर से तटस्थ होकर देखता है। "यूरोप के शहरों में बत्तियाँ जल गई हैं; बर्लिन की सड़कों पर कम्युनिस्ट और नाज़ी एक-दूसरे पर गोलियाँ दाग रहे हैं, न्यूयार्क के फ़ुटपाथों पर बेकारों की भीड़ चहलकदमी कर रही है।" इस सबसे उसे वास्ता नहीं है। सन् '३८ में 'उबकाई' उपन्यास छपा। अगले साल नाज़ियों ने फ्रांस पर हमला किया। सार्त्र ने देशभक्तों को लड़ते, नाज़ियों के अत्याचार सहते देखा। उन्होंने युद्ध के बाद तीन उपन्यास लिखे जिनमें उन्होंने दिखाया कि युद्ध में फ्रान्स पर क्या बीती थी। सार्त्र अब अकेले, अप्रतिबद्ध नहीं थे। वह स्वभावतः मार्क्सवाद के निकट आये और उनके पुराने प्रशंसक निराश होने लगे कि मार्क्सवाद-विरोधी मोर्चे का नेता उन्हें अकेला छोड़कर भीड़ में शामिल होने जा रहा है।

हिन्दी के बुद्धिजीवियों ने सार्त्र के अस्तित्ववाद को तब अपनाना शुरू किया जब वह स्वयं उसे छोड़ रहे थे।

•

हिन्दी के अधिकांश नई कविता लिखने वालों का हाल रोकांतैं जैसा है। ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, सड़ाँध का बोध, भीड़ में अजनबीपन का अहसास होने की समस्या से परेशानी आदि-आदि लच्छन इसमें भी मिलते हैं। बीमार आदमी को कभी-कभी हर चीज़ बीमार नज़र आती है; इन कवियों को चीज़ें बीमार ही नहीं मुर्दा भी नज़र आती हैं। श्रीकान्त वर्मा को लगता है—सारी पृथ्वी से उठती है सड़ाँध; वह 'एक पब्लिक लेवेटरी में' बैठे हुए मानों सोचते हैं, उनकी कविता में लय क्यों नहीं है, उनके पैरों पर चींटियाँ चढ़ती हैं, कंधे पर रीछ पंजे गड़ाता है, और "भुजा पर प्रेमिका करती है कैं।" कैलाश वाजपेयी को सब तरफ़ पिचकी घुमावदार आँतों की गलियाँ दिखाई देती हैं, "जहाँ सिर्फ़ उबकाई का शब्द आता है", जो भी, जहाँ भी है, बीमार है, सभी को किसी-न-किसी तरह का बुखार है, थूक, पीक, मलवा, गँधाती धुआँ देती बस्तियाँ, और

"लगातार—
मैं मर रहा हूँ
मर रहा है एक—संसार!"

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना को लगता है, जैसे मैं मुर्दों के बीच हूँ, उन्हें ही उठा रहा हूँ, रख रहा हूँ, उनसे ही लिपट रहा हूँ, लड़ रहा हूँ, उन्हें ही बाँध रहा हूँ, छोड़कर आगे बढ़ रहा हूँ इस मृत नगर में। "मैं जीवित हूँ या मृत कुछ समझ में नहीं आता।" चारों तरफ दुर्गन्ध है, प्रार्थनाघरों के घंटे तक जंगली जानवरों की तरह "दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं।"

गिरिजाकुमार माथुर का हाल यह है कि हर चीज़ मैले टीन के डिब्बे में बन्द है, हवा का अँगूठा मूसली से कुचल गया है, वनस्पति की आँख आई है, ज़मीन उबले हुए मोटे खुरंट-सी है, बादल 'घाव-सा फूलकर' कीचड़-सी गाढ़ी बूँदें टपका देता है, चेतनाएँ पक गई हैं भय और घृणा से, और "सारा जीवन प्रमेहग्रस्त लकवा मारे रोगी" सा हो गया है!

राजकमल चौधरी की अनुभूति यह थी कि वह वर्तमान के शव को कंधों पर रखे हैं और "मैं इस शव के गर्भ में हूँ और वह शव मेरे कंधों पर है।" दुर्गन्ध और वमन की कमी नहीं। शालिग्राम के बदले खरीद लाये गये "शक्तिपीठ योनि मुखों में सात नरकों की दुर्गन्धियाँ",

"नींद नहीं, क्षुधा नहीं पागलपन केवल वमन यह दुराग्रह
उपदंश महादंश की नरककुंड बीजात्माएँ।"

पागलपन के मुकाबले जगदीश चतुर्वेदी की अनुभूति बहुत हल्की है—

"घुट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें
मुझे उबकाई आ रही है।"

स्वभावतः नयी कविता में विक्षिप्तता और पागलपन की चर्चा विशेष हुई है; और इसमें, यह कहना कठिन है, कितना हिस्सा काल्पनिक है, कितना यथार्थ पर आधारित है। लक्ष्मीकान्त वर्मा कहते हैं कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"संशय, शंका, विक्षिप्तता की व्याकुलता
वह केवल मेरा नहीं
उसमें वे सब हैं
जो मेरे ही समानधर्मा हैं।"

समानधर्मा विजयदेव नारायण साही कहते हैं कि यद्यपि उन्हें मृत्यु का साक्षात्कार नहीं हुआ, फिर भी किन्हीं रातों में—

"देर तक मैंने
अट्टहास और संगीत सुने हैं
क़रीब तीसरे पहर जाकर
भयानक चीख़ सुनाई पड़ती है।"

कैलाश वाजपेयी पूछते हैं कि—

"इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूं गरदन पर
हाथ में ज़हर-बुझा कोड़ा लिये हुए
सड़ासड़
मारता चला जाऊँ···
या दबा दूं जलती रेत में
ये अपनी आंखें, नाक, कान, जिह्वा
कूद जाऊँ ताज़े चून के
हौज में
या कि
फिर क्या करूँ?"

विभाजित व्यक्तित्व वाले विक्षेप में यह देखा जाता है कि रोगी कभी एक व्यक्ति की भूमिका पूरी करता है, कभी दूसरे की, कभी वह पूर्ण असम्पृक्त होकर दोनों का द्वन्द्व देखता है। भारतभूषण अग्रवाल ने इस स्थिति का बड़ा सटीक चित्रण किया है। लिखा है कि "एक दीखने वाली मेरी इस देह में दो 'मैं' हैं। एक मैं और एक मेरा पिट्ठू। मैं तो, खैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ पर, मेरा पिट्ठू? वह जीनियस है!" उन्हें अपने पिट्ठू पर तभी हँसना चाहिए जब वह स्वयं क्लर्क हो, या जीनियस। वैसे मामूली-सा क्लर्क भी जीनियस हो सकता है, जैसे चार्ल्स लैम्ब।

गिरिजाकुमार माथुर कहते हैं कि मेरे दो मन साथ-साथ रहते हैं, दोनों एक-दूसरे के घोर शत्रु हैं, बोलचाल बन्द है,

"एक कहता
हूँ उदास
दूसरा कहता है
अबे, खूब खिलखिला के हँस।"

सूर की गोपियों को शिकायत थी कि मन दस-बीस नहीं हैं। आज का कवि अपने भीतर एक से अधिक मन ही नहीं देखता, बाहर एक से अधिक देह भी देखता है यानी अपनी देह के विभाजित रूप। गिरिजाकुमार माथुर ने निर्जन दूरियों के ठोस दर्पणों में चलते हुए देखा कि—

"सहसा मेरी एक देह
तीन देह हो गई।"

यहाँ तो एक देह की तीन हुईं; ऐसा भी होता है कि एक ही देह के दो हिस्से हो जाएँ, सर अलग, धड़ अलग। तब सर धड़ का नाच देखता है और श्रोताओं को नाच का आँखों देखा हाल भी सुनाता जाता है। गिरिजाकुमार माथुर की ही अभिव्यक्ति है—

"मेरा कटा हुआ सिर
पाताल राज-सा
अपने ही कबन्ध का विक्षिप्त नृत्य देखता है
देखता है
और रनिंग कमेण्ट्री करता जाता है।"

इस अभिव्यक्ति के मुकाबले दुःस्वप्नों की अनुभूति हल्की ठहरती है। जैसे गिरिजाकुमार माथुर का यह कहना कि मैं एक भूकम्प दबे नगर के नीचे फिरता हूँ, सीढ़ियों पर चढ़ता हूँ तो छत से टकराता हूँ, मुझे बेहद प्यास लगी है और आस-पास हत्यारे कुएँ हैं जिनमें सिर्फ गिर सकता हूँ; या सर्वेश्वर दयाल की अनुभूति कि एक अदृश्य इमारत मेरे ऊपर गिर पड़ी है, और जो 'नहीं है' उसके बोझ से मैं दब गया हूँ; या लक्ष्मीकान्त वर्मा की यह अनुभूति—

"मैंने सिर हिलाया
खाली बिस्कुट के डिब्बे-सा वह सो गया
गरदन हिलायी
नहीं हिली, अकड़ी थी"—

यह सब कबन्ध-डान्स के आगे फीका है। पृथ्वी के नीचे दब जाने, अँधेरे कमरों में खो जाने का सपना आदमी अक्सर तब देखता है जब देर से खाना खाकर बाईं करवट सो जाए, खासकर तली-भुनी चीज़ें खाकर। व्यायाम करने, उचित समय पर अल्पाहार करने से ये दुःस्वप्न दूर हो सकते हैं। उम्र पचास ज़्यादा से हो तो रात्रि को केवल फलाहार अति उत्तम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ही नगर में यह अनुभव करना कि वह अपरिचित है, मित्रों के बीच में सहसा यह बोध होना कि ये अजनबी हैं—न्यूरॉसिस के बहुत हल्के-फुल्के रूप हैं। सड़कों का उछलना-कूदना, लैम्प पोस्टों की बातें करना न्यूरॉसिस को छूनेवाले दिवास्वप्न मात्र हैं—कल्पना की अतिशयता जो अर्धविक्षेप का रूप भी ले सकती है। एक ने लिखा—

"सड़कें चाबुक-सी उछलती हैं
मैदान पैंट झाड़ कर
उठ खड़े
होते हैं"।

दूसरे ने लिखा,

"सब सड़कें
हाथों में हाथ फँसाकर
एक घेरे में नाचने लगती हैं।"

तीसरे ने लिखा,

"बेतरतीब ढोती सड़कें
घबड़ाकर मकानों पर चढ़ गई हैं।"

चौथे ने लिखा,

"सड़कें दौड़ती हैं
मिलने को गले,
चौराहे भागते हैं
एक दूसरे से।"

पाँचवें ने लिखा,

"क्षण-भर बाद उठकर यह सड़क
उस रेत पर बैठेगी, तट पर खड़ी होगी,
जाने क्या सोचेगी, फिर डूब जायगी।"

यानी नदी में डूब जायगी क्योंकि इस सड़क के पास नदी बहती है। जब सड़कों का यह हाल है तब दीवारें दूसरों की बातें सुनें, उन पर विचार करें, यह वाजिब ही है। उनके कान बहुत दिनों से हैं।

"मुंडेरों के कन्धे हिलते हैं
झरोखे झाँकते हैं,
दीवारें सुनती हैं,
मेहराबें जमुहाई लेती हैं।"

एक अन्य कविता में—

"दीवारें खड़ी सोचती रहीं...
माइक ने जाते समय
शहर की दीवारों से कहा..."

अस्तित्ववादी दर्शन में भले ही वस्तुजगत् मृत हो, मानव-चेतना ही सत् हो, व्यवहार में कवि के लिए मुर्दा चीजें जानदार हैं और जानदार चीजें मुर्दा हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि नई कविता में आत्महत्या का ज़िक्र बार-बार आता है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा :

"आज मैं प्रेत हूँ
क्योंकि मैं अपनी मौत से नहीं मरा हूँ
मैंने की है आत्महत्या जान-बूझकर!"

विजयदेव नारायण साही :

"ऐसे ही मैंने सृजन को देखा है
और उसे मृत्यु की तरह पहचाना है
वह हत्या से उपजता है
और आत्महत्या की ओर बढ़ता है।"

जगदीश गुप्त :

"मानता हूँ खुदकशी को कायरों का काम
निश्चय, आत्मघाती भावना से घृणा करता हूँ।
मगर इस क्षण न जाने क्यों यही जी चाहता है
झाँक लूं उस अन्ध तमसावृत अजाने लोक में
जिसमें हजारों प्रेत बसते हैं।"

गिरिजाकुमार माथुर :

"किसी ने भी
मेरी अन्तिम आत्महत्या नहीं देखी।"

श्रीकान्त वर्मा :

"न मैं आत्महत्या
कर सकता हूँ
न औरों का
खून!"

यह मूल्यों के विघटन का युग है। हर चीज़ टूट रही है, कवि टूट रहा है, कविता टूट रही है। फासिस्ट तानाशाही के पनपने के लिए वह हवा बहुत मुफ़ीद होती है जिसमें मनुष्य के लिए हत्या और आत्महत्या में ज्यादा फर्क़ न रहे। नई कविता रचने वाले देश, जनता और इतिहास को जिस ढंग से याद करते हैं, उससे अन्दाज होता है कि जनतन्त्र खत्म हो जाय और फासिस्ट तानाशाही कायम हो तो इन्हें कोई ख़ास तकलीफ़ न होगी। जीवन व्यर्थ है, इतिहास व्यर्थ है, इसलिए दो तरह की शासन-व्यवस्थाओं में भेद करना व्यर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बड़े हाल में सिंहासन पर सुनहरी पोशाक पहनकर एक आदमी बैठ जाता है। "यन्त्रवत् दर्शक ताली बजाते हैं।" दूसरा व्यक्ति सबसे हाथ उठवाकर पहले को गद्दी से नीचे बिठा देता है। "सहमत दर्शक शोर मचाते हैं।" तीसरा आकर दोनों को खिड़की से बाहर फेंक देता है। "भयभीत दर्शक जोश दिखाते हैं।" चौथा आकर सिंहासन उठा ले जाता है, हाल पर बाहर से ताला जड़ देता है। "बन्द हुए दर्शक नारे लगाते हैं।" गिरिजाकुमार माथुर के लिए इतिहास का इस तरह का तमाशा है। और—"इतिहास अन्धा है", "इतिहास बहरा है", "इतिहास गूँगा है", "इतिहास लँगड़ा है।"

इतिहास इसलिए भी लँगड़ा है कि उसके कई 'हीरो' लँगड़े हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा पूछते हैं,

"इतिहास के जंगों से
म्यूज़ियम के जिरह बख्तरों से
टूटी बन्दूक से
लँगड़े तैमूर से
क्या मिला ?"

विजयदेव नारायण साही के लिए अग्निकुण्ड में 'बदहवास शताब्दियाँ' नागों की तरह गिर रही हैं और

"जो है
धधक-धधक कर जल रहा है
और जो नहीं है
वह भी धधक-धधक कर जल रहा है।"

कैलाश वाजपेयी के लिए—

"वे तानाशाह
जनहितैषी
वे धर्मपुत्र
सब अपनी-अपनी तरह के नरभक्षक थे।"

ये कवि कभी-कभी कृपा करके देश के बारे में भी सोचते हैं। सोचते हैं और बेहद निराश होते हैं। दुःखी स्वर में पूछते हैं, इस देश का मैं क्या करूँ ? उनका सबसे विकट दुर्भाग्य मानों यह है कि वे इस भारत देश में पैदा हुए हैं। यहाँ के नेता तो बेईमान हैं ही, जनता मूर्ख है जो उनके पीछे चलती है। भीड़ से जितनी नफरत नयी कविता के रचयिता को है, उतनी और किसी दूसरे को नहीं। अपने अकेलेपन, होने या न होने की अनोखी अनुभूति और प्रगाढ़ सर्जनात्मक पीड़ा के कारण उसे शेष भारतवासी गँवार, असमय और मूर्ख लगते हैं, उनमें जो पढ़े-लिखे हैं, वे निहायत 'मीडिओकर' हैं, बौने हैं। "टूटी चाय की प्यालियों और तश्तरियों-जैसे निरर्थक लोग;" स्वभावतः ऐसे लोगों के बीच में लक्ष्मीकान्त वर्मा को लगता है, उफ़ कितना अजनबी हूँ, कितना निर्वासित हूँ मैं ! लोकमत, मानवता, जनता—सिर्फ चेहरे हैं, गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार . हिटलर का जो कहना था, वही गिरिजाकुमार ने कविता में उतारा है,

"लोग न्याय से नहीं
शक्ति से प्रसन्न होते हैं
आतंक से प्रीत करते हैं।"

श्रीकान्त वर्मा ने तो "देश को खोकर ही" कविता प्राप्त की। कुछ राजनीतिज्ञ इस भीड़ को संगठित करने का प्रयत्न करते हैं, उसे नारे लगाना सिखाते हैं। भारतभूषण अग्रवाल इन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं,

"भावों को भूलो, और
नारों के हो जाओ
भीड़ों से निकलो और
भीड़ों में खो जाओ !"

नारेबाज़ी की बीमारी खासतौर से कम्युनिस्टों को होती है। पूँजीपतियों को शिकायत है कि ये सब मास्को या पीकिंग के दलाल हैं। इससे मिलता-जुलता खयाल भारतभूषण अग्रवाल का है। रेस्तराँ में किसी महिला से कहते हैं,

"लजाओ मत सुन्दरी !···
आस-पास बैठे ये लोग···
यहाँ नहीं कहीं और हैं···
और ये कामरेड ?
ये यहाँ नहीं
ये चीन और रूस में हैं।"

अस्तित्ववादी कवि की निगाह में दुनिया के मार्क्सवादी—क्या साहित्य में, क्या राजनीति में—हमेशा सस्ते समाधान ढूँढ़ते हैं।

"मगर हम और हम जैसे
कि जिनसे ज़िन्दगी की बात का मतलब निकलता है
महज़ आसान रस्तों में भुलाये जा नहीं सकते।"

इसलिए विजयदेवनारायण साही और उनके समानधर्मा मित्र आत्महत्या द्वारा मृत्यु के साक्षात्कार की तलाश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूमते हैं (यानी कविता के कल्पना-लोक में)। पर साही की अनुभूति में वह प्रगाढ़ता अभी नहीं है जो कैलाश वाजपेयी या राजा दुबे की रचनाओं में है। कैलाश वाजपेयी ने 'एक नया राष्ट्रगीत' लिखा है, जिसकी शुरुआत यों होती है :

"सौ करोड़ से ज्यादा लिजलिजे पंजे
दलदल में धँसे हुए,
रीढ़ की जगह एक केंचुआ···"

और अन्त इस प्रकार :

"यही क्या कम है कि मैं सेंतमेंत में
पिछले बीस साल से दुनिया का 'महान्' गणतंत्र
कहला रहा हूँ।"

राष्ट्रगीत लिखने की इस प्रतियोगिता में स्वर्णपदक मिलना चाहिए राजा दुबे को।

"सड़े हुए केले जैसा
मेरा अंग अंग गलता जाता है···
हो गया सारा का सारा राष्ट्र
किसी तवायफ के घर उतरी जूती···
और जनता ?
जापानी बबुआ
सो भी बिन चाभी···
गोल बाँधकर अब
खड़ी हो गई है तमाशों की अभ्यस्त भीड़
मेरे चारों ओर !
भ्रष्ट है भीड़, और भ्रष्ट है भीड़ का शोर···
लोगो, सुनो लोगो,
मैं किसी फाहशा के मुखारविन्द से
'जनगणमन अधिनायक जय हे' सुनकर
मरना चाह रहा हूँ।"

तवायफ के घर उतरी जूती ! "भारतमाता ग्रामवासिनी" के बाद से अब तक नई कविता ने कितनी प्रगति की है !

तवायफ, वेश्या—इससे अधिक चालू उपमान नई कविता में शायद ही दूसरा हो। नयी कविता का सर्जक उसकी तरफ खिंचता है, उस पर थूकता भी है। वेश्या उस वीभत्स की प्रतीक है जिसे कवि ने अपने मनोविनोद के लिए कल्पना लोक में रचा है। कैलाश वाजपेयी के हाथ में धुआँजली 'वेश्या-इच्छाओं की' राख है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की राय में शान्ति के बारे में उस कुलवधू से पूछना चाहिए जो "कई बार विचारों की वेश्या हो गई है" (विचारों की वेश्या का अर्थ जो भी हो)। अजितकुमार सड़क से सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते हैं :

"पड़ी हुई है एक बेहया की तरह
—खुली, ठंडी, उदासीन ! ···
—सबको सहती।
अपने में लीन।
—एक वेश्या।"

वीभत्स-विशेषज्ञ श्रीकान्त वर्मा के यहाँ औरों की अपेक्षा वेश्या-उपमान की खपत ज्यादा है। एक चित्र : एक कवि दूसरे कवि से समय पूछ रहा है, "वेश्याएँ खुश हैं", कुत्ते हड़बड़ाकर उठ आये हैं। कवि के सामने समस्या है, इस सारे क्रम का मैं क्या करूँ ? क्या बागडोर दे दूँ वेश्याओं के हाथ में ? एक परेशानी और है। जिस कवि की वाणी में आज तेज है, वह दस साल बाद इस तरह लौट आता है।

"जैसे किसी वेश्या के कोठे से
अपने को बुझाकर।"

अब एक प्राकृतिक दृश्य : अपूर्व दिशा के नितंब पर स्खलित करता है अपने शौर्य को तेजस्वी सूर्य, कराहती हैं सारे शहर की वेश्याएँ जैसे सारे शहर की वेश्याओं पर सूरज सवार था। दूसरा दृश्य : नावें कई यात्रियों को उतारकर वेश्याओं की तरह थकी पड़ी हैं घाट में। तीसरा दृश्य : कवियों की झूठ में लिपटी हुई 'वेश्या—माँ' अपनी सन्तानों का स्वर्ग देख रही है। दुनिया के बन्दरगाहों पर अन्धकार बरस रहा है "मगर वेश्याई स्वर्ग में" फोड़ों की तरह उत्सव फूट रहे हैं। फिर एक प्रशंसनीय समाज-सेवा का काम : "मैं एक पेशाब घर की दीवार पर" जाकर लिख आता हूँ चाक से, खबरदार ! हैजा फैलाती हैं मक्खियाँ, खबरें, अखबार,

"टाँगें फैलाती हैं
रंडियाँ,
धनी रोज़गार !"

इसके बाद कवि घर लौट आता है और प्रश्न करता है :

"क्या मैं पड़ा रहा हूँ अपनी स्त्री की जाँघ की दराज
में ?"

कहीं कोई खामी है जो इन कवियों को त्रास देती रहती है, इनके मन को आक्रान्त करने वाले दुःस्वप्नों की रचना करती है, जो इनका ध्यान संसार के अन्य व्यापारों से खींच-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर एक ही विषय पर केन्द्रित कर देती है।

"मैं तुममें घुटता रहा और
अपने में चुकता रहा किन्तु
तुमको सारा सका न पा
अपने को सारा सका न दे।"

इसलिए स्वभावतः

"प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे।"

फ्रायड की बात सच मालूम होती है। मनुष्य की दमित, अतृप्त कामेच्छाएँ उसके सारे सामाजिक दृष्टिकोण को रंग देती हैं। यह सोचकर उसे कुछ सान्त्वना मिलती है कि

"कुछ स्त्रियाँ
प्रेम करती हैं
वर्दी से;
बाकी
नामर्दी से।"

अजनबीपन, अकेलेपन और प्रेम की निस्सारता के दर्शन का स्रोत यही है :

"प्रेम
अकेले होने का ही
एक और ढंग है।"

सार्त्र और श्रीकान्त वर्मा की सह-अनुभूति का मूल उद्‌गम एक है। इन अकेले होने वाले प्रेमियों की काफी बड़ी भीड़ है, भले ही उनमें हरएक अपने को बहुत अकेला महसूस करता हो। राजा दुबे कहते हैं : तुम्हारा प्रेम जैसे एक फ्रेम है जिसमें तुम मुझे अपनी मनचाही आकृति में कस लेती हो। फिर पुष्ट कंधों से उड़ाती हुई बदन गन्ध इत्यादि। प्रणय-व्यापार की परिणति यह है :

"और हमारे बीच
रह जाती है कविता बनते-बनते
टूट जाता है छन्द मँजते-मँजते
और हम थक जाते हैं रचते-रचते
कुछ का कुछ।"

इस सफलता के बाद वह एक कविता रचते हैं, 'सारी प्रेयसियों के नाम'। शीर्षक भिन्न है, प्रणय-व्यापार की परिणति अभिन्न है :

"एक लड़की जैसे एक बहुत अच्छा सपना!
और मुझे घेर लेता है
मेरा ही हारा हुआ अकेलापन।"

एक अन्य कविता में अकेलेपन से सपनों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा :

"एक आदमकद आइना :
टूटता है जिसमें एक दृश्य
मैं ही हूँ उसका एक नपुंसक नायक।"

'आत्मजयी' के कवि कहते हैं :

"तत्पर शरीर के कण-कण में लपकता काम-वेग···
देह के अश्लील आकर्षण
थमे संकेत सहसा स्पष्ट होते जा रहे हैं···
वह जो बीत गया
निष्प्रयोजन-सा एक सुख—
जहाँ से अभी-अभी समाप्त होकर
लौटा वह अनर्थ और बे-स्वाद
मानो कुछ पाकर नहीं—खोकर···
मरा नहीं
किन्तु फिलहाल पूरी तरह चुका हुआ।"

कुछ तो जन्मजात नये कवि हैं; कुछ लड़कपन में नये कवि बनने के आवश्यक गुण प्राप्त कर लेते हैं; कुछ ऐसे भी हैं जो प्रौढ़ वय में—अनेक वर्षों तक सुखी गृहस्थ जीवन बिताने के बाद—उस मार्मिक स्थिति तक पहुँचते हैं। गिरिजाकुमार माथुर की कुछ कविताएँ बड़ी ही हृदयस्पर्शी हैं। यथा :

"डूबकर भोगे हुए
कितने अद्वितीय रसगोपन क्षण
होम पर धरे मैंने
—गन्ध पर उठी नहीं।"

अन्य कविता में :

"जितने चटकदार क्षण आये
बिना बोले चले गये
जितने चटखारे-भरे दिन पाये
सबको हम थोड़ा-थोड़ा जूठा कर
छोड़ चुके
कुछ भी ललचाने वाली चीज़ अब रही नहीं।"

इस नई कविता ने न जाने कितनों की गृहस्थी बरबाद कर दी है। शकुन्त माथुर की स्पष्टवादिता देखिए :

"मेरा और तुम्हारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तक चलता प्यार
कहाँ खींचकर ले आया है
जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं
सपाट धरती पर
सिर्फ एक-दूसरे को बैठे
हम घूर रहे हैं
और सामने के दो खण्डहर
सिद्ध कर रहे हैं अपना क्रम।''

नयी कविता लिखने वालों में पुरुष ही अधिक हैं, स्त्रियाँ बहुत कम, उतनी भी नहीं जितनी छायावादी कविता लिखती थीं। वे शायद नयी कविता तब लिखती हैं जब नये कवि से डूबती हैं—यानी उस कवि से जो कविता चाहे बहुत पहले से करता आया हो, पर जो नया कवि हाल में बना हो।

सार्त्र के नायक रोकांतैं को हर चीज़ थुलथुल, निर्जीव, लिजलिजी मालूम होती थी। हिन्दी के अस्तित्ववादी कवि आत्मवत् सर्वभूतेषु देखते हुए उसी प्रकार संसार और उसके सजीव-निर्जीव पदार्थों का वर्णन करते हैं। रघुवीरसहाय की एक कविता है 'दुनिया'। कैसी है यह दुनिया ?

''दुनिया एक पपड़ियाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनियां एक चिपचिपाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक फँफूदियाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक बजबजायी हुई-सी चीज़ हो गई है।''

कैलाश वाजपेयी के राष्ट्रगीत की शुरुआत होती है, 'लिजलिजे' पंजों से। वह स्वयं 'मांस ढके गिजगिजे अन्धकार में' हर रात अपने को फेंककर सुख से नष्ट होते हैं! गिरिजाकुमार माथुर की अन्तर्दृष्टि के सामने :

''एक निश्चेष्ट मिट्टी के लोंदे सा बादल
आसमान में ठसकर बैठा है।''

लेकिन ये बादल वगैरह के उपमान पुराने पड़ गए। नये उपमानों में उल्लेखनीय हैं कछुए और केंकड़े। जगदीश चतुर्वेदी कहते हैं :

''सभी मर्द घिनौने कछुओं से पहने हुए हैं खोल
केंकड़े-सी सिमटी जा रही हैं रतिक्रान्त युवतियाँ
बुझे बल्बों की कतार-सी टिड्डियों की टोली;
नपुंसकों का हुजूम !''

नयी कविता में उपमानों का 'पासिंग' खूब होता है। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ बुझे बल्बों की कतार है तो शकुन्त माथुर के लिए जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ युवतियाँ केंकड़े-सी सिमट रही हैं; कैलाश वाजपेयी के यहाँ :

''सूर्याकृति केंकड़ा खिसकता है
मांस के बुरादे पर ?''

नयी कविता में केंचुए भी काफी हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने लिखा :

''बिलबिलाकर बिछ गए हैं
केंचुए अन्धे !''

कैलाश वाजपेयी ने सौ करोड़ लिजलिजे पंजों से जोड़ा : ''रीढ़ की जगह एक केंचुआ''। सौ करोड़ पंजों से अलग अपने दिमाग और होंठों के बारे में लिखा :

''मेरे दिमाग में ततैयों का छत्ता
होंठों पर कनखजूर चिपका है।''

मकड़ा भी अच्छा उपमान है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने एक कविता में लिखा—''वृद्ध मकड़ा आयु का चुप जाल है बुनता।'' दूसरी में लिखा :

''चाँद आकाश में
बड़े सुनहरे मकड़े की तरह
धीरे-धीरे गर्व से रेंगता हुआ आता है
मुझे दबोच लेता है।''

केंकड़ों, केंचुओं, कछुओं, मकड़ों से कहाँ तक काम चले ! इस भारत देश में जहाँ और बहुत-सी खराबियाँ हैं, वहाँ एक यह भी है कि उसने कवियों के लिए काफी उपमान पैदा नहीं किए। इसलिए उपमानों की तलाश में कवि मिस्र, यूनान, फिलिस्तीन कहाँ-कहाँ की यात्रा नहीं करते। बहुत साल पहले 'नाश और निर्माण' के युग में गिरिजाकुमार ने लिखा था :

''पर गीतों के इन पिरामिडों,
—इन धौला गिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आकर।''

पिरामिडों के साथ उसी कविता में ममी :

''अब ये वसन्त
कितने सहस्र वर्षों की ममी बना आया···''

भारतभूषण ने लिखा :

''और निस्तब्धता का यह पिरामिडी प्रसार
मेरे बस का नहीं।'' (अनुपस्थित लोग)

फिर लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी लिखा :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"और मैं केवल एक अस्तित्वहीन
निर्जीव ममी सा···
पिरामिड की पर्तों में दफनाया हुआ-सा लगता हूँ।"

फिर पीयूष वर्मा ने लिखा :

"···ममियों ने
आज सदियों के उपरान्त
फिर करवट ली है
सोये हुए फराओं की आत्मा
आज फिर जग पड़ी है।"

नई कविता से यदि ये पिरामिड, ममी, केंकड़े, मकड़े, कछुए, केंचुए हटा दिए जाएँ तो उसका मूल भाव-तत्त्व उत्तर-कालीन छायावाद, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध वाली यूरोपीय रूमानियत, से कहाँ भिन्न है ? कवि की ऊब, उसका अकेला-पन, आत्म-निर्वासन की भावना, आत्महत्या की आकांक्षा—कुछ भी नया नहीं है; पूँजीवादी सभ्यता के आरंभ से साहित्य में यह सब घटित होता आया है, औद्योगिक पूँजीवाद के प्रसार के बाद वह सब और घनीभूत हुआ है। अन्तर यह है कि आज का अस्तित्ववादी अकेलेपन के आगे जैसे घुटने टेकता है, सामाजिक प्रतिबद्धता से जैसे बचकर भागता है (सिद्धान्तचर्चा के दौरान भले ही वह प्रतिबद्धता की बात करे), वैसे न शेक्सपियर और मिल्टन ने घुटने टेके—यूरोप के नवजागरणकाल में; न शेली और बायरन बचकर भागे—इंगलैंड के रोमांटिक युग में; न प्रसाद और निराला ने आत्म-समर्पण किया—हिन्दी के छायावादी काव्य में। ये सब लेखक अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता पहचानते थे। हिन्दी के नयी कविता-लेखकों की सामाजिक प्रतिबद्धता कहाँ है ? निराला की शूर्पणखा की तरह साधारण मानवों पर—डाल अवज्ञा की दृष्टि—वे अपने आत्मगत संसार में खो जाते हैं। इन्होंने अपने भीतर नया क्या देखा है जो इनके पूर्वजों ने न देखा था ? उन देखी हुई पुरानी बातों को ही अपनी नवीन, मौलिक अनुभूति के बल पर कलात्मक संवेदनशीलता से चित्रित करते। वह भी नहीं। जिसके पास दृष्टि है, वह बाहर भी देखता है, भीतर भी। संसार में कोई ऐसा महा-कवि अभी तक नहीं हुआ जिसने भीतर देखा हो, बाहर को छोड़ दिया हो या बाहर देखा हो, भीतर को छोड़ दिया हो। यथार्थ की इकाई बहुरूपी, अनेक-स्तरीय, स्थूल से स्थूलतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है। पर है वह इकाई, आन्तरिक रूप से सम्बद्ध और अविभाज्य। इसीलिए जो दर्शन आत्मगत चेतना को निरपेक्ष मानता है वह साहित्यकार के मूल रचना-त्मक दृष्टिकोण का ही नाश करता है, वैसे ही जैसे यांत्रिक भौतिकवाद मानवचेतना को वस्तुजगत् का प्रतिबिंब मात्र मानकर साहित्यकार की रचनात्मक क्षमता को ही अस्वीकार करता है।

यूरोप की रोमांटिक कविता में यह कमज़ोरी मौजूद थी कि वह यथार्थ से मुँह मोड़कर कवि की व्यक्तिगत आशा-निराशा, दुख-सुख, स्वप्नशीलता, पलायनप्रियता से उलझ जाती थी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद समाज का पुराना ढाँचा तोड़कर जो व्यक्तिवाद उदय हुआ, उसका एक आर्थिक आधार था, सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका सापेक्ष महत्त्व भी था। १८वीं सदी के रीतिवाद की सीमाएँ लाँघता हुआ यूरोप का नया लिरिक-काव्य इसी व्यक्तिवाद के सहारे पनपा, फला-फूला और हमारे देश समेत संसार के अनेक देशों के साहित्य को प्रभावित कर सका। किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यह धारा अपना कार्य सम्पन्न करके क्षीण हो रही थी। नये रूमानी कवि अनुभूति की तलाश में ऐबसिन्थ, हशीश, लौड-नम का सहारा ले रहे थे। गाँजा-चरस से स्फूर्ति पाने के आकांक्षी कोई नया काम नहीं कर रहे हैं जिसे—या जिससे मिलता-जुलता काम—उनके आदि प्रेरणा स्रोत न कर चुके हों। वैसे चिलम से लौ उठाना भारतीय संस्कृति के अधिक अनुकूल माना जा सकता है।

रोमांटिक काव्य की व्यक्तिवादी-प्रवृत्ति क्रमशः विकृत होती हुई अब अस्तित्ववाद के रूप में प्रकट हुई है। चरम व्यक्तिवाद को वह सामाजिक दर्शन का रूप देकर प्रस्तुत करती है। रोमांटिक कवि रूढ़ियाँ तोड़कर नये सौन्दर्यबोध और नवीन सामाजिक मूल्यों की ओर बढ़े थे। अस्तित्ववाद ने सौन्दर्यबोध की उपेक्षा और मानवमूल्यों की अस्वीकृति को ही एक रूढ़ि का रूप दे दिया। यह बात फ्रांस के अस्तित्व-वादियों पर उतनी लागू नहीं होती जितनी हिंदी में उनके अनुवर्तियों पर। रोमांटिक कवियों में एक प्रदर्शनवादी रुझान था, दुनिया को यह दिखाने की आकांक्षा कि वह कितने पतित, पीड़ित अथवा त्रस्त हैं। नई कविता में यह रूमानी प्रदर्शनप्रियता चरम सीमा तक पहुँच गई है।

जो अपने को पीड़ित, पतित, निर्वासित, अर्द्ध-विक्षिप्त महसूस करता है, वह सहानुभूति का पात्र है, सह+अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नहीं। 'न्यूरॉसिस' का गहरा सम्बन्ध सामाजिक परिस्थितियों से है; मनुष्य निरुपाय और त्रस्त होकर ही अर्धविक्षिप्त होता है। किन्तु अस्तित्ववादी लेखक होशहवास में, अपना भाग्य स्वयं रचने का जन्मजात अधिकार सिद्ध करते हुए 'न्यूरॉसिस' का वरण करते हैं। सार्त्र के अस्तित्ववाद में एक मूल असंगति है। वह दार्शनिक स्तर पर विवेक से अपना रास्ता आप चुनने का पक्षधर है। कलात्मक स्तर पर वह अपने को अर्ध विक्षेप से ग्रस्त पाता है। सार्त्र ने जब-जब स्वस्थ मन से अपने अर्ध-विक्षेप को देखा है, उन्होंने तटस्थ होकर उसकी आलोचना की है। 'उबकाई' कहानी का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा था, "उस समय मुझमें यथार्थ-बोध की कमी थी। तब से अब मैं बदल गया हूँ। यथार्थ को अनुभव करना मैंने धीरे-धीरे सीखा है। मैंने बच्चों को भूखों मरते देखा है। मरते हुए बच्चे के आगे 'उबकाई' में कोई वज़न नहीं है।" ('लाइफ़' में फ्रैंक कैपलर का लेख : डीलिंग विद अर्थली हेल्स)

हिन्दी कवियों ने 'न्यूरॉसिस' को तटस्थ दृष्टि से देखने वाला यह विवेक छोड़ दिया है। वह उसे महान दार्शनिक उपलब्धि मानकर ध्यानाकर्षण द्वारा अनुभूति के स्तर पर उसे उतारने की कोशिश करते हैं।

"हर बार नये-नये
अनदेखे काँटों के कपड़े पहने मैंने
हाथ बाँध फिर भी
अस्पृश्य सा खड़ा रहा
—प्रतिमा पर बोली नहीं।"

कैसे बोले ? प्रतिमा पुरुषत्व देखकर बोलती है, नये-नये काँटों के कपड़ों पर नहीं रीझती। सौभाग्य से नयी कविता-लेखकों में अधिकांश विक्षिप्त होने का अभिनय करते हैं, वास्तव में विक्षिप्त हैं नहीं। विक्षिप्त होना उनके 'होने' से कोसों दूर है। बड़े पूँजीपतियों के किस पत्र के सम्पादकीय विभाग में नौकरी करने से कितनी तनखाह मिलेगी, किस सम्पादकीय नीति पर चलने से मालिक निकालेगा नहीं, या अन्य किसी सरकारी संस्था से चिपकने के लिए कौन-सा फलसफा अपनाना चाहिए—यह सब वे बखूबी पहचानते हैं। पूँजीवाद की खुली वकालत करके न साहित्य में जीना संभव है, न राजनीति में। विद्रोही का बाना ज़रूरी है। अस्तित्ववादी कवि विद्रोही हैं—पूरे समाज से, नैतिक मूल्यों से, कविता से, अपने से। पूँजीवादी नेता जब भ्रष्टाचार देखकर दुखी होते हैं, तब कहते हैं—सारे देश का नैतिक पतन हो गया है, जनता का ही चरित्र भ्रष्ट हो गया है, हम सब लोग स्वार्थी और कायर हो गये हैं। इस प्रकार वे पूँजीपतियों को और अपने को भ्रष्टाचार की ज़िम्मेदारी से साफ़ बचा जाते हैं। नयी कविता के लेखक जब सारी दुनिया को सड़ती-बजबजाती हुई देखते हैं, जब वे सारे देश को पस्त और मुर्दा देखते हैं, जब वे जनता को निष्क्रिय और मूर्ख कहते हैं, समस्त इतिहास की व्यर्थता सिद्ध करते हैं तब वे पूँजीवादी दृष्टिकोण से ही यथार्थ को देखते और परखते हैं। हिन्दी में अस्तित्ववाद एक अराजकतावादी धारा है। अराजकतावाद जनता की संगठनबद्ध, सामूहिक कार्यवाही का विरोध करता है। वह समझता है कि कुछ अद्वितीय महापुरुषों के बलिदान और वीरता से जनता का उद्धार हो जाएगा। हिन्दी के अस्तित्ववादी ऐसे किसी भ्रम के शिकार नहीं हैं कि वे जनता का उद्धार कर रहे हैं किन्तु उन्हें यह भ्रम अवश्य है कि वे हिन्दी कविता का विकास कर रहे हैं। विकास की इस सर्जनात्मक प्रक्रिया में वे कभी अपने को तुलसीदास और शेक्सपियर से बढ़कर मानते हैं, कभी—आत्मबोध के विरल क्षणों में—उन्हें सारा प्रयास व्यर्थ जान पड़ता है और वे कहते हैं, "हम सब बौने हैं।"

अस्तित्ववाद यदि समाज-व्यवस्था के प्रति वास्तविक विद्रोह हो तो वह साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद के प्रति विद्रोह हो। किन्तु वह भरसक अपने अन्तर्जगत् को सामाजिक सम्बन्धों की छूत से बचाकर रखता है। जब वह इन सामाजिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करता है तब समाजवाद और पूँजीवाद, जनता और उसके शोषक—दोनों को कोसकर अपना सामाजिक दायित्व निबाह डालता है। यदि नयी कविता के लेखक वास्तव में विद्रोही होते तो नये यथार्थ बोध से वे हिन्दी कविता को समृद्ध करते। स्थिति इससे बिल्कुल उलटी है। नई कविता ने अपने भावबोध और उपमानों का ऐसा कल्पनालोक रच लिया है। छायावाद से कहीं ज़्यादा काल्पनिक और रीतिवाद से कहीं ज़्यादा रूढिबद्ध है। गनीमत यही है कि पिछले बीस साल में बहुत सी कविता अस्तित्ववाद से हटकर भी लिखी गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

कुमार विमल

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का उद्‌भव किसी व्यवस्थित या पूर्वनियोजित प्रयास का फल नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण अनेक बिखरे सूत्रों के वयन से हुआ है। कीर्कगार्ड और नीत्शे की कृतियों में उपलब्ध संकेतों के अलावा आधुनिक अस्तित्ववादियों के विभिन्न विभावनों के समीकरण से अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से अत्याधुनिक अस्तित्ववादियों के कई विभावन, जैसे—कामू का 'अब्सर्ड'[1], हाइडेगेर का 'बेफिंडलिख्काइट',[2] यास्पर्स का 'ट्रेन्सेन्डेन्स',[3] मार्सेल का 'होप'[4] और सार्त्र का 'नासिया'[5]—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह एक विशिष्टता है कि इसमें चिन्तन और सृजन का एकान्वय है, जबकि पूर्ववर्ती सौन्दर्यशास्त्रीय विचारधारा के विवेचकों ने चिन्तन और सृजन को एकदम अलगाकर कलाकार तथा चिन्तक के बीच एक मोटी दीवार खड़ी कर दी थी। बात यह हुई कि एक दार्शनिक विचारधारा या दार्शनिक निकाय के रूप में अस्तित्ववाद दर्शन से साहित्य में नहीं आया। अस्तित्ववाद की यह विलक्षणता है कि अस्तित्ववादी धारणा पहले सर्जनात्मक साहित्य में उभरी और बाद में दर्शनशास्त्र की एक विशिष्ट विचारधारा बन गई। अर्थात् सर्जनात्मक साहित्य ही अस्तित्ववाद की जन्मभूमि है। अतः साहित्य-दर्शन, कला-दर्शन या सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत प्रश्नों से अस्तित्ववाद का सम्बद्ध रहना नितान्त स्वाभाविक है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी विचारकों ने, जो प्रायः कांट और हीगेल की कला-सम्बन्धी मान्यताओं से असन्तुष्ट या असहमत रहे हैं, सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत अध्येतव्य विषयों पर परम्परागत शब्द-जाल से हटकर नितान्त नई शब्दावली में सोचने की कोशिश की है तथा साहित्य और कला को एवं इनसे सम्बद्ध धारणाओं को गहन दार्शनिक प्रश्नों की तरह ही विचारणीय माना है।

यों कई विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में किसी अपारम्परिक नवीनता की झलक नहीं स्वीकार करते। जैसे, हर्बर्ट रीड अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध रोमांटिक सौन्दर्यशास्त्र के साथ जोड़ते हैं। आशय यह कि इनकी दृष्टि में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र रोमांटिक भाव-बोध और सौन्दर्य-चेतना की ही किंचित् परिवर्तित भंगिमा है। इनका तो यहाँ तक कहना है कि अस्तित्ववादी चिन्ताधारा में जो आधारभूत विभावन[6] मिलते हैं, वे सभी शेलिंग और कॉलरिज की विचारधारा में विद्यमान हैं।[7] किन्तु मेरी समझ से अस्तित्ववाद या अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को रोमांटिसिज्म या रोमांटिक सौन्दर्यशास्त्र की शाखा, सन्तान या 'कार्बन कापी' सिद्ध करना दो पृथक् वस्तुओं के बीच घनिष्ठ बादरायण सम्बन्ध स्थापित करने जैसा है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अस्तित्ववादी तात्त्विकी पर आधारित है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र भी मूलतः व्यक्तिवादी है और कला-सर्जना अथवा उसके विश्लेषण के माध्यम से अस्तित्व की सार्थकता का अविरल अन्वेषण है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला का लक्ष्य अस्तित्व की सार्थकता की खोज, अतः, व्यक्ति के गहन अन्तर्जगत् का अकृत्रिम चित्रण है तथा उसका मुख्य प्रयोजन अस्तित्व के विदरण या दरार[8] को पाटना या भरना है। फलस्वरूप अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इस कसौटी पर किसी कलाकृति का मूल्यांकन करता है कि उसमें अस्तित्व की सार्थकता की कितनी खोज हुई है अथवा उसमें व्यक्ति के गहन अन्तर्जगत् का चित्रण किस प्रकार किया गया है या उसमें अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले जीव-जगत्[10] का कैसा समीपी अंकन किया गया है। बात यह है कि अस्तित्ववादियों के अनुसार अस्तित्व ही व्यक्ति को सक्रिय बनाता है और अस्तित्वहीनता से निष्क्रियता पैदा होती है। इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व ही अस्तित्ववादियों के सम्पूर्ण अन्वेषण का केन्द्र है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास में कीर्कगार्ड और सार्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र को कीर्कगार्ड से सुनिश्चित 'प्रारम्भ' और सार्त्र से व्यवस्थित 'परिणति' मिली है। कीर्कगार्ड ने सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध उस नन्दतिक अस्तित्व के साथ माना है, जो उसकी विशिष्ट शब्दावली में 'द फ़र्स्ट स्फ़िअर'[११] है। कीर्क-गार्ड द्वारा निरूपित त्रयात्मक 'अस्तित्वक्षेत्र'[१२] के सिद्धान्त में 'क्षेत्र' (स्फ़िअर) का आशय है 'विधि' (मोड)। इस तरह कीर्कगार्ड के अनुसार सौन्दर्यानुभूति भी एक प्रकार का 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' अर्थात् 'अस्तित्व की विधि' (मोड ऑफ़ इग्ज़िस्टेन्स) है। अतः कीर्कगार्ड का सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन इसी 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' या 'अस्तित्व विधि' पर निर्भर है। कीर्कगार्ड के अनुसार अस्तित्व के तीन क्षेत्र हैं—नन्दतिक क्षेत्र (इस्थेटिक्स स्फ़िअर)[१३] नैतिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र। क्रम तथा व्याप्ति की दृष्टि से इन क्षेत्रों में नन्दतिक क्षेत्र निम्नतम किन्तु सर्वाधिक व्यापक है तथा धार्मिक क्षेत्र सर्वोपरि है। अस्तित्व के उक्त तीन क्षेत्रों में क्रमशः आनन्द, कर्म और वेदना की प्रधानता रहती है। इस सन्दर्भ में कीर्कगार्ड ने यह निर्देश किया है कि नन्दतिक तत्त्व अस्तित्व-लोक का सर्वाधिक व्यापक तत्त्व है। अतः अस्तित्व के नैतिक और धार्मिक धरातलों पर भी नन्दतिक तत्त्व का सर्वथा लोप नहीं होता। अस्तित्वविधि में न्यस्त नन्दतिक तत्त्व का गहन सम्बन्ध, कीर्कगार्ड के अनुसार मनुष्य के अन्त-र्जगत् के साथ है, बहिर्जगत् के साथ नहीं। शायद अन्तर्जगत् को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने के कारण ही कीर्कगार्ड ने कला से सम्बद्ध तत्त्वों में मनोवेग (पैशन) को बहुत ऊँचा स्थान दिया है और मनोवेग को अस्तित्वानुभूति का एक अनिवार्य घटक माना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कीर्कगार्ड का सौन्दर्य-सिद्धान्त हीगेल के सौन्दर्य-सिद्धान्त की तरह अतीन्द्रिय या आधितात्त्विक (मेटाफ़िज़िकल) नहीं है, आनु-भविक (एम्पिरिकल) है। यह आनुभविक रुझान सम्पूर्ण अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में मिलता है। फिर भी यह निश्चित है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र क्रमशः आधि-तात्त्विक होता जायगा, कारण, 'मेटाफ़िज़िक्स' की ओर झुकना मानो सौन्दर्यशास्त्र की नियति है। दूसरी बात यह है कि कीर्कगार्ड ने अपने सौन्दर्य-सिद्धान्त के निरूपण में 'बीइंग'[१४] को अपनी विचारणाओं का प्रस्थान-बिन्दु नहीं माना है। इनका ध्यान निश्चितरूपेण 'बिकमिंग'[१५] की ओर है। हालाँकि ऐसा कहना निर्विवाद नहीं है, कारण, सभी अस्तित्ववादी किसी-न-किसी रूप में 'बीइंग' पर ही बल देते हैं।

जहाँ तक सार्त्र की बात है, सार्त्र के द्वारा अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को एक निश्चित 'परिणति' मिली है। सौंदर्य-शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से सार्त्र ने बहुत अधिक नहीं लिखा है, किन्तु इनके कृति-साहित्य, विशेषकर उपन्यासों[१६] में और विचारात्मक लेखन में सौंदर्यशास्त्र की अंगीभूत मान्यताएँ अनुपेक्षणीय मात्रा में मिलती हैं। यों सार्त्र के निबन्ध-संकलन 'एसेज़ इन इस्थेटिक्स' में अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र से संबद्ध इनकी कई सुस्थ मान्यताएँ एक जगह पर मिल जाती हैं। इस पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य में यह दावा किया गया है कि यह पुस्तक अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र का घोषणा-पत्र है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह पुस्तक सौंदर्यशास्त्र पर लिखा गया कोई सुनियोजित प्रबन्ध नहीं, कुछ कलाकारों पर अलग-अलग लिखे गये निबन्धों का संकलन है, जो निबन्ध पुस्तक-रूप में प्रकाशित होने से पहले सार्त्र की साहित्यिक पत्रिका[१७] में छप चुके थे। इस पुस्तक की दूसरी सीमा यह है कि इसमें सार्त्र के सभी निष्कर्ष केवल मूर्तिकला और चित्रकला की विवेचना पर निर्भर हैं, यद्यपि ये निष्कर्ष समग्र ललित कला पर थोपकर सौंदर्यशास्त्रीय निष्कर्ष बना दिये गए हैं। इसमें जिन चार कलाकारों की विवेचना की गई है, उनमें एक भी प्रतिनिधि कवि या साहित्यकार नहीं है।[१८] इस प्रकार उक्त पुस्तक की अनेक सीमाएँ हैं, यद्यपि इन सीमाओं के बावजूद अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र को परिपुष्ट करने में इस पुस्तक का उल्लेखनीय योगदान है। सबसे बड़ी बात यह है कि सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र में पहली बार सामाजिक चेतना को स्थान दिया है अन्यथा अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र सामा-जिक चेतना से पराङ्मुख व्यक्तिवादी कला-दर्शन-मात्र बन-कर रह जाता। किन्तु परवर्ती सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्य-शास्त्र में एक नई कड़ी जोड़ दी।[१९] सच पूछिये तो कला-विवेचन में सामाजिक सन्दर्भ को एक परिप्रेक्ष्य के रूप में स्वी-कार कर सार्त्र ने अस्तित्ववादी सीमा में एक प्रगतिशील कदम उठाया है। अल्जीरिया की आज़ादी की माँग कर, वियतनाम में अमरीकी सैनिक आक्रमण का विरोध कर और नोबेल पुर-स्कार को १९६४ ईसवी में ठुकराकर सार्त्र ने अस्तित्ववादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शम्बूक से बाहर निकलने की कोशिश की है तथा अपने युग की प्रगतिशील विचारधारा को वैचारिक समर्थन दिया है। सार्त्र की इस वैचारिक क्रान्ति या प्लुति का प्रच्छन्न प्रभाव गत दशाब्द में लिखे गए इनके कला-दर्शन-सम्बन्धी निबन्धों और स्वतन्त्र रचनात्मक कृतियों में मिलता है। तभी तो सार्त्र ने अस्तित्ववादी होकर भी जिस अस्तित्ववाद का मूल आस्पद अन्तर्जगत् और वैयक्तिकता है, 'सुन्दरम्' का सम्बन्ध 'शिवम्' (लोक मंगल) के साथ जोड़ दिया है।[20] मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि सार्त्र ने अस्तित्ववाद की मूल भूमि छोड़ दी है। सार्त्र ने तो अपनी अस्तित्ववादी धारणाओं के अनुरूप सौंदर्यशास्त्र से सम्बद्ध मान्यताओं के निरूपण में संत्रास और निराशा को काफी महत्त्व दिया है। शायद इसीलिए सार्त्र को ऐसे कलाकार[21] ने भी आकृष्ट किया, जिसके अनुसार कला एक 'अब्सर्ड एक्टिविटि' है—ऐसी 'अब्सर्ड एक्टिविटि' जिसमें केवल शून्यता (नाइहिलटी), निराशा (डिस्पेअर), त्रास (टेरर) और नियति के आक्रोश की अभिव्यक्ति रहती है।

सार्त्र द्वारा संकेतित उपर्युक्त सामाजिक प्रासगिकता की बात यदि छोड़ दी जाए, तो अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र मुख्यतः व्यक्ति-वैचित्र्य और स्वानुभूति को महत्त्व देता है। अतः यह संस्थात्मक मनुष्य[22] से संबद्ध कथ्य को नहीं, व्यक्ति-वैशिष्ट्य से युक्त कथ्य को प्रश्रय देता है। इसके अनुसार वैयक्तिक भावना और अनुभूत धारणा से ही कला-सर्जना सम्भव है। निर्वैयक्तिक भावनाएँ और कल्पित धारणाएँ कला-सर्जना की दृष्टि से अनुर्वर होती हैं। सच्ची अनुभूति व्यक्ति-विशिष्ट और काल-सापेक्ष होती है। एक व्यक्ति क्षण-विशेष में जिस किसी अनुभूति को पूरी ईमानदारी के साथ भोगता है, उस क्षण में उस अनुभूति को उस प्रकार केवल वही व्यक्ति भोग सकता है, अन्य कोई नहीं। क्षण, अनुभूति और व्यक्ति की इसी अनन्वयता को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला-सर्जना का मुख्य उपजीव्य मानता है। हम जानते हैं कि क्षणानुभूतियों के संदर्भ में व्यक्ति सदैव तर्क-बुद्धि से ही संचालित नहीं होता है और न वह वस्तु-सत्य के निर्देश का ही पालन करता है। अतः उपरिविवेचित मान्यता से यह निष्पन्न हो जाता है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र नन्दतिक अनुशासन (आर्डर) को तर्कात्मक और वस्तुवादी अनुशासन से भिन्न मानता है। यह दृष्टिकोण, निश्चय ही, कला में आत्मनिष्ठ स्वतःस्फूर्ति[23] के महत्त्व को स्थापित करता है तथा यह बतलाता है कि कला का प्रत्येक 'आलम्बन', 'आश्रय' के 'अस्तित्व-बन्ध' की उन्मुक्ति का प्रतीक हुआ करता है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में अंकित आलम्बन राम, कृष्ण, ईसामसीह या गौतम बुद्ध-जैसा चरित्र अथवा अन्य प्रकार का परम्परित आलम्बन नहीं हुआ करता। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन परम्परा से नितान्त भिन्न हुआ करता है। यह आलम्बन न किसी परम सत्य या तथाकथित उच्चादर्श से संबद्ध रहता है और न किसी आमुष्मिक कामना से। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन तो कलाकार के निजी उच्छ्वास, असन्तोष या अस्तित्व की अर्थहीनता का प्रतिबिम्ब-मात्र हुआ करता है, क्योंकि अस्तित्ववादियों की दृष्टि में सम्पूर्ण मानव-जीवन ही एक 'दुखान्त यथार्थ'[24] है। अर्थात्, अस्तित्ववादी कला का कथ्य हमारे दग्ध अन्तर्जगत् और चुभन से भरे बाह्य परिवेश का यथावत् चित्रण है। यथावत् चित्रण रहने के कारण अस्तित्ववादी कला हमारे लिए केवल 'दर्पण' का काम करती है, 'दीपक' का नहीं। यह तो दुनियावी जिन्दगी[25] को हू-ब-हू हमारे सामने रख-भर देती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अस्तित्ववादी कलाकार कला को 'दीपक' बनाना चाहते ही नहीं। अस्तित्ववादियों के अनुसार यथार्थानुभूतियों का नन्दतिक रूपान्तरण ही कला है। इसलिए यथार्थ ही (आवश्यक नहीं कि एक व्यक्ति के लिए जो यथार्थ है, वह अन्य सबके लिए भी यथार्थ हो) कला का मूलाधार प्रस्तुत करता है। कल्पना उसका मंडन करती है या उस पर मीनाकारी। इसी परिपार्श्व में अस्तित्ववाद का दूसरा विश्वास है कि व्यक्ति के लिए जगत् की सार्थकता जीवन-सापेक्ष है। मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति के लिए इस जगत् की कोई सार्थकता नहीं रहती है। सचमुच, मृत्यु के साथ प्रत्येक व्यक्ति का बहुत विचित्र और अनिवार्य सम्बन्ध है। जन्म लेते ही प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से संबद्ध हो जाता है। समय की साँस के सहारे मृत्यु हर क्षण व्यक्ति के जीवन-द्वार पर दस्तक देती रहती है। यानी मनुष्य चाहे या न चाहे, जन्म लेने के बाद उसे मृत्यु के लिए सदैव तैयार रहना पड़ता है। इस तरह अस्तित्ववादियों की यह धारणा है कि मृत्यु की रेखा के खिंचते ही यह सार्थक जगत् मृत व्यक्ति के लिए निरर्थक हो जाता है। अर्थात्, हर व्यक्ति के लिए उसका जीवन-सन्दर्भ इस जगत् की सार्थकता को प्रमाणित करने के हेतु अनिवार्य है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हीं कलानुभूतियों को महत्त्व देता है, जो 'व्यक्ति' के जीवन-सन्दर्भों से छनकर—यथार्थ बनकर आती हैं। यथार्थ के प्रति ऐसे आग्रह के बावजूद, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि में, कल्पना के मंडन या मीनाकारी की बात व्यर्थ नहीं है। इसीलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह मान्यता है कि अनुभूति और कल्पना में पगा हुआ या विन्यस्त 'यथार्थ' ही 'वास्तविक' (ऐक्चुअल) हो पाता है। जो 'यथार्थ' को अनुभूति और कल्पना की ओप से उजागर नहीं रहता या अनुभूति और कल्पना से परित्यक्त होता है, वह कभी भी 'वास्तविक' नहीं हो सकता। 'यथार्थ' को 'वास्तविकता' बनने के लिए 'कल्पना' के योग की आवश्यकता होती है—यह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की एक नायाब धारणा है।

यथार्थ और कल्पना के संबंध में इस स्वतोव्याघातपूर्ण धारणा से स्पष्ट है कि यथार्थ और कल्पना के प्रश्न पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि उलझी हुई है। एक ओर अस्तित्ववादियों ने अपने सर्जनात्मक साहित्य में जीवन के खुरदरे यथार्थों, संत्रास और फ़ालिजज़दा लमहों के प्रति आसक्ति दिखलाई है और दूसरी ओर नन्दतिक (सौन्दर्यात्मक) मूल्य के धरातल पर इन्होंने यथार्थ को उचित महत्त्व नहीं दिया है। जैसे, सार्त्र ने सौन्दर्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'यथार्थ' कभी सुन्दर नहीं हो सकता। सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है, जिसका संबंध केवल कल्पना-जगत् के साथ है।[२६] इस सूत्र की व्याख्या में सार्त्र का कथन है कि सौन्दर्यास्वादन से प्राप्त आनन्द वास्तविक होता है, किन्तु, सौन्दर्य के घटक-रूप में कलाकार द्वारा आयोजित वस्तुएँ अवास्तविक (अन्-रिअल) होती हैं। सार्त्र ने इसी तथ्य को सौन्दर्यानुभूति के पारम्परिक विश्लेषण में बहुचर्चित 'ताटस्थ्य' (डिस्-इन्-टरेस्टेड्नेस) का मूलभूत आधार माना है तथा अपनी स्थापना के समर्थन में कांट की एतद्संबंधी मान्यता का उल्लेख किया है।[२७] सार्त्र के अनुसार प्रत्येक कलाकृति सृजन के समय कलाकार के मन में बने बिम्बों का 'एक्स्टर्नल ऐनलॉग' हुआ करती है। यह 'ऐनलॉग' या मूर्त्तविधान से युक्त 'तुल्य-रूप सादृश्य' ललित कला के विभिन्न प्रकारों और विधाओं के अनुसार अपना स्वरूप बदलता रहता है। उदाहरण के लिए चित्रकला में यह मूर्त औपम्य-विधान या तुल्यरूप सादृश्य की योजना उपादानमूलक (मैटिरियल) होती है और काव्य-कला में वाचिक (वर्बल)।

अस्तित्ववादियों ने एक शब्द-जाल बिछाकर इस तथ्य को ढँक-सा दिया है कि कला यथार्थ का अनुकरण या प्रति-रूपीकरण-मात्र नहीं है। वस्तुतः कला की सार्थकता केवल यथार्थ के चित्रण में नहीं, सत्य के उद्घाटन (रेविलेशन) में है।

कला-सर्जना में जहाँ तक नन्दतिक ईमानदारी (इस्थे-टिक सिन्सेरिटि) का प्रश्न है, उस पर अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि एकदम सुलझी हुई है। अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र नन्दतिक ईमानदारी को कला के लिए आवश्यक मानता है। जिस कलाकृति में नन्दतिक ईमानदारी न हो, वह व्यर्थ है। अस्तित्ववादियों के अनुसार कलाकार के स्वभाव में नन्दतिक ईमानदारी जीवन की खुरदरी अनुभूतियों को भोगने से पैदा होती है। जो कलाकार अपनी जिन्दगी के खट्टे-मीठे अनुभवों को किसी दुराव-छिपाव के बिना व्यक्त करता है, उसी की कला में नन्दतिक ईमानदारी रहती है।

यथार्थ की ओर झुकाव का प्रभाव अस्तित्ववादी सौंदर्य-शास्त्र के काल-दर्शन पर भी पड़ा है। नन्दतिक कार्य-कलाप[२८] के प्रसग में अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र का काल-दर्शन बहुत ही तादात्विक है—वर्तमाननिष्ठ है। यह कला में अंकित क्षणों को अतीत और भविष्य के सन्दर्भों से मुक्त देखना पसन्द करता है। शायद, इसी कारण यह चित्रकला में 'स्टिल लाइफ़'[२९] के अंकन को महत्त्व देता है। इस प्रकार काल को केवल 'वर्तमान' के आयाम में कैद करने की चेष्टा और सामान्यतः त्रिधा-विभक्त काल के शेष दो आयामों—अतीत और भविष्य को अवहेलित करना अस्तित्ववादी कला-रुचि की ध्यातव्य विशेषता है। यह सोचने की बात है कि अतीत का कृतघ्न और भविष्य से पराङ्मुख 'वर्तमान' आखिर कैसा हो सकता है। बात इतनी-सी है कि हर निषेध में एक स्वीकृति रहती है और इसलिए किसी वस्तु या धारणा के निषेध में उसकी प्रच्छन्न प्रकारान्तर स्वीकृति रहती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अतीत और भविष्य को नकारता नहीं है, बल्कि अतीत और भविष्य को भी सम्पीडित (कॉम्प्रेस्ड) करके सम्पूर्ण काल का एकान्वय केवल 'वर्तमान' में करना चाहता है। यानी ऐसा वर्तमान, जिसमें भूत और भविष्य—दोनों निहित हों। इसी वर्तमान-निष्ठा का यह फल निकला है कि अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र प्रत्येक कलाकृति को समसामयिकता से युक्त मानता है। जिस कलाकृति की मूल-चेतना समसामयिक न होगी, वह कभी भी उत्कृष्ट नहीं हो सकती। कहना तो यह ठीक होगा कि किसी भी कलाकृति की अभिशंसा 'क्लाइमेट ऑव द एज'[30] से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती।

'दर्पण' और 'दीपक' की बहसतलब बात उठाने के बाद यह ज़रूरी है कि कला और सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की धारणा का, संक्षेप में ही सही, विवेचन कर लिया जाए। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में कला-सर्जना और सोद्देश्यता पर प्रासंगिक विचार मिलता है। इसका झुकाव 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की ओर है। 'प्रयोजनहीन' इसलिए कि कृति-विशेष को रचने के पहले उसकी कोई पूर्वझलक कलाकार के मनश्चक्षुओं में नहीं बनी रहती है। रचना स्वयं बन जाती है। रचयिता को उस रचना की प्रत्येक विकास-भंगी का पता नहीं रहता। जैसे गर्भस्थ शिशु का कौन अंग कब बना—इसे स्वयं गर्भिणी भी नहीं जानती। किन्तु, जब कृति बन जाती है—रचना तैयार हो जाती है, तब जगत्-प्रपंच उसमें कोई प्रयोजन भर देता है अथवा उसमें कोई प्रयोजन ढूंढ़ लेता है। व्यावहारिक शुभ-लाभ से दूर रहनेवाले प्रत्येक ईमानदार कलाकार को रचना-काल में, शायद ऐसे प्रयोजन का भान या पूर्वाभास तक नहीं रहता। इसी विश्लेषण प्रक्रिया के आधार पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की बात करता है। अतः स्वतोव्याघातपूर्ण निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न प्रयोजनशील है और न प्रयोजनहीन है। अस्तित्ववादी कला मुखर होकर हमें कोई उपदेश नहीं देती है और न किसी आदर्श की ओर हमें उछालकर फेंकना चाहती है। इसलिए वह प्रयोजनशील नहीं है। इसी तरह अस्तित्ववादी कला प्रयोजनहीन भी नहीं है, क्योंकि वह हमें जीवन का 'समानान्तर यथार्थ' देती है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इसे सिद्धान्ततः मानता है कि कला (सही मानी में अस्तित्ववादी कला) हमारे सामने कोई नया 'प्रस्ताव' लेकर नहीं आती है। वह 'प्रस्ताव' करना जानती ही नहीं। वह सदैव हमारे यथातथ जीवन का समर्थन करती है। यानी कला की भूमिका एक समर्थक की भूमिका होती है। वह 'यथालब्ध' या यथावत्' जीवन का समर्थन छोड़कर जब 'प्रस्ताव' करती है, तब वह आचेष्टित प्रयोजनशीलता से ग्रस्त हो जाती है। इसका आशय यह निकला कि अस्तित्ववादी कला हमें आधुनिक जीवन की पूरी अर्थहीनता और असंगति को किसी हिचक के बिना स्वीकार करने के लिए कहती है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला का कोई पूर्वव्यवस्थित (प्रि-अरेंज्ड) प्रयोजन नहीं होता। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में सायास प्रयोजनशीलता नहीं भरी जाती। सायास प्रयोजनशीलता या अर्थहीन में अर्थ भरने की चेष्टा अनुभूतिशून्य दर्शनशास्त्र में होती है। अस्तित्ववादी कला में यदि घुणाक्षर न्याय से प्रयोजनशीलता रहती है, तो अयास प्रयोजनशीलता रहती है। प्रयोजनशीलता सायास हुई कि वह निरर्थक हो जाती है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की मान्यता है कि कला में कोई आचेष्टित प्रयोजनशीलता नहीं होनी चाहिए। रचना-क्रम में स्वतः कोई प्रयोजन समाविष्ट हो जाए अर्थात्, अयास प्रयोजनशीलता आ जाए तो दूसरी बात है। ऐसी अयास प्रयोजनशीलता सार्थक होती है और कला के शील को भ्रष्ट नहीं करती है।[31] शायद, इस मान्यता के मूल में अस्तित्ववादियों (विशेषकर नास्तिक अस्तित्ववादियों) के द्वारा प्रस्तावित 'नई नैतिकता' की धारणा है। अस्तित्ववादी दार्शनिक और कलाकार परम्परावादियों की तरह पुण्य से प्रेम और पाप से घृणा नहीं करते। ये हर सहज पाप में एक आधितात्त्विक अर्थ[32] ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं। इस तरह अस्तित्ववाद ने जिस उदार 'नई नैतिकता' का प्रवर्त्तन किया है, उसका सीधा प्रभाव कला की सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों पर है।

यह ध्यातव्य है कि अन्तर्जगत् के साथ अस्तित्ववादी कला का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कलानुभूति और आत्मनिष्ठा में अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। अन्तर्जगत् की स्वस्ति के बिना कोई भी कथ्य कलात्मक नहीं हो सकता। बाह्य जगत् के पदार्थ तभी कलावरेण्य हो पाते हैं, जब उनका प्रतिबिम्ब अन्तर्जगत् में उतर जाता है। यह अन्तर्जगत् व्यक्ति-विशिष्ट होता है। बाह्य गोचर जगत् सबके लिए एक है, किन्तु, प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्जगत् एक-दूसरे से भिन्न हुआ करता है। अतः अन्तर्जगत् से सम्बद्ध रहने के कारण प्रत्येक कला-कृति पर उसके स्रष्टा व्यक्तित्व की छाप रहती है। अर्थात्, कला वैयक्तिक होती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वैयक्तिकता से कलाकृति का सम्बन्ध अविच्छेद्य होता है। इसलिए सार्त्र ने बहुत ही निर्णयवादी स्वर में यह मान्यता व्यक्त की है कि प्रत्येक कलाकृति किसी-न-किसी 'व्यक्ति' की होती है। आशय यह है कि कलाकृति कलाकार के 'व्यक्तित्व' से सदैव जुड़ी रहती है। फलस्वरूप, वैयक्तिकता से संश्लिष्ट रहना कला की एक अनिवार्यता है।

प्रकट है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, अस्तित्ववादी दर्शन के अनुरूप 'व्यक्ति-सत्य' को विशेष महत्त्व देता है। यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का सत्य अलग-अलग हो सकता है—कुछ मानी में अपना हो सकता है। इसलिए अस्तित्व-वादी दर्शन वैयक्तिकता को स्वीकारता है और कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अनन्वय होता है—किसी भी व्यक्ति का सच्चा स्थानापन्न नहीं चुना जा सकता। इसलिए एक व्यक्ति के उठ जाने से जो रिक्तता पैदा होती है, वह अपूरणीय होती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववाद व्यक्ति-विशिष्ट सत्य को प्रचुर महत्त्व देता है और अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र वैयक्तिक जीवनानुभूतियों को कला का मूल उपादान मानता है। ये ही वैयक्तिक जीवनानुभूतियाँ व्यक्ति और जगत् के द्विविध वैचित्र्य को ढोती हैं। यह एक अचरज है कि पूरी ज़िन्दगी जीकर भी व्यक्ति अपने से और अपने को परिवृत्त करनेवाले जगत् से अपरिचित रह जाता है। न व्यक्ति दुनिया को जान पाता है और न दुनिया उसे जान पाती है। प्रत्येक व्यक्ति जीने के बहाने—कोई-न-कोई काम करते रहने के बहाने अपने को ठगता रहता है और इसी आत्म-वंचना के क्रम में एक दिन धोखे से चुक जाता है। इस तरह 'अकेलापन' व्यक्ति का एकमात्र साथी बन जाता है। तब व्यक्ति मात्र 'भोक्ता' ही नहीं रहता, वह अपने सारे भोगों का एकमात्र 'साक्षी' भी बन जाता है। एक ही व्यक्ति का 'भोक्ता' और अपने भोगों का एकमात्र 'साक्षी' होना—उसके अकेलेपन की चरम सीमा का प्रमाण है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र व्यक्ति और जगत् के उक्त 'परिचय-मुख-अपरिचय' की तल्ख-तुर्श अभिव्यक्ति को ललित कला का प्रच्छन्न प्रयोजन (सोद्देश्यता के अर्थ में नहीं) मानता है।

व्यक्ति-सत्य को विशेष महत्त्व देने का सहज परिणाम यह है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र एक ओर मनुष्य की बोध-शक्ति के अनुद्घाटित कोषों की खोज पर बल देता है और दूसरी ओर कला का विषय केवल उन वैयक्तिक अनुभूतियों को मानता है, जो बौद्धिक नियंत्रण से मुक्त होती हैं। ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' का अंकन कहा जाता है। किन्तु, आदर्शवादी और साम्यवादी विचारकों का यह संयुक्त आरोप है कि व्यक्ति-सत्य, बौद्धिक नियंत्रण-मुक्त वैयक्तिक अनुभूति या 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' के नाम पर अस्तित्ववादी साहित्य और कला में हम मनुष्य के अशुभ, निम्नग और आर्त्तरूप का ही चित्रण पाते हैं। अतः इनके विचार से अस्तित्ववादी दृष्टिकोण व्यापक और मूलतः नन्दतिक न होकर एकपक्षीय है। इस सन्दर्भ में यह लक्ष्य करने योग्य है कि अस्तित्ववाद के धार्मिक और आस्तिक रूप के प्रस्तोता विचारकों ने कला को 'साइफर'[33] कहा है और उसे अलौकिक शक्ति का संकेत-चिह्न तथा लोक-अलोक के बीच का 'इन्टर्मीडिएट किंगडम'[34] माना है। अतः इस कोटि के अस्तित्ववादी विचारक किसी कलाकार की सामर्थ्य का मूल्यांकन इस दृष्टि से करते हैं कि उसने अस्तित्व को कैसे संकेतों द्वारा व्यक्त किया है, उसने व्यक्ति की मूल वैयक्तिकता को किस प्रकार उरेहा है और उसने मनुष्य की सीमान्त दशाओं में कितनी गहराई से पैठने की कोशिश की है। किन्तु, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों की इस धारणा से भी अनेक प्रगतिशील विचारक असन्तुष्ट हैं और वे इसे समकालीन पूँजीवादी समाज की आध्यात्मिक अधोगति की प्रतिच्छाया मानते हैं।

भावना और बिम्ब के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का चिन्तन पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र से एकदम अलगा हुआ नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र भी यह मानता है कि भाव और बिम्ब के परस्पर घुल-मिल जाने से कला में अर्थ-वैमल्य की सिद्धि होती है। इस सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की इतनी-सी विशेष मान्यता है कि बिम्बों की ऊर्जा से कलाकार में अस्तित्व-धारणा की शक्ति प्रमाणित होती है। अस्तित्व की यह धारक शक्ति मनुष्य को खुलकर या निर्भीक होकर जगज्जीवन की सारी विडम्बनाओं और हिडिंबा विद्रूपताओं को—उबकाई और अश्लीलता को भोगते हुए जीने का साहस देती है। इस प्रकार, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न किसी सूक्ष्म आध्यात्मिक आवश्यकता से उत्थित होती है और न मनुष्य की अनिवार्य अपूर्णता का पूरक-मात्र हुआ करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वह तो केवल 'नॉस्टैल्जिक'[35] होती है—पीड़ा की आवृत्ति से युक्त होती है। पीड़ा की आवृत्ति से तरंगित रहने के कारण ही अस्तित्ववादी कला में मालीखूलिया या अवसाद की अतिरंजना रहती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र यहाँ तक कहता है कि कला में नन्दतिक सौन्दर्य के लिए ऐन्द्रिय सुखदता और आकर्षण का आधान नहीं, उदासी या अवसाद और करुण मनोवेदना (पेथॉस) के समावेश की आवश्यकता है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अवसन्न, कुत्सित और कुरूप को पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र की तुलना में नितान्त भिन्न दृष्टि से देखता है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ने कला और स्वप्न के सम्बन्धों पर किंचित् नवीन दृष्टि से विचार किया है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों का यह दृष्टिकोण फ्रायड के स्वप्न-विचार से कुछ भिन्न है। अस्तित्ववादियों ने कला और स्वतःस्फूर्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण के प्रसंग में ही कला तथा स्वप्न पर विचार किया है। इनके अनुसार स्वप्न-तंत्र और कला-तंत्र में अद्‌भुत समानता है। इसीलिए स्वप्न-चेतना और नन्दतिक चेतना में भी पारस्परिक समानता है। कला और स्वप्न-सम्बन्धों के सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह विशेषता है कि उसने स्वप्नों पर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार नहीं किया है। उसका स्वप्न-विश्लेषण मुख्यतः 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' है।[36] सार्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'द साइकॅलॉजि ऑव इमैजिनेशन' में हम इसी 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' दृष्टिकोण का उपयोग स्वप्न और कला-बिम्बों के विश्लेषण में पाते हैं। जिस तरह कला की सार्थकता अस्तित्व की गहराइयों में डूबी हुई अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में है, उसी तरह स्वप्नों का काम अचेतन की अतुल गहराइयों में दबी या छिपी हुई वासनाओं को छद्मवेष में अभिव्यक्त करना है। अन्तर यह है कि स्वप्न-चेतना व्यावहारिक अर्थ में जहाँ कल्पना-विलास मात्र होती है, वहाँ नन्दतिक चेतना से नये-नये जीवन-मूल्यों का आविर्भाव होता है। यह अन्तर स्वप्न और क़ला के फलितार्थ का अन्तर है, स्वप्न-वस्तु और कला-वस्तु का तात्त्विक अन्तर नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेक खूबियों के रहने पर भी अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की अनेक सीमाएँ हैं। इसकी पहली सीमा यह है कि इसमें अनेक विसंगतियाँ और विरोधाभास हैं। कई विरोधाभास और विसंगतियाँ तो एकदम अनावश्यक हैं। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि आस्तिक-नास्तिक, जर्मन-फ्रेंच, पुराने-नये—कई प्रकार के अस्तित्ववादियों ने अस्तित्ववादी दर्शन को एक ऐसा वाद्य-वृन्द (आर्केस्ट्रा) बना दिया है, जिसमें समभंग और विसंवादी स्वरों की कमी नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को 'विचित्र'-वीणा बनाने का गौण कारण यह है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों ने अपनी मान्यताओं के निरूपण में स्वरचित विशिष्ट शब्दावली (जार्गन) की क्रीड़ा दिखलाई है। जैसे, सार्त्र ने साहित्य और कला की विवेचना के प्रसंग में 'प्लेजर' शब्द का तिरस्कार करते हुए सौन्दर्यानुभूति से प्राप्त प्रसादन को 'इस्थेटिक जॉइ'[37] कहना पसन्द किया है।[38] सार्त्र के अनुसार 'प्लेजर' 'सुख' का वाचक है, जिसके द्वारा की गई सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या अपूर्ण रह जाएगी। इसलिए सार्त्र ने 'जॉइ' की व्याख्या अपने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार की है। इसी तरह हाइडेगर की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं में भी शब्द-क्रीड़ा मिलती है, जिसके फलस्वरूप हाइडेगर द्वारा प्रतिपादित कला-सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्रीय कम, दार्शनिक या आधितात्त्विक अधिक है। हाइडेगर का कहना है कि 'बीइंग'[39] विद्यमान यथार्थ[40] से एकदम पृथक् है। 'बीइंग' तथा विद्यमान यथार्थ के इसी तात्त्विक पार्थक्य[41] को हाइडेगर 'कला-कृतियों के सृजन का मूल'[42] मानता है। हाइडेगर का झुकाव कला के रूप-विधान को 'गेस्टाल्ट' मानने की ओर है। इनका कहना है कि कला-जगत् में जिसे अस्तित्व मिल जाता है, वह वस्तु-जगत् की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सच्चा हो जाता है। एक ओर सार्त्र ने 'एसेज़ इन इस्थेटिक्स' में ललित कलाओं के बीच कविता के पारम्परिक आभिजात्य को प्रश्नास्पद दृष्टि से देखा है और दूसरी ओर हाइडेगर ने अन्य कलाओं की अपेक्षा कविता की श्रेष्ठता को युक्तिपूर्वक स्थापित किया है। हाइडेगर का कथन है कि सत्य का आकलन या उद्‌घाटन कला का आधार है। सत्य का यह उद्‌घाटन, आकलन या निबन्धन सबसे अधिक अच्छी तरह 'भाषा'[43] के माध्यम से होता है और कविता ही भाषा का मूल (ऑरिजिन) है। इसलिए इन्होंने कविता को कला का सार[44] कहा है। इतना ही नहीं, इन्होंने यह भी कहा है कि कविता का सार ही सत्य का आधार[45] है। इस तरह कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कला का सार कहना और कविता के सार को सत्य का आधार मानना कविता के प्रति हाइडेगर के अत्युच्च समादर का द्योतक है। शायद, इसीलिए कई विचारकों ने हाइडेगर का आदर्श 'फिलॉसफर-पोयेट' को माना है।

परम्परावादियों के अनुसार भी अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे बड़ी सीमा उसमें न्यस्त विरोधाभास है। कारण, एक ओर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र निष्कलुष तथा अनाविल कला-चेतना को मूलतः अप्रतिबद्ध मानता है और दूसरी ओर वह उत्कृष्ट कला को प्रत्येक ईमानदार या जायज प्रतिबद्धता के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध मानता है। यह दूसरी बात है कि इस प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धता के पचड़े से परे तटस्थ विचारकों को यह तथ्य साफ मालूम पड़ता है कि अस्तित्ववादी कला जगत्-जीवन की निरर्थकता, शून्यता, उबकाई, घिनौनेपन और कुत्सा को व्यक्त करना चाहती है। कामू की कृतियाँ इसे सर्वाधिक सशक्त रूप में उदाहृत करती हैं। अस्तित्ववादी कला की इस मुख्य प्रवृत्ति पर भी आदर्शवादी और उग्र आशावादी विचारक झुंझलाते हैं। किन्तु, मेरी दृष्टि में यह झुंझलाहट पूर्णतः सार्थक नहीं है। कारण, आज हमारे जीवन ने, वस्तुतः अर्थहीन प्रतीक्षा, अनावश्यक स्थगन और बाह्यारोपित निलम्बन का रूप धारण कर लिया है। अतः अस्तित्ववादी कला यदि आधुनिक जीवन के इसी विद्रूप का प्रतिबिम्बन और प्रतिरूपीकरण अपना कार्य-विशेष[४६] मानती है, तो इसमें अनुचित क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि अस्तित्ववादी कला जीवन के कटु-तिक्त यथार्थ को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित कर जगत्-जीवन की निरर्थकता से ग्रस्त मानव-मन को 'निर्भीक निराशावादिता[४७] से तरंगित करना चाहती है। इसलिए अस्तित्ववादी कला हमारे जीवन को अकृत्रिम रूप में हमारे सामने रखती है और हमें अपनी नंगी जिन्दगी को रू-ब-रू देखने का साहस देती है। सचमुच, अस्तित्ववादी कलाकार पराजय, उन्माद, जुगुप्सा, मृत्यु इत्यादि को चित्रित कर ही अपनी 'अनुभूतियों का त्योहार' मनाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि अस्तित्ववादी कला जीवन में, जो वस्तुतः निरर्थक और अर्थहीन है, वैसा कोई बाह्यारोपित अर्थ नहीं भरना चाहती है, जैसा कि अब तक कला पारम्परिक दर्शन का सहारा लेकर करती रही है। सच पूछा जाए तो अब तक दर्शन और कला ने जीवन में जबर्दस्ती अर्थ भरते रहने की बेशुमार कोशिश की है। लेकिन अर्थशून्य जीवन में अर्थ भरा जाए, तो कैसे? बलात् ढाला गया अर्थ सछिद्र जीवन में ठहरे, तो कैसे? इसलिए इस वस्तुतः निरर्थक जीवन में बाह्यारोपित सार्थकता भरने का प्रयास व्यर्थ है। फलस्वरूप, परिवेश की दुर्गति से ऊबे हुए अस्तित्ववादी कलाकार ने अस्तित्व की करुणा तथा 'अनाहत' पीड़ा की आवृत्ति को जिस तीव्रता के साथ भोगा और अभिव्यक्त किया है, वह अभूतपूर्व है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववादी कला में जगत् के दुख-दैन्य (वेल्ट्शमर्त्स)[४८] का ही विशेष अंकन किया गया है और उसमें हमें मनुष्य के 'प्रसन्न' मुख की नहीं, 'ग्लपित' मुख की ही झाँकी मिला करती है। सम्भवतः इसी कारण अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि अस्तित्व कलाकार या सौन्दर्यशास्त्री जिस मूर्त्त जीव-जगत्[४९] की चर्चा करते हैं, वह वस्तु-सत्य नहीं, एक दार्शनिक पूर्वधारणा है।

आलोचकों की दृष्टि में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे बड़ी खामी उसकी खाँटी आत्मनिष्ठता है। कारण, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं को केवल 'ह्यू मैन इन्टिअरर'[५०] में भटकना चाहता है। इसीलिए प्रगतिशील विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र और जीवन-दर्शन को एक कल्पित विश्व-बोध पर निर्भर आधुनिक दर्शन की अविवेकी चिन्ताधारा कहते हैं। इनके अनुसार अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला और जीवन-दर्शन के धरातल पर वर्तमान पूँजीवादी समाज के दैन्य तथा प्रतिवादों का समाधान ढूँढ़ने में असमर्थ है। इस तरह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, इनकी विचार-दृष्टि में, पूँजीवादी समाज के अनिवार्य दूषण-त्रास, असन्तोष, निराशा, नैतिक पक्षाघात, अखलाक़ी गिरावट इत्यादि से आविर्भूत तथा समकालीन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की प्रगति-चेतना से पराङ्मुख (परवर्त्ती सार्त्र की कुछ बातें इसका अपवाद हैं) एक निष्क्रिय चिन्ताधारा है। कुल मिलाकर लोकमंगल और सामाजिकता में विश्वास रखनेवाले उग्र वस्तुनिष्ठ विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को अतिवैयक्तिकतावाद का दर्शन मानकर उसे अग्राह्य (निषिद्ध!) घोषित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. कामू ने अपने 'Absurd' सम्बन्धी विभावन को 'सिसिफ़स' के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है। द्रष्टव्य 'द मिथ ऑफ़ सिसिफ़स'।

२. Bifindlichkeit.

३. Transcendence.

४. Hope.

५. Nausea.

६. जैसे—'सत्त्व' (Essence) की तुलना में 'अस्तित्व' की प्राथमिकता, 'Augst' इत्यादि।

७. द्रष्टव्य : Coleridge as critic, Herbert Read, Faber & Faber, London, 1949, pages 29, 32, 36.

८. Ontology.

९. Cleavages of existence.

१०. Lebenswelt : life–world.

११. 'The First Sphere'.

१२. 'Existence-spheres'.

१३. मतलब यह कि कीर्कगार्ड के अनुसार यह 'इस्थेटिक्स स्फ़िअर' ही 'फ़र्स्ट स्फ़िअर' है। शायद इसीलिए ए० जी० जार्ज ने कीर्कगार्ड के सौन्दर्यशास्त्र पर लिखित अपनी पुस्तक का नाम 'The First Sphere' रखा है। द्रष्टव्य : The First Sphere by A. G. George, Asia Publishing House, Bombay, 1965.

१४. Being.

१५. Becoming.

१६. कारण, सार्त्र के उपन्यासों की विशेषता उनके 'Situational Characters' में है, जब कि पुराने उपन्यासों की खूबी केवल उनके 'reflexive method' तक सीमित रहती थी।

१७. Les Temps Medomes.

१८. उक्त पुस्तक में सार्त्र ने जिन कलाकृतियों को उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है, उनके शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं—'Self portrait' by Tintoretto, 'The dog' by Alberto Giacometti, 'Mobile' by Alexander Calder and 'the Rioters' by Robert Laponjade.

१९. Essays in Aesthetics, Sartre, New York, 1966, p.p. 50-51.

२०. "Beauty seems indestructible; its sacred image protects us; so long as we have it in our presence, no catastrophe will occur." —Sartre, Essays in Aesthetics, New York, 1966, page 72.

२१. Alberto Giacometti (1901-1966).

२२. 'Institutionalized man.'

23. 'Subjective spontaniety'.

24. Tragic reality.

25. 'Life in the world'.

26. "The Real is never beautiful. Beauty is a value applicable only to the imaginary". Sartre, The Psychology of Imagination, translated by Bernard Frechtman, Washington Square Press, 1966, page 252.

27. The Philosophy of Jean-Paul Sartre, edited and introduced by Robert Denoon Cumming, The Modern Library, New York, 1966, page 93.

28. Aesthetic factum.

29. Still life.

30. इस प्रसंग में Gabriel Marcel का यह कथन विचारणीय है—"Our appreciations of a work of art are always·········affected by the 'climate of the age', they reflect the unconscious general assumptions which we spare with our contemporaries during some given period in history; the historically conditioned attitude is something which, for all of us, is quite inescapable; and perhaps we can not even imagine, without tangling ourselves in contradictions, a dehistoricized attitude in the name of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

which completely objective judgments, judgments quite untainted by the local, the temporal, the personal, and in a word quite free from relativity, could be made about works of art, literature and philosophy."

—The Mystery of Being

३१. द्रष्टव्य : 'The Existential Basis of Contextual Criticism', collected in 'The Play and Place Criticism', Murray Krieger, Baltimore, 1967.

३२. Metaphysical meaning.

३३. Cipher.

३४. Intermedite Kingdom.

३५. 'Nostalgia' में पीड़ा और प्रत्यावर्त्तन की अनिवार्य स्थिति रहती है। यह शब्द ही 'Nostos' और 'Algos' के मेल से बना है, जिनका प्रयोग क्रमशः 'Return' और 'Pain' के अर्थ में होता है।

३६. A. B. Fallico, Art and Existentialism, Prentice Hall, INC, 1962, page 33.

३७. Aesthetic joy.

३८. Sartre, What is Literature, translated by Bernard Frechtman, Methum & Co, London, 1950, page 41.

३९. Das Sein.

४०. Das Seinde.

४१. Ontological difference.

४२. Der Ursprung des Kunstwerks.

४३. 'Dic Sprache', collected in 'Unterwegr zur Sprache', by Heidegger, १९५९। इस पुस्तक में 'Die Sprache' पहला निबन्ध है, जिसके अन्तर्गत हाइडेगर ने कविता की भाषा पर विस्तृत विचार किया है। 'शुद्ध' भाषा के संबंध में हाइडेगर का एक प्रसिद्ध सूत्र है—'Die Sprache sprieht als das Gelant der Stille'—Langnage speaks as the sound of silence.

४४. 'the essence of Art is Poetry'.

४५. Stiftung.

४६. Factum.

४७. Courageous pessimism.

४८. Weltschmerz.

४९. Lebenswelt.

५०. Human interior.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की कविता : कुछ मौलिक सवाल

रामदेव आचार्य

आज की कविता पर दुर्बोधता तथा व्यक्तित्वहीनता का आरोप लगाया जाता है। व्यक्तित्वहीनता रचना की वह स्थिति है, जब रचना से रचनाकार के स्वतंत्र व्यक्तित्व का आभास नहीं मिले। ऐसी रचना, बोझिल, अनुकरणात्मक तथा शुष्क होती है। समयानुकूल मुहावरों में जड़ी अनुभूति-शून्य कविता अपनी संवेदनशील प्रेषणीयता से विरक्त होकर व्यक्तित्वहीन हो जाती है तथा वह एक-स्वरूप और एक-लय का जड़ स्वाद देने लगती है। ऐसी स्थिति में उस पर दृष्टिहीनता तथा व्यक्तित्वहीनता के आरोप लगते हैं।

आज की कविता पर ऐसे एतराज़ों को समझना ज़रूरी है। नयेपन के अन्वेषण में जो कविता जीवन से दूर रहकर चमत्कारों को तलाशती है, वह वस्तुतः काव्यात्मा से दूर है। रचना-प्रक्रिया यदि फ़ैशन बन जाती है तो उसे कोई भी ओढ़ सकता है, लेकिन जब रचना रचना रहती है तो वह रचनाकार की निधि बन जाती है। रचना ही स्रष्टा की कृति है, सृष्टि का आनन्द है। फ़ैशन अनुकरण का प्रतिफल है। स्रष्टा जीवन-यथार्थ को दैहिक या मानसिक स्तर पर भोगकर उसे अनुभूति बना लेता है और इस अनुभूति को काव्य-संवेदना के साथ सम्प्रेषित कर देता है। रचनात्मक क्षमता इसी का नाम है। फ़ैशन में नक़ल की प्रधानता होती है, अतः रचनात्मक क्षमता की वहाँ आवश्यकता ही नहीं होती। आज की अनेक कविताओं में यह फ़ैशननुमा जड़ता इस कदर समाहित हो रही है कि अनेक कविताएँ एक ही कवि की एक ही केन्द्र पर आवृत्तियों का अहसास बनती जा रही हैं। अनेक कवियों की अनेक कविताएँ जब एक ही कवि द्वारा किये गए सृजन का भ्रम पैदा करें तो उन्हें कृतियाँ न कहकर अनुकृतियाँ या आवृत्तियाँ कहना अधिक युक्ति-संगत लगता है।

ऐसी कृतियों में मौलिकता की तलाश एक व्यर्थ की शोध होगी। रचना तो सबसे अलग, विलक्षण होती है, उसकी विलक्षणता स्वतः ही पहचान में आती है। आज की अधिकतर कविताएँ पढ़ें तो लगेगा कि एक आकारहीन घिसा सिक्का हथेलियों में बन्द हो गया है और खोटे सिक्के को प्राप्त करने का पश्चात्ताप भावक पर आच्छादित हो गया है। सच्ची व जागरूक कविता भी लिखी जा रही है, पर उनकी संख्या इतनी नगण्य है कि वह बासी आवृत्तियों की भीड़ में लुप्त हो रही है। पोषण न मिलने से पौधे का सूख जाना आश्चर्यजनक नहीं होता। आधुनिकता के शोर-गुल में खरी कृतियाँ खो रही हैं, क्योंकि उनके साथ तथाकथित आधुनिकता के विज्ञापन नहीं होते। रंग-बिरंगे विज्ञापनों वाली कविता की स्थापना हो रही है और विज्ञापन-हीन परिवेश के दंश की ईमानदार प्रस्तुति भी ध्यान आकर्षित करने में असमर्थ सिद्ध हो रही है।

आज कविता के नाम पर स्थान-स्थान पर शिविर-बन्दी है। एक शिविर के कवि दूसरे शिविर के कवियों को परशुराम की भंगिमा या ठण्डी उपेक्षा से नकारते हैं। अपने शिविर के कवियों को छोड़कर शेष कवियों को वे क्षुद्र प्राणी समझते हैं। इस साहित्यिक लामेबन्दी में अकेली आवाज़ अस्त हो जाती है, क्योंकि उसमें आत्म-निर्भरता का दम्भ रहता है। आत्म-गरिमा की सज़ा भी उसे ही भोगनी पड़ती है। मतलब यह है कि शिविरबन्दी के इस युग में सच्ची काव्यात्मा को प्रश्रय नहीं दिया जा रहा है तथा पक्ष-विपक्ष के हिसाब से नकली काव्य-स्थितियों की स्थापना की जा रही है। यह एक दुःखद तथ्य है। आलोचनात्मक गद्य इतना हावी हो रहा है कि इसमें नक़ली कविता की वकालत इतने सबल तरीके से की जा सकती है कि उसे असली कविता की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। गद्य का चमत्कार इस बात में भी है कि कुछ खेमेधारी अग्रज कविता को भी गद्य के स्तर तक खींच लाने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दावा कर रहे हैं। इस दावे के परिणामस्वरूप ही इस दौर की अधिकतर कविताएँ शुष्क, नीरस, वक्तव्यपूर्ण तथा बौद्धिक गद्यात्मक कविताएँ हो गई हैं, जिन्हें सुविधा व स्नेह-दान के लिए ही कविताएँ कहा जा सकता है। इन रचनाओं की छोटी-बड़ी पंक्तियाँ तथा इनकी काव्य-भाषा एक प्रकार की काव्य-मनःस्थिति का भ्रम पैदा करती है, हक़ीक़त में ये रचनाएँ चालू मुहावरों में ढली हुई व्यक्तित्वहीन अनुकृतियाँ हैं।

●

रचना के क्षेत्र में इन दिनों दो तरह के बोध बहुत खतरनाक सिद्ध हुए हैं—नगर-बोध और मृत्यु-बोध; इन दोनों के साथ-साथ कभी-कभी एक और बोध भी जुड़ जाता है—सेक्स-बोध। इन सभी बोधों का केवल एक इलाज है, जिसका नाम है आत्मबोध। कवि अपने स्वत्व से साक्षात्कार करे तो आत्म-ज्ञान के क्षणों में वह सोचेगा कि जिस नगरीय परिवेश को या मृत्युमुखी आस्था को या देहवादी जुगुप्सा को वह आँक रहा है, उसकी हज़ारों आवृत्तियाँ तो पहले इन दो-चार वर्षों में हो चुकी हैं; अब उस बासी संवेदना को शब्दों के सिक्के बदल-बदलकर चलाना आत्म-वंचना या स्वयं का दुहराव नहीं है तो क्या है? व्यक्ति को इतनी बार 'बौना' और 'नगण्य' घोषित किया जा चुका है कि अब 'बौना' व 'नगण्य' जैसे शब्द अपने अर्थ में ही बौने व नगण्य बन चुके हैं। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ स्थान-स्थान पर कविताएँ, कहानियाँ व उपन्यास बिखरे पड़े हैं—लोगों की करोड़ों तरह की ज़िन्दगियाँ कविताएँ भी हैं, कहानियाँ भी और उपन्यास भी—ऐसी भारतीय ज़िन्दगी को केवल नगर, मृत्यु और सेक्स की धुरी पर केन्द्रित कर देना सच्ची धुरीहीनता है। यह समझ-हीन दार्शनिकता ही आज की कविता की सच्ची गद्यात्मकता है, जिसमें न सही चिन्तन है, न आत्मानुभूति।

'ज्ञानोदय' के अप्रैल, १९६८ के अंक में चिली की कवयित्री गैब्रेला मिस्ट्राल की 'मातृत्व की छह अनुभूतियाँ' पढ़ीं तो लगा कि व्यक्ति की सच्ची प्रतिमा और नक़ली मिट्टी की मूर्ति में अन्तर कहाँ है! चिली की ये कविताएँ नारी के भाव-जगत् की खरी, सहज-ग्राह्य व संवेदनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। जब अनुवाद में ही इतनी क्षमता है तो मूल की कल्पना की जा सकती है। नारी के मनोभाव अनुभूति की इतनी गहनता से प्रस्फुटित हुए हैं कि वे सार्वजनीन और सार्वकालिक हो गए हैं। इनकी तुलना में यह सोचकर दुःख होता है कि इस देश का कवि कविता की प्रकृति को लाँघकर उसे आडम्बर बनाने के चक्रव्यूह में क्यों फँसता जा रहा है!

इस सारी प्रस्तावना से मेरा यह अर्थ नहीं है कि हमारे यहाँ सच्ची कविता विलुप्त हो गई है या हो रही है। वह दिखती है—मेघाच्छन्न आकाश से फूटती एक आलोक-किरण की तरह। धूमिल की 'पटकथा' (आलोचना, जनवरी-मार्च, १९६८) अपने सम्पूर्ण विस्तार में सुखद यात्रा है, जो वर्तमान भारत की कुरूपता, छविहीनता, राजनीतिक आधारहीनता को आक्रोशपूर्ण वाणी में ईमानदारी से चित्रित करती है। ऐसी ही चन्द और कविताएँ जो यदा-कदा देखने को मिलती हैं, इतना विश्वास सौंपती हैं कि गद्य के नीरस रेगिस्तान में भटक-भटककर कविता अभी भी मरी नहीं है। यह स्पष्ट है कि उसकी व्याधि-ग्रस्तता किसी कुशल चिकित्सक की प्रतीक्षा में है।

●

हर युग में लेखकों की एक पौध पनपती है। इस पौध में पनपे लेखक अपने इर्द-गिर्द एक व्यामोह का किला बना लेते हैं तथा इस किले में स्वयं को सुरक्षित समझते हैं। अंग्रेज़ी के अठारहवीं सदी के लेखकों ने अपने चारों ओर एक स्वप्निल व ऐन्द्रजालिक जाला बुन लिया था। इन लेखकों ने कीर्ति-शिखर पर आरूढ़ विश्व-कवियों की पंक्ति में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लिया था। इस महत्त्वाकांक्षी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तात्कालिक आलोचना उनकी सहायक थी। आत्म-रति-लीन ये लेखक अपने युग को स्वर्ण-युग समझने के आडम्बर में मस्त रहे तथा मीठे भ्रमों के शिकार रहे। परवर्ती आलोचना की स्याही ने उनके स्वप्निल कुहरे को भेद दिया तथा उन्हें उनकी सीमाओं के धरातल पर खड़ा कर दिया। इस पूरे युग को 'गद्य व तर्क का युग' घोषित किया गया। इतिहास का यह पुनर्मूल्यांकन हमारे सामने एक संकेत के रूप में खड़ा है। कहीं हमने अपने-आपको किसी मोह के चक्रव्यूह में क़ैद तो नहीं कर लिया है! कहीं हमारे चारों ओर सपनों का कोई इन्द्रधनुष तो नहीं खिंच आया है! जिन नये धरातलों की तलाश कर हम अपनी लेखनी की सक्षमता पर गौरवान्वित हो रहे हैं, कहीं वे धरातल उलझन-भरे, प्रबुद्ध दिखने वाले पद्य बनने का नाटक करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले तो नहीं हैं।

हमारी उपलब्धियों की माला-जपती-समीक्षा ने हमें कविता में नये वातायन खोलने का गौरव दिया है, राजनीतिक टकराव को साधारण व्यक्ति की दृष्टि से देखने का श्रेय दिया है, तथा लघु मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करने की महत्ता दी है। इन सन्दर्भों में यह सोचना है कि अपनी सहजता-साधारणता-लघुता के वातावरण में कहीं हमारी कविता अतिवादी नाटकीयता तो नहीं बन रही है! सही अभिव्यक्ति को नकली अभिव्यक्ति से अलग देखने की ज़रूरत पहले है तथा उपलब्धियों की सूची बनाने का कार्य बाद में सम्पन्न किया जा सकता है।

•

इन सब तर्कों के सन्दर्भ में काव्यात्मा को परिभाषित कर लेना लाभदायक होगा। सच्ची कविता भावक से बरबस एक प्रतिक्रिया खींचती है, यही कविता की भेदन-शक्ति है। कविता का आस्वाद पाठक के अभिभूत होने में है। भावाभिभूत होने का अर्थ है पाठक के मन में एक भाव-तरंग का पैदा होना। यह भाव-तरंग रचनाकार की निजी भाव-तरंग को सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने से उत्पन्न होती है और इस तरंग की मौलिक आकृति रचनाकार की वह तरंग रही है, जो उसने सृजन-प्रक्रिया के क्षणों में अपने में अनुभव की थी। कवि का सत्य ऐसे क्षण में पाठक का सत्य बन जाता है तथा यों काव्यात्मा का स्थानान्तर हो जाता है। कवि की इस भावानुभूति के निर्यात को ही हम पाठक की रसानुभूति कह सकते हैं। कवि के मानस का इन्द्र-धनुष पाठक के मानस का इन्द्र-धनुष बन जाता है। काव्यात्मा के इस स्थानान्तर को वहन करती है काव्य-संवेदना, जो कवि के बिम्ब को पाठक का बिम्ब बनाने की सामर्थ्य रखती है। काव्यात्मा से भावानुभूति के इस निर्यात की कमज़ोरी कविता को बौद्धिक गद्य बनाकर छोड़ देती है। हम यों कह सकते हैं—काव्य-संवेदना से रिक्त कविता केवल काव्य-स्थिति है, उसमें काव्यात्मा नहीं है। काव्यात्मा अनुभूति के रागात्मक सम्प्रेषण में है, काव्य-स्थिति में रागानुभूति का अभाव होता है। काव्य-स्थिति केवल बौद्धिक चिंतन की काव्य दिखनेवाली-सी स्थिति है, जो शुष्कता का वातावरण पैदा करती है। इस प्रकार की कविता कविता के नाम पर चिन्तन की उलझन का निर्यात करती है। आज की अधिकतर कविताएँ चिंतन की इस उलझन के चक्कर में लड़खड़ा रही हैं। उनमें काव्य-संवेदना का नितान्त अभाव है। ऐसी कविताएँ कुछ चमकदार वक्तव्यों के सहारे ही कविताएँ बने रहने की नाटकीयता निभा सकती हैं तथा पाठकों के गले 'उपलब्धियों' की उपाधियों के साथ उतारी जा सकती हैं।

काव्य-संवेदना से मेरा अभिप्राय किसी भी प्रकार की संस्कार-बद्ध, छायावादी, रूमानी-रेशमी, अभिजात-वर्गीय भावुकता से नहीं है। मेरे चेतन या अचेतन में ऐसी किसी भी काव्यात्मा की आधुनिक तस्वीर नहीं है। मैं नयी कविता और परवर्ती कविता के सन्दर्भ में काव्य-संवेदना के औचित्य की बात कहता हूँ। अज्ञेय की भाषा का रूप-विन्यास छायावादी काव्य-भाषा-सा ही है, यद्यपि कथ्य व शिल्प की दृष्टि से उन्होंने राह के अन्वेषी बनने का श्रम किया था। छायावादी काव्य की सुकुमारता व भाव-प्रवणता आज कल्पनातीत है। रूमानियत की जो सृष्टि नीरज, भारती तथा गिरिजाकुमार माथुर ने एक समय की थी, वह भी आज की जीवन-प्रतीति से दूर है। भाषा व भाव की कमनीय रूप-सज्जा, शब्दों का रस-सिक्त अलंकरण आज के जीवित यथार्थ को अभिव्यक्ति देने में सुयोग्य नहीं है। आज की कविता वे कवि ही लिख रहे हैं, जिन्होंने भाषा व भाव की रंगीनी को शासित किया है तथा जो कविता को ज़िन्दगी के करीब-से-करीब खींचने में प्रयत्नशील हैं। हमारे जीवन की पेचीदगी तथा तनाव को ढोने में किसी भी प्रकार की सुकुमारता या रस-सिक्तता अनुकूल नहीं लगती। इस सबके बावजूद मेरा विचार है कि कविता को उसके लक्ष्य तक ढोने वाली वस्तु काव्य-संवेदना होती है, जो कविता को कविता बनाये रखने के लिए ज़रूरी है। इस काव्य-संवेदना से विरक्त कविता महज़ अभिनय है, ढोंग है, नाटक है। जो शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना सर्वेश्वर, नईम, कैलाश वाजपेयी, कीर्ति चौधरी, विजयदेव नारायण साही अदि की कविताओं में है, कविता से यदि उसका निष्कासन कर दिया गया तो कविता में क्या बचेगा? कविता के नाम पर बोझिल, ऊटपटांग तथा शुष्क गद्य लिखा जाना एक पथ-भ्रष्ट स्थिति लगती है। काव्य राजनीति को घसीटने से ही सिद्धि नहीं पा लेगा, न वह प्रबुद्धता के नाम से चलाया जा सकेगा। कविता में काव्य-संवेदना ही काव्यात्मा का निर्माण करती है और इस काव्य-संवेदना की रिक्तता का अर्थ है कविता की इति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गद्य का जन्म।

इस बिन्दु पर पहुँचते ही कविता और गद्य के बीच सीमा-रेखा खींचना नितांत आवश्यक हो जाता है। कुछ लोग गद्य की भाषा व कविता की भाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं देखते, यह एक भ्रम की स्थिति है। कविता के शब्द जिस फ्रेम में फिट होते हैं, उसमें गद्य के शब्द अजनबी लगते हैं। पद्य व गद्य की मूल संवेदनाओं में मौलिक अन्तर है। कविता में शब्द **चिंतन तथा भावना के सम्मिश्रण** का कार्य करते हैं (फ़्यूज़न ऑव इन्टलेक्ट एण्ड इमोशन : टी० एस० एलियट), जबकि गद्य में भावना की परिधि एकदम संकुचित होती है। गद्य एक प्रकार की तार्किक बौद्धिकता की सृष्टि करता है। कविता की भावुकता प्रलाप न बने, अतः उस पर चिंतन का अंकुश लगा रहना चाहिए, लेकिन यह भी एकदम स्पष्ट होना चाहिए कि कविता कोरी बुद्धि नहीं है। कविता न छन्द में होती है, न लय में; अब कविता न शब्दालंकरण में है, न रस-सिक्त रूमानियत में। कविता का सच्चा निकष है शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना (पोइटिक सेन्सिबिलिटि) तथा आधुनिक ज़िन्दगी के करीब से ली गई काव्य-भाषा, जो कथ्य को काव्यमय बना सके। ज़िन्दगी के करीब से ली गई भाषा को गद्य की भाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कविता की भाषा गद्य की भाषा से अधिक कोमल व परिमार्जित होती है।

शब्द और शब्दों के अर्थ कविता को जन्म देते हैं। अर्थ-हीन संगीतमय शब्द केवल सतही जमघट बनकर साधारण संगीत-प्रधान काव्य-स्थिति पैदा करते हैं, शब्दों के बिम्बात्मक अर्थों में व्यंजित ध्वन्यात्मकता सच्ची काव्यात्मा की जननी होती है। शब्दों के अभिधात्मक प्रयोगों से सीधी-सपाट ध्वनि उत्पन्न की जाती है, वह ध्वनि कविता का बाह्य देहालंकरण करती है। पंतजी का 'नौका विहार' या मैथिलीशरण गुप्त की अनेक कविताएँ शब्दों के अलौकिक संगम बनकर रह गई हैं। शब्दों की सपाट संगति से भाषा का तिलिस्म उभरता है, काव्य-संवेदना का खरापन नहीं उभरता।

आज 'मन-कमल' 'घन-अलक-जाल' 'शशि-वदन' वाली नज़ाकत बेमानी लगती है। यह काव्य-सूरज एक युग में तप-कर, दहककर अस्त हो गया है। इस तथ्य के बावजूद लगता है कि कविता में भावाभिभूत करने की क्षमता का विद्यमान रहना उसे पद्य बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें काव्य-संवेदना को सही काव्य-भाषा ढो रही है, परिणामतः काव्यात्मा की निर्मिति हुई है—

इन तमाम
शव-भोगी लोगों के बीच
ओ! मेरे मरे हुए देश
आँसू आ जाते हैं सोचकर,
कल सुबह तेरी लाश तक
पहिचानी न जायेगी।

—कैलाश वाजपेयी

मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने-आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता—
सिर्फ पूँछ होने की मजबूरी नहीं है।

—धूमिल

यहाँ ऊँची-ऊँची इमारतें
आश्रय के लिए नहीं,
आत्म-भोग के लिए हैं;
उन्हें पीठ पर लादकर रेंगता हूँ,
समय एक विशाल पहिए-सा
लुढ़कता हुआ आता है
और मुझे किसी ढाल पर
कुचला हुआ छोड़कर
आगे निकल जाता है।

—सर्वेश्वर

इन उदाहरणों की भावना शासित-अनुशासित है। इस काव्य-संवेदना से कविता को वियुक्त करना कविता की ही इति है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें आधुनिकता के मोह में नक़ली काव्य-स्थितियों को उठाया गया है। नये मुहावरे की तलाश तथा जीवन की साधारणता से सम्पृक्ति प्राप्त करने की लालसा ने उन्हें शुष्क व बोझिल गद्य बना दिया है—

लगातार छत्तीस सौ पचास दिन
एक नदी-भरा तरबूज फाँक करके
कई सह्याद्रि, एल्पस, विन्ध्यारावलियाँ
हँफती हुई टापू से छू सपाट करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगातार मैंने दाँतदार चक्कर घुमाया...

—कैलाश वाजपेयी

सड़क है सामने न लेटी है न बैठी
उठाकर मोड़ दूँ हण्टर की तरह आसमान
की पीठ पर सड़ाक से फटकार दूँ
खयाल में......

—श्याम परमार

यही सोचते हुए गुज़र रहा हूँ मैं कि गुज़र गई
बगल से
गोली दनाक से।
राहज़नी है या क्रान्ति? जो भी हो, मुझको
गुज़रना ही रहा है
शेष।

—श्रीकान्त वर्मा

थोड़ी-सी देर को लगता है सही
टोपियों का रखरखाव
जब तक कमरे में कोई बोले नहीं।
जैसे ही मैंने कहा देश मेरा भी है यह
बाजा बैताल हो गया मैं अकेला
टोपियाँ समेटकर ले गए दीनानाथ
रह गए फूलदान और कुछ मसौदे
और अभी तक तो है मेरी नौकरी

—रघुवीर सहाय

कविता में काव्य-संवेदना काम सूत्रात्मक, नगण्यता-बोधक अकविताओं में भी प्राप्त होती है, विशेषकर जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं में—(द्रष्टव्य : 'विजप') जबकि इसी संग्रह में श्याम परमार की कविताएँ नुस्खेबाज़ी तथा गंगाप्रसाद विमल की कविताएँ ओढ़ी हुई मनःस्थितियों से लदी पड़ी हैं। ऐसी कविताएँ केवल कविता का भ्रम पैदा करती हैं।

●

कविता के क्षेत्र में निकष-निर्धारण की अव्यवस्था समाप्त होनी चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा जैसे जागरूक आलोचक ने 'सम्प्रेषण—३' में भावुकता तथा काव्योचित भाव में अन्तर किया है। उनकी राय में हिन्दी-कविता का बहुत-सा आधुनिकता-बोध महज़ भावुकता है। "भाव-विचार और यथार्थ-चित्रण के अभाव पर कवि जरी के काम का ऐसा पर्दा डालते हैं कि आँखें चौंधिया जाएँ, लेकिन ध्यान से देखो तो पहले जो सोना-चाँदी लगा था, वह गिलट निकलता है।" यह बात बड़े सीमित दायरे में कही गई है और इसकी चोट नकली कविता पर नहीं पड़ी। आज की कविता से रिसते घावों वाले नक़ली चेहरों को साफ-सुथरे चेहरों से, कल्पित-खण्डों को यथार्थ-खण्डों से पृथक् देखने की आवश्यकता है, वर्ना प्रामाणिक कविता लुप्त होती जाएगी और प्रदर्शनकारी कविता प्रतिष्ठित होती जाएगी।

●

अब ज़रा आन्दोलनों की चर्चा छेड़ें! आन्दोलन सबसे अधिक कविता के क्षेत्र में ही पनपे हैं और क्रमशः सब आन्दोलनों की शोभा-यात्राएँ समाप्त हो गई हैं। कारण थी पृष्ठभूमि की धुरी-हीनता। आन्दोलनों का आविष्कार चमत्कार द्वारा चौंका देने की महत्त्वाकांक्षा से होता है, उसके पीछे गम्भीर व बुनियादी चिन्तन नहीं होता। जितनी भी कवि-पीढ़ियाँ पिछले चन्द वर्षों में पनपी हैं, सतही भावुकता के आधार पर पनपी हैं। उन्होंने चन्द नारे दिए हैं तथा चन्द तथाकथित कवि उछाले हैं, फिर ये पीढ़ियाँ या तो विभाजित हो गई हैं या अस्त हो गई हैं। कुछ ऐसे भी स्वनाम-धन्य कवि रहे हैं, जो हर आन्दोलन के साथ हो लिए हैं, बावजूद इस तथ्य के कि एक आन्दोलन की प्रवृत्ति दूसरे आन्दोलन की विपरीत-धर्मा रही है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ एक ही महत्त्वाकांक्षा के पोषण के लिए निकाली जाती रही हैं—नाम उछालने की महत्त्वाकांक्षा के लिए, एक प्रपंच को उपलब्धि बनाने की महत्त्वाकांक्षा के लिए।

इन आन्दोलनों, घोषणा-पत्रों तथा कवि-पीढ़ियों ने कविता को मखौल बनाकर छोड़ दिया है। भाव-जगत् में व्याप्त अर्थ-हीनता तथा जीवन-प्रतीति से विरक्ति इन कवि-पीढ़ियों की देन है। कविता को आडम्बर बनाने का श्रेय भी इन्हें है। इन संकुचित आन्दोलनों को दार्शनिक गरिमा प्रदान करने के लिए आलोचक भी कहीं-न-कहीं मिलता ही रहा है। ये आन्दोलन साहित्य के काल-प्रवाह के अस्थायी यात्री ही नहीं रहे हैं, इन्होंने बुराइयों को भी जन्म दिया है, समीक्षा के नाम पर गाली-गलौज किया है और रचना के नाम पर सेक्स तथा मृत्यु की विराट्ता को रचा है। इसे आलोचक महोदय युवा-पीढ़ी का विद्रोह तथा 'समय का गुस्सा' कहते हैं। परस्पर-प्रशंसा तथा आत्म-रति में लीन इन कवियों-आलोचकों ने आलोचना को व्यंग्य-विनोद बनाकर छोड़ दिया है। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि कुछ आन्दोलनों के नाम-मात्र ही शेष बचे हैं; पर, इन आन्दोलनों ने नफ़रत का कुछ ऐसा वातावरण तैयार कर दिया है कि साहित्य परस्पर स्नेह-दान तथा विरोध के लिए विरोध करने का माध्यम बन गया है। इन आन्दोलनों के कुप्रभाव से ही कविता में रेखागणित तथा अंकगणित की समस्याएँ हल की गई; इनकी कृपा से ही कार्टून, नक्शे, विराम-चिह्न, प्रश्न-चिह्न, विस्मय-चिह्न, सरगम के स्वर, टूटे हुए शब्द, टूटी हुई पंक्तियाँ तथा पंक्तियों के ऊटपटाँग मोड़ कविता में प्रवेश पाते गए तथा अपना परिवार बढ़ाते गए। इन नुस्खों को ढोती कविता हास्य व प्रलाप बनती गई। कविता को रचते हैं शब्दों के बिम्ब, शिल्प के ये सतही प्रयोग कविता को दृष्टि-हीन ही बना सकते हैं। इन पेचीदा अस्त्र-शस्त्रों का संचालन जिन योद्धाओं ने किया, वे प्रचलित लकीरें तो मिटाते रहे, पर नई लकीरें बनाने में एकदम असमर्थ रहे।

●

कविता को जीवन से सम्पृक्त करने के प्रयास ने एक और दुराग्रह का रूप धारण कर लिया और गीत की सत्ता को नकार दिया गया। गीत अपनी स्पर्शी तन्मयता से जीवन की अनास्था व अतृप्ति को बहलाता है। गीत को हवाई कहकर रद्दी की टोकरी में नहीं फेंका जा सकता। वे लोग, जो गीत का नाम सुनते ही कानों में उँगलियाँ डाल लेते हैं, उनसे बहस करना तो व्यर्थ होगा, पर जिस गीत का विकास 'निराला' से बच्चन तक तथा बच्चन से आज तक हुआ है, वह कोई फ़िल्मी विधा ही नहीं है। जो लोग गीतों को सुधियाँ बहलाने वाली रचना कहते हैं, उनसे पूछा जा सकता है—क्या हमारे जीवन में युद्ध, प्रणय, स्नेह, बन्धुत्व और प्रकृति की सभी सूक्ष्म भावनाएँ नष्ट हो गई हैं ?

कभी 'धर्मयुग' में राही मासूम रजा की हिन्दी में रूपान्तरित एक गजल पढ़ी थी, उसकी पंक्तियाँ आज भी मुझे किसी भी अच्छी नई कविता से कम प्रभावित नहीं करतीं—

कल कुछ ऐसा हुआ मैं बहुत थक गया
इसलिए सुनके भी अनसुनी कर गया
कितनी यादों के भटके हुए कारवाँ
दिल के जख्मों के दर खटखटाते रहे।
ज़हर मिलता रहा, ज़हर पीते रहे
रोज़ मरते रहे, रोज़ जीते रहे
ज़िन्दगी भी हमें आज़माती रही
और हम भी उसे आज़माते रहे।

हिन्दी-गीत की यह एक अछूती अभिव्यक्ति भी ध्यान देने योग्य है—

ना तो सतर का हूँ
ना ही कतारों का
जो सर उठाये हैं, उन देवदारों का।

× × ×

ना भीड़ लहरों की
ना हूँ कगारों का
जो प्यार से भेंटे, उन यादगारों का।

× × ×

ना फूल अचकन का
ना शूल अड़चन का
ना फूल गमलों का, मैं फूल बन बन का।

—उमाकांत मालवीय

व्यर्थता और अकेलेपन का बोध किसी भी कविता से कम मुखरित इस गीत में नहीं है—

झरती भाँप, खाँसता बिस्तर, चिथड़ा साँसें
उबकाई
धक्के देकर मुझे जिन्दगी आखिर कहाँ
गिरा आई
टेढ़ी दीवारों पर चलते
मुरदा सपनों के साये
जैसे कोई हत्यागृह में
रह-रहकर लोरी गाये
यह अधनंगी शाम और
यह टूटा हुआ
अकेलापन
मैंने फिर उकताकर कोई पन्ना मोड़ दिया।

—कैलाश वाजपेयी

गीत का जन्म व्यक्ति को यथार्थ के त्रासक जगत् से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हटाकर कला के जगत् में ले चलने को होता है । यह पलायन रचनात्मक होता है। गीत की रचनात्मक क्षमता को नकारना जीवन को रस-हीन, जड़ व लयहीन कहने की भूल करना है। यह बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि आज गीत का वह स्वरूप ही स्वीकार्य हो सकता है, जो आधुनिक जिन्दगी की मुद्रा व तनाव को अभिव्यक्ति दे रहा हो; जिसकी लयात्मकता नयी कविता के समकक्ष हो। जीवन के यथार्थ को जो गीत आधुनिक अर्थवत्ता की कोमलता प्रदान करे, वही गीत सही गीत है तथा स्थिर रहने वाला है। यहाँ उस गीत की चर्चा नहीं है, जिसे नव-गीत कहा जाता है, क्योंकि कविता की कोई विधा शीर्षक पकड़कर मशीनी प्रक्रिया बन जाती है। यहाँ केवल उस गीत की चर्चा है, जो शब्द-संगीत का उद्घाटक न होकर जीवन-जगत् की असंगतियों का वाहक होता है। वह गीत जो अपने लयात्मक स्पर्श से हमारे जीवन की संत्रस्तता को बहला सकता हो।

●

इन सब आग्रहों का आशय यह है कि कविता के मूल्यांकन के निकषों की पुनः जाँच हो, नये निरीक्षण-परीक्षण हों, ताकि सही कविता की पुनः स्थापना हो सके। सही कविता वह कविता होती है, जो अपनी सहजता में ग्राह्य होती है तथा जिसका काव्यात्मक दंश पैना होता है। इस अवधारणा के केन्द्र में रखकर यदि हम कविता के प्रस्तरत्व का उद्धार कर सकें तो वह इस पीढ़ी का आत्म-साक्षात्कार होगा, वर्ना यंत्र बनी कविता के घिसते हुए चालू पुर्जे उसे ठप्प कर देंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ

शिवकुटीलाल वर्मा

लिपि

: १ :

संकेतों की लिपि अत्यन्त जटिल होती है।
अब मैं आपको कैसे समझाऊँ
कि हँसी के संकेत समझने की प्रक्रिया में आप
रो पड़ेंगे।
दर्द की व्याख्या होते ही दर्द काफ़ूर हो जाएगा
और आपमें सिर्फ दर्द की महक रह जाएगी।
महक आपको हँसा भी सकती है।
पर वह हँसी एक अजीबोगरीब हँसी होगी।
संकेतों की लिपि में कैसे पैठ पाएगी ?
उसे वहाँ फिर प्रवेश दिलाने के लिए
आपको पक्षियों की शरण में जाना पड़ेगा।
पर पक्षियों की शरण में जाने वालों में लगभग
सभी का
स्थलीय भाषा में एक उथला अनुवाद होकर
रह गया।
तब आप भी अनुवाद से कैसे बच पाएँगे।
और यदि मान भी लिया जाए कि आप
यह खतरा उठाने को तैयार हैं
तो भी क्या आप उत्सुक भ्रान्तियों द्वारा अपने-
आपको
केवल एक ऐतिहासिक महत्त्व की पाण्डुलिपि
समझा जाना गवारा करेंगे
जबकि आप पक्षियों के बीच में
एक निष्कासित हँसी के लिए
एक सूक्ष्म पर जीवंत लिपि रच रहेंगे।

: २ :

आकाश बिल्कुल रुक गया था।
पक्षी भी रुक गए थे।
गलियाँ सहमी हुई थीं
और सड़कें चलते-चलते जैसे जम गई थीं।
फूल खिलते-खिलते रुक गए थे
और पेड़ों में न नई पत्तियाँ उग रही थीं
और न पुरानी झड़ रही थीं।
आवाज़ों में तेज़ी आने के बजाए एकरसता थी
और रोशनी में चमक के बजाय एक ऐसा
फीकापन
जिसे पहिचानने की अब कोई जरूरत नहीं रह
गई थी
न कहीं कोई भूचाल था
न कहीं कोई दुर्घटना।
माथे का पसीना तक गिरते-गिरते थम गया था
(पर मैं चल रहा था, निरन्तर चल रहा था।)
अचानक मैंने पाया
कि सब एक साथ ही चल पड़े।
आकाश, पक्षी, सड़कें, गलियाँ सभी चल पड़े !
रोशनी चमकीली होती गई
और आवाज़ें तेज़।
फूल मौत का डर छोड़कर
पूरी तरह खिलने को आतुर हो गए।
पेड़ों ने पुरानी पत्तियाँ अस्वीकार कर दीं
और नई पत्तियों के साथ हिल-मिल गए।
भूचाल भी आने शुरू हुए
और नित्य नई दुर्घटनाएँ भी होने लगीं।
माथ पसीने से तरबतर हो गए
और दिल जज़्बातों से सराबोर।
सचमुच यह सब-कुछ कितना अनहोना था।
शायद मैं ही था
जो कहीं घटित होते-होते भी
बच गया था। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्मूल्यांकन

विश्वविद्यालयों का कवि : प्रसाद

मुख्यतः 'लहर' की छोटी कविताओं के अध्ययन-प्रसंग में

रमेशचन्द्र शाह

फ़तवे—और खासतौर से साहित्यकारों द्वारा दिये गए फ़तवे तो—कभी-कभी बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद सिद्ध होते हैं, चाहे वे नितान्त गम्भीर भाव से दिये गए हों चाहे निहायत, महज़ छेड़खानी की गरज़ से। अब यों तो प्रसादजी भी लिख गए कि (यथार्थवाद) "लघुता पर एक 'साहित्यिक' दृष्टि-पात" ही है: कौन कह सकता है कि उनका इरादा मखौल उडाने का था? वे तो बेचारे अपने जाने एक सटीक व्याख्या और परिभाषा ही दे रहे थे। आज अगर किसी को यह लगे कि वे बड़ी सफ़ाई से बड़ी बारीक चुटकी काट गए तो इसमें प्रसाद जी का क्या दोष! ···अपनी-अपनी समझ है। श्रीकान्त वर्मा की समझ में छायावादी कविता शब्दों के खिलवाड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ठीक है, आप भी उनसे प्रतिप्रश्न कर सकते हैं कि साहब! कविता मात्र इसके अलावा और क्या होनी है? या कि खुद आपकी ही कविता क्या है? मगर इससे क्या उनका फ़तवा कट जायगा? इतना तो वे भी जानते ही हैं। तब? एक फ़तवा वह होता है जो जानते-बूझते, पूरे होशोहवास में दिया जाता है। वह पारदर्शी फ़तवा होता है और कोई आड़ नहीं देता। उसमें आपकी समझ के लिए काम करने की पूरी गुंजाइश होती है। समझ को सम्बोधित करने का यह भी एक खासा तरीका है; उसे दुरुस्त करने का भी, हालाँकि चिन्ता वहाँ समझाने की उतनी नहीं है, जितनी कि समझे जाने की। कवियों के बारे में कवियों द्वारा दिये गए फ़तवे ज्यादातर इसी कोटि के हुआ करते हैं। किन्तु एक दूसरे प्रकार का फ़तवा भी होता है जो हमारी समझ को उकसाने के लिए नहीं, बल्कि उसे बहकाकर उस पर हावी होने के लिए दिया जाता है। वह ठोस और अपारदर्श होता है ताकि आप उसमें निहित 'समझ' (या समझहीनता) को न देख पाएँ।

चूंकि "प्रसाद विश्वविद्यालयों के कवि हैं", यह फ़तवा एक कवि की ओर से ही आया है, अतः इतनी उम्मीद तो की ही जा सकती है कि उक्त दूसरी कोटि का तो यह नहीं ही होगा। या फिर यह एक और तीसरी ही कोटि का फ़तवा होगा जिसके लक्षणों का पता अभी हमें नहीं है। हालाँकि हमें याद पड़ता है कि कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात टी० एस० एलियट ने भी मैथ्यू आर्नल्ड की कविता के बारे में कही थी, "ही इज़ एन एकेडेमिक पोएट इन द बेस्ट सेन्स आव द टर्म"। इसे कहते हैं—"डैम विद फ़ेण्ट प्रेज़···"; मगर दूसरी ओर हम पाते हैं कि प्रसादजी को तो यह 'फ़ेण्ट प्रेज़' भी नसीब नहीं है। मैथ्यू आर्नल्ड के साथ कम-से-कम इतनी तो ग़नीमत है कि आधुनिक काव्य के लक्षणों की शुरुआत उसमें देख ली जाती है: अतीत मोह और क्लैसिक रुझान के साथ-साथ थोड़ी-बहुत सार्थक आधुनिकता (समसामयिक भाव-बोध) भी उसे बख्शी गई है। मगर प्रसादजी को तो वह सांत्वना भी नहीं है। उनमें आधुनिकता कैसे ढूँढ़ी जाए? हाँ, एक मुक्तिबोध को ज़रूर, जाने कैसे यह इलहाम हो गया कि समस्त छायावादियों में प्रसाद ही एक ऐसे कवि हैं जो अपने बाद की पीढ़ी को चुनौती-सी देते हैं और उनसे निपटे बिना चलेगा नहीं; वर्ना हमारी पीढ़ी के लिए तो वे हुए-न-हुए एक जैसे ही हैं।

तो क्या प्रसाद सचमुच इतने अल्पप्राण और अप्रासंगिक कवि हैं कि विश्वविद्यालयों की सुरक्षित चारदीवारी के बाहर ज़िन्दा न रह सकें? क्या उनकी सार्थकता सिर्फ़ इतनी ही है कि उन्होंने कुछ प्राध्यापकों को बौद्धिक व्यायाम का अवसर सुलभ कराया और भाष्यकारों की एक भीड़ अपने आस-पास बटोर ली? क्या उनका दीर्घायु होना 'कठिन काव्य के प्रेत' की हैसियत से ही सम्भव है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे नहीं मालूम कि विश्वविद्यालयों में प्रसाद को वास्तव में कठिन काव्य के प्रेत की तरह पढ़ाया जाता है या नहीं; किन्तु इतना जरूर जानता हूँ कि विद्यार्थियों के बीच निराला, पन्त और महादेवी के प्रति जितना उत्साह दीखता है उसका दशमांश भी प्रसाद की रचनाओं के प्रति नहीं दीखता। विद्यार्थियों में ही क्यों, कविता से जिन्हें कुछ भी लेना-देना है, ऐसे अपेक्षाकृत सयाने लोगों के बाच भी मुश्किल से कभी कोई ऐसा मिल जाता है जिसे सचमुच प्रसाद का चस्का हो। 'विश्वविद्यालयों का कवि'—अगर इस फ़तवे में व्यंग्य हो तो वह व्यंग्य भी ऐसा है जिस पर हँसा भी नहीं जा सकता क्योंकि अपने तमाम समकालीनों में प्रसाद ही ऐसा कवि है जिसके बारे में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उसको समझने की शुरुआत ही विश्वविद्यालय से निकलने के बाद होती है क्योंकि मुझे तो यह विशेषता ही प्रतीत होती है कि जहाँ दूसरे कई कवियों के साथ अर्थग्रहण करने की सजगता बढ़ने के साथ-साथ कविता का आस्वाद और मूल्य भी कम होता जाता है, वहाँ प्रसाद में ठीक इसके विपरीत मामला है। एक तरह से प्रसाद की कविता का आस्वादन कविता के पाठक की रीझ-बूझ की कसौटी बन जाता है। दूसरे कवि हैं जिनकी कविता हमें बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है लेकिन तभी तक, जब तक कि हम कविता के भीतर गहरे पैठने का उद्यम नहीं करते, बहुत ज्यादा शिक्षित संवेदन और प्रश्नाकुल जिज्ञासा लेकर उनका सामना नहीं करते। होता यह है कि अर्थान्वेषण की सजगता बढ़ने के साथ-साथ उनकी कविता की महिमा भी हमारे मन में घटने लग जाती है। पन्तजी की अनेक कविताओं का प्रभाव मेरे लिए इसी तरह क्षीण होता चला गया है। जबकि इसके ठीक विपरीत आज से दस साल पहले प्रसाद की जो कविताएँ मेरे मन पर कोई छाप ही नहीं छोड़ती थीं—वे ही आज मुझे सबसे ज्यादा विशिष्ट और सारपूर्ण लगती हैं। शायद ऐसा इसी कारण सम्भव हो सका है कि अब जाकर मैं उस मानसिक स्तर से किसी क़दर सहानुभूति स्थापित कर सकने योग्य हो सका हूँ कि जहाँ पर, जहाँ से इन कविताओं का उद्भव हुआ है।

यहाँ पर प्रसाद की छोटी कविताओं का उल्लेख ही अभीष्ट है क्योंकि एक तो उनका महत्त्व अपने-आपमें भी कम नहीं है, बल्कि ज्यादा ही है, इस दृष्टि से कि जो उनके वैशिष्ट्य को नहीं समझ सकता, वह कामायनी के साथ भी न्याय नहीं कर सकता। उनकी प्रतिभा की बनावट को समझने के लिए ये कविताएँ बुनियादी महत्त्व की हैं। यह ठीक है कि प्रसाद उन थोड़े-से कवियों मे हैं जो गीति और स्फीति दोनों को समान गरिमा के साथ निबाह सकते हैं किन्तु इसके साथ एक दूसरा तथ्य यह भी है कि वे ऐसे कवि (भी) हैं जिनके रचना-क्रम में शुरू से आखिर तक एक खास क़िस्म की एकता, एक बुनियादी पर्युत्सुकता का 'पैटर्न' दिखाई देता है, मानों सृष्टि और अस्तित्व की मूलभूत चुनौतियों से निपटने के लिए, उनको अपनी जीवनानुभूति और वेदनतन्त्र द्वारा सिद्ध और हल करने के लिए ही इन्हें कवित्व दिया गया हो : मानों इनकी कविता और इनकी यह पर्युत्सुकता सहजात हों, परस्पराश्रित हों। ऐसे कवियों के साथ दिक्कत यह आ जाती है कि उन्हें पूरा पढ़ना पड़ता है; उनके विकास के प्रत्येक चरण को ध्यानपूर्वक समझना पड़ता है। इस दृष्टि से भी इन कविताओं का अध्ययन बहुत आवश्यक है। यह भी है कि शायद इन पर ध्यान एकाग्र करके ही हम कामायनी के लिए अपेक्षित स्फूर्ति इकट्ठा कर सकते हैं और उस पर जमी हुई काई छुड़ा सकते हैं।

•

ऊपर संकेत किया गया है कि प्रसाद अपने अन्य सहवर्तियों की तरह प्रथम साक्षात् में ही आकर्षित करने वाले कवि नहीं हैं। हिन्दी में लिखने वाले ऐसे अनेक कवि होंगे जिन्होंने अपने विकास के आरम्भिक सोपानों पर पन्त और निराला से प्रेरणा पायी होगी। किन्तु विरला ही कोई कवि होगा जिसे प्रसाद उस दौर में आकर्षित कर सके हों। कारण, प्रसाद में ऐसा बहुत कम, नहींवत् है जो किशोर कल्पना को उत्तेजित कर सके, किशोर और युवा भावनाओं को स्फूर्ति दे सके। वे थिराये हुए आवेग के हृदय की प्रशान्त बोधशीलता के कवि हैं :

"कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्ष-पत्र की मधु छाया में
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है"

प्रसाद उन कवियों में हैं जो अपेक्षाकृत जल्दी वयस्क हो जाते हैं। अकाल परिपक्व नहीं; बल्कि वयस्क जिज्ञासाओं से उन्मथित। ऐसे कवि जल्द ही अपनी भावनाओं को जीवन-जगत् के प्रति एक दृष्टि अर्जित करने के अनिवार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष में नियोजित करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। एकदम शुरू की कविताओं में ही :

"भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गया उस पार
न हो मुझको ही जब सन्तोष
तुम्हारा इसमें क्या है दोष"

× × ×

क्या अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी ?
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नहीं
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर सुनो,
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही
....
....
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही,
मिलता नहीं हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नहीं

× × ×

इसीलिए यह कवि अपने मानसिक संघर्ष को, भावनाओं के झंझावात को सीधे अभिव्यक्ति देने को प्रेरित नहीं होता; बल्कि उसे अनवरत चिन्तन-मंथन में से छानकर ही अपनी कविता प्राप्त करता है। व्यक्तित्व का सीधा प्रकाशन उसे 'भोंडा' लगता है। प्रकृति पर अपने भाव-संवेगों को थोपकर उनसे मुक्त होने की चेष्टा के बजाय वह प्रकृति को पढ़ते हुए उसके जरिए अपने अन्तर्जगत् को व्यवस्थित और परिभाषित करने का धैर्यपूर्ण उद्यम करता है :

"आज इस घन की अँधियारी में
कौन तमाल झूमता है, इस सजी सुमन-क्यारी में"

× × ×

"किन्तु न मेरी करो परीक्षा प्राणधन !
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से,
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है"
"चन्दकिरण हिमविन्दु, मधुर मकरन्द से,
बनी सुधा रख दी है हीरक पात्र में,
मत छलकाओ इसे, प्रेम-परिपूर्ण है।"

एक ओर अनुभव का यह कड़वा पाठ :

तुम्हारी आशालता सिंचाव, बहुत ले चुकी, न देती दाँव
सींचकर क्या फल पाया, फूल भी हाथ न आया
नील नीरदमाला की वृष्टि
दीनता की करती थी सृष्टि

और, दूसरी ओर यह प्रशान्त, धीर अवबोध :

सृष्टि में सब-कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास
बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक देखो तब यह सौन्दर्य

या, इससे भी गहरे :

"गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहें
अन्तरिक्ष विशाल में हैं मिल रहीं"

स्वाभाविक ही, इस प्रकार कवि-मन के भावावेग ज्ञानात्मक अनुभूति में ढलते चले जाते हैं। बाह्य विश्व, ऐन्द्रिय संवेदना का जगत् कवि-कल्पना के लिए कलात्मक विलास के उपकरण जुटाने के बजाय उसे एकाग्र संवेदन और अर्थान्विषण की प्रेरणा देता है। प्रसाद में प्रारम्भ से यह रुझान स्पष्ट है: अपनी ही अनुभूतियों और भाव-संवेगों के अध्ययन-मनन की प्रवृत्ति···।

"बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
....
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना"

जोकि आगे जाकर ऐसी प्रौढ़-परिपक्व, संश्लिष्ट व्यंजनापूर्ण काव्यपंक्तियों का सृजन करती है···

"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई"

ये पंक्तियाँ मुझे बरबस प्रख्यात मैटाफ़िज़िकल कवि एण्ड्रू मार्वेल का स्मरण करा देती हैं—

बट हार्क अपॉन माइ पल्स आइ हियर
टाइम्स ह्वीलिंग चैरियट ड्राइंग नियर
....

प्रसाद की बौद्धिकता कोई अलग ऊपर से थोपा हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य नहीं है; वह उनकी जिजीविषा की अनिवार्य उपज है : उनके अन्तर्जीवन की अनिवार्य लय और दिशा···। अपनी अनुभूतियों के प्रति उनकी काव्यात्मक प्रतिक्रिया सर्वथा उनकी अपनी है, सर्वथा मौलिक और अनूठी। यह कहना कि शुरू से ही उन पर किसी विचार-दर्शन का अंकुश था, निहायत गलत होगा। उन पर किसी का अंकुश नहीं था : यदि अंकुश था भी तो, वह उन्होंने स्वेच्छा से परिश्रमपूर्वक अर्जित किया था। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया, उनकी आरम्भिक कविताओं में ही अपनी निजी अनुभूतियों के प्रति एक ऐसी गहरी ईमानदारी और आलोचनात्मक निरीक्षणशीलता मिलती है जैसी कि बिरले ही कवियों में पाई जाती : "जब लेता हूँ, आभारी हो, बल्लरियों से दान/कलियों की माला बन जाती अलियों का हो गान/विकलता बढ़ती हिमकन में विश्वपति ! तेरे आँगन में/जब करता हूँ कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार/तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार/चमत्कृत होता हूँ मन में/विश्व के नीरव-निर्जन में/···

अपनी अनुभूति को कल्पना द्वारा नाना प्रकार से अलंकृत करने—जितनी जैसी वह है, उससे बड़ी दिखाने, अतिरंजित करने की बजाय—वे उसे समझने-बूझने की कोशिश करते हैं। इसी से उनकी अभिव्यक्ति में एक सहज गरिमा है; ताप और तीव्रता नहीं। और कौन कह सकता है कि इस कविता में सौन्दर्य नहीं ?···

मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थीं सो रहीं, अन्त करण नवीन
मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय था हो रहा, बाह्य आन्तरिक
प्रकृति सभी सोती रहीं

●

प्रसाद प्रतीकों से बहुत काम लेते हैं : उनके यहाँ हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। प्रसाद देखा जाय, तो पन्त के ठीक विपरीत हैं। पन्त में अर्थ (भाव-कथ्य) अधिकतर सामान्य मनोभूमि का होता है : उसको वे कल्पना (और फँसी) से, इच्छित चिन्तन और शब्द-शिल्प से फैला लेते हैं। प्रसाद अपने बोध में छने हुए अर्थ को शब्द के जरिए और भी ज़्यादा छानकर गाढ़ा कर लेते हैं। पन्त में शब्द ही वस्तुएँ हैं; प्रसाद में शब्द केवल इंगित हैं···उन्हें शब्दों के रूपरंग में ज़्यादा दिलचस्पी नहीं। यदि पन्त की कविता में शब्द ठोस हैं अपेक्षाकृत, तो निराला में वे अधिक द्रवित हैं और प्रसाद में सीधे उद्वाष्पन। कोई आश्चर्य नहीं, यदि हम पाएँ कि लगभग एक-जैसी विषय-वस्तु को लेकर कविता करते हुए पन्त सबसे ज़्यादा शब्दों का प्रयोग करते हैं; निराला उनसे कम; और प्रसाद सबसे कम। पन्त में शब्द अलग-अलग पच्चीकारी के टुकड़ों से दीखते हैं; निराला में रिलेमिले बहते-से···। प्रसाद में वे अलोप-से हो जाते हैं···। एक-एक शब्द को आँखें फाड़-फाड़कर देखना होता है। पूरे 'पाद' को तीन-तीन, चार-चार बार पढ़ना होता है। तब जाकर उस शब्द की सही जगह का अन्दाज़ लगता है। शरीर से वह जहाँ रखा होता है, वहाँ वह होता ही नहीं, कहीं और··· कहीं और होता है।

ओ री मानस की गहराई
तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल
मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर सुन्दर अविरल
तू हँस जीवन की सुघराई
हँस ले भय, शोक, प्रेम या रण
हँस ले काला पट ओढ़ मरण
हँस ले जीवन के लघु-लघु क्षण
नाविक अतीत को उतराई

प्रसाद के यहाँ कुछ शब्द रूढ़ पदों की तरह बार-बार दुहराए जाते हैं मानो उनके बिना उनका काम ही न चलता हो। मज़े की बात यह है कि ये उतने और उस तरह खलते नहीं जैसे कि किसी दूसरे कवि में खलते। वस्तुतः ये 'रूढ़ पद' भी दूसरे कवियों द्वारा प्रयुक्त 'रूढ़ पदों' की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक और जानदार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद 'मधु' या 'माया' से जितना काम ले लेते हैं, उतना पन्तजी 'स्वर्ण' को उनसे कई गुना ज़्यादा पुकारकर भी नहीं ले पाते। विशेषण उनके यहाँ कम हैं : वे उन पर बहुत कम निर्भर करते हैं। उनका एक खास अपना लहज़ा है : खास अपनी 'लय' जो अपने नितान्त औचित्य के बल पर पर हमारे मन को पकड़ता है।

वे अनेक भावों की सजावट नहीं दिखाते; न किसी आवेग में बह जाते हैं। वे भाव को अर्जित करते हैं गहन चिन्तन-मन्थन द्वारा; और उसे फिर शब्दों द्वारा आकर्षित करते हैं। उनसे ज़्यादा अन्तर्मुख शायद ही कोई दूसरा कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। कविता उनके लिए आत्माभिव्यक्ति से ज्यादा अपने आत्मशोध-आत्मपरिष्कार को जाँचते,समझते रहने की प्रक्रिया है। वह प्रथमतः उनके अपने लिए है। उसमें बहुत आँच या उबाल नहीं है; —केवल निथरा हुआ तत्त्व है : संवेदनात्मक अनुभूति और ज्ञानात्मक चेतना दोनों के दीर्घकालिक संपीड़न से निचुड़ा हुआ सार-तत्त्व। उनका अनुभव-संवेदन जब तक शोधित-परिशोधित होते-होते एक स्थायी भाव का, विचार का गौरव प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक शायद उन्हें अभिव्यक्ति का कोई उत्साह ही अनुभव नहीं होता। और जब वे उसे अभिव्यक्त कर रहे होते हैं तब भी मानो वे अपने को ही सम्बोधित करते होते हैं; इसलिए कि उनके संवेदनशील मन और अर्थान्वेषिणी चेतना के बीच जो द्वंद्व रहा है, उसका पर्यवसान पूरी तरह उस कविता में हुआ है या नहीं, यह शंका उन्हें बेचैन किए रहती है। इसलिए वे विचार-संवेदन के उस संश्लिष्ट स्वरूप को अपनी बुद्धि और संकल्प की पूरी एकाग्रता के साथ अपने सामने मूर्त्त करना चाहते हैं।

नहीं; प्रसाद रहस्यवादी कवि नहीं हैं। वे प्रथम और अन्तिम रूप से बौद्धिक कवि हैं। अनुभूति की बौद्धिक प्रतीक व्यवस्था के, अनुभूति और बुद्धि के रासायनिक संश्लेष के कवि हैं।

अरे आ गई है भूली-सी, यह मधुऋतु दो दिन को
छोटी-सी कुटिया में रच दूँ, नई व्यथा-साथिन को
मेरे किसलय का लघु भव यह
आह खलेगा किनको?

प्रसाद की दुरूहता भाषा की नहीं, भाव की है। उस एक भाव तक (जो कि अनेक भावनाओं, संवेदनाघातों और विचारों का रसायन होता है) पहुँचने की प्रक्रिया उनकी कविता में उजागर नहीं होती। स्थूल अर्थ में जिसे आत्माभिव्यक्ति कहा जाता है, वह उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान, संवेदन और आवेग जब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के दौर से गुज़रकर चिन्तन-मनन द्वारा अपनी चंचलता खोकर थिर हो जाते हैं···तभी वे लिखने बैठते हैं। निष्कर्ष वे नहीं देते; निरावेग ढंग से, किन्तु प्राण की समूची ललक के साथ, भावना के पूरे सौकुमार्य में शब्द को दे दिए जाते हैं—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज! उदार बनो।"

इस अपार धीरज और कवि-कर्म के साथ गहन अन्तरात्मिक सम्पृक्ति का ही परिणाम है कि ऐसी विलक्षण और दिमाग में घुमड़ती पंक्तियाँ रची जा सकीं :

"मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में"

'ले चल मुझे भुलावा देकर' पलायन की आकांक्षा से प्रेरित नहीं है। वह प्रसाद के कवि की स्वाभाविक और जायज़ माँग है। "जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया/ढीले अपनी कोमल काया,नील नयन से ढुलकाती हो/ताराओं की पाँत घनी रे/ जिस गम्भीर मधुर छाया में/विश्व चित्रपट चल माया में/ विभुता विभु-सी पड़े दिखाई/दुख-सुख वाली सत्य बनी रे/··· यह कोलाहल की अवनी से घबराने वाले दुर्बल-प्राण कवि का गीत नहीं है। प्रसाद दिन के कवि नहीं हैं : वे 'श्रम-विश्राम क्षितिज-बेला' के कवि हैं। इसलिए नहीं कि वे दिन का सामना नहीं कर सकते; बल्कि इसलिए कि उन्हें अपनी कविता वहीं पर मिलती है। कवि के रूप में उनकी खोज उसी 'गम्भीर मधुर छाया' की है जिसमें 'विश्व-चित्रपट चल माया' में 'दुख-सुख वाली विभुता', 'विभु'-सी दिखाई पड़े। एक-एक शब्द पर ध्यान दीजिए : कवि कितनी गहरी बात कह रहा है! 'नील नयन से ढुलकाती हो, ताराओं की पाँत घनी रे'······यह किस मानवीय स्थिति का बिम्ब है? साँझ अपने-आप में इष्ट नहीं है। वह कोई निरपेक्ष स्वप्न-लोक नहीं है। न वह प्रतिकृति है। वह जीवन की प्रगाढ़ अन्तर्मुख अनुभावना है जहाँ साक्षात्कार सम्भव हो सके। वहाँ प्रकाश होगा; पर ऐसा प्रकाश जिसमें वस्तुएँ नहीं, उनका आन्तर-सत्य झलक जाय······। जीवन की करुणा का जो अन्तरंग अनुभव कवि ने अर्जित किया है, उसी का सघन अन्तरावलोकन उसे अभीष्ट है।

सन्ध्या और रात्रि के चित्र ही प्रसाद में सबसे ज्यादा हैं। और हाँ 'उषा' के। इसी कविता की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए—

श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा-नयन से, बिखराती हो ज्योति घनी रे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…ताराओं की पाँति भी 'घनी' थी और यह ज्योति भी 'घनी' है। साँझ-सी जीवन छाया के नील-नयन से ढुलका हुआ जीवन का राशिभूत संवेदन ही चहुँओर परिव्याप्त अन्धकार की थाह लेता हुआ उसके भीतर, उसकी निविड़ सम्पृक्ति में से, पुनः सृजित होकर, अमर जागरण की ज्योति बनकर उषा नयन से (बाहर को) विकीर्ण होता है। यह 'घनी ज्योति' सृजन की (पूर्ण में से पूर्ण के सृजन की) है। इसी से वह 'अमर जागरण' है।

आपने देखा होगा कि 'उषा' के अंकन में जो औदात्य प्रसाद में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

•

प्रसाद जिस युग में कविता करने लगे, वह युग—प्रसाद जिस संस्कृति के कवि हैं—उस संस्कृति की सन्ध्या सरीखा है। हम पाते हैं कि हमारे जातीय-सांस्कृतिक इतिहास की सबसे प्रखर आत्म-चेतना प्रसाद में ही मिलती है। निश्चय ही प्रसाद ने अतीत का गौरव-गान किया है किन्तु वे उस तरह अतीतजीवी नहीं थे। अतीत इस कवि के लिए उस तरह अतीत है भी नहीं। नहीं तो अन्य कवियों की तरह वे भी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाते दिखाई देते। जबकि उनकी रचनाओं में अतीत इस तरह स्पन्दित और सृजित है मानो वह वर्तमान की ही बात हो। कुछ कवियों में अतीत से तादात्म्य की—अतीत के माध्यम से आत्म-स्थितियों के साक्षात्कार की—क्षमता स्वाभाविक और जन्मजात होती है। प्रसाद ऐसे ही कवि हैं।

वे पलायन के कवि नहीं हैं। देखने की बात है कि उनका नाविक भी उन्हें भुलावा देकर आखिर ले किस ओर को जाता है?…वहीं न, जहाँ "अमर जागरण उषा नयन से बिखराती हो ज्योति घनी रे"? क्या यहाँ भी भ्रम की गुंजाइश है?

और यह नाविक कौन है?…स्वयं काल? स्वयं कवि का इतिहास-बोध भी—शायद! ऊपर प्रसादजी की एक बहुत निजी छाप वाली कविता उद्धृत की गई थी : "ओ री मानस की गहराई…। नाविक अतीत को उतराई।…" अब यहाँ पर उसे थोड़ा ग़ौर से देख लिया जा सकता है।

व्यक्तिगत कवि-मानस की गहराई को अतीत रूपी नाविक ही जान सकता है। वर्तमान को—कितने ही लघु क्षणों की नौकाओं को वह खेता है। प्रतिदान इतना ही कि हम उन्हें—एक-एक क्षण के 'गुण' को—पूरे मन से जी सकें। कोई भी अनुभूति हमारी संवेदना के समूचे प्रसार में से तभी उत्तीर्ण हो सकती है जब हम नाविक अतीत को उसकी उतराई दे सकें, क्योंकि वही हमें उतारता है। क्योंकि वह नाविक हमसे—हमारे व्यक्तिगत मन से—बड़ा है; क्योंकि वह पूरी जाति के अनुभवों का राशिभूत व्यक्तित्व है। एक गहरे अर्थ में वह हमारा 'इतिहास-बोध' है। हमारे व्यक्ति-मानस की गहराई को वह जानता है, जिसमें से कि सारी जीवनानुभूतियाँ उत्तीर्ण होना चाहती हैं। यह 'गहराई' भी स्वयं क्या है, किसकी है?…"तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल…।" यह तरलता कोई भावुक, रूमानी तरलता नहीं है…

"इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में।"

यह 'नील विषाद गगन' ही वह 'नील नयन' है जो 'ताराओं की पाँति' ढुलकाता है।

अतीत हमारे व्यक्तिगत जीवन का भी होता है जो पल-पल हमारे वर्तमान को प्रभावित करता है और उससे प्रतिकृत भी होता है। यह अतीत तो स्वयं-सिद्ध स्वयं-स्फूर्त सत्ता है जो हमारे सहयोग के बिना भी अपना काम जारी रखता है। हाँ, खुली संवेदना होनी चाहिए वर्तमान 'क्षण' की अनुभूति के प्रति; तभी अतीत भी उसे हमारी सम्पूर्णता में रचा सकता है; हमारे 'ज्ञान' का अंग बना सकता है। प्रसाद की कविता का 'नाविक' महज़ प्रसाद के कवि का व्यक्तिगत अतीत ही नहीं है; वह एक प्रकार से समूची जाति का अतीत है; संस्कृति है; सामूहिक अवचेतना भी आप चाहें तो उसे कह सकते हैं। वही हमारे क्षणिक अस्तित्व को सनातन काल में से उत्तीर्ण करता है।

व्यक्तिगत विषाद का मोक्ष विश्व-वेदना की प्रगाढ़ अनुभूति (करुणा) में; और उस अनुभूति को अपनी सांस्कृतिक चेतना एवं इतिहास-बोध के द्वारा सर्जनात्मक सार्थकता एवं संतुलन देने की प्रेरणा…यह है कवि के रूप में प्रसाद की आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा भी, आप चाहें तो कह लें उसे।

हो सकता है प्रसाद की कविता अपने उद्गम में, मूल प्रेरणाओं में अत्यन्त व्यक्तिगत हो जैसी कि किसी भी कवि की कविता हो सकती है, होती ही है। हो सकता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत वैकल्य और विषाद के कटु अनुभवों ने भी उन्हें कवि बनाया हो; किन्तु उनकी कविता में ये प्रेरक मूल 'हृत्कंपन' की तरह अन्तर्धान हो जाते हैं, जो कि चुपचाप रच-पच गए हैं; ···विचारों, भाव-तरंगों में ढलकर अपने-आपको भूल गए हैं। ऐसा लगता है जैसे प्रसाद अपनी अनुभूतियों को सीधे 'बुद्धि' और 'आत्मा' में परिणत करने के लिए ही कविता करते हैं; उन्हें अपना शरीर नहीं बनाने देते। शरीर में तो हृत्कंपन तब भी अधिक स्थूलता के साथ रचता है : मन और मस्तिष्क तक पहुँचते-पहुँचते तो उसकी गति बहुत ही सूक्ष्म-विरल हो जाती होगी। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि प्रसाद में किसी भी अन्य कवि, मसलन निराला की ही, अपेक्षा संवेदन-क्षमता कम थी। एकमात्र और महत्त्व-पूर्ण अन्तर यह है कि प्रसाद की कविता में वह संवेदन अधिक लम्बा पथ पार करके, अधिक जटिल स्तरों से छनकर संक्रमित होता है और इसीलिए स्वभावतः उस तक पहुँचने के लिए हमें शायद परिश्रम भी ज्यादा करना पड़ता है। कवि के लिए जो स्वाभाविक है, वही हमारे लिए श्रमसाध्य और दीक्षागम्य भी हो जा सकता है।

प्रसाद को रागात्मक ऐश्वर्य का कवि कहने के बजाय विराम के ऐश्वर्य का कवि कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। रागात्मक ऐश्वर्य की बात ही की जाय, तो वह उनके कथा-साहित्य में अधिक है। कविता में वे अधिक निर्लिप्त, अधिक सारमय हैं। ऊपर कहा गया कि व्यक्तिगत अनुभव-क्षण की तात्कालिक त्वरा और तीव्रता उस तरह उनकी कविता में नहीं मिलती। यह भी कहा गया कि उनमें अनुभूति अपना शरीर न रचकर सीधे-साधे अपना मस्तिष्क अपनी 'आत्मा' रचती जान पड़ती है। इसका आशय यह, कि उनकी कविताओं में मांसलता नहीं है। इस बात को सही-सही समझने की ज़रूरत है। यदि उनकी जीवन-चेतना पंतजी की तरह स्वप्निल और वायवीय होती तो कहानी-उपन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती; न उनमें इतना रूप-रंग, चरित्र और मानवीय वैविध्य सृजित होता। हमें स्मरण रखना होगा कि हिन्दी कहानी में यथार्थवाद की नींव उन्होंने ही डाली थी। ठेठ यथार्थवादी कहानियों की तो बात ही क्या, 'ममता' और 'आकाशदीप' जैसी भावोच्छ्वसित कहानियों का भी थोड़ा-सा विश्लेषण यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी होगा कि उनकी भी बुनियाद ठोस मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर रखी गई है। इसीलिए भाषा की एक अभिजात दूरी के बावजूद, रुचि-सम्बन्धी सारी कठिनाइयों के रहते भी उनका प्रभाव हम पर पड़ता है और हमारा मन एकाएक यह मानने को तैयार नहीं होता कि ये रचनाएँ नश्वर भी सिद्ध हो सकती हैं। नहीं, हम यही सोचने को विवश होते हैं कि यदि प्रसाद की कविता में वाञ्छित मांसलता भी नहीं है, तो इसका कारण उनकी अक्षमता ही नहीं है। यह भी तो हो सकता है कि वे कविता में अधिक सूक्ष्म उपकरणों से काम करना चाहते हैं याकि कविता की उनकी धारणा ही यह है कि वह एक अत्यधिक सूक्ष्म उपकरण है अनुभूति के यथार्थ को पचाने और आत्मसात् करने के लिए। इस प्रकार यहाँ उनका उद्देश्य और आग्रह ही भिन्न हो जाता है। निराला और प्रसाद की कुछ पंक्तियाँ आमने-सामने रखकर देखिए :

"कहाँ
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष
संभव है क्या ?
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?"

यह हैं निराला। अब ज़रा प्रसादजी पर कान लगाइए :

"निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता"

निश्चय ही निराला अधिक आत्मीय लगते हैं; क्योंकि उनका 'टोन' अधिक नज़दीकी का, सहज-संलापी और मुक्त-मुखर-वैयक्तिक है। तुलना में प्रसाद का स्वर वैसा घनिष्ठ और 'वैयक्तिक' नहीं प्रतीत होता; एक पर्दा-सा उनके और हमारे बीच रहता है। उनका टोन, उनका लहजा अधिक निर्वैयक्तिक लगता है। फिर भी, कौन कह सकता है कि प्रसाद कम मार्मिक हैं ? निरालाजी का कथ्य उनकी पंक्तियों में प्रवाहित होता चलता है : उसमें गति है और उसे इसी रूप में हम देखते-अनुभव करते हैं। प्रसादजी में गति 'विधि' बन गई है। उनका कथ्य गति से आगे बढ़कर विधि में समाहित होता हुआ कविता में उतरा है।

एक बात और···। प्रसादजी गहरे अर्थों में संस्कृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि हैं। उनके शब्दों का संसार पावनता, सरलता और गरिमा के एक अद्भुत रासायनिक यौगिक से रचा हुआ जान पड़ता है। व्यक्तिगत वैफल्य और निराशा की तीव्र संवेदनाएँ उनके काव्य में अभिव्यक्त नहीं दीखतीं। "स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है" जैसी तीव्र-वेधक आत्माभिव्यक्तियाँ उनके यहाँ दुर्लभ हैं। फिर क्या कारण है कि उनकी कविता का अनुभव एक गहरे औदास्य का अनुभव भी होता है ?

"प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्यशिथिल बिछली पड़ती है, वहन कर रहा उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता ?
वंचित रे ! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम ?"

यह 'अतीत की विकल कल्पना' ही मानो कवि की कविता का प्रमुख उत्स है : अतीत का संमोह नहीं; 'अतीत की विकल कल्पना' !' जो कि एकसाथ नितान्त आत्मीय-वैयक्तिक भी है और सामूहिक-सांस्कृतिक भी। एक ओर 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में :

"आह इस खेवा की !
कौन थामता है पतवार इस अन्धड़ में
अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा
उमड़ रहा है ज्योति-रेखाहीन क्षुब्ध हो
खींच ले चला है काल-धीवर अनन्त में
साँस सफरी-सी अटकी है किसी आशा में"

और दूसरी ओर,

सागर-लहरों-सा आलिंगन निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल-वैभव है सीमाविहीन, वह रहा एक कन को निहार
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार
ढल विरज डालियाँ भरी मुकुल, झुकतीं सौरभ-रस लिए अतुल
अपने विषाद-विष से मूर्च्छित, काँटों से बिंधकर बार-बार
धीरे से वह उठता पुकार।
पागल रे वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन से गिन-गिनकर, यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अपने 'विषाद-विष से मूर्च्छित' मन को कवि ने किस प्रकार जगाया है, यह देखिए; और तुलना कीजिए पहली कविता से "तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल, सुखलहर उठा री सरल-सरल, तू हँस जीवन की सुघराई···।" यह है इस कवि के आत्म-परिष्कार, आत्म-विकास की अनिवार्य दिशा और सूचना।

●

अन्य छायावादी कवियों के बीच प्रसाद की स्थिति को समझने के लिए कुछ मसाला शायद ऊपर के विवेचन में इकट्ठा हो गया होगा। तथापि उस अन्तर और वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए शायद इतना काफ़ी नहीं है। बहरहाल प्रसाद की 'लहर' शीर्षक कविता को पढ़ने के दौरान मेरे दिमाग़ में दो कविताएँ आई थीं : एक तो पंतजी का 'हिलोरों का गीत' और दूसरा निराला का 'तरंगों के प्रति'। तीनों कविताओं को साथ-साथ रखकर पढ़ने से मुझे लगा कि इस तुलना से हम कुछ और निकटता हासिल कर सकते हैं। तीनों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर शायद अप्रासंगिक न लगे। ज़रूरी होगा कि इस विश्लेषण से गुज़रते हुए कविताएँ सामने हों। समूची उद्धृत करना तो संभव नहीं है : इतने सहयोग की अपेक्षा पाठक से की ही जानी चाहिए।

पंतजी की कविता में सौन्दर्य-संवेदन और अर्थ (कथ्य) की स्थिति एकाकार नहीं है। दूसरे शब्दों में हिलोरों का संवेदन कवि की अन्य जीवनानुभूतियों से—व्यापक जीवन की उसकी पहचान और संवेदना से—जुड़कर एकाकार नहीं होता। मुख्य प्रेरणा वहाँ एक दृश्य-सौन्दर्य से मुग्ध होने और उस मुग्ध भाव को शब्दबद्ध करने की है। वह सौन्दर्य आँखों से उतरकर हमारे अन्तर्जीवन को नहीं पकड़ता। "अपने ही सुख से चिरचंचल, हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल···।" एक दृश्य-संवेदन दूसरे समानान्तर दृश्य-संवेदन को उकसाता है और बिम्ब उत्पन्न करता है। 'खिल-खिल' में खिलखिलाहट भी है और फूलों की खिलावट भी। आगे दूसरी पंक्ति में इसको और स्पष्ट फैला दिया गया है "जीवन की लतिका में लहलह, विकसा इच्छा के नव-नव दल"। इसके तुरन्त बाद 'रास' का बिम्ब कवि को सूझ में आता है। "सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि/गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल/हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल/खस-खस पड़ता उर से अंचल"/··· एक-एक ब्योरा इकट्ठा करके चित्र को पूरा कर दिया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि कवि को दृश्य-चित्रण ही अभीष्ट है: उसका स्वयं का व्यक्तित्व उस दृश्य-संवेदन से सम्पृक्त नहीं होता भीतर तक; वह अलग, असम्पृक्त एक दृष्टि-बिम्ब को रचने-सजाने, उसे पूरा उभारने में संलग्न है। उसकी अनुभूति प्रथम और अन्तिम रूप से सौन्दर्य (छवि) की ही अनुभूति है; अर्थानुभूति या मार्मिक जीवनानुभूति नहीं। 'लहर' का जीवन उसके जीवन से अलगाया हुआ है; लहर का जीवन भी उसकी आँख और 'चितेरे हृदय' में है; मस्तिष्क में नहीं।

किन्तु अन्त की चार पंक्तियाँ बताती हैं कि यह सौन्दर्यानुभूति वैसी शुद्ध और निरपेक्ष नहीं है। यहाँ कवि अर्थ को निकाल रहा है। इस तरह कि मूल सौन्दर्यानुभूति पर यह प्रक्षेप जैसा लगता है। एक दार्शनिक पश्चाद्बुद्धि से प्रेरित जान पड़ती हैं ये पंक्तियाँ:

"चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर,
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर,
फिर-फिर उसमें हो हो ओझल"

'लहलह' और 'खिलखिल' में जिस प्रकार कवि की अनुभूति का स्पन्दन है उस प्रकार इस 'चिर जन्म-मरण' में नहीं। वहाँ कविता है; यहाँ कविता से ज्यादा काव्यरूढ़ि।

कुल मिलाकर यह एक स्थिर चित्र है। हम अलग-अलग शब्दों के संवेदन से आकर्षित होते हैं। रास का चित्र भी उस तरह गतिमय-सजीव नहीं हो पाता: एक तो छन्द की लय ही उतनी स्वतन्त्र और लचीली नहीं; दूसरे, कवि ने रास के बिम्ब की उद्भावना एक सादृश्य के रूप में हिलोरों के चित्र-संवेदन को पुष्ट करने के लिए की है; वह भावना उतनी नहीं जितनी उद्भावना है; आवेग उतना नहीं जितना कि रूप-संवेदना।

अब निराला की 'तरंगों' का अनुभव लीजिए और दोनों कवियों का अन्तर देखिए—

यहाँ रास का संकेत देने वाला कोई शब्द नहीं है—सिवा 'मण्डलाकार' के, जोकि अनायास ही तरंगों का सहज विशेषण बनकर आ गया है—फिर भी चित्र में उसका पूरा सजीव स्पन्दन अनुभव होता है। पंत में 'मरुत-मुरली की धुन' भी है; लहरों के 'गृह-पुलिन नांघने' का ज़िक्र भी है: रूपक को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु निराला की पंक्तियों में शिल्प का वैसा सचेतन उद्योग नहीं है। एक तीव्र भावना, एक रसावेश है जो तरंगों से उत्पन्न होकर तरंगों से ही तदात्म हो जाता है, और उन्हें भी अपने भीतर खींच ले जाता है। "किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर, आती हो तुम सजी मण्डलाकार"···यह दृश्य-संवेदन अनुभूति के एक ही क्षण में पूरे बिम्ब को प्रत्यक्ष सजीव कर देता है। किसी सादृश्य-विचार का अंतराल महसूस ही नहीं होता।

यह एक पूरी चित्रानुभूति है। दूसरे पैराग्राफ़ में यह संवेदन अपनी ही लयगति से दूसरे संवेदनों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। पहला चित्र अपने-आप में पूर्ण है, उसमें अभी कवि की आत्म-स्थिति का उलझाव-जुड़ाव नहीं है: वह एक निरपेक्ष सौन्दर्य का निरपेक्ष-सम्पूर्ण संवेदन है। दूसरे पैराग्राफ़ में यह संवेदन और अधिक आन्तरिक बनकर कवि के अन्तर्जीवन में और गहरे उतरता है; दूसरे शब्दों में सौन्दर्यानुभूति और अधिक 'जीवन' समेटती है अपने प्रवाह में; और यह 'जीवन' तरंगों के अपने 'जीवन' से अभिन्न है, उस पर आरोप नहीं है, न उसकी सजावट। तरंगों का जीवन और मनुष्य का जीवन दोनों एक-दूसरे में प्रवाहित होने लगते हैं:

"गन्ध-मन्द-गति कभी पवन का मौन भंग उच्छ्वास
छाया-शीतल तट के तल आ तकतीं कभी उदास
क्यों तुम भाव बदलती हो
हँसती हो, कर मलती हो।"

यहाँ लहरें 'कवि' हैं और कवि 'लहरें'···। किन्तु इसके फ़ौरन बाद 'लहरें' फिर लहरें हो जाती हैं और दूसरा पैराग्राफ़ पहले की लय को फिर समेट ले जाता है (चंचल चरण बढ़ाती हो, किससे मिलने जाती हो?)

पहले की टेक दुहराकर मूल संवेदन की एकता को व्यंजित करते हुए कवि बड़े बारीक़ प्रच्छन्न कौशल के साथ दूसरे पैराग्राफ़ का नया संवेदन भी उसमें मिला देता है।

तीसरे पैराग्राफ़ के शुरू होते-न-होते तरंगों के साथ कवि के संघर्षशील व्यक्तित्व का अधिक घनिष्ठ उलझाव प्रकट हो जाता है।

"बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी
दग्ध चिता के कितने हाहाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी
अबलाओं की कितनी करुण पुकार !"

विशेषता यह, कि तरंगें जिस प्रकार आवेग के एक धक्के को समेटकर, दूसरे धक्के से प्रभावित होती हुई···अपने को लगातार विस्तृत करती चलती हैं—सहज नम्यता और समीकरणशीलता के साथ; उसी प्रकार कवि की भाव-तरंगें भी उसी लय-गति के साथ अपने आवेगों को क्रमशः समेटती हुई अग्रसर हो रही हैं। जो सन्तुलित गत्वरता तरंगों में है, वही कवि के आवेगों में और वही उसके लय-तुक और शब्द-विन्यासों में।

इन पंक्तियों में कवि एक साथ व्यक्ति और व्याप्ति होकर बोल उठा है। यहाँ कवि का व्यक्तिगत जीवन और व्यापक मानवीय जीवन दोनों एक सुपरिचित बिम्ब-दृश्य की अनुभूति से एकाकार हो गए हैं। तरंगों का अनुभव अपने ही अन्दरूनी दबाव से जीवन और मृत्यु के अनुभव में अर्थान्तरित हो गया है : बिना किसी अतिरिक्त विचारणा (आइडिएशन) के आरोप के। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति की लय-गतियाँ पृथक्-पृथक् न रहकर कवि की वैयक्तिक संवेदना के संपीड़न में एक हो जाती हैं। रूपक का आश्रय लेकर कहूँ तो यहाँ कवि की संवेदना वह पैण्डुलम है जो सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति के दो छोरों को पल-पल एक-दूसरे की ओर आकर्षित करती रहती है—करते रहने को विवश है। कवि के रूप में वह अपने व्यक्तिगत जीवन की लय को प्रकृति की लय में और दूसरी ओर व्यापक मनुष्य की लय में ढूंढता-खोजता-मिलाता चला जाता है। इस प्रकार एक ही कविता में तरंगों का अपना जीवन भी पूरी छविमयता में अभिव्यक्त हुआ है और कवि का अन्तर्जीवन तथा व्यापक जीवन का सत्य भी। पन्त की कविता में "चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर, हम आलिंगन करतीं पल-पल···" यह आवेग-सृजित विचार नहीं है; इसमें चित्र और विचार एकीभूत नहीं; वे मिलाये गए हैं। जबकि इसके विपरीत "बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी दग्ध चिता के कितने हाहाकार···" में एक वास्तविक बिम्ब का अनुभव कवि की भोगी गई व्यक्तिगत अनुभूति और देखे हुए समष्टिगत हाहाकार का मर्म खींचे लेता है। इसीलिए उसके प्रति हमारी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी सीधी और गहरी होती है।

अब इन कविताओं के साथ प्रसाद की 'लहर' को रखकर देखें :

"उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परछाई-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर···"

इन पंक्तियों को पढ़िए और देखिए, क्या दीखता है? क्या जो आप देख रहे हैं, वह 'लहर' है? आप देख रहे हैं या सोच रहे हैं? शायद आप एक-एक शब्द पर अटकते हुए सोच रहे हैं। नहीं, ऐसे कुछ हाथ नहीं आएगा। पहले पूरी कविता पढ़ जाइए। तब नहीं जाकर आपको ये शब्द दीखेंगे, पकड़ में आएँगे। जोकि अभी हाथ में आ-आकर भी फिसले जा रहे हैं।

लीजिए, अब आपने समूची कविता पढ़ डाली और अब फिर से पढ़ रहे हैं। आप इस 'लहर' को पकड़ना चाहते हैं··· अनेक अमूर्त चित्रों से घिर-घिर जाते हैं। आपने पन्त में 'मलय-मारुत' की वंशी सुनी थी; यहां आप 'मलयानिल की परछाईं' को पकड़ने दौड़ रहे हैं। यह मलयानिल आपको छायावाद में बीसियों बार मिला है। प्रथम आवृत्ति में आपका ध्यान इस ओर गया भी नहीं होगा। काव्य-रूढ़ि में काव्य कहाँ?···आपने सोचा होगा; और प्रसाद की रूढ़िग्रस्तता से आप संकुचित भी हुए होंगे। फिर आप यहाँ अटके क्यों हैं? क्या कोई सूक्ष्म तत्त्व झलक मार रहा है?

स्पष्ट ही, यह 'मलयानिल' भिन्न है। वह रूढ़ार्थ पीछे छूट गया है। एक तो मलयानिल वैसे ही अमूर्त···, फिर उसकी भी परछाईं···यह लहर! 'परछाईं' से कितना कुछ व्यंजित होता है! आपको 'अभिनयमय परिवर्तन' की याद आती है और इसी कविता के आगे की पंक्ति—'यह खेल खेल ले ठहर-ठहर'। यह परछाईं 'करुणा की नव अँगराई' और 'सूखे तट' से जुड़कर क्या देती है? ऊपर कहा गया कि प्रसाद में हर चीज प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। इसलिए नहीं कि वे प्रतीक रचना चाहते हैं बल्कि इसलिए कि प्रतीक उन्हें घेर-घेर लेते हैं। वे सीधे भावावेश में या सौन्दर्य-संवेदन में से कविता रचने नहीं बैठते—बल्कि वे अपनी संवेदना का मनन-मंथन करते हैं—अपने तमाम जीवनानुभव और ज्ञानात्मक चेतना के आलोक में; यहाँ तक कि वस्तु का मूल संवेदन एक बोध-संवेदन में रूपान्तरित होने लगता है और इस अवस्था में वे लिखने बैठते हैं। मानो वे किसी एक कविता द्वारा किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक वस्तु को, किसी एक भावस्थिति को अभिव्यक्त नहीं करना चाहते बल्कि प्रत्येक कविता द्वारा अपने सम्पूर्ण बोध को, अपनी सम्पूर्ण आत्मवत्ता को पकड़ना चाहते हों। इस प्रकार उनकी प्रत्येक कविता उसी एक 'बड़े जीवन' की छोटी कथा बन आती है।

और यह कथा कभी बासी नहीं पड़ती। शब्द दुहराए जाते हैं मगर उनके अर्थ और प्रयोजन नहीं। प्रत्येक बार वे नये ढंग से हमारे साथ पेश आते हैं। समझने-बूझने की नई चुनौतियाँ लेकर। मैंने कहा कि प्रसाद बौद्धिक कवि हैं। रहस्यवादी वे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। बौद्धिक कवि से अभिप्राय बुद्धि का कवि नहीं, बल्कि बौद्धिक संवेदना का कवि है। प्रसाद गहन संवेदना के कवि हैं और संवेदन भी कैसा ?····"संवेदन जीवन-जगती को, जो कटुता से देता घोंट" (मनु का मन था विकल हो रहा, खाकर संवेदन की चोट) किन्तु वे इस 'संवेदन' को उसकी तात्कालिक विह्वलताओं से नहीं गढ़ते। वे उसे अपनी बुद्धि—अपनी प्रचण्ड बौद्धिकता—में से छानकर थिराने देते हैं। प्रसाद की यह बौद्धिकता उनकी नितान्त अपनी बौद्धिकता है जिसे उन्होंने साधना द्वारा अपना 'पितृऋण' चुकाकर—परम्परा को अस्थि-मज्जा तक पचाकर अर्जित किया है। यह पचाने की प्रक्रिया इतनी दीर्घ और अनवरत रही है—इसमें उनकी इतनी जिजीविषा खपी है कि परम्परा का जीवन उनके भीतर उनकी व्यक्तिगत जीवनी के समान ही रच गया है। और दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध स्थापित होता चला गया है। उनकी व्यक्तिगत अनुभूति—व्यक्तिगत संवेदन—इस सांस्कृतिक जीवन की ज्ञानात्मक चेतना से टकराकर परावर्तित और प्रतिच्छायित होता है। इसीलिए, यदि उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाए तो अचरज की बात नहीं। वह स्वाभाविक है। जो व्यक्तिगत है, निजी है, वह इस संस्कारी बोध से छनकर उससे संघर्षित और अनुकूलित होकर ही बाहर को आता है। इतना अवश्य कहा जाएगा और यह प्रसाद की आलोचना का एक बुनियादी नुक्ता हो सकता है कि इस प्रक्रिया में अनुकूलन जितना है, संघर्षण उतना नहीं। यह प्रसाद की सीमा—शायद हमारी पीढ़ी के दृष्टिकोण से बहुत बड़ी सीमा—है।

ऊपर उद्धृत अनेक परस्पर सम्बद्ध कविताओं के भीतर से गुज़रते हुए हम पहली कविता पर लौटें तो हम उसे अधिक पाते हैं। 'अशोक की चिन्ता' में हम पढ़ते हैं :

"आँसू कन-कन ले छल-छल, सरिता-भर रही दृगंचल
सब अपने में हैं चंचल, छूटे जाते सूने पल"

'करुणा की नव अँगराई' एक मानवीय चित्र और एक प्रज्ञात्मक अनुभूति का यौगिक है। 'आँसू कन-कन ले छल-छल' यहाँ अधिक संवेदनमय, अधिक संश्लिष्ट ज्ञानात्मक अर्थ पा जाता है; इसीलिए अधिक मार्मिक भी। 'करुणा' और 'अँगराई'—दो दूरवर्ती शब्दों की अर्थात्माओं को पास खींचकर कवि ने कैसी व्यंजना उत्पन्न कर दी है! 'करुणा की नव अँगराई-सी'···जीवनानुभूति यहाँ विशिष्ट होकर भी सामान्यता से बहिष्कृत नहीं है। 'अँगराई' में जागरण, यौवन, सौन्दर्य और सुषमा की व्यंजनाएँ बोलती हैं और 'करुणा' में एक सांस्कृतिक बोध का अर्जित संवेदन। दोनों को एक कर दिया गया है। 'मलयानिल की परछाईं' की तरह। परछाईं भ्रम होते हुए भी सत्य (गोचर-संवेद्य) है, मलयानिल अदृश्य-अमूर्त होते हुए भी लहर का स्रष्टा और कारणभूत है। मूर्त और अमूर्त का सन्धि-स्थल है मनुष्य की 'चेतना' जो दो दुनियाओं में एक साथ विचरने को विवश है। उसकी प्रत्येक अनुभूति उसके अस्तित्व के इस मूलगत द्वैत में निहित है। और कवि की हैसियत से उसकी एक लड़ाई अपनी इस 'अस्तित्वपरक स्थिति' (एक्जिस्टेंशियल कंडीशन) से भी है। उसे 'जीवन की सुघराई' भी चाहिए और 'सत्य की सुघराई' भी······। फ़िलहाल इस कविता की आगे की पंक्तियाँ देखिए :

"उठ-उठ, गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पदचिह्न बना जाती
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल-सिहर"

'तरल-सिहर' की व्यंजना पर ध्यान दीजिए और इन पंक्तियों के मर्म-वैशिष्ट्य को पकड़ने के लिए एक दूसरी कविता पढ़िए। वही इसकी व्याख्या और पर्याप्त टिप्पणी भी होगी शायद।

"कितने दिन जीवन जलनिधि में,
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी कूल चूमने चलकर,
उठती-गिरती-सी रुक-रुककर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी मधु-संगीत निनादित,
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गाएगी वंचित,
पागल-सी इस पथ-निरवधि में
दिनकर, हिमकर, तारा के दल,
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनावेंगे निज चंचल,
आशा की माधुरी अवधि में

प्रसाद की लहर "अस्थिर आशा का अभिनय" नहीं है। वह 'आशा की माधुरी अवधि' है; 'करुणा की नव अँगराई' है। चूंकि जिनके लिए उसने "सब अपने में हैं चंचल" कहा है, वह स्वयं उनमें न होकर उनका साक्षी, उनका कवि है, अतः इसीलिए वह अकेला भी है ("छूटे जाते सूने पल"...)। इन सूने पलों को सार्थकता कौन देगा ? इसके लिए वह उसी 'करुणा' का आह्वान करता है।

"तू भूल न री पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर"

यह करुणा महज़ भक्ति के रसावेश में से प्राप्त किया गया आश्वासन नहीं है। 'कन-कन अनन्त अम्बुधि' बनते देखकर वह कहता है, "कब रुकती लीला निष्ठुर"; और मनुष्य के अश्रुओं को समेटने वाले सूर्योदय में वह 'रोष भरी लाली' देखता है। नर की करुणा से ही वह संवेदित है। वह स्वयं को 'तरल गान' गाते हुए भी 'वंचित' ही महसूस करता है। विकल अनिल (ज़रा 'मलय-अनिल' से इसकी संगति मिलाइए) से प्रेरित जीवन जलनिधि की लहरें उस निरवधि, उपलब्धि-शून्य पथ की यात्रिक सरीखी ही जान पड़ती हैं। फिर वह किस करुणा का आह्वान कर रहा है ? निश्चय ही वह रूढ़ आस्तिक विश्वास की करुणा नहीं है। प्रसाद उस तरह के आस्तिक नहीं हैं। तब ? क्या यह बौद्ध करुणा ('महाकरुणा') है ? उत्तर इतना आसान नहीं है। संभवतः इसका सम्बन्ध उस 'प्रज्ञा' से है, जिसका अनुभव पाने के लिए प्रसाद ने आजीवन साधना की और जिस साधना में उन्होंने अपने व्यक्तित्व से भरसक लगातार पलायन किया। पलायन ! लेकिन जीवन से नहीं; अपनी व्यक्तिता से। यदि 'व्यक्तित्व से पलायन' में आपको एलियटी छूत प्रतीत होती हो तो आप 'व्यक्तित्व का होम' कह सकते हैं। उसमें छूत भी न होगी और भारतीयता भी ज्यादा रहेगी।

ऊपर 'लहर' के विश्लेषण के दौरान प्रसाद के कवि की एक मूलभूत पर्युत्सुकता का संकेत उभरा है। मानवीय चेतना में निहित अस्तित्व के द्वैत की समस्या, जो प्रसाद में बार-बार उभरती है। हम पाते हैं कि प्रसाद की कवि-चेतना वैराग्य-विषाद और अनुराग-आह्लाद की एक अजीब रंग-स्थली-सी है। उनका वैराग्य अधिक मूलभूत है (हालांकि इतनी विलासी, ऐश्वर्यमयी कल्पना छायावादी कवियों में किसी को प्राप्त नहीं) : नील (विषाद) गगन की भाँति, जिसमें अनुराग के रंग खिलते और विलीन हो जाते हैं। प्रसाद का विराग व्यक्तिगत अनुभूति और सांस्कृतिक अनुभव का अविच्छेद्य यौगिक है। यही उनके अनुराग-क्षणों को—विलास-वृत्ति को भी—सौन्दर्य, अर्थ और एक पवित्र प्रभामयी गरिमा दे देता है। (उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की कितनी है मोहमयी माया...)

मनुष्य की अस्तित्वपरक परिस्थिति में निहित द्वैत की करुणा प्रसाद की कवि-संवेदना में एक स्थायीभाव की तरह बद्धमूल है।

वेदना-विकल यह चेतन
जड़ का पीड़ा से नर्तन
लय-सीमा में यह कम्पन
अभिनयमय है परिवर्तन
चल रहा कभी से यह कुढंग

इन पंक्तियों की संश्लिष्ट व्यंजना को देखिए। यह पश्चिमीय या फ्रायडीय दुःखवाद नहीं है। उमरखैयामी विम्ब-योजना तक प्रसाद के यहाँ नई अर्थच्छवियाँ उभारती है।

इन पंक्तियों में 'बिम्ब' है। किन्तु कवि की दृष्टि सर्वथा आशय के सारपूर्ण अंकन की है। एक-एक शब्द सटीक-सारगर्भित है। 'लय-सीमा में यह कम्पन' पढ़ते ही हमें 'आँसू' की "चेतना-लहर न उठेगी; जीवन-समुद्र थिर होगा" का स्मरण हो आता है। देखने की बात है कि किस प्रकार प्रसाद अपनी अनुभूति को बौद्धिक सारतत्व में—कहूँ कि 'बौद्धिक बिम्ब' में ढालने के अभ्यस्त हैं। दर-असल वे अनुभूति की बजाय अनुभूति का आसव पेश करते हैं। चौथी पंक्ति की गढ़न देखिए......"अभिनयमय है परिवर्तन"। वे चाहते तो मायामय भी कह सकते थे। फिर उन्होंने 'अभिनयमय' क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा ? अभिनयमय में जो व्यंजनाएँ हैं (एक साथ खीझ, नैराश्य, वंचना, विनोद और लीला की) वे भायामय में कहाँ ?

"आलोक किरन है आती, रेशमी डोर खिंच जाती
दृग-पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती"
कलरव कर सो जाते विहंग

कितनी नश्वरताओं का अनश्वर बिम्ब है ! ···आयु की, संकल्प की, प्रेरणा की, दृष्टि की।···

इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में
उलझा है चंचल मन-कुरंग

यह है विशुद्ध वैराग्य का काव्य ! विशुद्ध और सारमय। प्रसाद में कोई भी शब्द महज़ अलंकरण नहीं होता। प्रत्येक शब्द उनके अन्तर्जीवन (और बुद्धिजीवन) में गोता लगाकर बाहर आता है। यह ऐसा दावा है जो छायावाद के किसी अन्य कवि के बारे में नहीं किया जा सकता।

●

अपने सहवर्त्तियों के बीच प्रसाद की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए—पन्त और निराला के साथ उनकी तुलना के आधार जुटाने के लिए तीनों की लगभग एक ही विषय से प्रेरित एक-एक कविता को नज़दीक से विश्लेषित करने के बाद अब कुछ सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है।

प्रसाद का अपना स्वर, अपनी टोन है जिसके द्वारा वे अपनी एक-दो पंक्तियों के द्वारा ही पहचान में आ जाते हैं। उनकी प्रारंभिक कविताओं की भाषा और शिल्प में पंत और निराला जैसा विस्फोटक नयापन नहीं है। किन्तु जहाँ इन दोनों कवियों की कविता में उनकी अपनी व्यक्तिगत आवाज़ काफ़ी देर बाद सुनाई देती है, वहाँ प्रसाद का कवि अपेक्षाकृत जल्द ही वयस्क होकर अपनी आवाज़ में अपनी बात कहने का आत्मविश्वास प्राप्त करने लगता है। इसके बावजूद वह कम रोचक और श्रुतिमधुर है क्योंकि उसकी समस्या पद्य में सच बोलने की एक पुष्ट और समर्थ शैली विकसित करने की है—परम्पराप्राप्त भाषा को अपनी वाणी के रूप में स्पष्ट अनुभव करने की है; वह उतना आत्म-सम्मोहित नहीं है जितना कि वाक्-सम्मोहित। न केवल ब्रजमाधुरी के विरुद्ध हिन्दी गद्य के ठण्डे विकास को—व्यवस्थित और स्पष्ट अभिव्यक्ति की उसकी नवजात क्षमताओं को—प्रसाद का पद्य अपने भीतर समेटता है, बल्कि अपने पूर्ववर्त्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्दविधियों की भी सामर्थ्य की भरपूर छानबीन करता चलता है।

प्रसाद में आवेग-सर्जित लयकारियों की वैसी समृद्धि नहीं है जैसी कि निराला में हम देखते हैं। उनमें भाषा के प्रति वैसी मोहमुग्धता, रूपतंत्र की नई-नई उद्भावनाओं का उत्साह भी नहीं लक्षित होता। उनके भाषिक संवेदन में निराला का लचीलापन नहीं है। शब्दों के रंग-रूप की उनकी रीझ-बूझ सीमित है। शब्दों का वज़न और तुमुल भी उन्हें आकर्षित नहीं करता, शब्द उनके यहाँ बाँध तोड़कर नहीं बहते···धीरे-धीरे विन्यस्त होते हैं। निराला कई बार शब्दों को किसी शाहखर्च की तरह अबाध-अरोक गति से अपने भीतर से बाहर को फेंकते प्रतीत होते हैं : अपने निहित-संभाव्य अर्थों के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का प्रचण्ड दुर्दम वेग भी उनके शब्द वहन करते और झलकाते प्रतीत होते हैं मानो यह भी उनके कवि-कर्म की अनिवार्यता हो और कमाल यह कि अक्सर यह अतिरिक्तता पाठक को खलती नहीं—उसके आलोचकत्व को उकसाती नहीं; वह छूट दे देता है। बिना जाने-महसूसे कि वह छूट दे रहा है। निराला का प्रचण्ड वेग ही मानो पाठक की सजगता को शिथिल कर देता है। शब्दों की यह ऊर्जस्विता और अतिरिक्त दीप्ति प्रसाद के यहाँ बहुत कम देखने को मिलती है। हाँ, उनकी ध्वन्यात्मक संवेदना निश्चय ही विशिष्ट है। हालाँकि उसमें निराला जितना वैविध्य नहीं है; तो भी यह शायद इसीलिए है कि वह स्वभावतया अधिक विशेषीकृत है और इसी कारण उनकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए पर्याप्त भी। प्रसाद शब्द की ध्वनि का अपने स्वरों की सीमाओं में विशिष्ट उपयोग करते हैं (उनका संगीत व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों पर अधिक अवलम्बित है) किन्तु उनकी लयगति निराला की अपेक्षा कम स्वतन्त्र है। निराला का छन्द पर असाधारण अधिकार है। यह कहना कुछ विचित्र लगेगा किन्तु कहे बिना रहा भी नहीं जाएगा कि मुक्त छन्द में मुझे प्रसाद की गति अधिक सहज और मुक्त प्रतीत होती है—बनिस्बत निराला के। विशेषकर लम्बी कविताओं में। 'शिवाजी का पत्र' की तुलना आप 'प्रलय की छाया' से करके देख सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक न होगा कि अपने भाव-संवेगों (अन्ततः अपने व्यक्तित्व) पर प्रसाद को निराला की अपेक्षा अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशासन सिद्ध था। और उपयुक्त वस्तु-स्थिति पाकर उसकी अभिव्यक्ति भी अधिक मितव्यय-सुघर हो जाती थी।

निराला की वे लम्बी रचनाएँ अधिक सफल हैं जिनमें छन्द का अनुशासन है। बल्कि छोटी कविताओं तक में जहाँ छन्द जितना ही जटिल है, भाव-संवेग उतनी ही सुन्दरता के साथ व्यक्त हुए हैं। प्रसाद में स्थिति इसके विपरीत नहीं, तो भिन्न अवश्य है। वे चुनी हुई सरल-साधारण लयगतियों में सूक्ष्म-संश्लिष्ट भावों की योजना कर देते हैं। बात यह है कि प्रसाद में भाव-संवेगों की मूल शक्ति-प्रेरणाएँ काव्य नहीं रचतीं—एक दीर्घ अनुशासित भाव-साधना में से छनकर कविता निष्पन्न होती है। इसीलिए वे पहले से सुघर-व्यवस्थित रहती हैं और मुक्त छन्द की मुक्तता में भी बिखरती नहीं; जबकि निराला में भाव-संवेग अपनी मौलिक तीव्रता और विह्वलता में ही काव्य का कारण बनता है। अतः उसके सुन्दर काव्याभिव्यक्ति में परिणमित होने के लिए छन्द का अनुशासन आवश्यक और सहायक-साधक होता है। प्रसाद के स्वभाव में ही इतना संयम और अनुशासन है कि उन्हें अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनुशासन और अतिरिक्त सजगता की उतनी ज़रूरत नहीं पड़ती।

प्रसाद की कुछ लयगतियाँ उन्हें इतनी अनुकूल पड़ती हैं—उनके कवि-स्वभाव से इतनी समरस हो गई हैं कि वे कवि की अपनी विशिष्ट आवाज़ की अनुगूंज-सी रच जाती हैं हमारे कानों में।··· "जगे हम लगे जगाने विश्व"···, "हिमाद्रि तुंग-शृंग से"···, "इस शिथिल आह से खिंचकर, आओगे तुम आओगे···", "उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की, कितनी है मोहमयी माया"···, "अब जागो जीवन के प्रभात", "हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर", "बीती विभावरी जाग री"··· इत्यादि उनकी कुछ चुनी हुई लयगतियाँ हैं, जिनकी सामर्थ्य का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है और जिनका संगीत मानों प्रसाद की कविता का खास अपना, बहुत अपना संगीत है; उनका खास अपना आविष्कार है। निराला की प्राणशक्ति अधिक दुर्दम है। इसलिए उनकी लयात्मक उद्भावनाएँ भी संख्या में अधिक हैं; अधिक रोचक भी। निराला ने हिन्दी भाषा की सांगीतिक संभावनाओं का अधिक दूरगामी उपयोग और विस्तार किया है। उनकी कविता भाषा के अधिक स्तरों पर कार्यशील हुई है—पन्त या प्रसाद की तुलना में। पन्त का भावजगत् इन दोनों की अपेक्षा संक्षिप्त और सीमित है, अतः उनके यहाँ शिल्प-तंत्र को अतिरिक्त महत्त्व मिला है और उस दृष्टि से उनका योगदान उल्लेखनीय है। किन्तु वह योगदान "वागर्थसम्पृक्ति" के सूक्ष्म स्तरों पर बहुत कम है; रूपगठन और कलात्मक परिष्कार के स्तर पर ही वह अधिक सक्रिय है। उनकी कोमलवृत्तियाँ स्वभावतः वहीं अधिक रमती हैं जहाँ मानवीय जटिलताएँ अनुपस्थित हों या उन्हें सरल कर लिए जाने की गुंजाइश हो। प्रकृति-वर्णन में वे इसीलिए सफल और काफी कुछ मौलिक हो सके क्योंकि यह उनके लिए अनुकूल क्षेत्र था। प्रकृति जड़ है और वह कल्पना को कम-से-कम प्रतिरोध देती है। पन्त उसी सौन्दर्य के कवि हैं जिस तक कम-से-कम प्रतिरोध और संघर्ष द्वारा पहुँचा जा सके। प्रकृति उन्हें यह सुविधा देती है। उनकी वृत्ति हर चीज़ को सरल, सुन्दर और स्वप्निल करने की है और अक्सर वे ऐसी ही वस्तु चुनते भी हैं। विवादी भावों को साधना उनके बस की बात नहीं (निराला तो स्पष्ट ही कहते हैं: "स्वरविवादी ही लगा")। न वह 'पैशन' ही उनमें था कि वे अपने-आपको किसी आवेग में या किसी दार्शनिक बेचैनी में पूरी तरह झोंक सके। फिर भी उनके 'परिवर्तन' में एक आश्चर्यजनक (अभूतपूर्व और अभूत्पश्चात्) लयात्मक उत्तेजन है। शायद पहली बार उन्हें उद्वेग, शंका और अनाश्वस्ति की मनःस्थितियों को झेलने-समझने की कोशिश करने का उत्साह और साहस हुआ। 'ग्रंथि' और 'उच्छ्वास' में भी कुछ ऐसे स्थल हैं। ऐसे स्थलों पर उनका रूपतंत्र भी विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। किन्तु मुश्किल यही है कि वे ऐसी मनःस्थितियों को देर तक सहन नहीं कर पाते। एक स्वप्नशीलता ही उनके अन्तर्जीवन की नियामक-प्रेरणा बन रहती है। एक बार फिर 'ग्राम्या' में आकर वे अपनी अतिस्वप्निलता से जगते हैं और प्रकृति की पृष्ठभूमि में जीवित मनुष्य पर दृष्टिपात करते हैं। पूरी तरह उलझ जाना तो उनके बस की बात नहीं है पर उन्होंने कम-से-कम उसके नज़दीक आने का प्रयास तो किया ही है। जीवन से थोड़ी भी निकटता हासिल करने पर एक सौन्दर्य-चेतन शिल्पी कवि कितना कुछ दे जा सकता है, इसका प्रमाण 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ देती हैं: 'धोबियों का नृत्य' जैसा मौलिक छन्द-शिल्प, 'भारतमाता ग्रामवासिनी' जैसी गहरी भाव-सृष्टि और "अन्धकार की गुहा-सरीखी उन आँखों से डरता है मन" जैसे टिकाऊ शब्दचित्र और मानवीय संस्पर्श···।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नौकाविहार' इसीलिए बराबर अच्छी लगती है कि उसमें कवि छन्द को और शब्दों को अपने साथ चला सकने में सफल हुआ है। उसमें विषयवस्तु की एक विश्वस्त प्रगति है। उसका शब्द-कोष भी ज्यादा लचीला है और लय-योजना भी। हर पंक्ति को कविता बनाने की अस्वाभाविक और व्यर्थ कोशिश उसमें नहीं है। वर्णन के साथ विचार और संवेदन (सेंसेशन) की लय गुँथी हुई है और अपनी भाषा को कवि अवसरानुकूल मोड़ सका है। साथ ही उसमें थोड़ी हरकत (एक्शन) भी है: वर्णन जड़ और अगत्यात्मक नहीं है। अनावश्यक अलंकरण भी कम-से-कम है। 'धोबियों का नृत्य' में भी शिल्प की यह समतोल व्यवस्था और यथेष्टता सराहने योग्य है। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत 'ग्राम-युवती' में सन्तुलन बिगड़ जाता है। कौशल उघड़ जाता है और वस्तु की संवेदना उससे आच्छादित हो जाती है। कौशल यूँ ज़रूरी है किन्तु वह वस्तु में अंतर्हित हो जाना चाहिए। वही उघड़ जाए तो बाकी सब-कुछ गड़बड़ा जाता है। 'वसन्त' में क्या कम कौशल निहित है? किन्तु वह वस्तु-संवेदन में रच-खप जाता है और हम उस अनुभूति में ही रम जाते हैं—उसके उपकरणों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। सामान्यतया पन्त में यह ख़ूबी समूची कविताओं में कम और अलग-अलग खण्डों में अधिक परिलक्षित होती है। जबकि इसके विपरीत प्रसाद की कविता का आस्वाद एक समूची, अखण्ड रचना का आस्वाद होता है।

प्रसाद को अपना कौशल छिपाने की ज़रूरत ही नहीं जान पड़ती। वे कौशल से बहुत काम लेते प्रतीत ही नहीं होते। उनका 'अर्थ' रूप के साथ संघर्ष करता नहीं महसूस होता। उनकी प्रतिभा का रुझान रूपकथात्मक है। भाषा से भी ज्यादा वे रूपों में (मधुप, झरना, लहर, भिक्षुक आदि) अपनी अभिव्यक्ति खोजते हैं। क्या ऐसा किसी भाषिक अक्षमता के कारण था? शायद नहीं; क्योंकि वे भाषा के कई प्रकारों से अच्छी तरह परचे हुए थे। उनकी कुछ कविताएँ ही नहीं, उनकी कहानियाँ भी प्रमाण हैं कि न वे आदमी की सामाजिक-वैयक्तिक जटिलताओं के प्रति उदासीन थे और न उसके वास्तविक परिवेश और भाषा के प्रति। निश्चय ही, जैसा कि पहले ही संकेत किया गया, उनकी भाषिक संवेदना निराला की तुलना में कम विस्तृत और कम सजग है और उनकी शब्द-साधना भी अधिक विशेषीकृत होने के कारण अन्य कवियों के लिए निराला की तरह आकर्षक और फलदायी नहीं जान पड़ती। (निराला का अनुकरण किया जा सकता है और यह प्रारम्भिक अभ्यास फ़ायदेमन्द भी हो सकता है; कवियों के दीक्षागुरु वे हो सकते हैं रूपतंत्र की दृष्टि से विशेषकर। किन्तु प्रसाद का अनुकरण न तो उतना आसान है और न उतना सुरक्षित; उस अर्थ में कवियों के कवि वे नहीं हैं; उनके शब्द एक विशेष वातावरण में ही साँस लेते हैं—कदाचित् इसीलिए भाषा के सामान्य प्रदूषण और भ्रंश की प्रक्रियाओं से वे अपेक्षाकृत सुरक्षित और मुक्त भी साबित हों; किन्तु क्या इसी कारण विशेष रुचि और दीक्षा की माँग करने वाला उनका कवि सुदूर और दुर्लभ नहीं पड़ जाता?)

दरअसल उनकी रूप-आसक्ति एक विशेष प्रकार की अर्थाशक्ति का अनिवार्य परिणाम है, जिसका विश्लेषण करते हुए हम किसी नतीजे पर शायद पहुँच सकें। सभी जानते हैं कि प्रसाद भारतीय संस्कृति और भारतीय तत्त्व-चिन्ता के गहरे अध्येता थे। परन्तु इस तथ्य को भी महसूस करना आवश्यक है कि उनका यह अध्ययन मात्र अध्ययन—पांडित्य-लालसा—नहीं था। उसमें उन्होंने अपना व्यक्तित्व—अपनी जिजीविषा ही—झोंक रखी थी। अतीतजीवी का भ्रम यहीं से खड़ा होता है। पर वह भ्रम ही है और भ्रम से भी भयंकर अर्द्धसत्य। प्रसाद उन लोगों में से हैं जो अपने-आपको भी संस्कृति की आँख से देखते हैं। उन्होंने आजीवन उस सांस्कृतिक आँख को पाने के लिए तप किया। यह तप कठिन है और ज़रूरी भी; ऐसे युग में तो और अधिक (खासकर हमारे यहाँ) जबकि आदमी की संवेदना और उसकी संस्कृति के बीच के सारे सेतु भरभरा चुके हों। भारतवर्ष में तो यह स्थिति सबसे ज्यादा करुण है जिसका विश्लेषण फिलहाल अप्रासंगिक होगा। बहरहाल मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रसाद ने स्वयं को भारतीय दृष्टि से इस कदर तदात्म कर दिया था कि उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति काव्य में उसी दृष्टि के द्वारा सम्मत विधियों से ही सम्भव थी। उनका अतिक्रमण करना उसके लिए बेईमानी होती। हमारे दृष्टिकोण से तो नहीं, किन्तु उनके दृष्टिकोण से—शायद। अतिक्रमण वे कर सकते थे लेकिन नहीं कर सके। क्यों? ('स्कन्दगुप्त' की रचनात्मक विडम्बना ही देख लीजिए)

प्रसाद की व्यक्तिगत मनीषा पर भारतीय मनीषा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोझ था जो उन्होंने स्वेच्छा-आग्रहपूर्वक धारण किया था। उसके साथ अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को उन्होंने तदाकार कर लिया था। मेरा अन्धविश्वास है कि बीसवीं सदी के किसी भी भारतीय कवि ने इस बोझ को इतना और इस तरह वहन नहीं किया होगा, जितना कि प्रसाद ने। प्रसाद की भारतीयता निराला, अज्ञेय और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा कहीं अधिक ज़िम्मेदार, आधिकारक और विशाल थी। वे ब्राह्मणों के ब्राह्मण और बौद्धों के भी बौद्ध थे।

निराला के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी कविता की सीमाएँ अनेक व्यक्तित्व की सीमाएँ हैं। एक दूसरी अतिवादी स्थापना यह भी देने को मन करता है (क्योंकि बिना अतिरंजना के तो सत्य भी नहीं कहा जाता; हिन्दी में तो और भी नहीं) कि प्रसाद के कवित्व की सीमा भारतीय काव्य-दृष्टि की सीमा है। इस बात पर थोड़ा विस्तार से विचार करना होगा।

रचना क्या होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके पीछे जो भी कारणभूत दबाव और वस्तुस्थितियाँ रही हैं, उन्हें बोध के किस स्तर पर एकाग्र और संघटित होना पड़ा है। जिस तरह जीव के विकास का इतिहास अस्तित्व के लिए संघर्ष का इतिहास है, उसी प्रकार जीवन के अर्थ का इतिहास भी अस्तित्व के लिए संघर्ष का ही इतिहास है। इसलिए सबसे ज्यादा कविता वहाँ होनी चाहिए जहाँ यह संघर्ष सबसे ज्यादा बुनियादी और व्यापक हो। कवि का व्यक्तित्व मानो एक रणक्षेत्र है जिसमें अब तक का अर्जित मानवीय ज्ञान और अर्थ उन सारी चीजों और स्थितियों के विरुद्ध संघर्षरत होता है जो उस अर्थ को निरर्थक किया चाहता है।

प्रसाद की कविता में मानवीय अर्थ के लिए यह संघर्ष मौजूद है। वही उसे एकत्व भी देता है। किन्तु कठिनाई यह है कि उनका आग्रह इस संघर्ष को कुछ आदिम रूपों (रूपकथाओं) और एक विशिष्ट संस्कृति-प्रसूत प्रतीकों और अवधारणाओं के टर्म्स में परिभाषित करने का जान पड़ता है। उनके औज़ार कुछ पुराने पड़ गये लगते हैं। अर्थ के लिए भारत में जो संघर्ष किया गया उसको प्रसाद का कवि—झरना से लेकर कामायनी तक—एक उपलब्धि के रूप में मान लेता है। किन्तु मुश्किल यह है कि हमारी विचित्र विडम्बनापूर्ण ऐतिहासिक परिस्थितियों ने—शताब्दियों के सूने अन्तराल ने—हमारे भीतर उस अर्थ की जीवन्त सक्रियता को समाप्त-सा कर दिया है; उसे सुदूर और दुर्लभ बना दिया है। वह हमें इस युग के पूँजीपति 'अनर्थ' से संघर्ष करने के लिए पर्याप्त आत्मविश्वास और उत्साह नहीं जुटाता। एक अजीब अयथार्थता से ग्रस्त हो गई है हमारी सांस्कृतिक चेतना। दूसरे शब्दों में हमारी सामान्य मानवीय चेतना और हमारी सांस्कृतिक चेतना के बीच कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं रह गया, क्योंकि दोनों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष की परम्परा ही हमारे यहाँ नहीं बन सकी। जितना जो कुछ संघर्ष रहा, वह बहुत ही खण्डित और बिखरा-बिखरा…।

यह नितान्त सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी कठोर साधना द्वारा उस सांस्कृतिक चेतना-परम्परा के सर्वोत्कृष्ट को अर्जित कर ले (जैसा कि प्रसाद ने कर दिखाया) किन्तु इससे कवि की हैसियत से उसकी मुक्ति नहीं हो जाती। उसके अपने दृष्टिकोण से हो भी जाए, तो भी दूसरे परवर्ती कवियों के लिए उसका कृतित्व उतना सार्थक-उन्मेषकारी नहीं बन पाता।

हमने देखा कि प्रसाद अतीतजीवी नहीं थे। उनका व्यक्तित्व सरलीकृत भी नहीं था। वह निरन्तर संघर्षशील था अर्थ के लिए : बिलकुल विरोधी मनोभूमियों की कविता भी उनके यहाँ आमने-सामने मिल जाएगी। किन्तु हमें ऐसा लगता है कि वे पर्याप्त आलोचक नहीं थे—उस संस्कृति, उस दृष्टि के प्रति जिसे उन्होंने साधनापूर्वक अर्जित किया। उन्होंने उस दृष्टि को अपनी जीवनानुभूति का, अपनी बौद्धिकता का भी निकष-सा बना लिया। उनमें 'ट्रैजिक सेन्स' था। उनकी 'करुणा' एक जटिल संवेदना का समतुल्य है; सरल संवेदना का नहीं (जैसा कि उनकी कविताओं के पाठ से हम अनुभव करते हैं)। किन्तु यहीं तो एक गहरी शिकायत उमड़ती है कि उन्होंने अपनी जटिल संवेदना को ऐसे उलझे हुए (अर्थात् ज़रूरत से ज्यादा साफ़-सुथरे) रूप में क्यों व्यक्त किया? क्यों नहीं उन्होंने अपनी मनःस्थितियों को उनकी मूल आवेगात्मकता में उद्घाटित किया? क्यों उनकी कविता की ऊर्जा आवेगात्मक उन्मोचन की बजाय अर्थ के ऊर्ध्वगामी संचरण को ही संभव बनाने में व्यय हो जाती है। क्यों कवि के रूप में उनकी ज़िद अपनी चेतन-अवचेतन जीवनानुभूति को अति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतन (सुपरकांशस) बोध में उद्वाष्पित करने की है ? क्या कविता प्रसादजी के लिए आत्म-परिष्कार में ही है; आत्मा की अस्तव्यस्तता अराजकता और अनगढ़ता में नहीं ?

ग़ौर करके देखने पर यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्रसादजी ने अपनी कविता को अपने सांस्कृतिक बोध की सीमाओं के भीतर ही पाना और पनपाना चाहा। नहीं; उसकी सीमाओं के प्रति पर्याप्त स्वचेतन होने की निर्ममता उनसे नहीं सधी। उनके कवि-व्यक्तित्व पर 'व्यक्तित्व' की भारतीय धारणा का अंकुश रहा। काव्य में 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति कितनी, कैसी होनी चाहिए—इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि बहुत उन्मुक्त और उदार नहीं है। इस युग में वह चल नहीं सकती। किन्तु हम मानें, न मानें, हमारे अनजाने ही वह धारणा भारतीय कवि की स्वतन्त्रता को संकुचित और बाधित करती रही है। प्रश्न उस तरह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का ही नहीं है। वह दूसरी गहरी समस्या उपजाता है--अस्तित्व की अभिव्यक्ति की। और उस प्रकार का अंकुश यहाँ अनिष्टकर हो सकता है। कविता की समस्याएँ मात्र व्यक्तित्व की समस्याएँ नहीं हैं। आपने अपने व्यक्तित्व को कितना धीर, उदार, गहन या विस्तृत बनाया, इसे आपकी कविता प्रमाणित करे यह आवश्यक नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आपकी कविता आपके व्यक्तित्व के माध्यम से मानवीय अस्तित्व का कितना दबाव अपने ऊपर झेलती है; उसे कितना मूर्त और परिभाषित करती है। और अस्तित्व की समस्याओं को किसी एक संस्कृति (जो सक्रिय नहीं रही) की भाषा में प्रतिबिम्बित देखने की चेष्टा ग़लत न होते हुए भी अपर्याप्त है। वह प्रक्रिया बाद में अपने-आप काव्य-विकास की अनिवार्य परिणति के रूप में आए तो वह उस तरह आलोचना का विषय नहीं बन सकती। (हालाँकि बनती ही है फिर भी) किन्तु पहले से इस प्रक्रिया में उलझ जाना उसके काव्य-फल को कच्चा ही तोड़ लेने जैसा है। कविता जिन दबावों में से निष्पन्न होती है, उनमें से एक सांस्कृतिक चेतना भी है। किन्तु सबसे ज़रूरी और फलदायी दबाव वह है जो कवि को कहीं टिकने नहीं देता; उसके संस्कारी मन, सांस्कृतिक बोध में भी नहीं।

निश्चय ही ऊपर प्रसाद की कविता का जो विश्लेषण-विवेचन किया गया है, वह उक्त आरोप की धार को जगह-जगह कुन्द भी कर सकता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष में कविता और कवित्व की जो धारणाएँ रही हैं, उनमें उक्त प्रकार के संघर्ष के लिए गुंजाइश कम—काफ़ी कम—रखी गई है। उन पर वास्तविक मानवीय जीवनानुभूतियों का दबाव कम और दार्शनिक धारणाओं एवं भावनाओं का दबाव अधिक रहा है। रस ही कविता का निकष नहीं है; कविता भी रस की निकष है, इस तथ्य को तो कभी से हमारा युग हमें पहचनवा रहा है, किन्तु इस पहचान का पूरा-पूरा उपयोग होने में अभी काफ़ी कसर है।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व से पलायन का नुस्ख़ा भारतीय कवि के लिए उतना प्रासंगिक और प्रखर नहीं है जितना कि व्यक्तित्व में पलायन का नुस्ख़ा। दार्शनिक—या अन्ततः काव्यात्मक दृष्टि से भी यदि वह बुरा हो, तो भी इस बुराई की ज़रूरत हिन्दी कविता को है। शायद यही कारण है कि आज हमारे चारों ओर व्यक्तित्व में पलायन का ही दृश्य फैला हुआ है। हिन्दी का कवि इस स्वतंत्रता में से समूचा पूरा गुज़र निकले, तभी वह तथाकथित भारतीय दृष्टि का युगानुकूल सही उपयोग करने की स्थिति में आएगा। यही नहीं, उसे अपनी भारतीयता का ही सही और समूचा अहसास तभी होगा। फ़िलहाल हिन्दी कवि की, कवि के रूप में ज़िन्दगी इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसमें भारतीयता है या नहीं। वह इससे ज्यादा इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें व्यक्तित्व, 'पैशन', कट्टरता है या नहीं। भारतीय आदमी में कट्टरता का अभाव होता है। जहाँ उसे लचीला होना चाहिए, वहीं वह कट्टर होता है। बाकी सारे स्थलों पर वह ढुलमुल हुआ करता है। इसीलिए वह तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता।

ये बातें यदि अवान्तर ही हों, तो भी नितान्त अप्रासंगिक नहीं हैं क्योंकि प्रसाद का कवि हमें इन पर सोचने का अवसर देता है। यह भी उसका एक अतिरिक्त माहात्म्य है। किसी भी अन्य कवि का अनुशीलन हममें इस प्रकार के विचारों को नहीं उकसाता। प्रसाद इसलिए उकसाते हैं कि उनके काव्य का वैशिष्ट्य अच्छे लगने, न लगने की कोटि से ऊपर अवस्थित है। बात महज़ इतनी ही नहीं कि वे एक अत्यन्त शालीन और संस्कारी कवि हैं : महत्व की बात यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे संस्कृति के कवि हैं—एक समूची संस्कृति के प्रतिनिधि कवि। ऐसे कवि से हमारा रिश्ता वास्तविक प्रेम और वास्तविक असंतोष और घृणा का ही हो सकता है : उपेक्षा और अवहेलना का कदापि नहीं। कोई भी संस्कृति ऐसे कवियों के बग़ैर चल नहीं सकती। परम्परा उनके भीतर अपने-आपको पहचानती है; आत्म-चेतन बनती है और नया जीवन पाकर आगे को बढ़ती है। इसीलिए उनका महत्त्व है। इसी अर्थ में वे 'विश्वविद्यालयों के कवि' हैं। उनकी भाषा में द्विवेदी-युग का अर्जित परिष्कार और छायावाद की नई व्यंजकताएँ दोनों का एकत्र परिपाक हुआ है। वे नई व्यंजकताएँ स्वयं उनकी अपनी वैयक्तिक संवेदना और प्रतिभा का फल हैं। उनकी कविता की गरिमा संस्कृत की मोहताज नहीं : हिन्दी के तद्भव संस्कार का तब तक का विकास ही उसके लिए यथेष्ट है : कम-से-कम छूट लेकर अधिक-से-अधिक कविता उन्होंने उससे निचोड़ी है। उनका वाक्य-विन्यास उनकी अपनी विशिष्ट आवाज़ की रक्षा करते हुए हिन्दी के वाक्य-विन्यास की भी रक्षा करता है। हिन्दी की प्रकृति में निहित अनगढ़ताओं से यह कवि सकुचित और बाधित नहीं। कविता का आस्वाद अन्ततः भाषा का आस्वाद है; और हम पाते हैं कि प्रसाद की कविता की तरह प्रसाद की भाषा का आस्वाद—भी नितान्त वैयक्तिक—विशिष्ट और विलक्षण होते हुए भी सहज विश्लेष्य नहीं है। इसीलिए उसका अनुकरण भी आसान नहीं है (उनके गद्य की तरह) हालांकि उनके पद्य की तरह उनके गद्य की भी लय विशिष्ट है; तो भी, चूंकि गद्य अपेक्षाकृत स्थूल माध्यम है और प्रसाद का असली अन्तरात्मिक लगाव पद्य से है; अतः उनका गद्य—उनके अपेक्षाकृत स्थूलतर प्रयोजनों का संवाहक होने के कारण—अपने बाहरी लक्षणों और रूप-रंग में आसानी से अनुकरणीय हो जाता है। (अनुकरण हुआ भी काफ़ी)। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि जहाँ उनका काव्य 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' में से आता है, वहाँ उनका गद्य सभवतः उन मनः-स्थितियों से प्रेरित होना चाहता होगा जिन्हें उन्हीं की शब्दावली के वज़न पर 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूतियाँ' कह सकते हैं। इससे यह अनुमान लगाना अस्वाभाविक न होगा कि प्रसाद के भीतर अपने ही रचनात्मक स्वभाव को लेकर एक घपला-सा था। यूरोपीय काव्य-चिन्तन और आलोचना में 'सोल' का प्रयोग सहज भाव से सुनिश्चित अर्थों में किया गया है। उससे लिपटी हुई दार्शनिकता उसके साहित्यिक सन्दर्भ को धूमिल नहीं करती। हमारे यहाँ दुर्भाग्य-वश यह संभव नहीं है। 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' इसलिए भी एक गोलमोल मुहावरा बन जाता है हालांकि जैसाकि ऊपर के विश्लेषण से प्रकट है, प्रसाद की कविता एक गहरे अर्थ में इस परिभाषा को प्रतिफलित करती प्रतीत होती है। जहाँ तक यह परिभाषा भारतीय चिन्तन और भारतीय काव्य-परम्परा की उपज है हम देखते हैं कि यह 'मानवीय' से ज़्यादा 'आदर्शात्मिक' अधिक है। काव्य की अनेक 'प्रकृत' भूमियों को इस परिभाषा में निहित 'आग्रह' छाँट-छिनगाकर बहिष्कृत कर देता प्रतीत होता है। हम समझ नहीं पाते कि 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' काव्य की उतनी ही स्वाभाविक और जायज़ प्रेरणा क्यों नहीं बन सकती? ऐसा आग्रह क्यों? हमें तो ऐसा लगता है कि पश्चिम के काव्य की अपेक्षाकृत अधिक मानवीय समृद्धि का कारण यही है कि वहाँ ऐसा कोई आग्रह-निषेध नहीं है। 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' वहाँ के साहित्य में उतनी ही गहरी स्वतंत्रता के साथ सक्रिय है जितनी कि आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति; बल्कि शायद पहली चीज़ का पलड़ा ही भारी पड़े। हम यही सोचने को विवश हैं कि हमारी दार्शनिक धारणाओं और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं में—हमारी 'भारतीयता' में ही—कुछ घपला है। क्या ऐसी शंका निर्मूल है कि जो उस दृष्टि से जितना प्रतिश्रुत है जितना ही उसका प्रतिनिधित्व अपनी रचनात्मकता द्वारा करता है, उसको यह अन्तर्निहित घपला उतना ही नुकसान भी पहुँचा सकता है। कोई अचरज न होगा यदि कोई आलोचक यह फतवा दे दे कि प्रसाद की कविता में भारतीय काव्य-परम्परा की सारी खूबियाँ और सारी कमियाँ एक साथ इकट्ठी मिलती हैं। आज की पीढ़ी का कवि और पाठक जब कालिदास और वाल्मीकि तक के काव्यगुणों से तत्काल संवेदित होने में कठिनाई का—दूरी का—अनुभव करता है, तो प्रसाद की कविता से पहले ही सम्पर्क में आकर्षित न हो पाने की स्थिति सहज ही समझी जा सकती है। यूँ भी 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' जैसी सहज-गोल परिभाषा से कोई भी बिदक सकता है : प्रसाद को विश्वविद्यालयों का कवि कहने वाला कवि भी। क्या कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनको प्रेम करने और पाने के लिए पहले उनसे ईमानदारी से नफ़रत करना आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है ? यदि यह सच है, तो कहना पड़ेगा कि प्रसाद ऐसे ही कवि हैं। प्रसाद को समझने और प्रेम करने की पहली सीढ़ी शायद यही है कि हम उनसे घृणा करें। कौन जाने, जिसे हम भारतीयता या भारतीय संस्कृति कहते हैं, उसके साथ भी कुछ ऐसी ही बात हो !

यह एक रोचक कल्पना होगी कि यदि प्रसाद अकस्मात् सशरीर उपस्थित हो जाते और हम उनको यह संवाद देते कि "महोदय ! न केवल यह कि हमारे कवि ही आपको विश्वविद्यालयों का कवि घोषित करते हैं बल्कि आपके पाठक और आलोचकों की भी राय यही है कि आपको विश्वविद्यालयों से बाहर न निकाला जाय, क्योंकि आपकी सही जगह वही है" तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होती ?

मुझे तो यही लगता है कि वे इस संवाद से बिलकुल विचलित न होते हुए केवल मुस्करा देते और अपनी ही कविता की एक पंक्ति की ओर चुपके से इशारा कर देते :—

"यह विडम्बना ! अरी सरलते, तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं !"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मायकोव्स्की की तीन कविताएँ[1]

रणजीत, नरेश कुमार

: १ :

रुचियों की भिन्नता

घोड़े ने देखा ऊँट को
और हिनहिनाया :
"कैसा दैत्याकार दोगला घोड़ा है !"
ऊँट बलबलाया :
"तुम ? घोड़े ?—बिलकुल नहीं ।
तुम महज़ एक अविकसित ऊँट हो !"
और सिर्फ़ सफेद दाढ़ी वाला ईश्वर ही जानता था
कि वे दोनों अलग-अलग नस्लों के जानवर हैं ।

: २ :

जवाब के लिए

युद्ध के नगाड़े बजते हैं
और माँगता है लोहा
जिन्दा मांस का बलिदान !
प्रत्येक देश से गुलामों के बाद गुलाम
संगीनों के फौलाद पर फेंके जाते हैं ।
किसलिए ?
काँपती है धरती
नंगी और भूखी !
मानवता नहलाई जाती है : खून की फुहारों में ।
सिर्फ इसलिए कि कहीं कोई व्यक्ति
अल्बानिया को अपनी जेब में रखे रखना चाहता है ।
मनुष्यों के वहशी गिरोह
खूँख्वार आवाज़ों के साथ
खींचते हैं धरती की खाल
सिर्फ़ इसलिए
कि किसी के जहाज़
निःशुल्क बॉसफोरस से गुज़र सकें ।
थोड़े ही दिनों में
धरती की कोई पसली साबत नहीं रह जाएगी
वे उसकी आत्मा तक को खींच लेंगे
और उसे कुचल देंगे
सिर्फ़ इसलिए
कि कोई मेसोपोटामिया को हथिया सके ।
किसके नाम पर ?
घुटनों तक पहुँचने वाले खुरदरे फ़ौजी जूते
शहरों को कुचलते हैं ?
कौन है युद्ध के आकाश में ?
स्वाधीनता ?
ईश्वर ?
नहीं, सिर्फ़ रुपया !
अपना जीवन उन्हें चढ़ाने वालो !
कब तुम उठोगे ?
पूरी शक्ति और बुलन्दी के साथ ?
और कब ?
अपने सवाल को सीधे उनके चेहरे पर मारोगे :
"आखिर हम क्यों लड़ें ?"

१. विभिन्न अंग्रेज़ी अनुवादों से सहायता लेते हुए सीधे रूसी से हिन्दी रूपान्तरण ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

टैक्स इन्स्पेक्टर से कविता के बारे में बातचीत

नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर !
माफ़ करना मुझे, कि मैं तुम्हारे काम में बाधा डाल
रहा हूँ
धन्यवाद···चिन्ता मत करो···मैं खड़ा ही ठीक हूँ
मुझे तुमसे एक नाज़ुक मसले पर बातचीत करनी है :
मज़दूरों के समाज में कवि के स्थान के बारे में।
दुकानदारों और ज़मींदारों की तरह
मैं भी टैक्स अदा करता हूँ
और जुरमाना भी।
तुम मुझसे पाँच सौ प्रति छमाही चाहते हो
और पच्चीस इसलिए
कि मैंने पहले अपने बारे में सूचनाएँ नहीं भेजीं।
मेरा काम किसी भी दूसरे काम की तरह है
देखो, मुझे कितना नुकसान उठाना पड़ा है
मेरे उत्पादन के खर्चों पर ध्यान दो
और देखो कि कच्चे माल पर मुझे कितना खर्च
करना पड़ता है।
निश्चय ही तुम 'तुक' से परिचित होगे
मान लो कि एक पंक्ति का अन्तिम शब्द है 'पिता'
तब एक पंक्ति लाँघते हुए
मात्राएँ और अक्षर गिनते हुए
अगली पंक्ति में हमें लाना होगा 'चिता' या 'स्मिता'
या ऐसा ही कुछ और।
तुम्हारी शब्दावली में कहा जाय
तो तुक एक प्रामेसरी नोट की तरह है
जिसका भुगतान तीसरी पंक्ति में किया जाता है
यही है तुक का नियम।
और इस तरह हमें प्रत्ययों और विभक्तियों की
रेज़गारी ढूँढनी पड़ती है
क्रियारूपों और संज्ञारूपों की खाली होती हुई
तिजोरी में से
हम एक शब्द को किसी पंक्ति में धकेलने की
कोशिश करते हैं
पर वह वहाँ नहीं जमता
और ज़ोर लगाने से टूट जाता है।
नागरिक कर-निरीक्षक !
मैं कसम खाकर कहता हूँ
कि कवि के लिए ये शब्द
रुपयों से कहीं कीमती हैं।
अपनी शब्दावली में कहूँ
तो एक तुक एक कनस्तर है—
डाइनामाइट से भरा हुआ
और एक पंक्ति एक पलीता
जब वह सुलगती हुई पंक्ति अन्त तक पहुँचती है—
विस्फोट होता है !
और सिर्फ एक छन्द
एक पूरे शहर को उड़ा सकता है।
कहाँ और किस कीमत पर मिल सकती हैं ऐसी तुकें
जो ठीक निशाने पर मार करती हों
शायद पाँच-छह अभूतपूर्व तुकें
मुझे वेनेज्युअला में मिलें
इसीलिए मैं अग्रिम और कर्ज़ से दबा हुआ
ठण्डे प्रदेशों से गर्म प्रदेशों तक भटकता रहता हूँ
सुनो,
क्या तुम मेरे लिए मार्गव्यय नहीं मंजूर करोगे ?
कविताएँ
—सब कविताएँ—
अज्ञात की ओर की गई यात्राएँ हैं।
कविता करना रेडियम निकालने की तरह है :
वर्षभर मेहनत और रत्तीभर प्राप्ति !
कई बार हमें सिर्फ एक शब्द के लिए
वाणी की टनों कच्ची धातु बरबाद करनी होती है
लेकिन कितनी ज्वलन्त होती है उन तराशे हुए
शब्दों की ऊष्मा
वाणी की धुँधुवाती हुई कच्ची धातु की तुलना में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये शब्द
लाखों हृदयों को प्रेरित कर देते हैं
हज़ारों बरसों के लिए ।

निश्चय ही कवि भी कई तरह के होते हैं
उनमें से कई हाथ की करामात दिखाते हैं
वे मदारियों की तरह खींच लेते हैं पंक्तियाँ
अपने और दूसरों के मुँह से ।
जैसे कविनपुंसकों के बारे में कोई क्या कह सकता है
जो कोई पराई पंक्ति अपनी कविता में रखते हैं
और खुश हो लेते हैं
यह सीधी-सादी चोरी है, ग़बन है
देशव्यापी धोखेबाज़ी का एक रूप मात्र ।
ये सब कविताएँ
जो आज प्रशंसा के शोर के बीच
चिंघाड़ती और सिसकियाँ भरती हैं
इतिहास में बेकार का खर्च ही मानी जाएँगी
हम दो या तीन लोगों की उपलब्धियों की तुलना में ।

बहुत-सा नमक, मैं खा चुकूँगा,
जैसा कि मुहावरा है,
और बहुत-सी सिगरेटें पी चुकूँगा
मानव की पाताल-स्पर्शी गहराइयों में से
एक अमूल्य शब्द प्राप्त करने के लिए !
इसलिए मेरा बढ़ता हुआ टैक्स एकदम कम हो जाना चाहिए
यह एक पहिए-सा शून्य काट दो मेरे टैक्स से,
एक नव्वे—
सौ सिगरेटों के लिए
और एक साठ—
नमक के लिए ।
तुम्हारी प्रश्नावली में कितने ही प्रश्न हैं :
"क्या व्यवसाय-सम्बन्धी यात्राएँ आपने की हैं ?"
पर यदि मैं कहूँ कि मैं पिछले पन्द्रह बरसों में
दस बार मौत तक जाकर आया हूँ
कविता पर सवार होकर, तो ?
और यहाँ मेरी स्थिति लिख लो—आर्थिक और सामाजिक :

मैं जनता का नेता हूँ
और साथ-ही-साथ उसका नौकर भी
वर्ग मेरे शब्दों में बोलता है
और मैं सर्वहारा हूँ—
कलम का मेहनतकश !

घिसते जाते हैं आत्मा के पुरजे
वर्षों की गति के साथ-साथ
लोग कहते हैं : समय हो गया है
इसे अब अभिलेखागार में रख देना चाहिए
ढेर सारी कविताओं में यह अपने आपको लिख चुका है ।
और तब कम-से-कम होती जाती हैं प्यार और साहस की क्षमताएँ

और वक्त की गड़गड़ाहट
मेरे माथे को झकझोर जाती है
और तब आता है मूल्यह्रासों में से सबसे भयानक
—हृदय और आत्मा का मूल्यह्रास !

और जब यह सूर्य
एक मोटे होते हुए सूअर की तरह सन्तुष्ट
एक ऐसे भविष्य के क्षितिज पर उगेगा
जहाँ कोई भिखमंगा और कोई अपंग नहीं होगा
मैं युगों से मृत, कभी का मिट्टी में मिल चुका हूँगा
किसी बाड़ के नीचे
एक दर्जन सहयोगी कवियों के साथ ।
मेरा मरणोत्तर हिसाब तैयार कर लो
मेरा निश्चित दावा है
—और मैं जानता हूँ कि यह कितना सच है—
कि अपने समय के व्यापारियों और धोखेबाजों की पृष्ठभूमि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं अकेला कभी न चुकने वाले कर्ज़ से लदा रहूँगा ।
मेरा कर्तव्य है
ताम्रकण्ठी साइरन की तरह ऊँची आवाज़ में बोलना
टटपूँजियेपन के कोहरे में
तूफानी हलचलों के बीच

कवि हमेशा संसार का देनदार रहता है
व्यथाओं में ब्याज और जुरमाने अदा करता हुआ
मैं देनदार हूँ
राजपथ की रोशनियों का
बगदादी[1] के आसमानों का
लाल फ़ौज का
जापान के चेरी वृक्षों का
और उन सबका
जिनके बारे में मैं लिख नहीं सका ।
पर यह काव्यात्मक पक्षपात क्यों ?
कि तुकें लक्ष्य हों
और लयें विशृंखल हो जाएँ ।
कवि के शब्द तुम्हारा पुनर्जीवन हैं
और तुम्हारा अमरत्व, नागरिक अधिकारी !

शताब्दियों बाद
कागज़ पर लिखी हुई एक पंक्ति कोई उठाएगा
और आज के दिन को वापस बुला लेगा
अपने तमाम टैक्स इन्स्पेक्टरों और चमत्कारों के साथ
और आज की स्याही की गन्ध गमक उठेगी ।

तुम जो सिर्फ अपने युग के ही निवासी हो
जाओ और जन-परिवहन-विभाग से अमरता का
एक टिकिट ले आओ
और मेरी कविताओं के प्रभाव की गणना कर
मेरी उपलब्धि को आने वाले तीन सौ बरसों में
विभाजित कर दो ।
पर किसी कवि की शक्ति सिर्फ इसी बात में नहीं है
कि भविष्य में लोग हिचकियों के साथ उसे याद
करते हैं
नहीं, आज भी
कवि का एक शब्द
एक आलिंगन है,
और एक नारा,
और एक संगीन,
और एक कोड़ा !
नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर
अपने मूल्यांकन में से सब शून्यों को काट दो
मैं तुम्हें सिर्फ पाँच सिक्के दूँगा
और माँगता हूँ, अपने अधिकार के अनुसार
एक बालिश्त ज़मीन
निर्धनतम मज़दूरों और किसानों की श्रेणी में ।
और अगर तुम्हें ऐसा लगता है
कि यह सब पराये शब्दों की दुहराहट मात्र है
तो यह लो मेरी कलम, साथी !
और तुम खुद जितना चाहो लिख लो ।

१. मायकोव्स्की का जन्मस्थान, जार्जिया में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सायास या अनायास ढंग से किया करता है। इस संग्रह में नयी कविता से ऊब के बाद इनकी तलाश से सम्बन्धित कविताएँ नहीं हैं। इन कविताओं में नयी कविता की सही और थिराई हुई शब्दावली का प्रयोग हुआ है। कम-से-कम भाषा की सतह पर अधिक कुछ नहीं खोजना पड़ा है। इसीलिए अभिव्यक्ति का स्तर सपाट और चिकना है और आरोपित या महिमामंडित नहीं लगता। इन्हें पढ़ने से ऊब नहीं होती, न कहीं अतिरिक्त दबाव से समझने की कोशिश करनी पड़ती है। पर यह एक अजीब बात है कि कविता के इतिहास में भी कभी-कभी ये पीछे लौट जाते हैं। अतुकान्त में आत्मस्वीकृति की भाषा मिले यह तो अनपेक्षित नहीं, पर गीत भी संवेदना में 'समय : एक कार्निवाल' की बात नयी कविता की भाषा और संवेदना से उन्हें एकदम अलग कर दे तो यह एक चौंकने जैसी बात लगती है—

कार्निवाल के खुले द्वार पर
खाली-खाली पैराम्बुलेटर
दूध की शीशी—खाली बोतल
टूटे-फूटे सड़े खिलौने
प्लास्टिक के ये नन्हें बौने
पड़े हुए हैं शव-से सूने—
कार्निवाल के खुले द्वार पर
सोती आया सोती आया [१२०]

इसके पढ़ने से यह लगता ही नहीं कि ये नवगीतकार से इतर भी हैं। पूरी-की-पूरी यह कविता इसी लयात्मक एकरसता में डूबी हुई है। सारी चीज़ों को एक लगाववादी तरीके से देखा गया है और इसमें तटस्थ अभिव्यक्ति और तटस्थ भाषा की दृष्टि नहीं मिलती।

अतुकान्त के कवि में शिलपगत आग्रह अतिशयता में नहीं है। यह अच्छा भी है, क्योंकि इससे कथ्य का स्वरूप फीका नहीं पड़ा है और न ही संस्कारगत बिम्बों के माध्यम से उन्होंने कहीं भी आभिजात्यवर्गीय बनने की कोशिश की है। यही कारण है कि अभिव्यक्ति का रूप बहुत-कुछ आरोपित नहीं लगता। अधिकांश बिम्ब जीवन के सीधे बहते धरातल से उठाए गए हैं। इसीलिए वे सहज हैं और भाव और मुद्रा की प्रेषणीयता रखते हैं। उन्हें पढ़ने पर ग्रहणशीलता में कहीं बाधा नहीं पड़ती और कवि-काव्य और काव्य-पाठक के बीच एक सीधा ग्राफ बनता है। लक्ष्मीकान्त बिम्बवादी कवि नहीं हैं। बिम्ब-प्रयोग करना और बिम्बवादी होना दोनों दो बातें हैं। काव्य में प्रयुक्त इनके बिम्बों की यह एक विशेषता है कि उनका कोई बिम्ब अलग से कोई सार्थकता नहीं रखता बल्कि पूरी कविता को सार्थकता प्रदान करने में मदद देता है। लेकिन इस संग्रह में ही जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते गए हैं क्रमशः बिम्ब-विधान में भी उनकी काव्य-भाषा की तरह ढीलापन आता गया है और अन्तिम कुछ खण्डों में तो यह कहीं-कहीं प्रयोजनहीनता की ओर भी चलते नज़र आते हैं। लेकिन इस प्रयोजनहीनता में भी सायास या अनायास नये अर्थ-संदर्भों की सृष्टि हुई है। यही उनके बिम्ब-विधान की सार्थकता है।

किसी समय यह माना जाता था कि सशक्त और विकसित पौराणिक प्रतीक नयी कविता की अपनी विशेषता है। पर यह प्रवृत्ति दिनों-दिन कम होती गई है। अतुकान्त की बहुत कम कविताओं में पौराणिक प्रतीकों का उपयोग किया गया है फिर भी जहाँ है वहाँ काफी उभरा है—

रम्भा के घुँघरू : कालबेल पर दौड़ने वाले चपरासी
इन्द्र के वज्र : काठ की इंचों-खानों वाली पटरी
नारद की वीणा : वेश्या के कोठे पर झंकृत सारंगी
शंकर का नाग : पिटारी में बंद स्थिति की लाचारी
[२१]

और इसके अतिरिक्त—

अर्जुन वह
बदल गया रूप-रंग
अस्तित्व-बोध
सभी-कुछ बदल गया
राशन की दूकान पर द्रौपदी का चीर
कट-छँटकर महज़ चार गज़ अड़तालीस इंच
गाण्डीव का वज्र : केवल हाफ़ पौण्ड
प्रत्यंचा : केवल एक फुट इलैस्टिक
कर्ण-कुण्डल : केमिकल गोल्ड
गीता और न्यूज़ प्रिण्ट
व्यास आज का : केवल क्यूरेटर
गणेश : पटवारी
कृष्ण और कृष्णमाचारी
कुछ समझ में नहीं आता
ओ व्यास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओ अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र···
कहा हूँ मैं···?
मैं कहाँ हूँ···?
कहाँ हूँ···?
कहाँ हूँ···? [२२]

धर्म और पुराणों के प्रतीक आज के दोहरे पाटों के बीच किस तरह झूठे और निरर्थक हो गए हैं और मानवीय आस्था किस तरह बदली है, यह दर्शनीय है। सारे बड़े सवालों के बीच केवल अपने को खोजने की प्रवृत्ति खुद को पहचानने की शुरुआत है जिसे पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से 'क्यूरियो मार्ट में अर्जुन की तलाश करते कृष्ण,' 'स्टैम्पीड' और 'यज्ञ मैंने भी किए हैं' में पकड़ा गया है। इनमें आज के खुरदरे यथार्थ और मूल्यों के अवमूल्यन होने की स्थिति, नैतिकता, धर्म, विकृति, विसंगति और आस्था के स्खलन की सहज स्वीकृति है।

लक्ष्मीकान्त का कवि संघर्ष का कवि है। जहाँ संघर्ष है, टकराहट है, अस्तित्व का ख़तरा है, जटिलता है, विपरीत और विरोधी परिस्थितियाँ हैं, वहाँ कवि और भी संवेदनशील है और सारे उलझाव की एक सुलझी अभिव्यक्ति करता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों के 'टेम्पर' की ही तरह लक्ष्मीकान्त की कविताओं का भी 'टेम्पर' है। प्रेमचन्द जहाँ मध्यवर्गीय या निम्न-मध्यवर्गीय चरित्रों की बात करते हैं वहाँ उनमें सजीवता और गहरी पकड़ देखने को मिलती है। पर जहाँ वे विलासितापूर्ण जीवन का स्पर्श करते हैं वहाँ उनकी पकड़ थोड़ी ढीली पड़ जाती है। लक्ष्मीकान्त की कविताओं में तो यह कमी और भी अधिक उभरी है। अतुकान्त की अधिकांश कविताओं में मध्यवर्गीय संघर्ष और संघर्ष का तनाव है और यह तनाव तटस्थता का भोग और भोग की तटस्थता के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पर कवि जहाँ कहीं मध्यवर्गीय जीवन से इतर विलास की शब्दावली का प्रयोग करता है वही असफल हो जाता है। यहाँ इस बात के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। पर तीन ही पर्याप्त होंगे—

मैं बिना बोतल का शराबी [५५]
शराबी की बोतल [१७]
जिंजर बॉटल काली भौं है [१२१]

यहाँ ऊपरी दिखावट और केवल स्पर्श की क्षमता ही प्रकट होती है। उसमें रमने या नशे की खुमारी जैसी कोई बात नहीं मिलती। भोंडापन वहीं है जहाँ कि लीकर की पूरी संवेदना को वह बोतल से स्पष्ट करना चाहता है। यह सतही और अनुभवहीनता की बात लगती है। इस सम्बन्ध में अव्यावहारिकता की एक बात और भी उल्लेखनीय है कि कवि ने अपने उपन्यास 'एक कटा हुआ कागज़, एक कटी हुई ज़िन्दगी' में तो फ्रेंच शराब में भी पानी मिलाकर पीने की बात लिखी है, जबकि उसे यह सब लिखने से बाज़ आना चाहिए था।

कवि 'कुछ गलत यादों के सहारे सार्थक वेदनाएँ' अपने गले से चिपकाये जीने का आदी है। उदाहरणार्थ—

उसे किसी की याद सता नहीं रही थी
पर वह चाहती थी
कोई याद बनकर आये
वह कुछ गुनगुनाये [१७५]

और—

उस दिन शाम उदास नहीं थी
लेकिन वह चाहती थी—शाम उदास लगे। [१७५]

यह एक अजीब बात है कि उदासी की चाह महज़ चेंज के लिए है। उदासी की ऊब और उसकी संवेदना यहाँ फैशन के लिए है। कवि ने उदासी को भी विलास बनाना चाहा है, वहाँ उसकी असफलता अलग से ही दिख जाती है।

इस संग्रह की कविताओं में अंग्रेज़ी शब्दों का (१२, १६, २३, ५१, ११६, १२०, १२१, १३२, १७३, १७७, १८२ आदि) खूब खुलकर इस्तेमाल किया गया है और वे कहीं भी पेबन्द की तरह नहीं लगते। अर्द्धबौद्धिक कवियों में जिस तरह इनका उपयोग होता है उसका यथावत् उपयोग कवि ने किया है। पर कुछ शब्द उनके लिए कमज़ोरी हैं जिनका वे अक्सर प्रयोग करते हैं। 'पैराम्बुलेटर' (११६, १२०, १७३, १८२ आदि) भी उनमें से एक है। लक्ष्मीकान्त के लिए 'पैराम्बुलेटर' एक विशेष आकर्षण है और उसका उपयोग वे बड़ी ही ललक से करते हैं। सम्भवतः 'पैराम्बुलेटर' उनके लिए एक मानसिक रुकावट है। ऐसे ही दो शब्द लघु और 'लघुमानव' भी हैं जिनका उपयोग अतुकान्त में बार-बार किया गया है।

लक्ष्मीकान्त मानते हैं कि साहित्य या कला की कोई भी प्रवृत्ति शाश्वत नहीं होती ('ताज़ी कविता : कुछ जोड़-बाक़ी' क ख ग अंक ९) पर घूम-फिरकर परस्परागत शाश्वत मूल्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर झुकाव और उन्हीं सारी बातों से तादात्म्य किस बात का संकेत है? उनकी इन कविताओं में विराट् के प्रति अब भी एक मोह बचा हुआ है। (१८४) वे अपनी लघुता का अस्तित्व भी परमाणुवादी सार्थकता ही के साथ जोड़कर देखते हैं। (११) साथ ही मरणोत्तर ख्याति की निरर्थकता में पूरी आस्था से विश्वास करते हैं—

'ओ जनमेजय / मैं उस समय मरकर भी / तुम्हारे आस-पास / जीवित रहूँगा।' [४८]

उनकी सारी आस्थावादिता ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं के आगे नतमस्तक है। कवि खुद मानता है कि आज के सारे अभावों की कुंठा से सुरक्षा के लिए कहीं-न-कहीं समर्पित होना आवश्यक है। वह समर्पित भी है पर उसका समर्पण एकदम निर्जीव है। एक ओर वह अपने आराध्य का भी परिष्कार करता है, उनमें परिष्कृति की चेतना देने का स्वांग करता है और फिर दूसरी ओर सहारे के लिए उनसे खुद के परिष्कार की माँग करता है—'इसीलिए मैं कहता हूँ / संस्कारच्युत, विस्थापित क्षयी रावण से / तुम डरो नहीं / तुम राम हो / मर्यादा के निर्जीव वाहक पुरुषोत्तम नहीं / विश्वास मेरा/मेरी भक्ति है तुम पर / इसलिए डरो नहीं / मेरा परिष्कार करो।' [५०] कवि की पूरी अनुभूतिगत चेतना दो धरातलों पर बँटी हुई है। एक में वह परम्परागत विराट् के प्रति नतमस्तक है; दूसरे में वह खुद और उसके आत्मीय क्षण हैं, और वे खुरदरी परिस्थितियाँ हैं जिनके आगे उसे झुकना पड़ता है। वह दोनों को ही अपने जीवन का अभिन्न अंग मानता है। उदाहरणार्थ—

'वह विराट स्वप्न जिसके समक्ष सारा ब्रह्माण्ड केवल तीन / क़दमों में बँध जाता है।'

और

'हाँ यह मैं हूँ / अकेला राहगीरों से अलग / मगर / मेरे साथ भी एक कारवाँ है।' [१४४]

उपर्युक्त दोनों बातों के उदाहरण हैं। यह कारवाँ ही उसे अतीतजीवी होने से रोकता है और उसके इस प्रयत्न को असफल करता है। पर आगे चलकर तो उसके निजी सम्बन्धों की उपयोगिता भी निरर्थक हो गयी है और 'वेस्ट पेपर बास्केट में फेंके हुए उसके प्रेमपत्र' [१६६] भी उसे कोरे कागज़ की तरह लगते हैं। लेकिन फिर भी सारी याददाश्त को तराशने से कतराने का भाव उसे रोमानी वातावरण में डुबोये रखता है, अलग नहीं करता।

पर रोमानी भाव और उससे रिलीफ़ की प्रवृत्ति भी अतुकान्त के कवि में धीरे-धीरे कम हुई है और विसंगतियों को भाषा देने की ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ी है। कविताएँ अगर समाज की विसंगति को इंगित करें एक बात होगी, पर कविताएँ खुद ही विसंगत हों—दूसरी बात। इधर विसंगति की ओर कविता का मोह बढ़ा है और उसकी भाषा में दिनों-दिन कसाव कम होता गया है। वह उसके तराश के प्रति पहले जैसा मोहासक्त नहीं है, और किसी भी मोहभंग की स्थिति एक अच्छी और स्वस्थ बात हुआ करती है।

लक्ष्मीकान्त की इन कविताओं में 'अतिकथन' या अल्पकथन नहीं मिलता। यों तो अतुकान्त में १६१ पृष्ठ तक नयी कविता की पारम्परिक शब्दावली में अधिकांशतः घिसी-पिटी शब्दावली की नितान्त एकरसता में डूबी हुई कविताएँ हैं। पर 'कुछ ग़लत कविताएँ' खण्ड से संग्रह को एकरसता की रोशनी से मुक्ति मिली है; और इस मुक्ति के बाद ही वह समाज के सारे बिखराव, विसंगति, असफलता और निरर्थकता को सपाट भाषा देने में समर्थ होता है। यह अभिव्यक्ति समाज के उस चेहरे को दिखाती है जिस पर एक आवरण था। लक्ष्मीकान्त ने सब-कुछ निरावरण देखा है और उसे इन कविताओं में भाषा दी है। यहीं ये विसंगत (एब्सर्ड) कवि होते-होते रह गये हैं और विसंगति (एब्सर्डिटी) के कवि के रूप में अपनी भाषा स्थापित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदतन लिखते रहने की नियति

विष्णु खरे

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संग्रह[1] में ब्लर्ब पर चूँकि उन्हें शिल्पकुशल कवि सिद्ध किया जा चुका है अतएव उनके शिल्प से ही प्रारंभ करना अनुचित न होगा, हालाँकि यह मुझे मालूम नहीं है कि किसी कवि के शिल्प पर बात करते समय उसके कथ्य से कैसे बचा जा सकता है। राहत की बात है कि इन कविताओं में शिल्पवैविध्य इतना नहीं है कि पूरे संग्रह को छानना पड़े—प्रथम कुछ कविताओं से ही जरूरी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, पहली कविता 'दो पाटों की दुनिया' की पहली तीन पंक्तियों में दो शब्द 'चारों तरफ़' तीन बार आते हैं, फिर हर चरण की अन्तिम दो पंक्तियों में 'हम क्या करें' तथा '···के क्रम से कैसे छुटें' का उपयोग हुआ है। इसी तरह दूसरी रचना 'सत्य का अपराध : एक स्वप्न' में, जो चार चरणों में विभक्त है, प्रत्येक चरण के पहले 'मैंने देखा' तथा अंत में 'वह···मेरा है' शब्द आए हैं। 'बौनों की दुनिया' में उनके शिल्प का दूसरा रूप प्राप्त होता है—'हम सब बौने हैं' कहने के पश्चात् उन्हें इस रहस्यमय वक्तव्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है और वे 'अमुक से, अमुक से भी' तिहराते हैं और फिर दसवीं पंक्ति के पश्चात् एक लम्बी फ़ेहरिस्त शुरू होनी है जिसमें इसकी गिनती की गई है कि यदि हम बौने न होते तो किसे क्या न मिलता। 'इतिहास का सिंहासन' में प्रथम दो कविताओं का फार्मूला दृष्टिगोचर होता है—कविता चार चरणों में विभक्त है और प्रत्येक चरण की अन्तिम पंक्ति का गठन इस तरह है—विशेषण + 'दर्शक' + क्रियापद। 'इतिहास : एक बच्चा' में यह गणित फिर मौजूद है—प्रत्येक चरण की व्याख्यात्मक पंक्ति 'इतिहास अमुक है' की टेक है। इससे पहले कि यह कहा जाय कि मैंने संग्रह की प्रारंभिक कविताएँ ही देखी हैं, अन्तिम कविताओं में से 'साक्षात्कार', 'अ-नया वर्ष', 'अवस्तु करुणा' तथा 'सार्थकता' की चर्चा भी की जा सकती है। 'साक्षात्कार' में प्रत्येक चरण की अन्तिम पंक्ति "अमुक ने पर अमुक किया नहीं" है, 'अ-नया वर्ष' में टेक 'इसके पहले' है, 'अवस्तु करुणा' में यह 'जब मेरी / मेरे अमुक में' है और 'सार्थकता' में यही 'अमुक हो गई अमुक' है। विस्तार-भय से अन्य उदाहरण देना संभव नहीं है।

स्पष्ट है कि माथुर ने अपने इस 'शिल्प' को एक आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया है वरना वह इतने दफ़ा उसका उपयोग न करते। किन्तु आदर्श को लत बनते देर नहीं लगती और कविता में आदत का अर्थ है एक सुविधाजनक मैनरिज़्म का शिकार हो जाना। परिणामतः माथुर अपनी इस तरह की कविताओं में एक साँचाबद्ध कवि बनकर रह गए हैं। इन कविताओं का एक चरण पढ़कर ही मुक्त हुआ जा सकता है क्योंकि वही मूवमेन्ट अगले प्रत्येक चरण में अपनी समस्त दुर्भाग्यपूर्ण एकरसता के साथ आपका रास्ता देख रहा है। कवि साँचे तभी तैयार करता है जबकि उसमें बैठा हुआ स्रष्टा अपनी ऊर्जा खो बैठा हो और केवल आदतन लिखते रहना उसकी नियति बन गई हो या लेखन उसके लिए 'अस्तित्व का संकट' का प्रश्न बन गया हो। हिन्दी के वरिष्ठ लेखकों के लिए 'सृजनरत' रहना कलात्मक आवश्यकता नहीं होती, अधेड़ अभिनेत्री द्वारा बार-बार 'कमबैक' की त्रासद कोशिश होती है। इस प्रयत्न में कोई अध्यात्मवाद—रूमानी-रहस्यवाद-गांधीवाद और यहाँ तक कि अस्तित्ववाद भी ओढ़ लेता है, कोई सीधा गाली-गलौज पर उतर आता है और कोई कविताओं से उत्तेजना प्राप्त करने के लिए 'रिजुविनेशन' के आयोजन करता है।

माथुर की प्रिय 'डिवाइस' एक ही विचार को बदले हुए शब्दों में दुहराने-तिहराने की है और जबकि वे यह समझते होंगे कि इससे कविता में 'वैविध्य' तथा 'वैराट्य' आ रहे हैं, सचाई यह होती है कि प्रत्येक दूसरे शब्द के बाद कविता अनावश्यक रूप से लम्बी और सतही होती चली जाती है। 'समझाने' की यह कोशिश कवि की आत्मरति अथवा अहम्मन्यता का दूसरा स्वरूप है। वह यह समझता है कि उसे शब्दों का जादू आता है और वह सर पर चढ़कर बोलेगा, किन्तु शब्दों के 'रोप-ट्रिक' की रस्सी एक सीमा तक ऊँची पहुँचती है और उसके बाद द्रुत गति से नीचे आकर गले में लिपटने लगती है और भाषा तथा अर्थ में संभावित इन्द्रजाल की परिणति हास्यास्पद अवमूल्यन में होती है। माथुर की कविताओं में तरह-तरह के शब्द भरे पड़े हैं और उनकी मुद्रा कभी बहुत आक्रामक तथा कभी बहुत मृदु प्रतीत होती है, किन्तु यह

१. जो बँध नहीं सका : गिरिजाकुमार माथुर, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य ३ रुपये, पृष्ठ १०२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीति शाब्दिकता के अलावा कुछ भी नहीं है। संभव है कि माथुर की कविता में पाठक को रोष, व्यंग्य आदि दीख पड़े किन्तु वह रोष और वह व्यंग्य एक भाषणबाज़ का है, सकारण टूटते हुए व्यक्ति का नहीं—

"राहें सभी अंधी हैं
ज़्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या ग़ाफ़िल हैं
खलनायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े से ईमानदार हैं
लगते सिर्फ़ मुजरिम हैं"

इन पंक्तियों में एक आत्मतुष्ट पवित्रता का स्वर यदि पहचाना नहीं जा रहा है तो शायद इसलिए कि भाषा वक्तव्यबाज़ी तक पहुँच चुकी है जिसका रज़ामन्द शिकार प्रत्येक मध्यमवर्गीय बन चुका है जो चहुँमुखी गालियाँ देने के पश्चात् पुनः सुबह वहीं दुम हिलाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह एक किस्म की घटाटोपी भाषा है जिसका इस्तेमाल कमज़ोरी ढँके रखने की धोखादेही के लिए हुआ है और दूसरी ओर एक दूसरे तरह का लिंग्वादलमोतवादीवत् घटाटोप है :

"सघन भी, मुलायम भी
अस्खलित, अनिर्वच
गोल-गोल-गोल क्षणों में वलय
गंधपार अन्वितियों में उठती
एक स्निग्ध, सिलकन लय
बीज धारण को मुड़ते चरणों से पूर्व की
मन्द उदित मुग्धता
आसन्न अमरता में बन्द होता
दूरी से लौटा हुआ एक लाल उत्तर"

सम्भव है इन पंक्तियों का कोई 'अर्थ' हो, किन्तु शब्दों और बिम्बों का जो गोल-गोल गोलमाल इनमें हुआ है वह उसका 'आनन्द' उठाने की फ़ुर्सत भी देगा? स्पष्ट है कि माथुर को अभी भी अपनी काव्यभाषा का सन्तुलन प्राप्त करने की सख़्त ज़रूरत है।

संग्रह किन्हीं अज्ञात कारणोंवश तीन खंडों में विभक्त है—शायद 'विविधता' का तक़ाज़ा रहा हो—और बीच का खंड, जिसका शीर्षक 'काल दृष्टि' है, अपने विषय में कहता है : "काल की चतुर्थ विभा के रहस्यमय बिम्बों में प्रवेश करनेवाली कुछ रचनाएँ, जिनमें देश काल-संहति की स्पर्श-पार सूक्ष्मानुभूतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, कलात्मक अभिव्यक्ति की एक सर्वथा अछूती दिशा तथा प्रेरणाभूमि इन रचनाओं द्वारा साहित्य में प्रथम बार उद्घाटित हुई हैं।" सड़कों पर अभी भी ऐसे मदारी दीख जाते हैं जो पहले कपड़े के एक टुकड़े का साँप बनाते हैं और उसके फन में एक बीड़ी फँसाकर ऐलान करते हैं कि वे उस कपड़े के साँप से बीड़ी पिलवाएँगे। कहना न होगा कि तमाशा पूरा हो जाता है, शीशियाँ बिक जाती हैं और वह साँप बीड़ी नहीं पीता। 'काल दृष्टि' की कविताओं को एकाधिक बार पढ़ चुकने के बाद मुझे ऐसा कहीं नहीं लगा कि कोई 'सर्वथा अछूती दिशा' उनके द्वारा 'साहित्य में पहली बार उद्घाटित' हुई हो। विश्व साहित्य में 'ए कनैक्टिकट यैंकी इन किंग आर्थर्स कोर्ट' तथा 'द टाइम मैशीन' से लेकर साइंस-फ़िक्शन कॉमिक्स तक तथा 'कैन्टोज़' में पाउंड से लेकर 'फ़ोर क्वार्टेट्स' में इलियट तक 'काल' पर बहुत-कुछ बहुत पहले लिखा जा चुका है। हाँ, यदि 'साहित्य' का अर्थ माथुर के यहाँ 'केवल उनका साहित्य' होता हो तो बात अलग है। जो भी हो, इस खंड की पहली कविता 'समानान्तर-सत्य' : "निर्जन दूरियों के / ठोस दर्पणों में / चलते हुए / सहसा मेरी एक देह / तीन देह हो गयी / उगकर एक बिन्दु पर / तीन अजनबी साथ चलने लगे / अलग दिशाओं में / और यह न ज्ञात हुआ / इनमें कौन मेरा है" में न तो 'देशकाल-संहति' पार की गई है, न यह एक सर्वथा 'अछूती दिशा' है और न ही यह 'प्रथम बार उद्घाटित' हुई है। खंडित व्यक्तित्व पर श्रीकान्त वर्मा की कविता 'दूसरे का डर' कहीं ज्यादा अनुभव के समीप है और तात्कालिक है।

"छायावाद में न केवल शब्द, चित्रभाव, बिम्बभाव और काल्पनिक उद्भावनाओं की एक रीतिकालीन रूढ़ि स्थापित हुई, अपितु शब्द-नाद भी रीतिकालीन कवियों की भाँति अनुप्रासात्मक रहा। कलकल-टलमल, सरसर-मर्मर, पुलकन-सिहरन, खगकुल-कुलकुल अथवा लहर-छहर, अरुण-तरुण या दल-बादल आदि एक नहीं सैकड़ों उदाहरण इसी ओर संकेत करते हैं।" और यह दुःखद आश्चर्य की बात नहीं तो और क्या है कि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जो इस ओर संकेत करते हैं कि माथुर के इस संग्रह के अन्तिम खण्ड की अधिकांश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ नव्य-छायावादी हैं। हिन्दी के जिन कवियों में अभी-भी छायावादी संस्कार कसमस कर रहे हैं वे इस भ्रांति में गिरफ्तार हैं कि महज़ लिरिक शब्द तथा बिम्ब प्रयोग से लिरिक कविता बन जाती है—पिछली शताब्दी में स्विनबर्न भी इसका शिकार हुआ था। 'वसंत की पहली शाम' की अन्तिम पंक्तियाँ : "फूले हुए नीबू रातरानी की महक का / महीन मन्द / बहुत दूर बजता / मुलायम झनक आर्केस्ट्रा / उँगलियाँ तुम्हारी हैं" विश्लेष्य हैं। 'महक' का आर्केस्ट्रा 'बज' रहा है। अब चूंकि दुर्भाग्यवश ऑर्केस्ट्रा वास्तविक जीवन में 'सुना' जा सकता है 'सूंघा' नहीं—किन्तु माथुर का आग्रह है कि उसे 'सूंघा' जाए—इसलिए कविता में जो पंक्ति अन-लिखी है वह 'नाक' को 'कान' की उपमा देने से ताल्लुक रखती है। बात यहाँ समाप्त हो जाती तो भी ठीक था किन्तु अन्तिम पंक्ति 'अँगुलियाँ तुम्हारी हैं' हमारे सँभलते हुए मासूम आश्चर्य को भौंचक्केपन में बदल देती हैं। माथुर हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि नीबू रातरानी की महक का जो सुदूर आर्केस्ट्रा है वह 'तुम्हारी उँगलियों' से छेड़ा जा रहा है। मैं जानता हूँ कि आज के कवि की सफलता का एक माप-दंड उसका कम समझ में आना भी है किन्तु पाँच छोटी पंक्तियों में इतना कन्फ़्यूज़न पैदा करना माथुर की उप-लब्धि है।

इस अनुभव के बाद 'रूप-विभ्रमा चाँदनी' की प्रथम दो पंक्तियाँ ही हमें सचेत कर देती हैं। छरहरी चाँदनी समझ में आ भी जाए, किन्तु उसका स्लीवलेस ब्लाउज़ क्या हो सकता है? फिर यह चाँदनी 'मुँह' में मन्द-मन्द 'इलायची चबाती' है, 'सेक्स रचे' (?) नखरे से अठखेलियाँ करती है, तत्पश्चात् 'हाथों को झुलाती' हुई, 'रुकती', 'मुस्काती', 'नीचे कुछ देख फिर तिरछी नज़रों में पुतलियाँ उठाती है', चाँदनी के यह सब कर लेने के बाद बरबस कवि को स्मरण हो आता है—'तुम्हारी' भी तो आदत कभी चाँदनी-सी थी। इस प्यारी-प्यारी कविता में गड़बड़ क्या है? पहले तो चाँदनी का 'मानवीयकरण' या 'मानवीकरण' किया गया—उस पर तमाम अभिसार-गुण लादे गये और शरीरीकृत किया गया—तदु-परान्त इस मानवीकृत अपार्थिवता से ठोस, जीवित, वास्त-विकता का मुक़ाबला किया गया। बात कुछ इस तरह की है कि पहले प्रेतों में आदमियों के गुण स्थापित कर दिए जाएं और फिर आदमी से भेंट होने पर कहा जाए—अरे, पहले तो तुम प्रेत सरीखे हुआ करते थे!

स्पष्ट है कि गिरिजाकुमार एक बिम्बप्रिय कवि हैं किन्तु यदि कवि में बिम्ब-नियोजन की शक्ति न हो तो 'कोणार्क पर तीसरा पहर' सरीखी कविता प्राप्त होती है। पहली दो पंक्तियाँ कुछ आकृष्ट करती हैं (माथुर को कविता प्रारम्भ करना अवश्य आता है, यह बात और है कि पहले मोड़ के पहले ही स्टियरिंग व्हील हाथों से निकल जाता है)—"यह मंदिर/एक पथरीला पेड़ है"—किन्तु प्रत्येक अगली पंक्ति के साथ बिम्ब अविश्वसनीय होने लगता है और 'एक और गढ़ी हुई शिला दूर तक उड़ जाती है' तक पहुँचते-पहुँचते अपनी श्रम-सिद्धता में असह्य हो जाता है। गिरिजाकुमार की कविता की तमाम बाज़ीगरी 'शिलाओं' को 'टूटे पत्ते सरीखे उड़ाने' में सफल नहीं हो सकती और फिर पुनः इसी बिम्ब को दुहराने का भला और क्या अर्थ हो सकता है—"एक विशाल पत्थर तरु/और सहसा छूटकर उड़ते दूर तक/पत्थर के पत्ते/चारों ओर"—कि कवि को वह अपनी समस्त दुर्भाग्य-पूर्णता में प्रिय है और वह उसे पाठक को 'सेल' करना चाहता है।

'गंध लेने लगी आकार' फिर एक बिम्बहत रचना है। अपने शब्द-चयन, गठन, शैली आदि में यह स्व० माखनलाल चतुर्वेदी की दुरूहतर कविताओं का स्मरण दिलाती है। शब्दों की लक़दक़ में जब अर्थ खो जाता है तो मतलब यही होता है कि कवि अपने कथ्य-दारिद्रय को मध्ययुगीन जिरह-बख्तर पहना रहा है। 'गंध लेने लगी आकार' एक प्रकृति-चित्र से अधिक कुछ भी नहीं है, किन्तु उसे ऐसी छायावादी भाषा, बिम्ब-जाल और रूमानियत दिये गए हैं कि संप्रेषणीयता पलायन कर गई है और 'कुहू', 'दिपनार', 'ज़री', 'रोमशर', 'किशमिशी अंशुकों', 'चम्पई चीकनी', 'संवला गए', 'छूमुई', तथा 'गुँथीली गुराई' के लिजलिजे दलदल में अर्थ का हाथी हौदे तक धँस चुका है।

गिरिजाकुमार तथा उनके हमउम्र कवि के सामने उनकी वरिष्ठता एक विचित्र समस्या उपस्थित करती है। वे इकट्ठे तीन चीज़ें होना चाहते हैं—अग्रणी, समसामयिक तथा जैसे वे वास्तव में हैं (अन्तिम उनकी लाचारी है)। अग्रणी होने की आकांक्षा उन्हें इस या उस आन्दोलन का संरक्षक बनने तथा उसके अनुरूप कविता छपाने, लम्बे-चौड़े मैनिफ़ेस्टो, स्पष्टीकरण तथा 'भूल-सुधार' शाया करने तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास-पुरुष (इतिहास-थीम पर कविताओं की बाढ़ आना आकस्मिक नहीं है) कहलाने को बाध्य करती है; सम-सामयिक होने की ललक उनसे अपनी रजतवर्ण कविताओं में आधुनिकता का खिज़ाब लगवाती है—उनके पास न आज को महसूस करने की शक्ति है और न ही उसको अभिव्यक्त करनेवाले बलिष्ठ शब्द; जबकि जैसे वे हैं वैसा होने की उनकी नियति उनसे इस तरह की कविताएँ लिखवाती है जो बिवेन्द्र-रसेन्द्र आचार्यद्वयी को भले ही रुचती हो आज की स्थितियों से उतनी ही दूर है जितना आकाशवाणी से आकाश। अपनी करुण स्थिति को यह न पहचानते हों, इतने 'नाइव ये नहीं हैं, किन्तु रचनाओं की संख्या और ग्रन्थों के वज़न से ही हिन्दी-साहित्य में दाखिल हो सकने की परम्परा में इनका विश्वास निराधार नहीं है। इन्हें यह बतलाने से भी कोई लाभ नहीं होगा कि १९४३ में 'फोर क्वार्टेट्स' के प्रकाशन के बाद १९६५ में मृत्यु तक इलियट का 'इधर आपने क्या नया लिखा है' वाला कोई संग्रह न आने के बावजूद भी उसे लोग विश्वकवि मानते रहे हैं।

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आलोचना" के पुराने अंकों में से अब केवल निम्न अंक ही उपलब्ध हैं

वर्ष	महीना	अंक	मूल्य	पृष्ठ संख्या	विशेषांक
१९५३	अप्रैल	७	३.००	१३४	
"	जुलाई	८	३.००	१४६	
१९५४	जनवरी	१०	३.००	१३६	
"	अप्रैल	११	३.००	१३२	
"	जुलाई	१२	३.००	१३०	
१९५५	जनवरी	१४	३.००	१३२	
"	अप्रैल	१५	३.००	१३२	
१९५६	जनवरी	१७	३.००	१४९	
"	अप्रैल	१८	३.००	१३८	
"	अक्तूबर	२०	३.००	१२१	
१९५७	जनवरी	२१	४.००	१२८	
"	अप्रैल	२२	४.००	१२०	
"	जुलाई	२३	४.००	१३६	
"	अक्तूबर	२४	४.००	१२४	
१९५९	अप्रैल	२६	४.००	१८०	काव्यालोचनांक शेषांक
१९६३	अक्तूबर	२८	३.००	१४४	
१९६४	जुलाई	३१	३.००	२१०	
१९६४	अक्तूबर	३२	३.००	१४८	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक भाग १, २, ३, ४, ५
१९६५	जून	३३	६.००	२५२	
१९६६	जनवरी	३५	४.००	१८४	
"	अप्रैल	३६	४.००	२२०	
"	दिसम्बर	३७	४.००	१७०	
१९६७	जुलाई	३९	५.००	१५८	आचार्य ह० प्र० द्विवेदी की षष्ठीपूर्ति पर विशेषांक
१९६८	जुलाई	४३	३.००	१२४	
"	दिसम्बर	४४	३.००	१०९	
१९६९	जनवरी	४५	३.००	१४४	

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आगामी अंक में

- लेनिन : एक साहित्यिक सिद्धांतकार के रूप में—स्तेफान मोराव्स्की
- मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ—सुरेन्द्र चौधरी
- चिति की लीला में प्रतीक के प्रकार्य—रमेश कुंतलमेघ
- भारतीय काव्य शास्त्र की नयी व्याख्या ?—राममूर्ति त्रिपाठी
- कविकर्म : सौन्दर्य का उत्स—विजेन्द्रनारायण सिंह
- स्वच्छंदतावादी समीक्षक नंददुलारे वाजपेयी—विष्णुकांत शास्त्री
- निराला का 'कुकुरमुत्ता' : पुनर्मूल्यांकन—नेमिचन्द्र जैन
- परिवेश : संस्कार और संवेदना (कहानी के संदर्भ में)—रमेशचन्द्र शाह
- विष्णुचन्द्र शर्मा, श्रीराम वर्मा, नीलाभ और विष्णु खरे की कविताएँ।
- 'नौ साल छोटी पत्नी' (रवीन्द्र कालिया), 'रिश्ता तथा अन्य कहानियाँ' (गिरिराज किशोर), 'अंधेरे की आँखें' (श्रवणकुमार) आदि नये कहानी-संग्रहों की समीक्षा
- 'नयी कविता : स्वरूप और सम्भावना' (जगदीश गुप्त), हिन्दी उपन्यास कोश (गोपाल राय) आदि आलोचना पुस्तकों की समीक्षा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
की
एक नई महत्त्वपूर्ण कृति

लालित्य तत्व

- *लालित्य तत्व*
- *वाक् तत्व और*
- *सृजन शक्ति एवं सृजन प्रक्रिया*

पर सर्वथा मौलिक चिन्तन

आचार्य द्विवेदी का कथन है कि **सौन्दर्य शास्त्र** के लिए भारतीय चिन्तन के अनुरूप **लालित्य तत्व** अधिक सार्थक शब्द है। **लालित्य तत्व** में आचार्य द्विवेदी ने साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला में निहित सिद्धान्तों की भी मौलिक व्याख्या की है।

रेखाकृतियों और चित्रों से सुसज्जित

शीघ्र प्रकाश्य

राजकमल

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

दिल्ली-६ • पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

चार अफ्रीकी कविताएँ
प्रस्तुतकर्ता : विद्यानिवास मिश्र १

शब्द-अर्थ : भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि
विद्यानिवास मिश्र ४

अस्तित्ववाद और नई कविता
रामविलास शर्मा ७

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कुमार विमल २४

आज की कविता : कुछ मौलिक सवाल
रामदेव आचार्य ३४

दो कविताएँ शिवकुटी लाल वर्मा ४१

• पुनर्मूल्यांकन

विश्वविद्यालयों का कवि : प्रसाद
रमेशचन्द्र शाह ४२

मायकोव्स्की की तीन कविताएँ
रणजीत, नरेशकुमार ६१

• भारतीय परिप्रेक्ष्य

बंगला के आधुनिक शास्त्र-मुक्त आलोचक
इन्द्रनाथ चौधरी ६५

बंगला कहानी : विभाजन के बाद
इन्दुमती ओझा ६९

• प्रासंगिकी

समकालीन कविता : एक दृश्यालेख
अशोक वाजपेयी ७६

• मूल्यांकन

निराला की साहित्य साधना : तीन समीक्षाएँ
अमृतलाल नागर ८२
विष्णुकांत शास्त्री ८९
नेमिचन्द्र जैन ९५

सलीके से किस्सा कहने की दुर्लभ कला
विजयदेव नारायण साही १०२

'अतुकान्त' और निरर्थकता का कवि
प्रमोद सिनहा १०९

आदतन लिखते रहने की नियति
विष्णु खरे ११६

वर्ष १८ : नवांक ९, (पूर्णांक ४६) अप्रैल-जून १९६९, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००
शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी• ई० वी/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८
दिनांक २०-१-६८ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

•

NOT TO BE ISSUED
REFERENCE BOOK
CHECKED 1973

हिन्दी के पाठकों के लाभ के लिए 'राजकमल प्रकाशन' त्रैमासिक 'आलोचना' से संपृक्त एक नयी योजना का तुरन्त शुभारम्भ कर रहा है।

यह योजना है—'आलोचना पुस्तक-परिवार'।
पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ इस योजना के उद्देश्य और सदस्य बनने के नियम आदि प्रकाशित कर रहे हैं।

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग—व्यक्तिगत खरीदार (इंडिवीजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के अधिक निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर वे पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना पुस्तक-परिवार

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन भी मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जायेगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉजिट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉजिट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रति मास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी खास रकम की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

—यहाँ से काटिये—

सदस्यता फार्म

मैं आलोचना पुस्तक-परिवार का/की सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। फार्म तथा सिक्योरिटी डिपॉजिट रूप में ३.०० रुपये की राशि भेजी जा रही है। मैं अपने प्रथम आर्डर की अग्रिम राशि के साथ ३.०० रुपये की यह राशि भेज दूंगा/दूंगी। मेरा नाम व पता सदस्य-योजना में अंकित कर लें तथा मेरी सदस्य संख्या सूचित करें।

मैं आश्वासन देता/देती हूँ कि वी० पी० पी० से पुस्तकें मँगाने पर वी० पी० पी० निश्चित रूप से छुड़ा ली जायेगी।

दिनांक..................

हस्ताक्षर......................

पूरा पता......................

....

पोस्ट......................

(अनावश्यक अंश को काट दें।) निकटतम रेलवे स्टेशन..........................

—यहाँ से काटिये—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केशव का आचार्यत्व

डॉ० विजयपाल सिंह

एम० एम०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में जिन कलाकारों ने कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की भी पदवी प्राप्त की उनमें केशव का स्थान सर्वोपरि है। 'डी० लिट्' के लिए स्वीकृत इस शोध-प्रबन्ध में केशव की पूर्ववर्ती और समकालीन काव्य-परम्पराओं की विशद पीठिका पर उनके स्वरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके आचार्यत्व का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत हुआ है। सभी पुस्तकालयों तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए संग्रहणीय !

मूल्य : २०.००

अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना-ग्रन्थ

पाश्चात्य समीक्षा की रूपरेखा : डॉ० प्रतापनारायण टंडन	१२.००
बच्चन का परवर्ती काव्य : डॉ० श्यामसुन्दर घोष	६.००
हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति काव्य : डॉ० भास्करन नायर	१५.००
हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन : डॉ० सुन्दर रेड्डी	४.००
हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन	१५.००
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा	१२.००
संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद : डॉ० देवेन्द्र कुमार	१३.००
काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ० नगेन्द्र और नेमिचन्द्र जैन	३.५०
समीक्षा-शास्त्र : डॉ० दशरथ ओझा	८.००
तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी	१०.००
केशव सुधा : डॉ० विजयपाल सिंह	१०.००
केशव और उनका साहित्य : डॉ० विजयपालसिंह	१५.००
आज का भारतीय साहित्य : सं० साहित्य अकादेमी	८.००

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नेशनल' के उत्कृष्ट आलोचना-ग्रंथ

आस्था के चरण	डॉ० नगेन्द्र	५०.००
रस-सिद्धान्त	,,	२५.००
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	,,	२०.००
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	,,	१७.५०
देव और उनकी कविता	,,	१२.००
आलोचक की आस्था	,,	७.००
रीतिकाव्य की भूमिका	,,	५.५०
विचार और अनुभूति	,,	५.५०
विचार और विवेचन	,,	५.५०
विचार और विश्लेषण	,,	६.००
अनुसंधान और आलोचना	,,	४.००
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां	,,	५.५०
सियारामशरण गुप्त	,,	१०.००
कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ	,,	३.००
काव्य-बिम्ब	,,	४.००
चेतना के बिम्ब	,,	५.००
कूटकाव्य—एक अध्ययन	डॉ० रामधन शर्मा	१५.००
राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धान्त और साहित्य	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	३५.००
चिन्तन के क्षण	,, ,,	७.५०
समीक्षात्मक निबन्ध	,, ,,	१२.००
युगचारण दिनकर	डॉ० सावित्री सिन्हा	१२.००
तुला और तारे	,, ,,	६.००
ध्यान-सम्प्रदाय	डॉ० भरतसिंह उपाध्याय	१२.५०
छायावादोत्तर काव्य	प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद	१०.००
भक्तिकाव्य में रहस्यवाद	डॉ० रामनारायण पाण्डे	२५.००
हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध	डॉ० उदयभानुसिंह	१५.००
नाट्य-समीक्षा	डॉ० दशरथ ओझा	६.००
आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ	डॉ० निर्मला जैन	३०.००
रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र	डॉ० निर्मला जैन	३०.००
प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त	,, ,,	७.००
शरतचन्द्र—व्यक्ति और साहित्यकार	मन्मथनाथ गुप्त	६.००
गुप्तजी की काव्य-साधना	डॉ० उमाकान्त	१०.००
अज्ञेय का कथा-साहित्य	ओम प्रभाकर	६.५०
भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका	डॉ० फतहसिंह	७.५०
नाट्यकला	डॉ० रघुवंश	७.५०
खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना	डॉ० आशा गुप्ता	२०.००
हिन्दी उपन्यास—एक सर्वेक्षण	महेन्द्र चतुर्वेदी	६.५०
समसामयिक हिन्दी साहित्य-उपलब्धियाँ	सं० मन्मथनाथ गुप्त	१३.५०
सौन्दर्य-तत्व और काव्य-सिद्धान्त	डॉ० सुरेन्द्र बारलिंगे	८.००
डॉ० नगेन्द्र के आलोचना-सिद्धान्त	नारायणप्रसाद चौबे	८.००
नरेन्द्र शर्मा और उनका काव्य	लक्ष्मीनारायण शर्मा	६.००
प्रेमचन्द के नारी-पात्र	ओम अवस्थी	६.००
साहित्य-समीक्षा	मुद्राराक्षस	६.००
रामचरितमानस और साकेत	परमलाल गुप्त	७.००
जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	रघुबीरसरन झालानी	५.००
रंगमंच और नाटक की भूमिका	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	१२.००
आज का हिन्दी साहित्य	प्रकाशचन्द्र गुप्त	१०.००
यशपाल की कहानी-कला	कुमारी अनुविग	२.५०
साहित्यिक अनुसंधान के प्रतिमान	सं० डॉ० देवराज उपाध्याय	१०.००
हिन्दी साहित्य को कूर्मांचल की देन	डॉ० भगतसिंह	३०.००
देव ग्रन्थावली	डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय	२०.००
महिमभट्ट	डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	२५.००
हिन्दी समस्या-नाटक	डॉ० मान्धाता ओझा	२५.००
जयशंकर प्रसाद—वस्तु और कला	डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	३५.००
कुछ निबन्ध	डॉ० उमाकान्त	३.००
गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता	डॉ० महीपसिंह	३०.००
मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति	डॉ० मदनगोपाल गुप्त	३५.००
कहानी-स्वरूप और संवेदना	राजेन्द्र यादव	१५.००
हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना	डॉ० प्रेमस्वरूप	३५.००
ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास	प्रभुदयाल मीतल	३५.००
सन्त-साहित्य और साधना	डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'	१४.००
कबीर-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० भगवतप्रसाद दुबे	१५.००
सांख्यकारिका	डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	१३.००
माखनलाल चतुर्वेदी—यात्रा पुरुष	सं० श्रीकान्त जोशी	३०.००
शृंगार-युग में संगीत-काव्य	हेम भटनागर	२५.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२३५, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार अफ्रीकी कविताएँ

प्रस्तुतकर्ता : विद्यानिवास मिश्र

एक दिन

बेटे, एक दिन हम सब
खुले दिल आँखें भर
हँसते थे ठहाका मार,
पर अब,
महज दाँत निपोरते हैं
बर्फ़ की डालियों सरीखी दीठ
पीछे ढूँढ़ती परछाइयों में
कहीं खोयी राह।
बेटे वह दिन गया
जब हाथ में हम हाथ लेते
परस्पर हृदय ही हम थाम्ह लेते
हम दायाँ हाथ अब भी मिलाते हैं,
मरे मन,
पर न जाने
बायाँ हाथ
खाली जेब में क्यों लपक जाता है।
'यह घर तुम्हारा है, पुनः आना'
लोग कहते हैं
पहली बार आता है
और जब मैं चाहता आऊँ
धरू होकर, अगली बार
अगली बार आती नहीं
भिड़े मिलते द्वार।
बेटे ज़िन्दगी में सीखा बहुत है,
सीखा है लगाना कई चेहरे
जैसे कि वह भी ऊपरी परेशान हो
धरू चेहरा,
दफ्तरी चेहरा
चेहरा राह चलते का,
मेहमान चेहरा
मेज़बान चेहरा
हर एक की मुस्कान की किस्में अलग हैं
पूर्व निश्चित हैं, तस्वीर की-सी टिकी भी हैं
और सीखी है दंत निपोरी
हँसी खाली
सीखी है हथमिलौवर
बिना मन के
भँज गया हूँ विदा लेते कहूँ
'फिर मिलेंगे'
जब कि भीतर हो रहा हो
चलो छुट्टी मिली,
ढँग आ गया है
खुश न हूँ तो भी कहूँ
आपसे मिलकर मुझको खुशी है
ऊबकर भी मैं कहूँ—
बड़ी दिलचस्प बातें आपकी।

बेटे, पर यह सब झूठ।
विश्वास मानो,
मैं वही होना चाहता हूँ
जो था जब कि तेरी उम्र पर था
चाहता हूँ भूल जाऊँ
मुर्दादिली का यह सरोसामान
फिर से चाहता हूँ सीखना
कैसे हँसा जाता है
क्योंकि अब मेरी हंसी
मुझी को आइने में दीखती है
सर्प के विषदन्त सी उघड़ी
उजासी।

इसलिए बेटे मुझको दिखाओ
कसे हँसा जाता है
कैसे मैं स्वयं भी हँसा करता था
जबकि तेरी उम्र पर था।

('गेब्रील ओकारा' की कविता के आधार पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीका की विनती

मैं तुम नहीं हूँ—
पर भला तुम मुझे क्यों
देने लगे मौक़ा
मैं मैं बना रहूँ
तुम हमेशा सोचते हो—
'यदि मैं तुम्हारी जगह होता'—
जब कि तुम यह जानते हो—
मैं तुम नहीं हूँ,
फिर भी तुम मुझे
मैं न रहने दे रहे।
तुम हमेशा मेरे मामलों में
दखल देते हो,
मानों ये मामल तुम्हारे हों
और तुम मैं हो गये हो।
बिल्कुल ग़लत है, बेवक़ूफ़ी है
तुम्हारा यह सोचना
मैं हो सकूँगा तुम
मैं तुम्हारी तरह
बोलूँगा, चलूँगा, सोचूँगा।
खुदा ने मुझको मैं बनाया
तुमको बनाया तुम
खुदा के वास्ते
मुझको मैं बने रहने की द छूट।

('रोलैण्ड तोम्बेकइ डेम्पटर' की कविता के आधार पर)

प्रणयगीत

तन की परछाईं मत मानो
प्रिय न मुझे दो
परछाईं की प्रीति।
परछाईं तो घुल जाती है
धुँधली सँझा के गेरू में
और तुम्हें मैं धारण करती
उजली ऊषा की लाली तक।
प्रिय मुझको तनिक न भाता
लाल मिर्च-सा तीखा प्यार
भीतर आग भड़क जाती है।
कभी बताओ शान्त हो सके
भूख हृदय की शोख प्यार से

प्रिय मुझको उपधान न मानो
केवल सोने का सुख साधन
दिन में मिलना भी हो
दुर्लभ
मुझे न ऐसा प्यार चाहिए।
यदि सचमुच ही प्यार तुम्हें है,
मुझको सपनों का दर्जा दो
सपने तेरे जीवन निशि में
सपने मेरी आशा दिन में।

('फ्लेवियेन रनइबो' की कविता के आधार पर)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज

विगत समिधा है
प्रस्तुत आग की,
भविष्यत्—
उस आग का भटका धुआँ है
जो कि बादलों से घिरे आकाश में
लुक जा छिपा है।
तू सदय हो, मृदुल हो, प्रिय
शब्द ही स्मृति जाल बनते
स्मृतियाँ
मूर्ख भाइयों के अनधिकृत हाथ में औज़ार।
विज्ञजन जब मौन हों,
तब जान लेना,
पढ़ लिया है हाथ यीशू का,
उन्होंने चेहरे में तथागत के।

प्रिय सुमति की, मार्गदर्शन का!
सीख मत लो उस विज्ञजन की
मृदुल वाणी से
सीख लो उस आग से
जिसने कि उनकी मुखर वाणी को
मौन से संस्कृत किया है।
वृष्टि मूसलधार
—हम तुम सो रहे थे
वासना के भार—
तड़ित की द्युति में दिपाती
सुमति के नवलेख
विज्ञजन ने
मूर्ख भाण्डों के रहे ही दास।

('क्वेसी ब्रेड' की कविता के आधार पर)

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द-अर्थ : भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि

विद्यानिवास मिश्र

भाषाशास्त्र के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि न केवल भारत के लिए बल्कि समस्त विश्व के लिए महत्त्व रखती है। जिन सिद्धान्तों के बारे में आज भी असंदिग्ध विचार आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन में उपलब्ध नहीं हैं उन्हीं का प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्र में बहुत ही स्पष्ट और तर्कशुद्ध प्रतिपादन मिलता है।

भाषा के सम्बन्ध में मूलभूत भारतीय धारणाएँ संक्षेप में इस प्रकार परिगणित की जा सकती हैं—

(१) प्रत्येक ज्ञान के पूर्व भाषा का व्यापार है। समस्त ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध-सा हो, इस प्रकार प्रतिभासित होता है।

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते ।" (वाक्यपदीय)

यह सिद्धान्त आधुनिक चिन्तक ह्येल्म् स्लेफ के इस सिद्धान्त से मिलता है—"भाषागत रूप के लिए प्रतीयमान वस्तु आवश्यक शर्त नहीं है, बल्कि वस्तु के लिए ही भाषागत रूप आवश्यक शर्त है।"

(२) भाषाशास्त्र की दृष्टि में भाषागत विवरण का प्रामाण्य स्वयं भाषा में ही निहित है, भाषा के बाहर नहीं, क्योंकि भाषा ही भाषाबोध तथा भाषाप्रयोग के लिए एकमात्र वास्तविकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा का प्रामाण्य भाषा से बहिर्भूत परिस्थितियों में ढूँढा जाता था या भाषा से विच्छिन्न वैयक्तिक, मानसिक व्यापार में, परन्तु आज अर्थ के स्वरूप के निर्धारण के सम्बन्ध में यह विचारधारा पश्चिम में दबे स्वर में मुखर होने लगी है कि भाषा व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है, एक समुदाय के द्वारा स्वीकृत मूल्य है, इसलिए व्यक्ति के लिए मानसिक व्यापार में भाषा का प्रामाण्य ढूँढना उचित नहीं है, साथ ही समुदाय की परिस्थितियाँ भाषा के व्यवहार के लिए केवल माँग पेश करती हैं, भाषा का नियंत्रण भाषा में निहित क्षमता ही कर सकती है।

(३) भाषा किसी भी विचार की सत्यता या तर्कसंगति की अपेक्षा नहीं रखती, नैयायिक की दृष्टि में भले ही यह कहना तर्कसंगत न लगे कि "वह आग से सींचता है, किन्तु भाषाशास्त्री की दृष्टि में इसका महत्त्व नहीं कि विचार स्वयं में तर्कसंगत है कि नहीं, परन्तु बोध्यमान अर्थ असंगत नहीं होना चाहिए और यदि बोध्यमान संगत न होता तो 'वह आग से सींचता है,' इस वाक्य की अर्थप्रतीति न होती और अर्थप्रतीति न होने के कारण यह प्रतिप्रश्न भाषा में सम्भव न होता कि आग को तुम सिंचन व्यापार का साधन कैसे मान सकते हो (नागेश—परमलघुमञ्जूषा—योग्यताविचार) योग्यता इस प्रकार भाषाशास्त्री की दृष्टि में अर्थबोध के लिए अपरिहार्य नहीं है। आधुनिक विचारक लास्लो एन्ताल ने अपने 'नोट्स ऑन ट्रुथ मीनिंग ऐण्ड सिनानिमिटी' शीर्षक लेख में इसी प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि "जहाँ तर्कशास्त्री सत्यता और अर्थ दोनों की समान रूप से अपेक्षा रखता है, वहाँ भाषाशास्त्री सत्यता और योग्यता में कोई दिलचस्पी रखे बिना केवल अर्थ से प्रयोजन रखता है।" लिप्स्ची ने अपने 'प्राब्लेम्स ऑफ़ सिमैण्टिक्स' शीर्षक लेख में इसी सिद्धान्त का समर्थन इन शब्दों में किया है, "सत्यता और असत्यता के प्रश्न दार्शनिक अर्थचिन्तन के लिए ही संगति रखते हैं, भाषाशास्त्री अर्थ के प्रश्न को इन प्रश्नों से स्वतंत्र रूप में अलग करके देखता है।"

(४) भाषा की संघटना (और अर्थ की संघटना इसका अविभाज्य अंग है) प्रयोग और मात्र प्रयोग पर आधृत है, इसीलिए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध सम्बन्ध है, पूर्व-निश्चित सम्बन्ध है। किसी वक्ता की यदृच्छा पर अवलंबित नहीं है। 'विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः' (वाक्यपदीय, काण्ड २)। व्याडि के संग्रह में इसी को दूसरे रूप में कहा गया है—कि शब्दार्थ सम्बन्ध का कोई एक स्रष्टा नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः' । महाभाष्यकार पतञ्जलि भी इसीलिए कहते हैं कि अर्थवान् का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है—'नित्यो ह्यर्थवतामर्थेरभिसम्बन्ध' और इस सम्बन्ध का प्रामाण्य लोक के द्वारा है । अगर यह सम्बन्ध पूर्वसिद्ध न होता तो ज़मीन पर घड़ा और मुँह में घड़ा इस शब्द का उच्चारण दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं, पर 'घड़ा' शब्द उच्चारण करने से उसी अर्थ की प्रतीति होती है, जो घड़ा नामक वस्तु के लिए वक्ता और श्रोता का एक ही अभिप्राय द्योतित कर देता है । सेरेत्सेमा ने 'ए स्टडी ऑफ़ ग्लासमेटिक्स' में इसी सिद्धान्त को इस रूप में रखा है कि किसी भी शब्द का आत्यन्तिक विच्छेद की अवस्था में कोई अर्थ नहीं होता है, किसी सन्दर्भ में ही अर्थ को उद्भूत करता है और यह सन्दर्भ भाषाप्रयोगगत सन्दर्भ ही हो सकता है । बाहरी आधार पर भी अर्थ का व्यवहार होता है किन्तु पाणिनीय भाषा-चिन्तन में दो प्रकार के अर्थों में स्पष्ट त्रिभेद किया है—बहिर्भूत अर्थ और आन्तरिक वाच्यार्थ । बहिर्भूत अर्थ के आधार पर भाषा का विवेचन सम्भव नहीं है, इसीलिए पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के १-२-५६ सूत्र में यह प्रतिपादित किया है कि समास के निर्धारण में वहिर्भूत अर्थ अवच्छेदक नहीं हो सकता ।

(५) चौथे सिद्धान्त से ही उद्भूत है कि भाषागत अर्थ बाह्य अर्थ या प्रतीयमान वस्तु से तथा उस अर्थ के प्रत्यय से एकदम पृथक् है । वाक्यपदीयकार ने स्पष्ट रूप में कहा है कि शब्द के उच्चारण से तीन विभिन्न वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—शब्द के प्रयोग करने वाले और सुनने वाले को उस शब्द का ज्ञान, उस शब्द का बाह्य अर्थ तथा उसका स्वगत अर्थ । तीनों चीजों से शब्द का सम्बन्ध अलग-अलग ज्ञान के क्षेत्र में है । भाषाशास्त्र केवल शब्द और उसके स्वगत अर्थ के सम्बन्ध तक अपने को सीमित रखता है ।

"ज्ञानं प्रयोक्तुं बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते ।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ।"

(वाक्यपदीय, काण्ड ३)

एन्ताल ने अपने ग्रन्थ 'क्वेश्चन्स ऑफ़ मीनिंग' में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार में किया है, जहाँ कि उन्होंने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि अर्थ और प्रतीयमान वस्तु एक नहीं है और न अर्थ और अर्थबोध ही एक है । अर्थ वस्तुतः भाषा समुदाय विशेष में, संकेत विशेष में, प्रयोग में अभिव्यक्त होने वाली एक वस्तुनिष्ठ इकाई है । यह इकाई यदि वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होती तो प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता, किन्तु चूँकि समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति को अर्थ की प्रतीति एक-सी होती है इसलिए भाषागत अर्थ आत्मनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ रूप में ही सम्भव है । अर्थ और अर्थ के प्रत्यय में न केवल स्वरूप-भेद है अपितु क्रम-भेद भी है, क्योंकि अर्थ का बोध और अर्थप्रत्यय का बोध—दोनों दो क्षणों में होते हैं । दूसरे क्षण को ही मीमांसाशास्त्र में ज्ञातता और न्यायशास्त्र में अनुव्यवसाय कहा गया है ।

भारतीय चिन्तन में अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ा ही गहरा मतभेद है । अर्थ जाति है या व्यक्ति, यथार्थ है या अयथार्थ, आत्मनिष्ठ है या वस्तुनिष्ठ, भाव रूप है या अभाव रूप, इन सभी विकल्पों के बारे में विभिन्न दर्शनों में गहरा मतभेद है । प्रत्येक दर्शन ने इस विवाद में अपने-अपने परमार्थ चिन्तन की दृष्टि से अपने विचार रखे हैं । भाषाशास्त्र भी भारत में दर्शन के रूप में विकसित होने के लिए बाध्य हुआ, इसलिए उसे इस विवाद में पड़ना पड़ा, परन्तु उसने वस्तुरूप बाह्य अर्थ की अस्पष्टता और अनिश्चितता का समाधान यह कहकर कर लिया कि बाह्य अर्थ का भाषागत समानान्तर अर्थ वचन, लिंग और अन्य सन्दर्भों के कारण सुनिश्चित है और बाह्य अर्थ जाति हो या व्यक्ति, या दोनों हो, उससे भाषागत अर्थ का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, इसलिए हमें दोनों अर्थ स्वीकार हैं ।

भाषाशास्त्र ने, विशेष रूप से इसके पाणिनीय सम्प्रदाय ने, अपने मान-स्तर और प्रामाण्य का स्वतन्त्र ढाँचा खड़ा किया, ताकि भाषा की स्वयंपूर्ण वास्तविकता के बारे में कोई सन्देह न किया जा सके । अपने को दर्शन-रूप में परिणत करने के इस दबाव के कारण ही भर्तृहरि ने 'स्फ़ोट' के सिद्धान्त को सामने रखा और प्रतिपादित किया कि वस्तुतः अखंड वाक्यार्थ ही एकमात्र वास्तविक इकाई है, पद और वर्ण भाषा की दृष्टि से नहीं, भाषाशास्त्र की दृष्टि में उपयोगी साधन के रूप में आरोपित इकाइयाँ हैं । वस्तुतः भाषा की वास्तविकता की दो उपाधियाँ हैं—उसका बाह्य अर्थ और उसका ध्वनिसमुदाय ।

'असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा सत्यनिबन्धनम्"

(वाक्यपदीय, काण्ड २)

यह वास्तविकता तर्क से बाधित कभी नहीं होती क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तर्क से परे है। यह भाषा की लोकप्रसिद्धता में अन्तर्निहित है। दूसरे शब्दों में समुदाय विशेष द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति में अन्तर्निहित है। समुदाय की जीवन-पद्धति तर्क से बाधित नहीं होती, वह समुदाय की अस्वीकृति से ही बाधित हो सकती है—

"धर्मस्य-चाव्यवच्छिन्ना पन्थानो ये व्यवस्थिता;
न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण बाध्यते।"
(वाक्यपदीय, काण्ड १)

भाषा की वास्तविकता ऐन्द्रिय प्रतीति या सादृश्य-प्रतीति या धारणात्मक प्रतीति के रूप में गम्य नहीं होती। यह वस्तु जगत् के भाषात्मक अमूर्त्तीकरण के रूप में गम्य होती है। स्फोट इसी प्रकार का अमूर्त्तीकरण है। यह अमूर्त्तीकरण इसीलिए वस्तुनिष्ठ है, क्योंकि उसके प्रतिभास का साझीदार समुदाय-विशेष का प्रत्येक वक्ता-श्रोता है। इस अमूर्त्तीकरण के प्रत्यक्ष के लिए एक स्वतन्त्र प्रत्ययप्रक्रिया की स्थापना इसलिए करनी पड़ी है। यह प्रक्रिया ही 'प्रतिभा' है। 'प्रतिभा', जोकि भाषा के निरन्तर प्रयोग और तत्प्रयोग-जन्य संस्कार के साथ समवेत है। श्री गौरीनाथ शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'फिलासफी ऑफ़ वर्ड एण्ड मीनिंग' में भारतीय भाषाशास्त्र में वर्णित प्रतिभा के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार किया है—

"प्रतिभा अपरोक्ष, सुव्यक्त और अद्वितीय होती है। यह प्रकाशस्वरूप है, मात्र बुद्धिविमर्श स्वरूप नहीं। इसी कारण प्रकाश के स्वतः स्फूर्त्त आलोक में किसी भी उक्ति का अर्थ विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यह प्रकाश शब्द या उसके संस्कार के द्वारा साक्षात् उद्भूत होता है।"

स्फोट सिद्धान्त दो उद्देश्यों की सिद्धि करता है—एक तो यह भाषागत अनुभव के समानान्तर जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व को महत्त्व देता है ताकि ऐन्द्रिय जगत् के ऊपर अवलम्बित होने की आवश्यकता न रह जाए और दूसरे भाषाशास्त्र की दूसरी इकाइयों की कल्पना को प्रमाणित करने के लिए आधार देता है, क्योंकि वे स्फोट से ही उद्भासित होकर भाषा की संरचना का सम्बन्ध स्पष्ट कर सकती हैं।

भाषाशास्त्र के पाणिनीय सम्प्रदाय ने संघटनात्मक दृष्टि का निर्वाह यदि इतनी सफलता से किया, उसका कारण यही था कि यह सम्प्रदाय यह दृढ़ मत रखता रहा है कि भाषा समुदाय की उद्भावना है, इसलिए इसे वस्तुनिष्ठ होना चाहिए, साथ ही भाषागत व्यापार जगत् को बाह्य जगत् के ऊपर अपने प्रामाण्य के लिए अवलम्बित नहीं रहना चाहिए, यद्यपि वह स्वयं चारों ओर घिरे हुए जगत् का एक अमूर्त्त रूप है। यदि वे ऐसा मान के रखते तो बाह्य जगत् की विविधताओं के आनन्त्यदोष से तथा आत्मनिष्ठता से जन्य धूमिलता और असिद्धता के दोष से भाषागत अर्थ को मुक्त न कर पाते।

भारतीय भाषा दृष्टि में अर्थ इसलिए अमूर्त्त है कि इसे भाषा के व्यवहार की सर्वग्राह्यता के कारण मूर्त्त आकार दिया नहीं जा सकता। भाषागत अर्थ मूर्त्त है क्योंकि वह समान रूप से प्रत्येक ऐसे वक्ता द्वारा ग्राह्य है जिसे कि भाषा व्यापार के निरन्तर अभ्यास से भाषागत जागरूकता आ गई। इसी दृष्टि का उन्नयन भारतीय साहित्य-शास्त्र ने रस अनुभव के स्वतन्त्र धरातल के निर्माण के रूप में किया। अनुभव के इस धरातल पर इसीलिए समस्त बाह्य जीवन के अनुभव साधारणीकृत रूप में ही प्रस्तुत होते हैं और व्यक्ति की सीमाओं का परिगलन हो जाता है। भाषाशास्त्र की ही दृष्टि ने साहित्य-शास्त्र के मूल्य को शाश्वत, देशकाल-निरपेक्ष और स्वयं सापेक्ष आधार प्रस्तुत करने के लिए प्रेरणा दी है। इस दृष्टि का प्रयोग आज के विश्वजनीन चिन्तन में भी इसीलिए और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है कि यह दृष्टि आज की अमूर्त्तवादी चिन्तन-पद्धति के अनुरूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद और नई कविता

रामविलास शर्मा

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिन विचारकों ने हेगल के दर्शन का विरोध किया, उनमें डेनमार्क के धर्मचिन्तक किरके गार्ड भी थे। एंगेल्स ने 'ऐंटी-डूर्रिंग' में हेगल के युगान्तरकारी महत्त्व की व्याख्या करते हुए लिखा है कि हेगल ने पहली बार प्राकृतिक, ऐतिहासिक और वैचारिक जगत् को एक गतिशील, परिवर्तनशील और विकासमान क्रम के रूप में प्रस्तुत किया। अब मानवजाति का इतिहास हिंसात्मक कृत्यों का निरर्थक समूह न रह गया, मनुष्य का परिपक्व विवेक जिसकी भर्त्सना करता, वरन् वह मानवता के ही विकास का क्रम सिद्ध हुआ।

हेगल ने मनुष्य की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन किया, समाज के अन्तर्विरोधों का विश्लेषण किया, सामन्ती रूढ़ियों और धार्मिक अन्धविश्वासों की आलोचना की। जर्मनी में सामन्ती व्यवस्था की समाप्ति और पूँजीवादी व्यवस्था के अभ्युदय की मिलन-रेखा पर स्थित है हेगल का दर्शन। वह फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समर्थक थे। उनके चिन्तन की सीमाएँ स्पष्ट करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने उनकी विचारधारा के क्रान्तिकारी तत्त्वों को विकसित किया।

किरके गार्ड उल्टी दिशा में चले। उनका कहना था कि मानव-इतिहास और मानव-चिन्तन उस विकासक्रम से संबद्ध नहीं हैं जिसकी व्याख्या हेगल ने की थी वरन् वे संबद्ध हैं मनुष्य के व्यक्तिगत निर्णयों से। केवल व्यक्ति सत्य है; उसकी उलझनें तथ्यों की छानबीन से या तथ्यों के बारे में हमारे सोचने-विचारने के जो नियम हैं उनसे दूर नहीं होतीं। मनुष्य के मन में जो संघर्ष और द्वन्द्व फूटते हैं, जो वेदना वह सहता है, उसी से वह निर्णयों तक पहुँचता है। भय और त्रास से हमें बोध होता है कि अस्तित्व क्या है और मृत्यु क्या हो सकती है। अपराध और पश्चात्ताप की भावनाओं से हमें ज्ञान प्राप्त होता है कि नैतिक आधार क्या है और हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। वेदना से व्याकुल होकर हम ऐसे संसार की आकांक्षा करते हैं जो सोद्देश्य और व्यवस्थित हो। अनिश्चय की स्थिति में जब मन दुखी होता है, तब हमें ज्ञात होता है कि ईश्वर क्या है। किरके गार्ड के अनुसार हमें अपने अस्तित्व की यथार्थता का बोध अपने भीतर से होता है; सत्य हमेशा आत्मगत होता है, वस्तुगत नहीं।

किरके गार्ड ने हेगल के चिन्तन की सीमाओं की आलोचना करके उसके क्रान्तिकारी तत्त्व को विकसित नहीं किया; यह कार्य मार्क्स और एंगेल्स ने किया। किरके गार्ड ने वस्तु-जगत् से ही मुँह मोड़ लिया, ज्ञान की वस्तुगत कसौटी से ही इन्कार किया, क्रान्ति और सामाजिक परिवर्तन जैसे कामों से उन्हें कोई सरोकार न था। हेगल ने विचारों की सत्ता सर्वोपरि मानी थी, किन्तु समाज की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण किया था; किरके गार्ड भौतिकवाद की छाया से भी दूर थे, वह हेगल से भी बढ़कर 'आइडियलिस्ट' थे।

१८५५ में किरके गार्ड का देहान्त हुआ। साठ-सत्तर साल तक किसी ने विशेष ध्यान न दिया कि किरके गार्ड कौन हैं और क्या लिख गये हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद पराजित जर्मनी में एक ओर साम्यवादी नेतृत्व में क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रबल हुआ, दूसरी ओर पूँजीवाद अपने आन्तरिक संकट से उबरने में असमर्थ होकर क्रमशः फासिस्ट तानाशाही की ओर बढ़ा। इन दोनों के बीच, निराशा और पराजय से अभिभूत, जर्मन बुद्धिजीवी, एक नये दर्शन की तलाश में, किरके गार्ड के पास जा पहुँचे। अस्तित्ववाद ने नया जीवन पाया।

जर्मन दार्शनिक कार्ल यास्पर्स ने सिद्ध किया कि बड़े-बड़े कल-कारखानों वाली वर्तमान सभ्यता एक रोग है। मनुष्य जितना ही विचारों को वस्तुगत कसौटी पर परखता रहा है, उतना ही मानव-अस्तित्व की वास्तविक विशेषता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वह दूर होता गया है। चिन्तन की यांत्रिक और वस्तुगत व्यवस्थाओं ने मानव-मन को कुचल डाला है। मनुष्य अपना बाह्य जीवन देखकर समझता है कि वह प्रगति कर रहा है; वास्तव में वह अपनी मूल आंतरिक शक्ति का नाश कर रहा है। मनुष्य के लिए दो ही रास्ते हैं—या तो घमंड में आकर वह ईश्वर की सत्ता से इन्कार करे या अपना दुखी मन उसे समर्पित कर दे।

कार्ल यास्पर्स के समकालीन विचारक मार्टिन हाइडेगर भी जर्मन थे और उन्हीं के समान वस्तुगत ज्ञान से इन्कार करते थे। इनका सिद्धान्त था कि मनुष्य जो कुछ देखता-सुनता है, वह वस्तुगत ज्ञान नहीं होता, उसकी इच्छा से प्रेरित वह आत्मगत ज्ञान होता है। किसी वस्तु को हम किस रूप में देखें, इसका निश्चय मन पहले ही कर लेता है। मनुष्य जिस संसार में जन्म लेता है, उसे वस्तुगत रूप से जान नहीं सकता; वह स्वयं को रूपों के मायालोक में खोया हुआ पाता है। यह मायालोक निरर्थक और निरुद्देश्य है किन्तु इसी में मनुष्य को जीना है; जीने के इस दायित्व से वह घुट-घुटकर रह जाता है। उसके लिए आवश्यक है कि वह इस सत्य से साक्षात्कार करे कि यह संसार निरुद्देश्य और निरर्थक है; वह स्वयं उद्देश्य निश्चित करके जीवन को सार्थक कर सकता है, निरर्थक बाह्य संसार को एक अर्थ दे सकता है। इस पद्धति से ही उसे अपने अस्तित्व का बोध हो सकता है, किन्तु इस प्रकार अपनी ओर से उद्देश्य निश्चित करना बहुत कम लोगों के लिए संभव होता है। अधिकांश जन दूसरों के गढ़े हुए मंत्र जपते हैं; तरह-तरह के विचारों से मन बहलाते हैं, किन्तु उनमें स्वयं अपना उद्देश्य निश्चित करने की क्षमता नहीं होती। मनुष्य के मन में यह भय विद्यमान रहता है कि उसे एक दिन मरना है। रोज़मर्रा के कामों से चिपके रहकर, अपनी व्यस्तता से, इस भय को हम दूर रखना चाहते हैं। किन्तु मन इस तरह के बहलावे स्वीकार नहीं करता; उसमें यह अपराध-भावना उत्पन्न होती है कि वह सत्य से आँखें चुराता है। इसलिए मनुष्य को दृढ़ता से मृत्यु भय से आँखें चार करनी चाहिए।

किरके गार्ड और यास्पर्स ईश्वर में विश्वास करते थे, हाइडेगर ने अपनी व्यवस्था में ईश्वर को जगह न दी थी। तीनों में सामान्य तत्त्व यह था कि वे वस्तुगत ज्ञान को अमान्य करते थे, केवल आत्मगत ज्ञान को स्वीकार करते थे। किरके गार्ड के बाद यास्पर्स और हाइडेगर अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक हुए। पराजित जर्मनी के बुद्धिजीवियों में इन्होंने अस्तित्ववाद को लोकप्रिय बनाया।

जर्मनी में हिटलर के अभ्युदय के बाद फ्रांस में पूंजीपतियों और राजनीतिज्ञों का एक दल फासिस्टवाद का समर्थक हो गया; दूसरा दल ब्रिटिश प्रधान मंत्री चेम्बरलेन की तरह इस ताक में रहा कि हिटलर से समझौता कर ले और उसे रूस से लड़ने को प्रेरित करे। बुद्धिजीवियों में कुछ लोग कम्युनिस्ट पार्टी के साथ फासिस्ट-विरोधी अभियान में शामिल हुए; कुछ फासिस्टवाद के समर्थक हुए। एक दल अस्तित्ववाद के प्रभाव में आया। इसके नेता थे सार्त्र। फ्रांस पर हिटलर के आक्रमण से सालभर पहले सार्त्र का उपन्यास 'उबकाई' (ला नौसे) छपा। युद्ध के दौरान उनका एक दार्शनिक ग्रंथ 'अस्तित्व और शून्य' (लेत्र ए ल ने आँ) प्रकाशित हुआ।

यूरोप के जिन देशों पर विजय पाने में हिटलर को सबसे ज्यादा आसानी हुई, उनमें पहला नम्बर है फ्रांस का। वहाँ का मध्यवर्ग जिस मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त था, उसका एक रूप था---अस्तित्ववाद। ज्ञान की वस्तुगत कसौटी को अस्वीकार करने के अलावा सार्त्र ने मानव-सम्बन्धों को केवल परस्पर संघर्ष के सम्बन्ध माना। प्रेम करने का मतलब है या तो दूसरे के अनुकूल बनकर अपनी स्वतन्त्रता खोना या दूसरे को अपने अनुकूल बनाकर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करना। स्वपीड़न या परपीड़न---इनके अतिरिक्त प्रेम की अन्य परिणति नहीं।

युद्ध के बाद फ्रांस में अस्तित्ववाद का प्रभाव और भी फैला। बुद्धिजीवियों का एक दल पूंजीवादी संकट से उबरने के लिए एक ही रास्ता देखता था—व्यापक सामाजिक परिवर्तन द्वारा एक नई व्यवस्था कायम हो। दूसरा दल कहता था—इस तरह के परिवर्तन से कुछ न होगा, असली चीज़ है, निरर्थक संसार में अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करना। १९४६ में सार्त्र ने एक भाषण दिया जो पुस्तक रूप में छपा "अस्तित्ववाद मानववाद है।" इसमें उन्होंने उन लोगों को उत्तर दिया जो अस्तित्ववाद को मानवता का विरोधी मानते थे।

सार्त्र का कहना था कि मनुष्य जब पैदा होता है तब वह तुरंत मानवीयता प्राप्त नहीं कर लेता; वह मानवीयता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्जित करता है, स्वतंत्र इच्छा से उद्देश्य निश्चित करके। मानवीयता नाम की कोई ईश्वर-निर्मित वस्तु नहीं है; ईश्वर-विहीन संसार में मनुष्य अपनी मानवीयता स्वयं गढ़ता है। वह जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है तब उसके द्वारा अपना हित ही नहीं करता वरन् उद्देश्य का निश्चय मानव मात्र के लिए हितकर होता है। अपने इस विराट् दायित्व-बोध के कारण ही उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है। मनुष्य के आत्मगत ज्ञान के अलावा मूल्य-निर्धारण की और कोई कसौटी नहीं है। मनुष्य संसार में अकेला है; अपने अलावा वह किसी पर निर्भर नहीं हो सकता। उसे अपना भाग्य स्वयं निर्मित करना है। मनुष्य की यह नियति है कि वह अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे। उद्देश्य से प्रतिबद्ध होना आवश्यक है, प्रतिबद्ध न होकर वह अपने दायित्व से बचता है। भविष्य में श्रमिक-वर्ग की विजय होगी, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। मनुष्य जैसा निर्णय करेंगे, सामाजिक परिस्थिति वैसी ही होगी। मनुष्य का मन पैतृक संस्कारों या सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है, यह कहकर हम अपनी स्वतन्त्रता से बच नहीं सकते। मनुष्य का आत्मसम्मान इस बात में है कि वह वस्तु नहीं है। भौतिकवाद के लिए मनुष्य भी एक वस्तु है; अस्तित्ववाद के अनुसार मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरितार्थ करके अपना निर्माण स्वयं करता है।

दर्शन और साहित्य—दोनों में अस्तित्ववाद एक हानिकर और अवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। कारण इस प्रकार हैं।

मनुष्य अपना निर्माण स्वयं करे, अपना उद्देश्य स्वयं निश्चित करे—इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान होना चाहिए और जिन परिस्थितियों में उसे अपना उद्देश्य चरितार्थ करना है, उनका सही ज्ञान होना चाहिए। उसे अपनी क्षमता का सही ज्ञान न हो, तो अपने मन में वह अपने उद्देश्य को चाहे जितना सही समझे, वह उसे ठीक-ठीक जीवन में चरितार्थ कभी न कर पायेगा। आधुनिक मनोविज्ञान की जो सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, वह यह कि मनुष्य के चिन्तन के अपने वस्तुगत नियम हैं जो अक्सर उसकी इच्छाओं से मेल नहीं खाते। अपने कर्म के लिए वह जो तर्क ढूंढ़ निकालता है, उनकी जड़ में कभी-कभी उन इच्छाओं की प्रेरणा होती है, जिन्हें वह स्वयं नहीं जानता। विवेक और इच्छाओं का द्वंद्व उसकी चेतना की गतिशीलता और विकास का एक कारण है। मनुष्य उतना विवेकशील प्राणी नहीं है, जितना अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के अनेक विचारक समझते थे। फ्रान्स में सामन्तवाद के पतन और पूँजीवाद के अभ्युदय-काल में लोगों ने शुद्ध विवेक को देवता बनाकर पूजना शुरू कर दिया था। शुद्ध विवेक की देवता-रूप में प्रतिष्ठा अस्तित्ववाद में बहुत-कुछ बनी हुई है। अन्तर इतना है कि पहले जहाँ यह शुद्ध विवेक बहुजन-सम्मत था, वहाँ अब वह व्यक्ति-सम्मत रह गया है।

परिस्थितियों का सही ज्ञान न होगा तो उद्देश्य चाहे जितना मानववादी हो, उसे कार्य रूप में परिणत करने का फल मनुष्य की इच्छा के विपरीत होगा। कोई भी अस्तित्ववादी शून्य में अपना निर्णय नहीं कर सकता, शून्य में अपनी मानवीयता नहीं गढ़ सकता। सामाजिक परिस्थितियाँ स्थिर न होकर गतिशील हैं; उनकी परस्पर संबद्धता को, उनके अन्तर्विरोध और एकता को, उनकी गतिशीलता और विकास—अथवा ह्रास—को पहचानने के विज्ञान का नाम ऐतिहासिक भौतिकवाद है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से भिन्न, फिर भी जुड़ी हुई, परस्पर निर्भर, अन्योन्याश्रित दो इकाइयाँ हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। परिस्थितियाँ गतिशील हैं तो व्यक्ति की चेतना स्थिर नहीं है। अपने कर्ममय जीवन से मनुष्य अपनी चेतना का उत्तरोत्तर विकास करता है, परिस्थितयों को बदलता है, बदलती हुई परिस्थितियों से स्वयं प्रभावित होता है। जो दर्शन मनुष्य की चेतना को विकासमान नहीं मानता है, वह जड़ है। जो विचारधारा व्यक्ति और समाज की परस्पर-सम्बद्धता को स्वीकार नहीं करती, वह एकांगी है।

मनुष्य कर्म करने में केवल सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र है, निरपेक्ष रूप से सृजनशील का प्रदर्शन करने वाला प्रजापति वह नहीं है। स्वयंभू न होने से वह अपना स्रष्टा आप नहीं है। जान में या अनजान में दूसरों ने उसे पैदा किया है; उसकी निरपेक्ष स्वतन्त्रता की यह सबसे बड़ी सीमा है। जन्म लेते समय उसकी आत्मा अगोचर ब्रह्म की तरह निर्विकार नहीं होती। वह अपने दैहिक-मानसिक विकास की क्षमता बहुत-कुछ अपने साथ लाता है; उसके व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ उसके साथ होती हैं। पैदा हुआ है दो के मिलने से, लेकिन समझता है अपने को एकमेवाद्वितीयम्! जिस समाज में वह रहता है, उससे विचारों के आदान-प्रदान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम—भाषा—सीखता है; समाज की सांस्कृतिक स्थिति जैसी हो, उसी से विचार करना, संसार से अपने सम्बन्ध पहचानना सीखता है। इस समाज को उसने नहीं रचा, भाषा का निर्माण उसने नहीं किया, इसीलिए वह परम्परा से जुड़ा हुआ है। न भाषा स्थिर है, न समाज; इनके परिवर्तन और विकास में मनुष्य का व्यक्तिगत योग होता है, इसलिए वह परम्परा से विच्छिन्न भी है। व्यक्ति और परम्परा का यही द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है।

पुराने यान्त्रिक भौतिकवादी समझते थे कि संसार मशीन की तरह है। एक बार ब्रह्म ने उसमें चाभी भर दी, उसके बाद घड़ी अपने-आप चलती रही। डारविन ने ब्रह्म को खारिज कर दिया लेकिन ब्रह्म की जगह अपना विकासवाद प्रतिष्ठित किया। संसार अब भी मशीन की तरह था; परिवेश का ज्ञान प्राप्त कर लीजिए, व्यक्ति उसकी उपज है, उसका ज्ञान अपने-आप हो जाएगा। मनुष्य अपनी नियति से बँधा हुआ है जिसकी यांत्रिक गति से एक इंच इधर-उधर हटना उसके लिए असंभव है।

साहित्य में इस तरह की यांत्रिक भौतिकवादी धारणाओं का प्रतिफलन था—'नेचुरलिज्म' (प्रकृतिवाद)। एमिल ज़ोला और अनातोल फ्रान्स अपने समय के प्रकृतिवादी लेखक किसी हद तक क्रान्तिकारी थे। रूस में तोल्स्तोय और गोर्की ने यथार्थवाद विकसित किया जो प्रकृतिवाद से अधिक समर्थ और प्रभावशाली था। अस्तित्ववाद पुराने यांत्रिक भौतिकवाद और प्रकृतिवाद के विरुद्ध, दर्शन और साहित्य में घटित होने वाली, एक प्रतिक्रिया है, किन्तु वह जिनके विरुद्ध प्रतिक्रिया है, उन दोनों से अधिक एकांगी है। मार्क्सवाद व्यक्ति और समाज, स्वेच्छित कार्य और स्वेच्छातीत परिवेश, अहंगत विवेक और वस्तुगत परिस्थिति—इनका द्वंद्वात्मक सम्बन्ध मानता है, एक को काटकर दूसरे की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नहीं करता। मानव-चेतना भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है, निश्चित नहीं होती। इसीलिए ग़ैर-श्रमिक वर्ग में उत्पन्न होकर भी मार्क्स और एंगेल्स श्रमिक वर्ग के नेता बने।

अस्तित्ववादी विचारक मूल्यों की बात करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है, तब वह निर्णय मूल्यगत होता है। किन्तु क्या मूल्यवान है, क्या मूल्यहीन है, यह तै करने का सवाल तभी उठता है, जब किसी तरह की मूल्य-सम्बन्धी धारणा पहले से प्रचलित होती है और यह धारणा समाजगत या वर्गगत होती है। अस्तित्ववादी लेखक समझता है कि वह अकेले, अपने तईं कोई निर्णय कर रहा है, किन्तु देखने में आता है कि वह अकेला नहीं है, उस जैसे दर्जनों लेखक वैसा ही निर्णय करते चले जा रहे हैं। एक ने निर्णय किया कि दुनिया लिजलिजी है तो दस और बोले, हाँ, लिजलिजी है। एक ने सलीब उठाया तो दर्जनों कवि सलीब ढोते हुए चलने लगे। और इनमें हरएक समझता है कि उसका निर्णय पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। किन्तु जब पराजयवादी भावनाएँ एक नहीं दर्जनों लेखकों में एक साथ प्रकट हों, तब मानना चाहिए कि वे समूहगत हैं, उनके सामाजिक कारण हैं, वे पूर्ण-स्वतंत्र आत्मगत अनुभूतियाँ नहीं हैं। पराजित जर्मनी में अस्तित्ववाद फैला, युद्ध से पहले पराजय के कगार पर खड़े हुए फ्रान्स में वह फैला,—इस घटनाक्रम के वस्तुगत कारण हैं।

अस्तित्ववाद में एक तीव्र विसंगति है। वह केवल आत्मगत सत्य को स्वीकार करता है; दूसरी ओर वह मूल्यों की बात करता है जो स्वभावतः समाजगत हैं। तर्कसंगत विचारक या तो मूल्यों को समाजगत मानकर मार्क्सवाद की ओर बढ़ेगा जैसा सार्त्र ने किया या वह उन्हें पूर्ण स्वतंत्र और निरपेक्ष रूप से आत्मगत मानकर मूल्यहीनता की ओर बढ़ेगा जैसा कि ब्रिटेन, अमरीका और भारत के बहुत से पराजयवादी 'विद्रोही' कर रहे हैं।

अस्तित्ववाद पर ब्रिटिश और जर्मन विज्ञानवाद का गहरा प्रभाव है। वह चेतना को वस्तुगत भौतिकता से वैसे ही अलग रखता है जैसे ब्रिटिश दार्शनिक बर्कले। यहाँ वह रोमांटिक साहित्य की उस विचारधारा से मिल जाता है जो विज्ञानवाद से प्रभावित थी। शेलिंग के चेतना-संबन्धी विचारों को साहित्य में लागू करते हुए कोलरिज ने 'बायोग्राफिआ लिटरारिआ' में लिखा था कि वस्तुएँ जड़ और मृत हैं; साहित्य में मनुष्य की चेतना ही उन्हें जीवन प्रदान करती है। 'डिजेक्शन' कविता में कोलरिज ने लिखा था :

O Wordsworth, we receive but what we give,
And in our life alone doth nature live!

अस्तित्ववादी लेखक प्रकृति को जिस तरह आत्मसात करते हैं—उसकी वस्तुमत्ता हटाकर उसे आत्मगत करते हैं—उस तरह की क्रिया रोमांटिक कवि बहुत पहले कर चुके थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद पर उस पुराने तर्कशास्त्र का प्रभाव है जो द्वंद्ववाद का विरोधी है। आत्मगत और वस्तुगत यथार्थ संवद्ध न होकर उसके लिए अलग हैं, भूत और चेतना, व्यक्ति और समाज इसी तरह विच्छिन्न इकाइयाँ हैं। अस्तित्ववाद पर सामन्तकालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का गहरा असर है। उसकी शुरुआत किरकेगार्ड से हुई जो, चर्च की आलोचना करते हुए भी, ईसाइयत के मार्ग से ही मुक्ति का अन्वेषी था। मध्यपूर्व और यूरोप की सामन्तकालीन धार्मिक आस्थाओं के अनुसार ईश्वर ने प्रथम मनुष्य—आदम—को सोचने और कार्य करने की पूर्ण स्वतत्रता दी थी, किन्तु उसने उस स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया, खुदा ने जिस ज्ञान के वृक्ष का फल खाने को मना किया था, उसी को उसने चख लिया। तब से जितने आदमी पैदा हुए, सभी पापी हुए। खुदा की मर्ज़ी, जिसे चाहे मुक्ति दे दे, वर्ना नरक का चांस तो लिखा ही है उसके भाग्य में। जब तक खुदा था, तब तक पाप-पुण्य की भावना भी थी, नैतिक आचरण के मूल्य भी थे। किन्तु जब विज्ञान ने खुदा को नैतिकता के आसन से हटा दिया तब अस्तित्ववादी के लिए बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। समाज में मूल्यों की कोई कसौटी न रह गई। पाप-पुण्य कुछ नहीं; मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से निर्णय करना है कि क्या मूल्यवान् (पुण्य) है, क्या मूल्यहीन (पाप) है। अँधेरे में बाप का हाथ छूट जाने पर जैसे छोटा बच्चा चीख उठे, वही हालत खुदा को नकारने वाले अस्तित्ववादी की है। उसके त्रास का, अकेलेपन की अनुभूति का, वेदना का यह मुख्य कारण है। पुराने धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईसामसीह ने आत्म-बलिदान करके खुदा को मनाया और मनुष्य की मुक्ति का मार्ग खोला। जो अस्तित्ववादी खुदा को नहीं मानते वे खुदा के बेटे को भी नहीं मानते। इसलिए खुद ही खुदा के बेटे बन जाते हैं; खुद ही सलीब उठाने की दिमागी कसरत करते हैं और यह सोचकर आत्मविभोर हो उठते हैं कि यह कार्य वे समस्त मानवता के हित में कर रहे हैं।

सलीब ढोने की क्रिया से उन्हें जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है, उसमें आत्मनिर्वासन-संबन्धी उनकी धारणा सहायक होती है। निर्वासन पहले समाज से, फिर खुद अपने से। मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का विश्लेषण करते हुए डॉ० नामवरसिंह ने लिखा है कि इस कविता का 'मैं' दो व्यक्ति-चरित्रों में विभाजित कर दिया गया है और 'एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार 'आत्म-निर्वासन' (सेल्फ-एलियनेशन) है।" 'अँधेरे में' की अंतिम पंक्तियाँ "उस अस्मिता या 'आइडेंटिटी' की खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।"

इस आत्म-निर्वासन की भावना का विश्लेषण द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के संस्थापकों ने भी किया था। एंगेल्स ने 'एंटी-ड्यूरिंग' में धार्मिक गाथाओं का विवेचन करते हुए लिखा था कि मनुष्य अपने को पहले प्रकृति की उस बाह्य शक्ति के सामने निर्वासित पाता है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। जब उत्पादन और वितरण का विकास होता है, तब प्रकृति के साथ समाज की वह शक्ति जुड़ जाती है जो उसके जीवन को नियंत्रित करती है। समाज की यह शक्ति मनुष्य को उतनी ही ग़ैर—'ऐज़ ईक्वली एलियन'—मालूम होती है जितनी प्रकृति की शक्ति। वर्तमान पूंजीवादी समाज में "मनुष्यों पर आर्थिक परिस्थितियां जिन्हें उन्होंने स्वयं रचा है, उत्पादन के साधन जिन्हें उन्होंने स्वयं पैदा किया है, यों हावी रहते हैं मानों वे कोई ग़ैर शक्ति हों—(ऐज़ इफ़ बाई ऐन एलियन फोर्स)।"

आत्म-निर्वासन—सेल्फ-एलियनेशन—की जड़ यह है। यह कोई विशुद्ध मनोवैज्ञानिक समस्या नहीं है जो इस युग की विशेष देन हो या जिसका सम्बन्ध किसी अनुभूतिप्रवण कवि की आत्मसंभव अभिव्यक्ति से विशेष हो। यह मूलतः पूंजीवादी सम्बन्धों के नियंत्रण में न रहकर उनको अपने नियंत्रण में रखने—उन्हें समाजवादी सबन्धों में परिवर्तित करने—की समस्या है। किन्तु अस्तित्ववादी कवि आत्म-निर्वासन की समस्या को इस रूप में नहीं देखते। वे समझते हैं, यह उनकी विशिष्ट आत्मानुभूति है, अथवा अपने विशुद्ध विवेक से उन्होंने इस स्थिति को वरण किया है। वे इस स्थिति को आधुनिकता-बोध से जोड़ते हैं, यद्यपि वह है उन्नीसवीं सदी की, काफी पुरानी, रोमांटिक भावधारा से सम्बद्ध।

१८९७ में फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमील दुरखाइम की पुस्तक 'आत्महत्या' प्रकाशित हुई थी। उसने फ्रांस में बढ़ती हुई आत्महत्याओं का सम्बन्ध औद्योगिक सभ्यता से जोड़ा था। उसका एक निष्कर्ष यह था कि आत्महत्याएं गाँवों में बहुत कम होती हैं, शहरों में ज्यादा होती है। दुरखाइम ने अपना समाजशास्त्र उत्पादन और वितरण की पद्धति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषण न करके आत्महत्या के प्राप्त आँकड़ों के बल पर रचा था। उसमें अनेक खामियाँ हैं। फिर भी उसने आत्म-निर्वासन की समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया था और उसका सम्बन्ध मानव-मूल्यों के असन्तुलन से जोड़ा था। आत्महत्या के रुझान का विश्लेषण करते हुए उसने फ्रांसीसी लेखक लामार्तीन की रूमानियत की जो आलोचना की है, उसे पढ़कर लगता है मानो वह सन् '३८ के अस्तित्ववाद की आलोचना कर रहा हो यद्यपि उसका देहान्त १९१७ में हो गया था।

लामार्तीन के नायक रैफेल को आस-पास की वस्तुओं से घृणा हो जाती है। वह अपने को इन वस्तुओं से अलग कर लेता है और अपने अकेलेपन पर ज़ोर देता है। वह प्रेम करता है तो समर्पित होने के लिए नहीं, नारी के साथ प्रजनन-क्रिया के आनन्द के लिए नहीं, वरन् प्रेम का चिन्तन करने के लिए। उसकी वासना एक प्रवंचना है क्योंकि वह नपुंसक है। अपने से अलग वह किसी वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता, इसलिए निरर्थक कल्पना में शक्ति नष्ट करता है। दुरखाइम का कहना है कि मनुष्य को चिन्तन की सामग्री बाह्य जगत् से मिलती है। यदि मनुष्य अपनी चेतना को बाह्य जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों से आमूल विच्छिन्न कर ले, उचित सीमा लाँघकर उसे विशुद्ध आत्मगत बना ले तो वह उस स्रोत का ही नाश कर देता है जिससे चेतना पोषण-सामग्री पाती है। अपने चारों ओर शून्य रचकर वह अपने भीतर भी शून्य की सृष्टि कर लेता है। चिन्तन के लिए अपने दर्द के अलावा उसके पास कुछ रह नहीं जाता। वह इस दर्द के प्रति ही समर्पित होता है और उसके रोगी मानस को इसमें मज़ा आता है। लामार्तीन ने यह मज़ा चखा था। इसीलिए उसने अपने नायक के बारे में लिखा था, "मेरी आत्मा का अकेलापन एक झीनी चादर है जिससे होकर मेरी दृष्टि मनुष्य को देखना नहीं चाहती थी, केवल ईश्वर और प्रवृत्ति को देखना चाहती थी।

दुरखाइम की यह आलोचना आत्मनिर्वासन की भावना को शून्यवाद से जोड़ती है। आत्मनिर्वासन की भावना को आत्महत्या के रुझान से सम्बद्ध करके उसने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया है।

●

सार्त्र के उपन्यास 'उबकाई' (अंग्रेज़ी में 'नौशिआ', पेंग्विन बुक्स) का नायक अन्त्वान रोकांतैं सोचता है कि संसार में जो कुछ है, व्यर्थ है, फालतू है, वह स्वयं अनावश्यक है। "मैं खयाल दौड़ाने लगा कि आत्महत्या कर लूँ, ये जो तमाम व्यर्थ अस्तित्व हैं, उनमें कम-से-कम एक का नाश कर डालूँ।"

सौभाग्य से वह खयाल दौड़ाकर रह जाता है, निर्णय नहीं करता कि वह आत्महत्या कर ही लेगा। जर्मन, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी साहित्य में आत्महत्या करनेवाले या आत्महत्या की ओर खयाल दौड़ाने वाले कवियों, कथाकारों और उनके नायकों की एक लंबी परम्परा है और इनमें आदि प्रजापति के समान स्थापित है शेक्सपियर का हैमलेट।

O, that this too too solid flesh would melt,
Thaw, and resolve itself into a dew !
Or that the Everlasting had not fix'd
His canon 'gainst self-slaughter !

यूरोप में नवजागरणकाल (रिनैसेंस) से पहले आत्म-हत्याकामी यह भावधारा शून्यवत् है। पूँजीवादी व्यवस्था के अभ्युदय के साथ जो नवजागरणकाल आरम्भ हुआ, उसमें एक स्वर जो बार-बार झंकृत हुआ, वह था आत्महत्या की कामना का स्वर। १८वीं-१९वीं शताब्दियों में यह स्वर और भी गहरा हुआ और बीसवीं सदी में उसकी चरम परिणति हुई सार्त्र के अस्तित्ववाद में। उसके व्यापक प्रभाव का यही कारण है। सार्त्र ने अस्तित्ववाद के दर्शन को इस्तेमाल किया एक पूर्व-निश्चित, पूर्व-प्रवाहित भावधारा का औचित्य सिद्ध करने के लिए। मनुष्य का अहंकार आसानी से स्वीकार नहीं करता कि वह धारा के साथ बह रहा है; वह अपने अस्तित्व की सार्थकता इस तर्क से सिद्ध करता है कि वह स्वयं धारा को बहा रहा है। जब हैमलेट, वर्थर, मैनफ्रेड, रोकांतैं—सभी आत्महत्या की बात सोचें तब मानना होगा कि यह किसी एक लेखक के व्यक्तिगत भावबोध का प्रश्न नहीं है वरन् यह एक सामाजिक भावधारा है।

सार्त्र तर्क और विवाद की भूमि पर विवेक और आत्मगत निर्णय की बातें करते हैं, किन्तु उनके नायक रोकांतैं की भावदशा जब और जैसे बदलती है, वह सब उसकी सचेत इच्छा से परे, उसके विवेक से परे बदलती है। रोकांतैं को उबकाई के दौरे आते हैं, उसकी इच्छा के विपरीत आते हैं। "लगता है कै कर दूँगा—और अचानक, वहीं आ गया उबकाई का दौरा। बहुत ही बुरा दौरा आया। सर से पैर तक इसने हिला डाला। घंटे भर से मैं देख रहा था कि दौरा आनेवाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, केवल मैं इस बात को स्वीकार न करना चाहता था। मुँह जैसे पनीर से भर गया हो।" ये दौरे हमेशा आकस्मिक होते हैं, अयाचित और अनपेक्षित—कम-से-कम रोकांतँ को ऐसा ही लगता है।

रोकांतँ बैठा हुआ पेड़ देख रहा है, पेड़ की जड़ देख रहा है। "अचानक मेरे लिए जड़ के अस्तित्व की बात सोचना असंभव हो गया।···और तब अचानक मेरे सामने कोई चीज़ हिलने लगी, हल्की, अनिश्चित-सी सिहरन : हवा से पेड़ की फुनगी हिल रही थी।"

सब काम अचानक होते हैं।

Sudden, thy shadow fell on me; I shrieked and clasped my hands in ecstasy !

यह शेली के आत्मबोध—अथवा वास्तविकता-बोध—का क्षण। रहस्यवादियों के बेसुध, भाव-विभोर, अगोचर, अनिर्वचनीय आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान के क्षण के ही समान रोकांतँ को एक विशिष्ट क्षण में अस्तित्वबोध होता है। वह उस क्षण को स्मरण करता हुआ कहता है :

"वह क्षण अपूर्व था। मैं खड़ा रह गया, शरीर गतिहीन, निस्पन्द, मन एक भयानक भाव-विह्वलता से आन्दोलित। उस विह्वलता के दौर में कुछ नया हो गया था। मैं समझ गया, उबकाई क्या है, मैं उस पर हावी हो गया। सच बात यह है कि जो नया हुआ, उसे मैंने अपने तईं शब्दों में व्यक्त नहीं किया। किन्तु लगता है कि अब मैं उसे सरलता से शब्द-बद्ध कर सकूँगा।···कितनी देर यह दौर रहा? उस पेड़ की जड़ मैं स्वयं था। अथवा मैं उसके अस्तित्व की समग्र चेतना था।"

रहस्यवादियों की शब्दावली ही नहीं, उनसे मिलती-जुलती अनुभूति भी—एक ही चेतना की व्यापकता का आभास। वर्डस्वर्थ ने टिटर्न ऐबे वाली कविता में अपनी जिस अनुभूति का वर्णन किया है, उसकी व्याख्या की है लौक-हार्टले के दर्शन-मनोविज्ञान के आधार पर। किन्तु वह अनुभूति ही उस दर्शन-मनोविज्ञान का सबसे बड़ा खण्डन है। सार्त्र ने रोकांतँ की अनुभूति का सम्बन्ध जोड़ा है अस्तित्व-वादी दर्शन से और वह अनुभूति इस दर्शन का भी खण्डन है। सार्त्र के दर्शन में उपचेतन इच्छाओं को जगह नहीं है; सब समस्याओं का फैसला होता है आत्मगत विवेक से, सचेत निर्णय से। विवेक के जिस स्तर पर वह अस्तित्ववाद का तर्कजाल बुनते हैं, रोकांतँ उससे बहुत दूर है; वह जाल खींचते हैं लेकिन रोकांतँ साफ बचकर निकल जाता है।

रोकांतँ अर्ध-विक्षिप्त है—न्यूरॉटिक।

समुद्र के किनारे वह कंकड़ी उठाकर पानी में फेंकना चाहता है। फिर रुक जाता है, कंकड़ी ज़मीन में डाल देता है और एक ओर चल देता है। "मेरा खयाल है कि मेरा चेहरा कुछ-कुछ पागलों जैसा रहा होगा क्योंकि मेरी पीठ पीछे बच्चे हँस रहे थे।"

होरेशो ने हैमलेट के चेहरे पर ऐसे ही पागलपन का भाव देखा था, जब कहा था :

He waxes desperate with imagination.

रोकांतँ निश्चय नहीं कर पाता कि वह कुछ समय के लिए पागल हुआ था या नहीं। कहता है—"विचित्र बात यह है कि मैं यह मानने को बिल्कुल तैयार नहीं हूँ कि मैं पागल हूँ। दरअसल मैं बिल्कुल साफ देख रहा हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ। इन सब तब्दीलियों का सम्बन्ध वस्तुओं से है। कम-से-कम मैं चाहता यही हूँ कि बात ऐसी ही हो।" फिर सोचता है—"शायद पागलपन का हल्का दौरा ही था वह। अब उसका निशान भी नहीं है।" हैमलेट को भी दौरे ही आते हैं। लाएर्टीज़ से उसने जो अभद्र व्यवहार किया है, उसके लिए वह कहता है :

I here proclaim was madness.

इस पागलपन की विशेषता यह है कि हैमलेट को लगता है कि उसके विभाजित व्यक्तित्व का एक अंश उससे दूर चला गया है, दूसरा अंश जो करता है, उसके लिए पहला अंश ज़िम्मेदार नहीं है :

If Hamlet from himself be ta'en away,
And when he's not himself does wrong Laertes,
Then Hamlet does it not, Hamlet denies it.

रोकांतँ की हालत और भी खराब है। उसे लगता है कि उसके शरीर के अंग भी बेगाने हैं। "मेरे भीतर कोई तार टूट गया है। निगाह घुमा लेता हूँ, सर नहीं। खोपड़ी एकदम मुलायम और लुचलुची हो गई है मानो गर्दन पर अभी सँभालकर रखी गई हो, मैं ज़रा हिला कि वह गिरी।"

वह मेज़ पर अपना फैला हुआ हाथ रख देता है। उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगता है कि कोई जानवर उतान पड़ा है, ऊपर पेट है, उसकी अपनी उँगलियाँ उसके पंजे हैं मानो केकड़े के पंजे हों, केकड़ा मर गया है; हाथ उलटता है, लगता है अब वह मछली है। हाथ खींचकर वह जेब में रख लेता है; कपड़े की पर्त से जाँघ की गर्मी हाथ तक पहुँचती है। वह हाथ निकाल लेता है, कुर्सी पर टिका देता है, हाथ का भार उसे महसूस होता है। जहाँ भी रखे, हाथ का अस्तित्व बना रहेगा। वह हाथ से, शरीर से मुक्ति नहीं पा सकता। पसीने से कमीज़ तर हो गई है, वह तमाम गर्म चर्बी मानो कोई चम्मच से धीरे-धीरे चला रहा हो। वह मेज़ से छोटा चाकू उठा लेता है। बाईं हथेली में चाकू भोंक देता है। "यह काम एकदम **अचानक** हुआ," चाकू फिसल गया, मामूली-सा घाव हुआ। आत्महत्या की रिहर्सल; लेकिन मंच पर पूरा नाटक नहीं हुआ।

रोकांतँ अघोरी है। हर तरफ भीतर-बाहर उसे सड़ाँध दिखाई देती है। बीभत्स उसका सहज आवास है। जुगुप्सा की स्थिति में ही उसे वह दौरा आता है जब वह समझता है, पेड़ की जड़ मैं हूँ। वह शव-साधक है, ऐसे शव का साधक जो सड़ रहा है। स्वाद, स्पर्श और घ्राण का बोध उसमें बहुत तीव्र है। पेड़ की छाल, लगता है, उबाला हुआ चमड़ा है; उसकी नाक में दुर्गन्ध भर जाती है। एक स्त्री है जो मुनीम का काम करती है। वह अपनी स्कर्ट के नीचे सड़ रही है; सड़ते हुए शव से जैसे वायलेट फूलों की गन्ध कभी-कभी आती है। एक स्त्री के साथ लेटे हुए उसे लगता है कि उस स्त्री का शरीर एक पार्क है जिसमें चींटियाँ, कनखजूरे रेंग रहे हैं, वहाँ जानवर हैं जिनके शरीर टोस्ट के उन टुकड़ों के बने हैं जो भुने हुए कबूतरों के नीचे रखे जाते हैं और ये जानवर केंकड़ों की तरह टेढ़े-मेढ़े चलते हैं। रोकांतँ कहता है, "इस पार्क में कै की दुर्गन्ध आती है।" वह लगभग हैमलेट का ही वाक्य दुहराता है :

> Tie on't ! Ah, fie ! 'tis an unweeded
> garden.

उपन्यास का नाम ही उबकाई है। कै की उपमा बार-बार आती है, कभी स्त्री-सहवास के पहले उसे उबकाई आती है, कभी उसके बाद। वह खुद भीतर से सड़ रहा है, इसलिए हर चीज सड़ती हुई मालूम होती है। वह सामान्य रति-सुख के अयोग्य है; भोग के पहले हल्की-सी आकांक्षा, बाद को वितृष्णा। उसे हर चीज़ चिकनी, लिजलिजी और लचीली मालूम होती है। कुत्ते, आदमी, तमाम जानदार चीज़ें, चर्बी का ढेर (flabby masses) हैं। हर चीज़ जीवित, अलग अस्तित्व वाली उसे दबाती हुई-सी जान पड़ती है। उसके हाथों और जाकिट की बाँहों पर पीली रोशनी पड़ती है। "मैं कह नहीं सकता, मुझे उससे कितनी घृणा होती है।" वह गली में जाता है; गली मुर्दा है, उसमें तहखाने की-सी बू आती है। वह एक डॉक्टर की ओर देखता है। लगता है, डॉक्टर के चेहरे में आँखें नहीं हैं, वह चेहरा कार्ड-बोर्ड का बना हुआ है और यह आदमी शीघ्र ही मरने वाला है। चारों तरफ की चीज़ें कार्डबोर्ड की बनी हुई हैं। "जो पुस्तक मैं पढ़ रहा था उसे मैंने कसकर पकड़ लिया, लेकिन तीव्र संवेदन भी जैसे सो गए। कुछ भी वास्तविक न मालूम होता था; लगा कि मेरे चारों ओर कार्डबोर्ड सीनरी है जिसे कभी भी हटाया जा सकता है।" वह भागता है; "दुःखी निगाह से मकान मेरा भागना देख रहे थे"। एक मकान खिड़की से अपना काला हृदय उसके सामने रख देता है; एक पीली इमारत चलना शुरू कर देती है। "मैं वस्तुओं के बीच घिरा हूँ जिनका नामकरण असम्भव है। अकेला, अशब्द, अरक्षित—मैं उनसे घिरा हूँ, वे मेरे पीछे हैं, ऊपर हैं।" कभी उसे लगता है, वस्तुएँ गतिहीन अस्तित्व हैं जो उसे घूर रही हैं। उसके सामने एक विचार आता है; विचार गुड़ीमुड़ी हो गया और बिल्ली-जैसा उसके सामने जमा हुआ है। और अन्त में वह कहता है, "अन्त्वान रोकांतँ का अस्तित्व किसी के लिए नहीं है। सोचकर हँसी आती है। और यह अन्त्वान रोकांतँ आखिर है क्या ? एक निराकार धारणा। स्वयं की छोटी-सी पीताभ स्मृति चेतना में लहराती है। अन्त्वान रोकांतँ। और अचानक अहम् पीला पड़ता हुआ मुरझा जाता है और अन्त में गायब हो जाता है।"

रोकांतँ आत्महत्या नहीं करता किन्तु कल्पना में उससे मिलती-जुलती स्थिति में पहुँच जाता है। उसके कार्यों का, चिन्तन का विवेक से कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिए उसका जीवन सार्त्र के अस्तित्ववाद को असिद्ध करता है। किन्तु मूलतः अस्तित्ववाद विवेक पर आधारित है ही नहीं। किर्केगार्ड के अस्तित्ववाद से रोकांतँ के जीवन-अनुभवों का गहरा सम्बन्ध है। वह संसार की असारता को देख चुका है, वस्तुएँ उसे वैसे ही परेशान करती हैं जैसे, शुद्ध ब्रह्म का ध्यान करने वालों को माया। संसार का भोग-सुख सब क्षणभंगुर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार दुख का कारण है। उसे उबकाई आती है; चारों ओर बीभत्स है। जब उसे अपने चिन्तन की व्यर्थता पर पश्चात्ताप होता है तब वह कहता है, "जल के समान निर्मल विचारों से मुझे अपने को धोकर साफ़ करना है।" अपने बारे में वह जो कुछ कहता है या लिखता है, वह सब पादरी के सामने 'कनफ़ेशन' के समान है। छोटी-बड़ी पाप की सारी बातें कहकर ही वह मुक्ति-लाभ कर सकता है। सार्त्र का रोकांतैं एक अर्धविक्षिप्त व्यक्ति है जो एक होटल से दूसरे होटल में, एक औरत के पास से दूसरी औरत के पास खानाबदोश का-सा जीवन बिताता है। वह किसी के साथ मिलकर कोई काम नहीं करता; कमाने-खाने की चिन्ता से वह मुक्त-सा है।

रोकांतैं अपने को अकेला महसूस करते हुए दुनिया के संघर्षों को दूर से तटस्थ होकर देखता है। "यूरोप के शहरों में बत्तियाँ जल गई हैं; बर्लिन की सड़कों पर कम्युनिस्ट और नाज़ी एक-दूसरे पर गोलियाँ दाग रहे हैं, न्यूयार्क के फ़ुटपाथों पर बेकारों की भीड़ चहलकदमी कर रही है।" इस सबसे उसे वास्ता नहीं है। सन् '३८ में 'उबकाई' उपन्यास छपा। अगले साल नाज़ियों ने फ्रांस पर हमला किया। सार्त्र ने देशभक्तों को लड़ते, नाज़ियों के अत्याचार सहते देखा। उन्होंने युद्ध के बाद तीन उपन्यास लिखे जिनमें उन्होंने दिखाया कि युद्ध में फ्रान्स पर क्या बीती थी। सार्त्र अब अकेले, अप्रतिबद्ध नहीं थे। वह स्वभावतः मार्क्सवाद के निकट आये और उनके पुराने प्रशंसक निराश होने लगे कि मार्क्सवाद-विरोधी मोर्चे का नेता उन्हें अकेला छोड़कर भीड़ में शामिल होने जा रहा है।

हिन्दी के बुद्धिजीवियों ने सार्त्र के अस्तित्ववाद को तब अपनाना शुरू किया जब वह स्वयं उसे छोड़ रहे थे।

●

हिन्दी के अधिकांश नई कविता लिखने वालों का हाल रोकांतैं जैसा है। ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, सड़ाँध का बोध, भीड़ में अजनबीपन का अहसास होने की समस्या से परेशानी आदि-आदि लच्छन इसमें भी मिलते हैं। बीमार आदमी को कभी-कभी हर चीज़ बीमार नज़र आती है; इन कवियों को चीज़ें बीमार ही नहीं मुर्दा भी नज़र आती हैं। श्रीकान्त वर्मा को लगता है—सारी पृथ्वी से उठती है सड़ाँध; वह 'एक पब्लिक लेवेटरी में' बैठे हुए मानों सोचते हैं, उनकी कविता में लय क्यों नहीं है, उनके पैरों पर चींटियाँ चढ़ती हैं, कंधे पर रीछ पंजे गड़ाता है, और "भुजा पर प्रेमिका करती है क़ै।" कैलाश वाजपेयी को सब तरफ़ पिचकी घुमावदार आँतों की गलियाँ दिखाई देती हैं, "जहाँ सिर्फ़ उबकाई का शब्द आता है", जो भी, जहाँ भी है, बीमार है, सभी को किसी-न-किसी तरह का बुखार है, थूक, पीक, मलवा, गँधाती धुआँ देती बस्तियाँ, और

"लगातार—
मैं मर रहा हूँ
मर रहा है एक—संसार !"

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना को लगता है, जैसे मैं मुर्दों के बीच हूँ, उन्हें ही उठा रहा हूँ, रख रहा हूँ, उनसे ही लिपट रहा हूँ, लड़ रहा हूँ, उन्हें ही बाँध रहा हूँ, छोड़कर आगे बढ़ रहा हूँ इस मृत नगर में। "मैं जीवित हूँ या मृत कुछ समझ में नहीं आता।" चारों तरफ दुर्गन्ध है, प्रार्थनाघरों के घंटे तक जंगली जानवरों की तरह "दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं।"

गिरिजाकुमार माथुर का हाल यह है कि हर चीज़ मैले टीन के डिब्बे में बन्द है, हवा का अँगूठा मूसली से कुचल गया है, वनस्पति की आँख आई है, ज़मीन उबले हुए मोटे खुरंट-सी है, बादल 'घाव-सा फूलकर' कीचड़-सी गाढ़ी बूँदें टपका देता है, चेतनाएँ पक गई हैं भय और घृणा से, और "सारा जीवन प्रमेहग्रस्त लकवा मारे रोगी" सा हो गया है!

राजकमल चौधरी की अनुभूति यह थी कि वह वर्तमान के शव को कंधों पर रखे हैं और "मैं इस शव के गर्भ में हूँ और वह शव मेरे कंधों पर है।" दुर्गन्ध और वमन की कमी नहीं। शालिग्राम के बदले खरीद लाये गये "शक्तिपीठ योनि मुखों में सात नरकों की दुर्गन्धियाँ",

"नींद नहीं, क्षुधा नहीं पागलपन केवल वमन यह दुराग्रह
उपदंश महादंश की नरककुंड बीजात्माएँ।"

पागलपन के मुकाबले जगदीश चतुर्वेदी की अनुभूति बहुत हल्की है—

"घुट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें
मुझे उबकाई आ रही है।"

स्वभावतः नयी कविता में विक्षिप्तता और पागलपन की चर्चा विशेष हुई है; और इसमें, यह कहना कठिन है, कितना हिस्सा काल्पनिक है, कितना यथार्थ पर आधारित है। लक्ष्मीकान्त वर्मा कहते हैं कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"संशय, शंका, विक्षिप्तता की व्याकुलता
वह केवल मेरा नहीं
उसमें वे सब हैं
जो मेरे ही समानधर्मा हैं।"

समानधर्मा विजयदेव नारायण साही कहते हैं कि यद्यपि उन्हें मृत्यु का साक्षात्कार नहीं हुआ, फिर भी किन्हीं रातों में—

"देर तक मैंने
अट्टहास और संगीत सुने हैं
क़रीब तीसरे पहर जाकर
भयानक चीख सुनाई पड़ती है।"

कैलाश वाजपेयी पूछते हैं कि—

"इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूं गरदन पर
हाथ में ज़हर-बुझा कोड़ा लिये हुए
सड़ासड़
मारता चला जाऊँ...
या दबा दूँ जलती रेत में
ये अपनी आँखें, नाक, कान, जिह्वा
कूद जाऊँ ताज़े चूने के
हौज में
या कि
फिर क्या करूँ?"

विभाजित व्यक्तित्व वाले विक्षेप में यह देखा जाता है कि रोगी कभी एक व्यक्ति की भूमिका पूरी करता है, कभी दूसरे की, कभी वह पूर्ण असम्पृक्त होकर दोनों का द्वन्द्व देखता है। भारतभूषण अग्रवाल ने इस स्थिति का बड़ा सटीक चित्रण किया है। लिखा है कि "एक दीखने वाली मेरी इस देह में दो 'मैं' हैं। एक मैं और एक मेरा पिट्ठू। मैं तो, खैर, मामूली-सा क्लर्क हूँ पर, मेरा पिट्ठू? वह जीनियस है!" उन्हें अपने पिट्ठू पर तभी हँसना चाहिए जब वह स्वयं क्लर्क हो, या जीनियस। वैसे मामूली-सा क्लर्क भी जीनियस हो सकता है, जैसे चार्ल्स लैम्ब।

गिरिजाकुमार माथुर कहते हैं कि मेरे दो मन साथ-साथ रहते हैं, दोनों एक-दूसरे के घोर शत्रु हैं, बोलचाल बन्द है,

"एक कहता
हूँ उदास
दूसरा कहता है
अबे, खूब खिलखिला के हँस।"

सूर की गोपियों को शिकायत थी कि मन दस-बीस नहीं हैं। आज का कवि अपने भीतर एक से अधिक मन ही नहीं देखता, बाहर एक से अधिक देह भी देखता है यानी अपनी देह के विभाजित रूप। गिरिजाकुमार माथुर ने निर्जन दूरियों के ठोस दर्पणों में चलते हुए देखा कि—

"सहसा मेरी एक देह
तीन देह हो गई।"

यहाँ तो एक देह की तीन हुईं; ऐसा भी होता है कि एक ही देह के दो हिस्से हो जाएँ, सर अलग, धड़ अलग। तब सर धड़ का नाच देखता है और श्रोताओं को नाच का आँखों देखा हाल भी सुनाता जाता है। गिरिजाकुमार माथुर की ही अभिव्यक्ति है—

"मेरा कटा हुआ सिर
पाताल राज-सा
अपने ही कबन्ध का विक्षिप्त नृत्य देखता है
देखता है
और रनिंग कमेण्ट्री करता जाता है।"

इस अभिव्यक्ति के मुकाबले दुःस्वप्नों की अनुभूति हल्की ठहरती है। जैसे गिरिजाकुमार माथुर का यह कहना कि मैं एक भूकम्प दबे नगर के नीचे फिरता हूँ, सीढ़ियों पर चढ़ता हूँ तो छत से टकराता हूँ, मुझे बेहद प्यास लगी है और आस-पास हत्यारे कुएँ हैं जिनमें सिर्फ गिर सकता हूँ; या सर्वेश्वर दयाल की अनुभूति कि एक अदृश्य इमारत मेरे ऊपर गिर पड़ी है, और जो 'नहीं है' उसके बोझ से मैं दब गया हूँ; या लक्ष्मीकान्त वर्मा की यह अनुभूति—

"मैंने सिर हिलाया
खाली बिस्कुट के डिब्बे-सा वह सो गया
गरदन हिलायी
नहीं हिली, अकड़ी थी"—

यह सब कबन्ध-डान्स के आगे फीका है। पृथ्वी के नीचे दब जाने, अँधेरे कमरों में खो जाने का सपना आदमी अक्सर तब देखता है जब देर से खाना खाकर बाईं करवट सो जाए, खासकर तली-भुनी चीजें खाकर। व्यायाम करने, उचित समय पर अल्पाहार करने से ये दुःस्वप्न दूर हो सकते हैं। उम्र पचास ज्यादा से हो तो रात्रि को केवल फलाहार अति उत्तम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ही नगर में यह अनुभव करना कि वह अपरिचित है, मित्रों के बीच में सहसा यह बोध होना कि ये अजनबी हैं—न्यूरॉसिस के बहुत हल्के-फुल्के रूप हैं। सड़कों का उछलना-कूदना, लैम्प पोस्टों की बातें करना न्यूरॉसिस को छूनेवाले दिवास्वप्न मात्र हैं—कल्पना की अतिशयता जो अर्धविक्षेप का रूप भी ले सकती है। एक ने लिखा—

"सड़कें चाबुक-सी उछलती हैं
मैदान पैंट झाड़ कर
उठ खड़े
होते हैं"।

दूसरे ने लिखा,

"सब सड़कें
हाथों में हाथ फँसाकर
एक घेरे में नाचने लगती हैं।"

तीसरे ने लिखा,

"बेतरतीब ढोती सड़कें
घबड़ाकर मकानों पर चढ़ गई हैं।"

चौथे ने लिखा,

"सड़कें दौड़ती हैं
मिलने को गले,
चौराहे भागते हैं
एक दूसरे से।"

पाँचवें ने लिखा,

"क्षण-भर बाद उठकर यह सड़क
उस रेत पर बैठेगी, तट पर खड़ी होगी,
जाने क्या सोचेगी, फिर डूब जायगी।"

यानी नदी में डूब जायगी क्योंकि इस सड़क के पास नदी बहती है। जब सड़कों का यह हाल है तब दीवारें दूसरों की बातें सुनें, उन पर विचार करें, यह वाजिब ही है। उनके कान बहुत दिनों से हैं।

"मुंडेरों के कन्धे हिलते हैं
झरोखे झाँकते हैं,
दीवारें सुनती हैं,
मेहराबें जमुहाई लेती हैं।"

एक अन्य कविता में—

"दीवारें खड़ी सोचती रहीं···
माइक ने जाते समय
शहर की दीवारों से कहा···"

अस्तित्ववादी दर्शन में भले ही वस्तुजगत् मृत हो, मानव-चेतना ही सत् हो, व्यवहार में कवि के लिए मुर्दा चीजें जानदार हैं और जानदार चीजें मुर्दा हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि नई कविता में आत्महत्या का ज़िक्र बार-बार आता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा :

"आज मैं प्रेत हूँ
क्योंकि मैं अपनी मौत से नहीं मरा हूँ
मैंने की है आत्महत्या जान-बूझकर !"

विजयदेव नारायण साही :

"ऐसे ही मैंने सृजन को देखा है
और उसे मृत्यु की तरह पहचाना है
वह हत्या से उपजता है
और आत्महत्या की ओर बढ़ता है।"

जगदीश गुप्त :

"मानता हूँ खुदकशी को कायरों का काम
निश्चय, आत्मघाती भावना से घृणा करता हूँ।
मगर इस क्षण न जाने क्यों यही जी चाहता है
झाँक लूँ उस अन्ध तमसावृत अजाने लोक में
जिसमें हजारों प्रेत बसते हैं।"

गिरिजाकुमार माथुर :

"किसी ने भी
मेरी अन्तिम आत्महत्या नहीं देखी।"

श्रीकान्त वर्मा :

"न मैं आत्महत्या
कर सकता हूँ
न औरों का
खून !"

यह मूल्यों के विघटन का युग है। हर चीज़ टूट रही है, कवि टूट रहा है, कविता टूट रही है। फासिस्ट तानाशाही के पनपने के लिए वह हवा बहुत मुफ़ीद होती है जिसमें मनुष्य के लिए हत्या और आत्महत्या में ज्यादा फ़र्क़ न रहे। नई कविता रचने वाले देश, जनता और इतिहास को जिस ढंग से याद करते हैं, उससे अन्दाज़ होता है कि जनतन्त्र खत्म हो जाय और फासिस्ट तानाशाही कायम हो तो इन्हें कोई खास तकलीफ़ न होगी। जीवन व्यर्थ है, इतिहास व्यर्थ है, इसलिए दो तरह की शासन-व्यवस्थाओं में भेद करना व्यर्थ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बड़े हाल में सिंहासन पर सुनहरी पोशाक पहनकर एक आदमी बैठ जाता है। "यन्त्रवत् दर्शक ताली बजाते हैं।" दूसरा व्यक्ति सबसे हाथ उठवाकर पहले को गद्दी से नीचे बिठा देता है। "सहमत दर्शक शोर मचाते हैं।" तीसरा आकर दोनों को खिड़की से बाहर फेंक देता है। "भयभीत दर्शक जोश दिखाते हैं।" चौथा आकर सिंहासन उठा ले जाता है, हाल पर बाहर से ताला जड़ देता है। "बन्द हुए दर्शक नारे लगाते हैं।" गिरिजाकुमार माथुर के लिए इतिहास का इस तरह का तमाशा है। और—"इतिहास अन्धा है", "इतिहास बहरा है", "इतिहास गूँगा है", "इतिहास लँगड़ा है।"

इतिहास इसलिए भी लँगड़ा है कि उसके कई 'हीरो' लँगड़े हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा पूछते हैं,

"इतिहास के जंगों से
म्यूज़ियम के जिरह बख्तरों से
टूटी बन्दूक से
लँगड़े तैमूर से
क्या मिला?"

विजयदेव नारायण साही के लिए अग्निकुण्ड में 'बदहवास शताब्दियाँ' नागों की तरह गिर रही हैं और

"जो है
धधक-धधक कर जल रहा है
और जो नहीं है
वह भी धधक-धधक कर जल रहा है।"

कैलाश वाजपेयी के लिए—

"वे तानाशाह
जनहितैषी
वे धर्मपुत्र
सब अपनी-अपनी तरह के नरभक्षक थे।"

ये कवि कभी-कभी कृपा करके देश के बारे में भी सोचते हैं। सोचते हैं और बेहद निराश होते हैं। दुःखी स्वर में पूछते हैं, इस देश का मैं क्या करूँ? उनका सबसे विकट दुर्भाग्य मानो यह है कि वे इस भारत देश में पैदा हुए हैं। यहाँ के नेता तो बेईमान हैं ही, जनता मूर्ख है जो उनके पीछे चलती है। भीड़ से जितनी नफरत नयी कविता के रचयिता को है, उतनी और किसी दूसरे को नहीं। अपने अकेलेपन, होने या न होने की अनोखी अनुभूति और प्रगाढ़ सर्जनात्मक पीड़ा के कारण उसे शेष भारतवासी गँवार, असमय और मूर्ख लगते हैं, उनमें जो पढ़े-लिखे हैं, वे निहायत 'मीडिऑकर' हैं, बौने हैं। "टूटी चाय की प्यालियों और तश्तरियों-जैसे निरर्थक लोग;" स्वभावतः ऐसे लोगों के बीच में लक्ष्मीकान्त वर्मा को लगता है, उफ़ कितना अजनबी हूँ, कितना निर्वासित हूँ मैं! लोकमत, मानवता, जनता—सिर्फ चेहरे हैं, गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार, हिटलर का जो कहना था, वही गिरिजाकुमार ने कविता में उतारा है,

"लोग न्याय से नहीं
शक्ति से प्रसन्न होते हैं
आतंक से प्रीत करते हैं।"

श्रीकान्त वर्मा ने तो "देश को खोकर ही" कविता प्राप्त की। कुछ राजनीतिज्ञ इस भीड़ को संगठित करने का प्रयत्न करते हैं, उसे नारे लगाना सिखाते हैं। भारतभूषण अग्रवाल इन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं,

"भावों को भूलो, और
नारों के हो जाओ
भीड़ों से निकलो और
भीड़ों में खो जाओ!"

नारेबाज़ी की बीमारी खासतौर से कम्युनिस्टों को होती है। पूँजीपतियों को शिकायत है कि ये सब मास्को या पीकिंग के दलाल हैं। इससे मिलता-जुलता खयाल भारतभूषण अग्रवाल का है। रेस्तराँ में किसी महिला से कहते हैं,

"लजाओ मत सुन्दरी! ...
आस-पास बैठे ये लोग...
यहाँ नहीं कहीं और हैं...
और ये कामरेड?
ये यहाँ नहीं
ये चीन और रूस में हैं।"

अस्तित्ववादी कवि की निगाह में दुनिया के मार्क्सवादी—क्या साहित्य में, क्या राजनीति में—हमेशा सस्ते समाधान ढूँढ़ते हैं।

"मगर हम और हम जैसे
कि जिनसे ज़िन्दगी की बात का मतलब निकलता है
महज़ आसान रस्तों में भुलाये जा नहीं सकते।"

इसलिए विजयदेवनारायण साही और उनके समानधर्मा मित्र आत्महत्या द्वारा मृत्यु के साक्षात्कार की तलाश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूमते हैं (यानी कविता के कल्पना-लोक में)। पर साही की अनुभूति में वह प्रगाढ़ता अभी नहीं है जो कैलाश वाजपेयी या राजा दुबे की रचनाओं में है। कैलाश वाजपेयी ने 'एक नया राष्ट्रगीत' लिखा है, जिसकी शुरुआत यों होती है :

"सौ करोड़ से ज्यादा लिजलिजे पंजे
दलदल में धँसे हुए,
रीढ़ की जगह एक केंचुआ···"

और अन्त इस प्रकार :

"यही क्या कम है कि मैं संतमेंत में
पिछले बीस साल से दुनिया का 'महान्' गणतंत्र
कहला रहा हूँ।"

राष्ट्रगीत लिखने की इस प्रतियोगिता में स्वर्णपदक मिलना चाहिए राजा दुबे को।

"सड़े हुए केले जैसा
मेरा अंग अंग गलता जाता है···
हो गया सारा का सारा राष्ट्र
किसी तवायफ के घर उतरी जूती···
और जनता ?
जापानी बबुआ
सो भी बिन चाभी···
गोल बाँधकर अब
खड़ी हो गई है तमाशों की अभ्यस्त भीड़
मेरे चारों ओर !
भ्रष्ट है भीड़, और भ्रष्ट है भीड़ का शोर···
लोगो, सुनो लोगो,
मैं किसी फाहशा के मुखारविन्द से
'जनगणमन अधिनायक जय हे' सुनकर
मरना चाह रहा हूँ।"

तवायफ के घर उतरी जूती ! "भारतमाता ग्रामवासिनी" के बाद से अब तक नई कविता ने कितनी प्रगति की है !

तवायफ, वेश्या—इससे अधिक चालू उपमान नई कविता में शायद ही दूसरा हो। नयी कविता का सर्जक उसकी तरफ खिंचता है, उस पर थूकता भी है। वेश्या उस वीभत्स की प्रतीक है जिसे कवि ने अपने मनोविनोद के लिए कल्पना लोक में रचा है। कैलाश वाजपेयी के हाथ में धुआँजली 'वेश्या-इच्छाओं की' राख है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की राय में शान्ति के बारे में उस कुलवधू से पूछना चाहिए जो "कई बार विचारों की वेश्या हो गई है" (विचारों की वेश्या का अर्थ जो भी हो)। अजितकुमार सड़क से सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते हैं :

"पड़ी हुई है एक बेहया की तरह
—खुली, ठंडी, उदासीन !···
—सबको सहती।
अपने में लीन।
—एक वेश्या।"

वीभत्स-विशेषज्ञ श्रीकान्त वर्मा के यहाँ औरों की अपेक्षा वेश्या-उपमान की खपत ज्यादा है। एक चित्र : एक कवि दूसरे कवि से समय पूछ रहा है, "वेश्याएं खुश हैं", कुत्ते हड़-बड़ाकर उठ आये हैं। कवि के सामने समस्या है, इस सारे क्रम का मैं क्या करूँ ? क्या बागडोर दे दूँ वेश्याओं के हाथ में ? एक परेशानी और है। जिस कवि की वाणी में आज तेज है, वह दस साल बाद इस तरह लौट आता है।

"जैसे किसी वेश्या के कोठे से
अपने को बुझाकर।"

अब एक प्राकृतिक दृश्य : अपूर्व दिशा के नितंब पर स्खलित करता है अपने शौर्य को तेजस्वी सूर्य, कराहती हैं सारे शहर की वेश्याएँ जैसे सारे शहर की वेश्याओं पर सूरज सवार था। दूसरा दृश्य : नावें कई यात्रियों को उतारकर वेश्याओं की तरह थकी पड़ी हैं घाट में। तीसरा दृश्य : कवियों की झूठ में लिपटी हुई 'वेश्या—माँ' अपनी सन्तानों का स्वर्ग देख रही है। दुनिया के बन्दरगाहों पर अन्धकार बरस रहा है "मगर वेश्याई स्वर्ग में" फोड़ों की तरह उत्सव फूट रहे हैं। फिर एक प्रशंसनीय समाज-सेवा का काम : "मैं एक पेशाब घर की दीवार पर" जाकर लिख आता हूँ चाक से, खबरदार ! हैजा फैलाती हैं मक्खियां, खबरें, अखबार,

"टाँगें फैलाती हैं
रंडियाँ,
घनी रोज़गार !"

इसके बाद कवि घर लौट आता है और प्रश्न करता है :

"क्या मैं पड़ा रहा हूँ अपनी स्त्री की जाँघ की दराज़ में ?"

कहीं कोई खामी है जो इन कवियों को त्रास देती रहती है, इनके मन को आक्रान्त करने वाले दुःस्वप्नों की रचना करती है, जो इनका ध्यान संसार के अन्य व्यापारों से खींच-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर एक ही विषय पर केन्द्रित कर देती है।

"मैं तुममें घुटता रहा और
अपने में चुकता रहा किन्तु
तुमको सारा सका न पा
अपने को सारा सका न दे।"

इसलिए स्वभावतः

"प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे।"

फ्रायड की बात सच मालूम होती है। मनुष्य की दमित, अतृप्त कामेच्छाएँ उसके सारे सामाजिक दृष्टिकोण को रंग देती हैं। यह सोचकर उसे कुछ सान्त्वना मिलती है कि

"कुछ स्त्रियाँ
प्रेम करती हैं
वर्दी से;
बाकी
नामर्दी से।"

अजनबीपन, अकेलेपन और प्रेम की निस्सारता के दर्शन का स्रोत यही है :

"प्रेम
अकेले होने का ही
एक और ढंग है।"

सार्त्र और श्रीकान्त वर्मा की सह-अनुभूति का मूल उद्गम एक है। इन अकेले होने वाले प्रेमियों की काफी बड़ी भीड़ है, भले ही उनमें हरएक अपने को बहुत अकेला महसूस करता हो। राजा दुबे कहते हैं : तुम्हारा प्रेम जैसे एक फ्रेम है जिसमें तुम मुझे अपनी मनचाही आकृति में कस लेती हो। फिर पुष्ट कंधों से उड़ाती हुई बदन गन्ध इत्यादि। प्रणय-व्यापार की परिणति यह है :

"और हमारे बीच
रह जाती है कविता बनते-बनते
टूट जाता है छन्द मँजते-मँजते
और हम थक जाते हैं रचते-रचते
कुछ का कुछ।"

इस सफलता के बाद वह एक कविता रचते हैं, 'सारी प्रेयसियों के नाम'। शीर्षक भिन्न है, प्रणय-व्यापार की परिणति अभिन्न है :

"एक लड़की जैसे एक बहुत अच्छा सपना!
और मुझे घेर लेता है
मेरा ही हारा हुआ अकेलापन।"

एक अन्य कविता में अकेलेपन से सपनों का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा :

"एक आदमकद आइना :
टूटता है जिसमें एक दृश्य
मैं ही हूँ उसका एक नपुंसक नायक।"

'आत्मजयी' के कवि कहते हैं :

"तत्पर शरीर के कण-कण में लपकता काम-वेग···
देह के अश्लील आकर्षण
थमे संकेत सहसा स्पष्ट होते जा रहे हैं···
वह जो बीत गया
निष्प्रयोजन-सा एक सुख—
जहाँ से अभी-अभी समाप्त होकर
लौटा वह अनर्थ और बे-स्वाद
मानो कुछ पाकर नहीं—खोकर···
मरा नहीं
किन्तु फिलहाल पूरी तरह चुका हुआ।"

कुछ तो जन्मजात नये कवि हैं; कुछ लड़कपन में नये कवि बनने के आवश्यक गुण प्राप्त कर लेते हैं; कुछ ऐसे भी हैं जो प्रौढ़ वय में—अनेक वर्षों तक सुखी गृहस्थ जीवन बिताने के बाद—उस मार्मिक स्थिति तक पहुँचते हैं। गिरिजाकुमार माथुर की कुछ कविताएँ बड़ी ही हृदयस्पर्शी हैं। यथा :

"डूबकर भोगे हुए
कितने अद्वितीय रसगोपन क्षण
होम पर धरे मैंने
—गन्ध पर उठी नहीं।"

अन्य कविता में :

"जितने चटकदार क्षण आये
बिना बोले चले गये
जितने चटखारे-भरे दिन पाये
सबको हम थोड़ा-थोड़ा जूठा कर
छोड़ चुके
कुछ भी ललचाने वाली चीज़ अब रही नहीं।"

इस नई कविता ने न जाने कितनों की गृहस्थी बरबाद कर दी है। शकुन्त माथुर की स्पष्टवादिता देखिए :

"मेरा और तुम्हारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तक चलता प्यार
कहाँ खींचकर ले आया है
जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं
सपाट धरती पर
सिर्फ एक-दूसरे को बैठे
हम घूर रहे हैं
और सामने के दो खण्डहर
सिद्ध कर रहे हैं अपना क्रम।"

नयी कविता लिखने वालों में पुरुष ही अधिक हैं, स्त्रियाँ बहुत कम, उतनी भी नहीं जितनी छायावादी कविता लिखती थीं। वे शायद नयी कविता तब लिखती हैं जब नये कवि से डूबती हैं—यानी उस कवि से जो कविता चाहे बहुत पहले से करता आया हो, पर जो नया कवि हाल में बना हो।

सार्त्र के नायक रोकांतें को हर चीज़ थुलथुल, निर्जीव, लिजलिजी मालूम होती थी। हिन्दी के अस्तित्ववादी कवि आत्मवत् सर्वभूतेषु देखते हुए उसी प्रकार संसार और उसके सजीव-निर्जीव पदार्थों का वर्णन करते हैं। रघुवीरसहाय की एक कविता है 'दुनिया'। कैसी है यह दुनिया?

"दुनिया एक पपड़ियाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक चिपचिपाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक फँफूदियाई हुई-सी चीज़ हो गई है···
दुनिया एक बजबजायी हुई-सी चीज़ हो गई है।"

कैलाश वाजपेयी के राष्ट्रगीत की शुरुआत होती है, 'लिजलिजे' पंजों से। वह स्वयं 'मांस ढके गिजगिजे अन्धकार में' हर रात अपने को फेंककर सुख से नष्ट होते हैं! गिरिजाकुमार माथुर की अन्तर्दृष्टि के सामने :

"एक निश्चेष्ट मिट्टी के लोंदे सा बादल
आसमान में ठसकर बैठा है।"

लेकिन ये बादल वगैरह के उपमान पुराने पड़ गए। नये उपमानों में उल्लेखनीय हैं कछुए और केंकड़े। जगदीश चतुर्वेदी कहते हैं :

"सभी मर्द घिनौने कछुओं से पहने हुए हैं खोल
केंकड़े-सी सिमटी जा रही हैं रतिक्रान्त युवतियाँ
बुझे बल्बों की कतार-सी टिड्डियों की टोली;
नपुंसकों का हुजूम!"

नयी कविता में उपमानों का 'पासिंग' खूब होता है। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ बुझे बल्बों की कतार है तो शकुन्त माथुर के लिए जहाँ के सारे बल्ब फ्यूज़ हैं। जगदीश चतुर्वेदी के यहाँ युवतियाँ केंकड़े-सी सिमट रही हैं; कैलाश वाजपेयी के यहाँ :

"सूर्याकृति केंकड़ा खिसकता है
मांस के बुरादे पर?"

नयी कविता में केंचुए भी काफी हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने लिखा :

"बिलबिलाकर बिछ गए हैं
केंचुए अन्धे!"

कैलाश वाजपेयी ने सौ करोड़ लिजलिजे पंजों से जोड़ा : "रीढ़ की जगह एक केंचुआ"। सौ करोड़ पंजों से अलग अपने दिमाग और होंठों के बारे में लिखा :

"मेरे दिमाग में ततैयों का छत्ता
होंठों पर कनखजूर चिपका है।"

मकड़ा भी अच्छा उपमान है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने एक कविता में लिखा—"वृद्ध मकड़ा आयु का चुप जाल है बुनता।" दूसरी में लिखा :

"चाँद आकाश में
बड़े सुनहरे मकड़े की तरह
धीरे-धीरे गर्व से रेंगता हुआ आता है
मुझे दबोच लेता है।"

केंकड़ों, केंचुओं, कछुओं, मकड़ों से कहाँ तक काम चले! इस भारत देश में जहाँ और बहुत-सी खराबियाँ हैं, वहाँ एक यह भी है कि उसने कवियों के लिए काफी उपमान पैदा नहीं किए। इसलिए उपमानों की तलाश में कवि मिस्र, यूनान, फिलिस्तीन कहाँ-कहाँ की यात्रा नहीं करते। बहुत साल पहले 'नाश और निर्माण' के युग में गिरिजाकुमार ने लिखा था :

"पर गीतों के इन पिरामिडों,
—इन धौला गिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आकर।"

पिरामिडों के साथ उसी कविता में ममी :

"अब ये वसन्त
कितने सहस्र वर्षों की ममी बना आया···"

भारतभूषण ने लिखा :

"और निस्तब्धता का यह पिरामिडी प्रसार
मेरे बस का नहीं।" (अनुपस्थित लोग)

फिर लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी लिखा :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"और मैं केवल एक अस्तित्वहीन
निर्जीव ममी सा···
पिरामिड की पर्तों में दफनाया हुआ-सा लगता हूँ।"

फिर पीयूष वर्मा ने लिखा :

"···ममियों ने
आज सदियों के उपरान्त
फिर करवट ली है
सोये हुए फराओं की आत्मा
आज फिर जग पड़ी है।"

नई कविता से यदि ये पिरामिड, ममी, केंकड़े, मकड़े, कछुए, केंचुए हटा दिए जाएँ तो उसका मूल भाव-तत्त्व उत्तर-कालीन छायावाद, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध वाली यूरोपीय रूमानियत, से कहाँ भिन्न है ? कवि की ऊब, उसका अकेलापन, आत्म-निर्वासिन की भावना, आत्महत्या की आकांक्षा—कुछ भी नया नहीं है; पूँजीवादी सभ्यता के आरंभ से साहित्य में यह सब घटित होता आया है, औद्योगिक पूँजीवाद के प्रसार के बाद वह सब और घनीभूत हुआ है। अन्तर यह है कि आज का अस्तित्ववादी अकेलेपन के आगे जैसे घुटने टेकता है, सामाजिक प्रतिबद्धता से जैसे बचकर भागता है (सिद्धान्तचर्चा के दौरान भले ही वह प्रतिबद्धता की बात करे), वैसे न शेक्सपियर और मिल्टन ने घुटने टेके—यूरोप के नवजागरणकाल में; न शेली और बायरन बचकर भागे—इंगलैंड के रोमांटिक युग में; न प्रसाद और निराला ने आत्म-समर्पण किया—हिन्दी के छायावादी काव्य में। ये सब लेखक अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता पहचानते थे। हिन्दी के नयी कविता-लेखकों की सामाजिक प्रतिबद्धता कहाँ है ? निराला की शूर्पणखा की तरह साधारण मानवों पर—डाल अवज्ञा की दृष्टि—वे अपने आत्मगत संसार में खो जाते हैं। इन्होंने अपने भीतर नया क्या देखा है जो इनके पूर्वजों ने न देखा था ? उन देखी हुई पुरानी बातों को ही अपनी नवीन, मौलिक अनुभूति के बल पर कलात्मक संवेदनशीलता से चित्रित करते। वह भी नहीं। जिसके पास दृष्टि है, वह बाहर भी देखता है, भीतर भी। संसार में कोई ऐसा महाकवि अभी तक नहीं हुआ जिसने भीतर देखा हो, बाहर को छोड़ दिया हो या बाहर देखा हो, भीतर को छोड़ दिया हो। यथार्थ की इकाई बहुरूपी, अनेक-स्तरीय, स्थूल से स्थूलतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है। पर है वह इकाई, आन्तरिक रूप से सम्बद्ध और अविभाज्य। इसीलिए जो दर्शन आत्मगत चेतना को निरपेक्ष मानता है वह साहित्यकार के मूल रचनात्मक दृष्टिकोण का ही नाश करता है, वैसे ही जैसे यांत्रिक भौतिकवाद मानवचेतना को वस्तुजगत् का प्रतिबिंब मात्र मानकर साहित्यकार की रचनात्मक क्षमता को ही अस्वीकार करता है।

यूरोप की रोमांटिक कविता में यह कमज़ोरी मौजूद थी कि वह यथार्थ से मुँह मोड़कर कवि की व्यक्तिगत आशा-निराशा, दुख-सुख, स्वप्नशीलता, पलायनप्रियता से उलझ जाती थी। औद्योगिक क्रान्ति के बाद समाज का पुराना ढाँचा तोड़कर जो व्यक्तिवाद उदय हुआ, उसका एक आर्थिक आधार था, सांस्कृतिक क्षेत्र में उसका सापेक्ष महत्त्व भी था। १८वीं सदी के रीतिवाद की सीमाएँ लाँघता हुआ यूरोप का नया लिरिक-काव्य इसी व्यक्तिवाद के सहारे पनपा, फला-फूला और हमारे देश समेत संसार के अनेक देशों के साहित्य को प्रभावित कर सका। किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यह धारा अपना कार्य सम्पन्न करके क्षीण हो रही थी। नये रूमानी कवि अनुभूति की तलाश में ऐबसिन्थ, हशीश, लौडनम का सहारा ले रहे थे। गाँजा-चरस से स्फूर्ति पाने के आकांक्षी कोई नया काम नहीं कर रहे हैं जिसे—या जिससे मिलता-जुलता काम—उनके आदि प्रेरणा स्रोत न कर चुके हों। वैसे चिलम से लौ उठाना भारतीय संस्कृति के अधिक अनुकूल माना जा सकता है।

रोमांटिक काव्य की व्यक्तिवादी-प्रवृत्ति क्रमशः विकृत होती हुई अब अस्तित्ववाद के रूप में प्रकट हुई है। चरम व्यक्तिवाद को वह सामाजिक दर्शन का रूप देकर प्रस्तुत करती है। रोमांटिक कवि रूढ़ियाँ तोड़कर नये सौन्दर्यबोध और नवीन सामाजिक मूल्यों की ओर बढ़े थे। अस्तित्ववाद ने सौन्दर्यबोध की उपेक्षा और मानवमूल्यों की अस्वीकृति को ही एक रूढ़ि का रूप दे दिया। यह बात फ्रांस के अस्तित्ववादियों पर उतनी लागू नहीं होती जितनी हिंदी में उनके अनुवर्तियों पर। रोमांटिक कवियों में एक प्रदर्शनवादी रुझान था, दुनिया को यह दिखाने की आकांक्षा कि वह कितने पतित, पीड़ित अथवा त्रस्त हैं। नई कविता में यह रूमानी प्रदर्शनप्रियता चरम सीमा तक पहुँच गई है।

जो अपने को पीड़ित, पतित, निर्वासित, अर्द्ध-विक्षिप्त महसूस करता है, वह सहानुभूति का पात्र है, सह+अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नहीं। 'न्यूरॉसिस' का गहरा सम्बन्ध सामाजिक परिस्थितियों से है; मनुष्य निरुपाय और त्रस्त होकर ही अर्धविक्षिप्त होता है। किन्तु अस्तित्ववादी लेखक होशहवास में, अपना भाग्य स्वयं रचने का जन्मजात अधिकार सिद्ध करते हुए 'न्यूरॉसिस' का वरण करते हैं। सार्त्र के अस्तित्ववाद में एक मूल असंगति है। वह दार्शनिक स्तर पर विवेक से अपना रास्ता आप चुनने का पक्षधर है। कलात्मक स्तर पर वह अपने को अर्ध विक्षेप से ग्रस्त पाता है। सार्त्र ने जब-जब स्वस्थ मन से अपने अर्ध-विक्षेप को देखा है, उन्होंने तटस्थ होकर उसकी आलोचना की है। 'उबकाई' कहानी का ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा था, "उस समय मुझमें यथार्थ-बोध की कमी थी। तब से अब मैं बदल गया हूँ। यथार्थ को अनुभव करना मैंने धीरे-धीरे सीखा है। मैंने बच्चों को भूखों मरते देखा है। मरते हुए बच्चे के आगे 'उबकाई' में कोई वज़न नहीं है।" ('लाइफ' में फ्रैंक कैपलर का लेख : डीलिंग विद अर्थली हेल्स)

हिन्दी कवियों ने 'न्यूरॉसिस' को तटस्थ दृष्टि से देखने वाला यह विवेक छोड़ दिया है। वह उसे महान दार्शनिक उपलब्धि मानकर ध्यानाकर्षण द्वारा अनुभूति के स्तर पर उसे उतारने की कोशिश करते हैं।

"हर बार नये-नये
अनदेखे काँटों के कपड़े पहने मैंने
हाथ बाँध फिर भी
अस्पृश्य सा खड़ा रहा
—प्रतिमा पर बोली नहीं।"

कैसे बोले ? प्रतिमा पुरुषत्व देखकर बोलती है, नये-नये काँटों के कपड़ों पर नहीं रीझती। सौभाग्य से नयी कविता-लेखकों में अधिकांश विक्षिप्त होने का अभिनय करते हैं, वास्तव में विक्षिप्त हैं नहीं। विक्षिप्त होना उनके 'होने' से कोसों दूर है। बड़े पूंजीपतियों के किस पत्र के सम्पादकीय विभाग में नौकरी करने से कितनी तनखाह मिलेगी, किस सम्पादकीय नीति पर चलने से मालिक निकालेगा नहीं, या अन्य किसी सरकारी संस्था से चिपकने के लिए कौन-सा फलसफा अपनाना चाहिए—यह सब वे बखूबी पहचानते हैं। पूंजीवाद की खुली वकालत करके न साहित्य में जीना संभव है, न राजनीति में। विद्रोही का बाना ज़रूरी है। अस्तित्ववादी कवि विद्रोही हैं—पूरे समाज से, नैतिक मूल्यों से, कविता से, अपने से। पूंजीवादी नेता जब भ्रष्टाचार देखकर दुखी होते हैं, तब कहते हैं—सारे देश का नैतिक पतन हो गया है, जनता का ही चरित्र भ्रष्ट हो गया है, हम सब लोग स्वार्थी और कायर हो गये हैं। इस प्रकार वे पूंजीपतियों को और अपने को भ्रष्टाचार की ज़िम्मेदारी से साफ़ बचा जाते हैं। नयी कविता के लेखक जब सारी दुनिया को सड़ती-बजबजाती हुई देखते हैं, जब वे सारे देश को पस्त और मुर्दा देखते हैं, जब वे जनता को निष्क्रिय और मूर्ख कहते हैं, समस्त इतिहास की व्यर्थता सिद्ध करते हैं तब वे पूंजीवादी दृष्टिकोण से ही यथार्थ को देखते और परखते हैं। हिन्दी में अस्तित्ववाद एक अराजकतावादी धारा है। अराजकतावाद जनता की संगठनबद्ध, सामूहिक कार्यवाही का विरोध करता है। वह समझता है कि कुछ अद्वितीय महापुरुषों के बलिदान और वीरता से जनता का उद्धार हो जाएगा। हिन्दी के अस्तित्ववादी ऐसे किसी भ्रम के शिकार नहीं हैं कि वे जनता का उद्धार कर रहे हैं किन्तु उन्हें यह भ्रम अवश्य है कि वे हिन्दी कविता का विकास कर रहे हैं। विकास की इस सर्जनात्मक प्रक्रिया में वे कभी अपने को तुलसीदास और शेक्सपियर से बढ़कर मानते हैं, कभी—आत्मबोध के विरल क्षणों में—उन्हें सारा प्रयास व्यर्थ जान पड़ता है और वे कहते हैं, "हम सब बौने हैं।"

अस्तित्ववाद यदि समाज-व्यवस्था के प्रति वास्तविक विद्रोह हो तो वह साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूंजीवाद के प्रति विद्रोह हो। किन्तु वह भरसक अपने अन्तर्जगत् को सामाजिक सम्बन्धों की छूत से बचाकर रखता है। जब वह इन सामाजिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात करता है तब समाजवाद और पूंजीवाद, जनता और उसके शोषक—दोनों को कोसकर अपना सामाजिक दायित्व निबाह डालता है। यदि नयी कविता के लेखक वास्तव में विद्रोही होते तो नये यथार्थ बोध से वे हिन्दी कविता को समृद्ध करते। स्थिति इससे बिल्कुल उलटी है। नई कविता ने अपने भावबोध और उपमानों का ऐसा कल्पनालोक रच लिया है। छायावाद से कहीं ज़्यादा काल्पनिक और रीतिवाद से कहीं ज़्यादा रूढिबद्ध है। गनीमत यही है कि पिछले बीस साल में बहुत सी कविता अस्तित्ववाद से हटकर भी लिखी गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

कुमार विमल

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का उद्भव किसी व्यवस्थित या पूर्वनियोजित प्रयास का फल नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण अनेक बिखरे सूत्रों के वयन से हुआ है। कीर्कगार्ड और नीत्शे की कृतियों में उपलब्ध संकेतों के अलावा आधुनिक अस्तित्ववादियों के विभिन्न विभावनों के समीकरण से अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का रूप-निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से अत्याधुनिक अस्तित्ववादियों के कई विभावन, जैसे—कामू का 'अब्सर्ड'[1], हाइडेगेर का 'वेर्फिडलिख्काइट',[2] यास्पर्स का 'ट्रेन्सेन्डेन्स',[3] मार्सेल का 'होप'[4] और सार्त्र का 'नासिया'[5]—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह एक विशिष्टता है कि इसमें चिन्तन और सृजन का एकान्वय है, जबकि पूर्ववर्ती सौन्दर्यशास्त्रीय विचारधारा के विवेचकों ने चिन्तन और सृजन को एकदम अलगाकर कलाकार तथा चिन्तक के बीच एक मोटी दीवार खड़ी कर दी थी। बात यह हुई कि एक दार्शनिक विचारधारा या दार्शनिक निकाय के रूप में अस्तित्ववाद दर्शन से साहित्य में नहीं आया। अस्तित्ववाद की यह विलक्षणता है कि अस्तित्ववादी धारणा पहले सर्जनात्मक साहित्य में उभरी और बाद में दर्शनशास्त्र की एक विशिष्ट विचारधारा बन गई। अर्थात् सर्जनात्मक साहित्य ही अस्तित्ववाद की जन्मभूमि है। अतः साहित्य-दर्शन, कला-दर्शन या सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत प्रश्नों से अस्तित्ववाद का सम्बद्ध रहना नितान्त स्वाभाविक है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी विचारकों ने, जो प्रायः कांट और हीगेल की कला-सम्बन्धी मान्यताओं से असन्तुष्ट या असहमत रहे हैं, सौन्दर्यशास्त्र के आधारभूत अध्येतव्य विषयों पर परम्परागत शब्द-जाल से हटकर नितान्त नई शब्दावली में सोचने की कोशिश की है तथा साहित्य और कला को एवं इनसे सम्बद्ध धारणाओं को गहन दार्शनिक प्रश्नों की तरह ही विचारणीय माना है।

यों कई विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में किसी अपारम्परिक नवीनता की झलक नहीं स्वीकार करते। जैसे, हर्बर्ट रीड अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध रोमांटिक सौन्दर्यशास्त्र के साथ जोड़ते हैं। आशय यह कि इनकी दृष्टि में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र रोमांटिक भाव-बोध और सौन्दर्य-चेतना की ही किंचित् परिवर्तित भंगिमा है। इनका तो यहाँ तक कहना है कि अस्तित्ववादी चिन्ताधारा में जो आधारभूत विभावन[6] मिलते हैं, वे सभी शेलिंग और कॉलरिज की विचारधारा में विद्यमान हैं।[7] किन्तु मेरी समझ से अस्तित्ववाद या अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को रोमांटिसिज्म या रोमांटिक सौन्दर्यशास्त्र की शाखा, सन्तान या 'कार्बन कापी' सिद्ध करना दो पृथक् वस्तुओं के बीच घनिष्ठ बादरायण सम्बन्ध स्थापित करने जैसा है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अस्तित्ववादी तात्त्विकी[8] पर आधारित है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र भी मूलतः व्यक्तिवादी है और कला-सर्जना अथवा उसके विश्लेषण के माध्यम से अस्तित्व की सार्थकता का अविरल अन्वेषण है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला का लक्ष्य अस्तित्व की सार्थकता की खोज, अतः, व्यक्ति के गहन अन्तर्जगत् का अकृत्रिम चित्रण है तथा उसका मुख्य प्रयोजन अस्तित्व के विदरण या दरार[9] को पाटना या भरना है। फलस्वरूप अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इस कसौटी पर किसी कलाकृति का मूल्यांकन करता है कि उसमें अस्तित्व की सार्थकता की कितनी खोज हुई है अथवा उसमें व्यक्ति के गहन अन्तर्जगत् का चित्रण किस प्रकार किया गया है या उसमें अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले जीव-जगत्[10] का कैसा समीपी अंकन किया गया है। बात यह है कि अस्तित्ववादियों के अनुसार अस्तित्व ही व्यक्ति को सक्रिय बनाता है और अस्तित्वहीनता से निष्क्रियता पैदा होती है। इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व ही अस्तित्ववादियों के सम्पूर्ण अन्वेषण का केन्द्र है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास में कीर्कगार्ड और सार्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को कीर्कगार्ड से सुनिश्चित 'प्रारम्भ' और सार्त्र से व्यवस्थित 'परिणति' मिली है। कीर्कगार्ड ने सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध उस नन्दतिक अस्तित्व के साथ माना है, जो उसकी विशिष्ट शब्दावली में 'द फ़र्स्ट स्फ़िअर'[११] है। कीर्कगार्ड द्वारा निरूपित त्रयात्मक 'अस्तित्वक्षेत्र'[१२] के सिद्धान्त में 'क्षेत्र' (स्फ़िअर) का आशय है 'विधि' (मोड)। इस तरह कीर्कगार्ड के अनुसार सौन्दर्यानुभूति भी एक प्रकार का 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' अर्थात् 'अस्तित्व की विधि' (मोड ऑफ़ इग्ज़िस्टेन्स) है। अतः कीर्कगार्ड का सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन इसी 'इग्ज़िस्टेन्स-स्फ़िअर' या 'अस्तित्व विधि' पर निर्भर है। कीर्कगार्ड के अनुसार अस्तित्व के तीन क्षेत्र हैं—नन्दतिक क्षेत्र (इस्थेटिक्स स्फ़िअर)[१३] नैतिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र। क्रम तथा व्याप्ति की दृष्टि से इन क्षेत्रों में नन्दतिक क्षेत्र निम्नतम किन्तु सर्वाधिक व्यापक है तथा धार्मिक क्षेत्र सर्वोपरि है। अस्तित्व के उक्त तीन क्षेत्रों में क्रमशः आनन्द, कर्म और वेदना की प्रधानता रहती है। इस सन्दर्भ में कीर्कगार्ड ने यह निर्देश किया है कि नन्दतिक तत्त्व अस्तित्व-लोक का सर्वाधिक व्यापक तत्त्व है। अतः अस्तित्व के नैतिक और धार्मिक धरातलों पर भी नन्दतिक तत्त्व का सर्वथा लोप नहीं होता। अस्तित्वविधि में न्यस्त नन्दतिक तत्त्व का गहन सम्बन्ध, कीर्कगार्ड के अनुसार मनुष्य के अन्तर्जगत् के साथ है, बहिर्जगत् के साथ नहीं। शायद अन्तर्जगत् को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने के कारण ही कीर्कगार्ड ने कला से सम्बद्ध तत्त्वों में मनोवेग (पैशन) को बहुत ऊँचा स्थान दिया है और मनोवेग को अस्तित्वानुभूति का एक अनिवार्य घटक माना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कीर्कगार्ड का सौन्दर्य-सिद्धान्त हीगेल के सौन्दर्य-सिद्धान्त की तरह अतीन्द्रिय या आधितात्त्विक (मेटाफ़िज़िकल) नहीं है, आनुभविक (एम्पिरिकल) है। यह आनुभविक रुझान सम्पूर्ण अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में मिलता है। फिर भी यह निश्चित है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र क्रमशः आधितात्त्विक होता जायगा, कारण, 'मेटाफ़िज़िक्स' की ओर झुकना मानो सौन्दर्यशास्त्र की नियति है। दूसरी बात यह है कि कीर्कगार्ड ने अपने सौन्दर्य-सिद्धान्त के निरूपण में 'बीइंग'[१४] को अपनी विचारणाओं का प्रस्थान-बिन्दु नहीं माना है। इनका ध्यान निश्चितरूपेण 'बिकमिंग'[१५] की ओर है। हालांकि ऐसा कहना निर्विवाद नहीं है, कारण, सभी अस्तित्ववादी किसी-न-किसी रूप में 'बीइंग' पर ही बल देते हैं।

जहाँ तक सार्त्र की बात है, सार्त्र के द्वारा अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को एक निश्चित 'परिणति' मिली है। सौंदर्यशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से सार्त्र ने बहुत अधिक नहीं लिखा है, किन्तु इनके कृति-साहित्य, विशेषकर उपन्यासों[१६] में और विचारात्मक लेखन में सौंदर्यशास्त्र की अंगीभूत मान्यताएँ अनुपेक्षणीय मात्रा में मिलती हैं। यों सार्त्र के निबन्ध-संकलन 'एसेज़ इन इस्थेटिक्स' में अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र से संबद्ध इनकी कई सुस्थ मान्यताएँ एक जगह पर मिल जाती हैं। इस पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य में यह दावा किया गया है कि यह पुस्तक अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र का घोषणा-पत्र है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह पुस्तक सौंदर्यशास्त्र पर लिखा गया कोई सुनियोजित प्रबन्ध नहीं, कुछ कलाकारों पर अलग-अलग लिखे गये निबन्धों का संकलन है, जो निबन्ध पुस्तक-रूप में प्रकाशित होने से पहले सार्त्र की साहित्यिक पत्रिका[१७] में छप चुके थे। इस पुस्तक की दूसरी सीमा यह है कि इसमें सार्त्र के सभी निष्कर्ष केवल मूर्तिकला और चित्रकला की विवेचना पर निर्भर हैं, यद्यपि ये निष्कर्ष समग्र ललित कला पर थोपकर सौंदर्यशास्त्रीय निष्कर्ष बना दिये गए हैं। इसमें जिन चार कलाकारों की विवेचना की गई है, उनमें एक भी प्रतिनिधि कवि या साहित्यकार नहीं है।[१८] इस प्रकार उक्त पुस्तक की अनेक सीमाएँ हैं, यद्यपि इन सीमाओं के बावजूद अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र को परिपुष्ट करने में इस पुस्तक का उल्लेखनीय योगदान है। सबसे बड़ी बात यह है कि सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र में पहली बार सामाजिक चेतना को स्थान दिया है अन्यथा अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र सामाजिक चेतना से पराङ्मुख व्यक्तिवादी कला-दर्शन-मात्र बनकर रह जाता। किन्तु परवर्ती सार्त्र ने अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र में एक नई कड़ी जोड़ दी।[१९] सच पूछिये तो कला-विवेचन में सामाजिक सन्दर्भ को एक परिप्रेक्ष्य के रूप में स्वाकार कर सार्त्र ने अस्तित्ववादी सीमा में एक प्रगतिशील कदम उठाया है। अल्जीरिया की आज़ादी की माँग कर, वियतनाम में अमरीकी सैनिक आक्रमण का विरोध कर और नोबेल पुरस्कार को १९३५ ईसवी में ठुकराकर सार्त्र ने अस्तित्ववादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शम्बूक से बाहर निकलने की कोशिश की है तथा अपने युग की प्रगतिशील विचारधारा को वैचारिक समर्थन दिया है। सार्त्र की इस वैचारिक क्रान्ति या प्लुति का प्रच्छन्न प्रभाव गत दशाब्द में लिखे गए इनके कला-दर्शन-सम्बन्धी निबन्धों और स्वतन्त्र रचनात्मक कृतियों में मिलता है। तभी तो सार्त्र ने अस्तित्ववादी होकर भी जिस अस्तित्ववाद का मूल आस्पद अन्तर्जगत् और वैयक्तिकता है, 'सुन्दरम्' का सम्बन्ध 'शिवम्' (लोक मंगल) के साथ जोड़ दिया है।[20] मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि सार्त्र ने अस्तित्ववाद की मूल भूमि छोड़ दी है। सार्त्र ने तो अपनी अस्तित्ववादी धारणाओं के अनुरूप सौंदर्यशास्त्र से सम्बद्ध मान्यताओं के निरूपण में संत्रास और निराशा को काफी महत्त्व दिया है। शायद इसीलिए सार्त्र को ऐसे कलाकार[21] ने भी आकृष्ट किया, जिसके अनुसार कला एक 'अब्सर्ड एक्टिविटि' है—ऐसी 'अब्सर्ड एक्टिविटि' जिसमें केवल शून्यता (नाइहिलटी), निराशा (डिस्पेअर), त्रास (टेरर) और नियति के आक्रोश की अभिव्यक्ति रहती है।

सार्त्र द्वारा संकेतित उपर्युक्त सामाजिक प्रासगिकता की बात यदि छोड़ दी जाए, तो अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र मुख्यतः व्यक्ति-वैचित्र्य और स्वानुभूति को महत्त्व देता है। अतः यह संस्थात्मक मनुष्य[22] से संबद्ध कथ्य को नहीं, व्यक्ति-वैशिष्ट्य से युक्त कथ्य को प्रश्रय देता है। इसके अनुसार वैयक्तिक भावना और अनुभूत धारणा से ही कला-सर्जना सम्भव है। निर्वैयक्तिक भावनाएँ और कल्पित धारणाएँ कला-सर्जना की दृष्टि से अनुर्वर होती हैं। सच्ची अनुभूति व्यक्ति-विशिष्ट और काल-सापेक्ष होती है। एक व्यक्ति क्षण-विशेष में जिस किसी अनुभूति को पूरी ईमानदारी के साथ भोगता है, उस क्षण में उस अनुभूति को उस प्रकार केवल वही व्यक्ति भोग सकता है, अन्य कोई नहीं। क्षण, अनुभूति और व्यक्ति की इसी अनन्वयता को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला-सर्जना का मुख्य उपजीव्य मानता है। हम जानते हैं कि क्षणानुभूतियों के संदर्भ में व्यक्ति सदैव तर्क-बुद्धि से ही संचालित नहीं होता है और न वह वस्तु-सत्य के निर्देश का ही पालन करता है। अतः उपरिविवेचित मान्यता से यह निष्पन्न हो जाता है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र नन्दतिक अनुशासन (आर्डर) को तर्कात्मक और वस्तुवादी अनुशासन से भिन्न मानता है। यह दृष्टिकोण, निश्चय ही, कला में आत्मनिष्ठ स्वतःस्फूर्ति[23] के महत्त्व को स्थापित करता है तथा यह बतलाता है कि कला का प्रत्येक 'आलम्बन', 'आश्रय' के 'अस्तित्व-बन्ध' की उन्मुक्ति का प्रतीक हुआ करता है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में अंकित आलम्बन राम, कृष्ण, ईसामसीह या गौतम बुद्ध-जैसा चरित्र अथवा अन्य प्रकार का परम्परित आलम्बन नहीं हुआ करता। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन परम्परा से नितान्त भिन्न हुआ करता है। यह आलम्बन न किसी परम सत्य या तथाकथित उच्चादर्श से संबद्ध रहता है और न किसी आमुष्मिक कामना से। अस्तित्ववादी कला का आलम्बन तो कलाकार के निजी उच्छ्वास, असन्तोष या अस्तित्व की अर्थहीनता का प्रतिबिम्ब-मात्र हुआ करता है, क्योंकि अस्तित्ववादियों की दृष्टि में सम्पूर्ण मानव-जीवन ही एक 'दुखान्त यथार्थ'[24] है। अर्थात्, अस्तित्ववादी कला का कथ्य हमारे दग्ध अन्तर्जगत् और चुभन से भरे बाह्य परिवेश का यथावत् चित्रण है। यथावत् चित्रण रहने के कारण अस्तित्ववादी कला हमारे लिए केवल 'दर्पण' का काम करती है, 'दीपक' का नहीं। यह तो दुनियावी ज़िन्दगी[25] को हू-ब-हू हमारे सामने रख-भर देती है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अस्तित्ववादी कलाकार कला को 'दीपक' बनाना चाहते ही नहीं। अस्तित्ववादियों के अनुसार यथार्थानुभूतियों का नन्दतिक रूपान्तरण ही कला है। इसलिए यथार्थ ही (आवश्यक नहीं कि एक व्यक्ति के लिए जो यथार्थ है, वह अन्य सबके लिए भी यथार्थ हो) कला का मूलाधार प्रस्तुत करता है। कल्पना उसका मंडन करती है या उस पर मीनाकारी। इसी परिपार्श्व में अस्तित्ववाद का दूसरा विश्वास है कि व्यक्ति के लिए जगत् की सार्थकता जीवन-सापेक्ष है। मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति के लिए इस जगत् की कोई सार्थकता नहीं रहती है। सचमुच, मृत्यु के साथ प्रत्येक व्यक्ति का बहुत विचित्र और अनिवार्य सम्बन्ध है। जन्म लेते ही प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु से संबद्ध हो जाता है। समय की साँस के सहारे मृत्यु हर क्षण व्यक्ति के जीवन-द्वार पर दस्तक देती रहती है। यानी मनुष्य चाहे या न चाहे, जन्म लेने के बाद उसे मृत्यु के लिए सदैव तैयार रहना पड़ता है। इस तरह अस्तित्ववादियों की यह धारणा है कि मृत्यु की रेखा के खिंचते ही यह सार्थक जगत् मृत व्यक्ति के लिए निरर्थक हो जाता है। अर्थात्, हर व्यक्ति के लिए उसका जीवन-सन्दर्भ इस जगत् की सार्थकता को प्रमाणित करने के हेतु अनिवार्य है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हीं कलानुभूतियों को महत्त्व देता है, जो 'व्यक्ति' के जीवन-सन्दर्भों से छनकर—यथार्थ बनकर आती हैं। यथार्थ के प्रति ऐसे आग्रह के बावजूद, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि में, कल्पना के मंडन या मीनाकारी की बात व्यर्थ नहीं है। इसीलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह मान्यता है कि अनुभूति और कल्पना में पगा हुआ या विन्यस्त 'यथार्थ' ही 'वास्तविक' (ऐक्चुअल) हो पाता है। जो 'यथार्थ' को अनुभूति और कल्पना की ओप से उजागर नहीं रहता या अनुभूति और कल्पना से परित्यक्त होता है, वह कभी भी 'वास्तविक' नहीं हो सकता। 'यथार्थ' को 'वास्तविकता' बनने के लिए 'कल्पना' के योग की आवश्यकता होती है—यह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की एक नायाब धारणा है।

यथार्थ और कल्पना के संबंध में इस स्वतोव्याघातपूर्ण धारणा से स्पष्ट है कि यथार्थ और कल्पना के प्रश्न पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि उलझी हुई है। एक ओर अस्तित्ववादियों ने अपने सर्जनात्मक साहित्य में जीवन के खुरदरे यथार्थों, संत्रास और फ़ालिजज़दा लमहों के प्रति आसक्ति दिखलाई है और दूसरी ओर नन्दतिक (सौन्दर्यात्मक) मूल्य के धरातल पर इन्होंने यथार्थ को उचित महत्त्व नहीं दिया है। जैसे, सार्त्र ने सौन्दर्य की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'यथार्थ' कभी सुन्दर नहीं हो सकता। सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है, जिसका संबंध केवल कल्पना-जगत् के साथ है।[२६] इस सूत्र की व्याख्या में सार्त्र का कथन है कि सौन्दर्यास्वादन से प्राप्त आनन्द वास्तविक होता है, किन्तु, सौन्दर्य के घटक-रूप में कलाकार द्वारा आयोजित वस्तुएँ अवास्तविक (अन्-रिअल) होती हैं। सार्त्र ने इसी तथ्य को सौन्दर्यानुभूति के पारम्परिक विश्लेषण में बहुचर्चित 'ताटस्थ्य' (डिस्-इन्-टरेस्टेड्नेस) का मूलभूत आधार माना है तथा अपनी स्थापना के समर्थन में कांट की एतद्संबंधी मान्यता का उल्लेख किया है।[२७] सार्त्र के अनुसार प्रत्येक कलाकृति सृजन के समय कलाकार के मन में बने बिम्बों का 'एक्स्टर्नल ऐनलॉग' हुआ करती है। यह 'ऐनलॉग' या मूर्त्तविधान से युक्त 'तुल्य-रूप सादृश्य' ललित कला के विभिन्न प्रकारों और विधाओं के अनुसार अपना स्वरूप बदलता रहता है। उदाहरण के लिए चित्रकला में यह मूर्त औपम्य-विधान या तुल्यरूप सादृश्य की योजना उपादानमूलक (मैटिरियल) होती है और काव्य-कला में वाचिक (वर्बल)।

अस्तित्ववादियों ने एक शब्द-जाल बिछाकर इस तथ्य को ढँक-सा दिया है कि कला यथार्थ का अनुकरण या प्रति-रूपीकरण-मात्र नहीं है। वस्तुतः कला की सार्थकता केवल यथार्थ के चित्रण में नहीं, सत्य के उद्घाटन (रेविलेशन) में है।

कला-सर्जना में जहाँ तक नन्दतिक ईमानदारी (इस्थेटिक सिन्सेरिटि) का प्रश्न है, उस पर अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि एकदम सुलझी हुई है। अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र नन्दतिक ईमानदारी को कला के लिए आवश्यक मानता है। जिस कलाकृति में नन्दतिक ईमानदारी न हो, वह व्यर्थ है। अस्तित्ववादियों के अनुसार कलाकार के स्वभाव में नन्दतिक ईमानदारी जीवन की खुरदरी अनुभूतियों को भोगने से पैदा होती है। जो कलाकार अपनी जिन्दगी के खट्टे-मीठे अनुभवों को किसी दुराव-छिपाव के बिना व्यक्त करता है, उसी की कला में नन्दतिक ईमानदारी रहती है।

यथार्थ की ओर झुकाव का प्रभाव अस्तित्ववादी सौंदर्य-शास्त्र के काल-दर्शन पर भी पड़ा है। नन्दतिक कार्य-कलाप[२८] के प्रसग में अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र का काल-दर्शन बहुत ही तादात्विक है—वर्तमाननिष्ठ है। यह कला में अंकित क्षणों को अतीत और भविष्य के सन्दर्भों से मुक्त देखना पसन्द करता है। शायद, इसी कारण यह चित्रकला में 'स्टिल लाइफ़'[२९] के अंकन को महत्त्व देता है। इस प्रकार काल को केवल 'वर्तमान' के आयाम में कैद करने की चेष्टा और सामान्यतः त्रिधा-विभक्त काल के शेष दो आयामों—अतीत और भविष्य को अवहेलित करना अस्तित्ववादी कला-रुचि की ध्यातव्य विशेषता है। यह सोचने की बात है कि अतीत का कृतघ्न और भविष्य से पराङ्मुख 'वर्तमान' आखिर कैसा हो सकता है। बात इतनी-सी है कि हर निषेध में एक स्वीकृति रहती है और इसलिए किसी वस्तु या धारणा के निषेध में उसकी प्रच्छन्न प्रकारान्तर स्वीकृति रहती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अतीत और भविष्य को नकारता नहीं है, बल्कि अतीत और भविष्य को भी सम्पीड़ित (कॉम्प्रेस्ड) करके सम्पूर्ण काल का एकान्वय केवल 'वर्तमान' में करना चाहता है। यानी ऐसा वर्तमान, जिसमें भूत और भविष्य—दोनों निहित हों। इसी वर्तमान-निष्ठा का यह फल निकला है कि अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र प्रत्येक कलाकृति को समसामयिकता से युक्त मानता है। जिस कलाकृति की मूल-चेतना समसामयिक न होगी, वह कभी भी उत्कृष्ट नहीं हो सकती। कहना तो यह ठीक होगा कि किसी भी कलाकृति की अभिशंसा 'क्लाइमेट ऑव द एज'[30] से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती।

'दर्पण' और 'दीपक' की बहसतलब बात उठाने के बाद यह जरूरी है कि कला और सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की धारणा का, संक्षेप में ही सही, विवेचन कर लिया जाए। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में कला-सर्जना और सोद्देश्यता पर प्रासंगिक विचार मिलता है। इसका झुकाव 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की ओर है। 'प्रयोजनहीन' इसलिए कि कृति-विशेष को रचने के पहले उसकी कोई पूर्वझलक कलाकार के मनश्चक्षुओं में नहीं बनी रहती है। रचना स्वयं बन जाती है। रचयिता को उस रचना की प्रत्येक विकास-भंगी का पता नहीं रहता। जैसे गर्भस्थ शिशु का कौन अंग कब बना—इसे स्वयं गर्भिणी भी नहीं जानती। किन्तु, जब कृति बन जाती है—रचना तैयार हो जाती है, तब जगत्-प्रपंच उसमें कोई प्रयोजन भर देता है अथवा उसमें कोई प्रयोजन ढूंढ़ लेता है। व्यावहारिक शुभ-लाभ से दूर रहनेवाले प्रत्येक ईमानदार कलाकार को रचना-काल में, शायद ऐसे प्रयोजन का भान या पूर्वाभास तक नहीं रहता। इसी विश्लेषण प्रक्रिया के आधार पर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र 'प्रयोजनहीन प्रयोजनशीलता' की बात करता है। अतः स्वतोव्याघातपूर्ण निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न प्रयोजनशील है और न प्रयोजनहीन है। अस्तित्ववादी कला मुखर होकर हमें कोई उपदेश नहीं देती है और न किसी आदर्श की ओर हमें उछालकर फेंकना चाहती है। इसलिए वह प्रयोजनशील नहीं है। इसी तरह अस्तित्ववादी कला प्रयोजनहीन भी नहीं है, क्योंकि वह हमें जीवन का 'समानान्तर यथार्थ' देती है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र इसे सिद्धान्ततः मानता है कि कला (सही मानी में अस्तित्ववादी कला) हमारे सामने कोई नया 'प्रस्ताव' लेकर नहीं आती है। वह 'प्रस्ताव' करना जानती ही नहीं। वह सदैव हमारे यथातथ जीवन का समर्थन करती है। यानी कला की भूमिका एक समर्थक की भूमिका होती है। वह 'यथालब्ध' या यथावत्' जीवन का समर्थन छोड़कर जब 'प्रस्ताव' करती है, तब वह आचेष्टित प्रयोजनशीलता से ग्रस्त हो जाती है। इसका आशय यह निकला कि अस्तित्ववादी कला हमें आधुनिक जीवन की पूरी अर्थहीनता और असंगति को किसी हिचक के बिना स्वीकार करने के लिए कहती है। अतः अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला का कोई पूर्वव्यवस्थित (प्रि-अरेंज्ड) प्रयोजन नहीं होता। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी कला में सायास प्रयोजनशीलता नहीं भरी जाती। सायास प्रयोजनशीलता या अर्थहीन में अर्थ भरने की चेष्टा अनुभूतिशून्य दर्शनशास्त्र में होती है। अस्तित्ववादी कला में यदि घुणाक्षर न्याय से प्रयोजनशीलता रहती है, तो अयास प्रयोजनशीलता रहती है। प्रयोजनशीलता सायास हुई कि वह निरर्थक हो जाती है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की मान्यता है कि कला में कोई आचेष्टित प्रयोजनशीलता नहीं होनी चाहिए। रचना-क्रम में स्वतः कोई प्रयोजन समाविष्ट हो जाए अर्थात्, अयास प्रयोजनशीलता आ जाए तो दूसरी बात है। ऐसी अयास प्रयोजनशीलता सार्थक होती है और कला के शील को भ्रष्ट नहीं करती है।[31] शायद, इस मान्यता के मूल में अस्तित्ववादियों (विशेषकर नास्तिक अस्तित्ववादियों) के द्वारा प्रस्तावित 'नई नैतिकता' की धारणा है। अस्तित्ववादी दार्शनिक और कलाकार परम्परावादियों की तरह पुण्य से प्रेम और पाप से घृणा नहीं करते। ये हर सहज पाप में एक आधितात्त्विक अर्थ[32] ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं। इस तरह अस्तित्ववाद ने जिस उदार 'नई नैतिकता' का प्रवर्त्तन किया है, उसका सीधा प्रभाव कला की सोद्देश्यता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र द्वारा प्रस्तुत किये गये विचारों पर है।

यह ध्यातव्य है कि अन्तर्जगत् के साथ अस्तित्ववादी कला का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कलानुभूति और आत्मनिष्ठा में अनिवार्य सम्बन्ध मानता है। अन्तर्जगत् की स्वस्ति के बिना कोई भी कथ्य कलात्मक नहीं हो सकता। बाह्य जगत् के पदार्थ तभी कलावरेण्य हो पाते हैं, जब उनका प्रतिबिम्ब अन्तर्जगत् में उतर जाता है। यह अन्तर्जगत् व्यक्ति-विशिष्ट होता है। बाह्य गोचर जगत् सबके लिए एक है, किन्तु, प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्जगत् एक-दूसरे से भिन्न हुआ करता है। अतः अन्तर्जगत् से सम्बद्ध रहने के कारण प्रत्येक कला-कृति पर उसके स्रष्टा व्यक्तित्व की छाप रहती है। अर्थात्, कला वैयक्तिक होती है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वैयक्तिकता से कलाकृति का सम्बन्ध अविच्छेद्य होता है। इसलिए सार्त्र ने बहुत ही निर्णयवादी स्वर में यह मान्यता व्यक्त की है कि प्रत्येक कलाकृति किसी-न-किसी 'व्यक्ति' की होती है। आशय यह है कि कलाकृति कलाकार के 'व्यक्तित्व' से सदैव जुड़ी रहती है। फलस्वरूप, वैयक्तिकता से संश्लिष्ट रहना कला की एक अनिवार्यता है।

प्रकट है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, अस्तित्ववादी दर्शन के अनुरूप 'व्यक्ति-सत्य' को विशेष महत्त्व देता है। यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का सत्य अलग-अलग हो सकता है—कुछ मानी में अपना हो सकता है। इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन वैयक्तिकता को स्वीकारता है और कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अनन्वय होता है—किसी भी व्यक्ति का सच्चा स्थानापन्न नहीं चुना जा सकता। इसलिए एक व्यक्ति के उठ जाने से जो रिक्तता पैदा होती है, वह अपूरणीय होती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववाद व्यक्ति-विशिष्ट सत्य को प्रचुर महत्त्व देता है और अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र वैयक्तिक जीवनानुभूतियों को कला का मूल उपादान मानता है। ये ही वैयक्तिक जीवनानुभूतियाँ व्यक्ति और जगत् के द्विविध वैचित्र्य को ढोती हैं। यह एक अचरज है कि पूरी जिन्दगी जीकर भी व्यक्ति अपने से और अपने को परिवृत्त करनेवाले जगत् से अपरिचित रह जाता है। न व्यक्ति दुनिया को जान पाता है और न दुनिया उसे जान पाती है। प्रत्येक व्यक्ति जीने के बहाने—कोई-न-कोई काम करते रहने के बहाने अपने को ठगता रहता है और इसी आत्म-वंचना के क्रम में एक दिन धोखे से चुक जाता है। इस तरह 'अकेलापन' व्यक्ति का एकमात्र साथी बन जाता है। तब व्यक्ति मात्र 'भोक्ता' ही नहीं रहता, वह अपने सारे भोगों का एकमात्र 'साक्षी' भी बन जाता है। एक ही व्यक्ति का 'भोक्ता' और अपने भोगों का एकमात्र 'साक्षी' होना—उसके अकेलेपन की चरम सीमा का प्रमाण है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र व्यक्ति और जगत् के उक्त 'परिचय-मुख-अपरिचय' की तल्ख-तुर्श अभिव्यक्ति को ललित कला का प्रच्छन्न प्रयोजन (सोद्देश्यता के अर्थ में नहीं) मानता है।

व्यक्ति-सत्य को विशेष महत्त्व देने का सहज परिणाम यह है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र एक ओर मनुष्य की बोध-शक्ति के अनुद्घाटित कोषों की खोज पर बल देता है और दूसरी ओर कला का विषय केवल उन वैयक्तिक अनुभूतियों को मानता है, जो बौद्धिक नियंत्रण से मुक्त होती हैं। ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र में 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' का अंकन कहा जाता है। किन्तु, आदर्शवादी और साम्यवादी विचारकों का यह संयुक्त आरोप है कि व्यक्ति-सत्य, बौद्धिक नियंत्रण-मुक्त वैयक्तिक अनुभूति या 'एग्ज़िस्टेंशल इल्यूमिनेशन' के नाम पर अस्तित्ववादी साहित्य और कला में हम मनुष्य के अशुभ, निम्नग और आर्त्तरूप का ही चित्रण पाते हैं। अतः इनके विचार से अस्तित्ववादी दृष्टिकोण व्यापक और मूलतः नन्दतिक न होकर एकपक्षीय है। इस सन्दर्भ में यह लक्ष्य करने योग्य है कि अस्तित्ववाद के धार्मिक और आस्तिक रूप के प्रस्तोता विचारकों ने कला को 'साइफर'[३३] कहा है और उसे अलौकिक शक्ति का संकेत-चिह्न तथा लोक-अलोक के बीच का 'इन्टर्मीडिएट किंगडम'[३४] माना है। अतः इस कोटि के अस्तित्ववादी विचारक किसी कलाकार की सामर्थ्य का मूल्यांकन इस दृष्टि से करते हैं कि उसने अस्तित्व को कैसे संकेतों द्वारा व्यक्त किया है, उसने व्यक्ति की मूल वैयक्तिकता को किस प्रकार उरेहा है और उसने मनुष्य की सीमान्त दशाओं में कितनी गहराई से पैठने की कोशिश की है। किन्तु, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों की इस धारणा से भी अनेक प्रगतिशील विचारक असन्तुष्ट हैं और वे इसे समकालीन पूँजीवादी समाज की आध्यात्मिक अधोगति की प्रतिच्छाया मानते हैं।

भावना और बिम्ब के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र का चिन्तन पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र से एकदम अलगा हुआ नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र भी यह मानता है कि भाव और बिम्ब के परस्पर घुल-मिल जाने से कला में अर्थ-वैमल्य की सिद्धि होती है। इस सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की इतनी-सी विशेष मान्यता है कि बिम्बों की ऊर्जा से कलाकार में अस्तित्व-धारणा की शक्ति प्रमाणित होती है। अस्तित्व की यह धारक शक्ति मनुष्य को खुलकर या निर्भीक होकर जगज्जीवन की सारी विडम्बनाओं और हिड़िबा विद्रूपताओं को—उबकाई और अश्लीलता को भोगते हुए जीने का साहस देती है। इस प्रकार, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार कला न किसी सूक्ष्म आध्यात्मिक आवश्यकता से उत्थित होती है और न मनुष्य की अनिवार्य अपूर्णता का पूरक-मात्र हुआ करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वह तो केवल 'नॉस्टैल्जिक'[३५] होती है—पीड़ा की आवृत्ति से युक्त होती है। पीड़ा की आवृत्ति से तरंगित रहने के कारण ही अस्तित्ववादी कला में मालीखूलिया या अवसाद की अतिरंजना रहती है। फलस्वरूप, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र यहाँ तक कहता है कि कला में नन्दतिक सौन्दर्य के लिए ऐन्द्रिय सुखदता और आकर्षण का आधान नहीं, उदासी या अवसाद और करुण मनोवेदना (पेथॉस) के समावेश की आवश्यकता है। इसलिए अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र अवसन्न, कुत्सित और कुरूप को पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र की तुलना में नितान्त भिन्न दृष्टि से देखता है।

अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ने कला और स्वप्न के सम्बन्धों पर किंचित् नवीन दृष्टि से विचार किया है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों का यह दृष्टिकोण फ्रायड के स्वप्न-विचार से कुछ भिन्न है। अस्तित्ववादियों ने कला और स्वतःस्फूर्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण के प्रसंग में ही कला तथा स्वप्न पर विचार किया है। इनके अनुसार स्वप्न-तंत्र और कला-तंत्र में अद्भुत समानता है। इसीलिए स्वप्न-चेतना और नन्दतिक चेतना में भी पारस्परिक समानता है। कला और स्वप्न-सम्बन्धों के सन्दर्भ में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की यह विशेषता है कि उसने स्वप्नों पर केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार नहीं किया है। उसका स्वप्न-विश्लेषण मुख्यतः 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' है।[३६] सार्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'द साइकॅलॉजि ऑव इमॅजिनेशन' में हम इसी 'फ़िनॉमिनॉलॉजिकल' दृष्टिकोण का उपयोग स्वप्न और कला-बिम्बों के विश्लेषण में पाते हैं। जिस तरह कला की सार्थकता अस्तित्व की गहराइयों में डूबी हुई अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में है, उसी तरह स्वप्नों का काम अचेतन की अतुल गहराइयों में दबी या छिपी हुई वासनाओं को छद्मवेष में अभिव्यक्त करना है। अन्तर यह है कि स्वप्न-चेतना व्यावहारिक अर्थ में जहाँ कल्पना-विलास-मात्र होती है, वहाँ नन्दतिक चेतना से नये-नये जीवन-मूल्यों का आविर्भाव होता है। यह अन्तर स्वप्न और कला के फलितार्थ का अन्तर है, स्वप्न-वस्तु और कला-वस्तु का तात्त्विक अन्तर नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेक खूबियों के रहने पर भी अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की अनेक सीमाएँ हैं। इसकी पहली सीमा यह है कि इसमें अनेक विसंगतियाँ और विरोधाभास हैं। कई विरोधाभास और विसंगतियाँ तो एकदम अनावश्यक हैं। इस स्थिति का मुख्य कारण यह है कि आस्तिक-नास्तिक, जर्मन-फ्रेंच, पुराने-नये—कई प्रकार के अस्तित्ववादियों ने अस्तित्ववादी दर्शन को एक ऐसा वाद्य-वृन्द (आर्केस्ट्रा) बना दिया है, जिसमें समभंग और विसंवादी स्वरों की कमी नहीं है। अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को 'विचित्र'-वीणा बनाने का गौण कारण यह है कि अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रियों ने अपनी मान्यताओं के निरूपण में स्वरचित विशिष्ट शब्दावली (जार्गन) की क्रीड़ा दिखलाई है। जैसे, सार्त्र ने साहित्य और कला की विवेचना के प्रसंग में 'प्लेजर' शब्द का तिरस्कार करते हुए सौन्दर्यानुभूति से प्राप्त प्रसादन को 'इस्थेटिक जॉइ'[३७] कहना पसन्द किया है।[३८] सार्त्र के अनुसार 'प्लेजर' 'सुख' का वाचक है, जिसके द्वारा की गई सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या अपूर्ण रह जाएगी। इसलिए सार्त्र ने 'जॉइ' की व्याख्या अपने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार की है। इसी तरह हाइडेगर की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं में भी शब्द-क्रीड़ा मिलती है, जिसके फलस्वरूप हाइडेगर द्वारा प्रतिपादित कला-सिद्धान्त सौन्दर्यशास्त्रीय कम, दार्शनिक या आधितात्त्विक अधिक है। हाइडेगर का कहना है कि 'बीइंग'[३९] विद्यमान यथार्थ[४०] से एकदम पृथक् है। 'बीइंग' तथा विद्यमान यथार्थ के इसी तात्त्विक पार्थक्य[४१] को हाइडेगर 'कला-कृतियों के सृजन का मूल'[४२] मानता है। हाइडेगर का झुकाव कला के रूप-विधान को 'गेस्टाल्ट' मानने की ओर है। इनका कहना है कि कला-जगत् में जिसे अस्तित्व मिल जाता है, वह वस्तु-जगत् की अपेक्षा अधिक टिकाऊ और सच्चा हो जाता है। एक ओर सार्त्र ने 'एसेज़ इन इस्थेटिक्स' में ललित कलाओं के बीच कविता के पारम्परिक आभिजात्य को प्रश्नास्पद दृष्टि से देखा है और दूसरी ओर हाइडेगर ने अन्य कलाओं की अपेक्षा कविता की श्रेष्ठता को युक्तिपूर्वक स्थापित किया है। हाइडेगर का कथन है कि सत्य का आकलन या उद्घाटन कला का आधार है। सत्य का यह उद्घाटन, आकलन या निबन्धन सबसे अधिक अच्छी तरह 'भाषा'[४३] के माध्यम से होता है और कविता ही भाषा का मूल (ऑरिजिन) है। इसलिए इन्होंने कविता को कला का सार[४४] कहा है। इतना ही नहीं, इन्होंने यह भी कहा है कि कविता का सार ही सत्य का आधार[४५] है। इस तरह कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कला का सार कहना और कविता के सार को सत्य का आधार मानना कविता के प्रति हाइडेगर के अत्युच्च समादर का द्योतक है। शायद, इसीलिए कई विचारकों ने हाइडेगर का आदर्श 'फिलॉसफर-पोयेट' को माना है।

परम्परावादियों के अनुसार भी अस्तित्ववादी सौन्दर्य-शास्त्र की सबसे बड़ी सीमा उसमें न्यस्त विरोधाभास है। कारण, एक ओर अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र निष्कलुष तथा अनाविल कला-चेतना को मूलतः अप्रतिबद्ध मानता है और दूसरी ओर वह उत्कृष्ट कला को प्रत्येक ईमानदार या जायज़ प्रतिबद्धता के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध मानता है। यह दूसरी बात है कि इस प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धता के पचड़े से परे तटस्थ विचारकों को यह तथ्य साफ मालूम पड़ता है कि अस्तित्ववादी कला जगत्-जीवन की निरर्थकता, शून्यता, उबकाई, घिनौनेपन और कुत्सा को व्यक्त करना चाहती है। कामू की कृतियाँ इसे सर्वाधिक सशक्त रूप में उदाहृत करती हैं। अस्तित्ववादी कला की इस मुख्य प्रवृत्ति पर भी आदर्श-वादी और उग्र आशावादी विचारक झुँझलाते हैं। किन्तु, मेरी दृष्टि में यह झुँझलाहट पूर्णतः सार्थक नहीं है। कारण, आज हमारे जीवन ने, वस्तुतः अर्थहीन प्रतीक्षा, अनावश्यक स्थगन और बाह्यारोपित निलम्बन का रूप धारण कर लिया है। अतः अस्तित्ववादी कला यदि आधुनिक जीवन के इसी विद्रूप का प्रतिबिम्बन और प्रतिरूपीकरण अपना कार्य-विशेष[४६] मानती है, तो इसमें अनुचित क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि अस्तित्ववादी कला जीवन के कटु-तिक्त यथार्थ को पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित कर जगत्-जीवन की निरर्थकता से ग्रस्त मानव-मन को 'निर्भीक निराशा-वादिता[४७] से तरंगित करना चाहती है। इसलिए अस्तित्व-वादी कला हमारे जीवन को अकृत्रिम रूप में हमारे सामने रखती है और हमें अपनी नंगी ज़िन्दगी को रू-ब-रू देखने का साहस देती है। सचमुच, अस्तित्ववादी कलाकार पराजय, उन्माद, जुगुप्सा, मृत्यु इत्यादि को चित्रित कर ही अपनी 'अनुभूतियों का त्योहार' मनाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि अस्तित्ववादी कला जीवन में, जो वस्तुतः निरर्थक और अर्थहीन है, वैसा कोई बाह्यारोपित अर्थ नहीं भरना चाहती है, जैसा कि अब तक कला पारम्परिक दर्शन का सहारा लेकर करती रही है। सच पूछा जाए तो अब तक दर्शन और कला ने जीवन में ज़बर्दस्ती अर्थ भरते रहने की बेशुमार कोशिश की है। लेकिन अर्थशून्य जीवन में अर्थ भरा जाए, तो कैसे? बलात् ढाला गया अर्थ सच्छिद्र जीवन में ठहरे, तो कैसे? इसलिए इस वस्तुतः निरर्थक जीवन में बाह्यारोपित सार्थकता भरने का प्रयास व्यर्थ है। फलस्वरूप, परिवेश की दुर्गति से ऊबे हुए अस्तित्ववादी कलाकार ने अस्तित्व की करुणा तथा 'अनाहत' पीड़ा की आवृत्ति को जिस तीव्रता के साथ भोगा और अभिव्यक्त किया है, वह अभूतपूर्व है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववादी कला में जगत् के दुख-दैन्य (वेल्ट्शमर्त्स)[४८] का ही विशेष अंकन किया गया है और उसमें हमें मनुष्य के 'प्रसन्न' मुख की नहीं, 'ग्लपित' मुख की ही झाँकी मिला करती है। सम्भवतः इसी कारण अस्तित्व-वादी सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि अस्तित्व कलाकार या सौन्दर्यशास्त्री जिस मूर्त्त जीव-जगत्[४९] की चर्चा करते हैं, वह वस्तु-सत्य नहीं, एक दार्शनिक पूर्व-धारणा है।

आलोचकों की दृष्टि में अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की सबसे बड़ी खामी उसकी खाँटी आत्मनिष्ठता है। कारण, अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं को केवल 'ह्यूमैन इन्टिअरर'[५०] में भटकना चाहता है। इसीलिए प्रगतिशील विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र और जीवन-दर्शन को एक कल्पित विश्व-बोध पर निर्भर आधुनिक दर्शन की अविवेकी चिन्ताधारा कहते हैं। इनके अनुसार अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र कला और जीवन-दर्शन के धरातल पर वर्तमान पूँजीवादी समाज के दैन्य तथा प्रतिवादों का समाधान ढूँढ़ने में असमर्थ है। इस तरह अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र, इनकी विचार-दृष्टि में, पूँजीवादी समाज के अनिवार्य दूषण-त्रास, असन्तोष, निराशा, नैतिक पक्षाघात, अखलाक़ी गिरावट इत्यादि से आविर्भूत तथा समकालीन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की प्रगति-चेतना से पराङ्मुख (परवर्त्ती सार्त्र की कुछ बातें इसका अपवाद हैं) एक निष्क्रिय चिन्ताधारा है। कुल मिलाकर लोकमंगल और सामाजिकता में विश्वास रखनेवाले उग्र वस्तुनिष्ठ विचारक अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र को अतिवैयक्तिकतावाद का दर्शन मानकर उसे अग्राह्य (निषिद्ध!) घोषित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. कामु ने अपने 'Absurd' सम्बन्धी बिभावन को 'सिसिफ़स' के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है। द्रष्टव्य 'द मिथ ऑफ़ सिसिफ़स'।
२. Bifindlichkeit.
३. Transcendence.
४. Hope.
५. Nausea.
६. जैसे—'सत्त्व' (Essence) की तुलना में 'अस्तित्व' की प्राथमिकता, 'Augst' इत्यादि।
७. द्रष्टव्य : Coleridge as critic, Herbert Read, Faber & Faber, London, 1949, pages 29, 32, 36.
८. Ontology.
९. Cleavages of existence.
१०. Lebenswelt : life–world.
११. 'The First Sphere'.
१२. 'Existence-spheres'.
१३. मतलब यह कि कीर्कगार्ड के अनुसार यह 'इस्थेटिक्स स्फ़िअर' ही 'फ़र्स्ट स्फ़िअर' है। शायद इसीलिए ए० जी० जार्ज ने कीर्कगार्ड के सौन्दर्यशास्त्र पर लिखित अपनी पुस्तक का नाम 'The First Sphere' रखा है। द्रष्टव्य : The First Sphere by A. G. George, Asia Publishing House, Bombay, 1965.
१४. Being.
१५. Becoming.
१६. कारण, सार्त्र के उपन्यासों की विशेषता उनके 'Situational Characters' में है, जब कि पुराने उपन्यासों की खूबी केवल उनके 'reflexive method' तक सीमित रहती थी।
१७. Les Temps Medomes.
१८. उक्त पुस्तक में सार्त्र ने जिन कलाकृतियों को उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया है, उनके शीर्षक क्रमशः इस प्रकार हैं—'Self portrait' by Tintoretto, 'The dog' by Alberto Giacometti, 'Mobile' by Alexander Calder and 'the Rioters' by Robert Laponjade.
१९. Essays in Aesthetics, Sartre, New York, 1966, p.p. 50-51.
२०. "Beauty seems indestructible; its sacred image protects us; so long as we have it in our presence, no catastrophe will occur." —Sartre, Essays in Aesthetics, New York, 1966, page 72.
२१. Alberto Giacometti (1901-1966).
२२. 'Institutionalized man.'
23. 'Subjective spontaniety'.
24. Tragic reality.
25. 'Life in the world'.
26. "The Real is never beautiful. Beauty is a value applicable only to the imaginary". Sartre, The Psychology of Imagination, translated by Bernard Frechtman, Washington Square Press, 1966, page 252.
27. The Philosophy of Jean-Paul Sartre, edited and introduced by Robert Denoon Cumming, The Modern Library, New York, 1966, page 93.
28. Aesthetic factum.
29. Still life.
30. इस प्रसंग में Gabriel Marcel का यह कथन विचारणीय है—"Our appreciations of a work of art are always·········affected by the 'climate of the age', they reflect the unconscious general assumptions which we spare with our contemporaries during some given period in history; the historically conditioned attitude is something which, for all of us, is quite inescapable; and perhaps we can not even imagine, without tangling ourselves in contradictions, a dehistoricized attitude in the name of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

which completely objective judgments, judgments quite untainted by the local, the temporal, the personal, and in a word quite free from relativity, could be made about works of art, literature and philosophy."

—The Mystery of Being

३१. द्रष्टव्य : 'The Existential Basis of Contextual Criticism', collected in 'The Play and Place Criticism', Murray Krieger, Baltimore, 1967.

३२. Metaphysical meaning.

३३. Cipher.

३४. Intermedite Kingdom.

३५. 'Nostalgia' में पीड़ा और प्रत्यावर्त्तन की अनिवार्य स्थिति रहती है। यह शब्द ही 'Nostos' और 'Algos' के मेल से बना है, जिनका प्रयोग क्रमशः 'Return' और 'Pain' के अर्थ में होता है।

३६. A. B. Fallico, Art and Existentialism, Prentice Hall, INC, 1962, page 33.

३७. Aesthetic joy.

३८. Sartre, What is Literature, translated by Bernard Frechtman, Methum & Co, London, 1950, page 41.

३९. Das Sein.

४०. Das Seinde.

४१. Ontological difference.

४२. Der Ursprung des Kunstwerks.

४३. 'Dic Sprache', collected in 'Unterwegr zur Sprache', by Heidegger, १९५९। इस पुस्तक में 'Die Sprache' पहला निबन्ध है, जिसके अन्तर्गत हाइडेगर ने कविता की भाषा पर विस्तृत विचार किया है। 'शुद्ध' भाषा के संबंध में हाइडेगर का एक प्रसिद्ध सूत्र है—'Die Sprache sprieht als das Gelant der Stille'—Langnage speaks as the sound of silence.

४४. 'the essence of Art is Poetry'.

४५. Stiftung.

४६. Factum.

४७. Courageous pessimism.

४८. Weltschmerz.

४९. Lebenswelt.

५०. Human interior.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की कविता : कुछ मौलिक सवाल

रामदेव आचार्य

आज की कविता पर दुर्बोधता तथा व्यक्तित्वहीनता का आरोप लगाया जाता है। व्यक्तित्वहीनता रचना की वह स्थिति है, जब रचना से रचनाकार के स्वतंत्र व्यक्तित्व का आभास नहीं मिले। ऐसी रचना, बोझिल, अनुकरणात्मक तथा शुष्क होती है। समयानुकूल मुहावरों में जड़ी अनुभूति-शून्य कविता अपनी संवेदनशील प्रेषणीयता से विरक्त होकर व्यक्तित्वहीन हो जाती है तथा वह एक-स्वरूप और एक-लय का जड़ स्वाद देने लगती है। ऐसी स्थिति में उस पर दृष्टिहीनता तथा व्यक्तित्वहीनता के आरोप लगते हैं।

आज की कविता पर ऐसे एतराज़ों को समझना ज़रूरी है। नयेपन के अन्वेषण में जो कविता जीवन से दूर रहकर चमत्कारों को तलाशती है, वह वस्तुतः काव्यात्मा से दूर है। रचना-प्रक्रिया यदि फ़ैशन बन जाती है तो उसे कोई भी ओढ़ सकता है, लेकिन जब रचना रचना रहती है तो वह रचनाकार की निधि बन जाती है। रचना ही स्रष्टा की कृति है, सृष्टि का आनन्द है। फ़ैशन अनुकरण का प्रतिफल है। स्रष्टा जीवन-यथार्थ को दैहिक या मानसिक स्तर पर भोगकर उसे अनुभूति बना लेता है और इस अनुभूति को काव्य-संवेदना के साथ सम्प्रेषित कर देता है। रचनात्मक क्षमता इसी का नाम है। फ़ैशन में नक़ल की प्रधानता होती है, अतः रचनात्मक क्षमता की वहाँ आवश्यकता ही नहीं होती। आज की अनेक कविताओं में यह फ़ैशननुमा जड़ता इस कदर समाहित हो रही है कि अनेक कविताएँ एक ही कवि की एक ही केन्द्र पर आवृत्तियों का अहसास बनती जा रही हैं। अनेक कवियों की अनेक कविताएँ जब एक ही कवि द्वारा किये गए सृजन का भ्रम पैदा करें तो उन्हें कृतियाँ न कहकर अनुकृतियाँ या आवृत्तियाँ कहना अधिक युक्ति-संगत लगता है।

ऐसी कृतियों में मौलिकता की तलाश एक व्यर्थ की शोध होगी। रचना तो सबसे अलग, विलक्षण होती है, उसकी विलक्षणता स्वतः ही पहचान में आती है। आज की अधिकतर कविताएँ पढ़ें तो लगेगा कि एक आकारहीन घिसा सिक्का हथेलियों में बन्द हो गया है और खोटे सिक्के को प्राप्त करने का पश्चात्ताप भावक पर आच्छादित हो गया है। सच्ची व जागरूक कविता भी लिखी जा रही है, पर उनकी संख्या इतनी नगण्य है कि वह बासी आवृत्तियों की भीड़ में लुप्त हो रही है। पोषण न मिलने से पौधे का सूख जाना आश्चर्यजनक नहीं होता। आधुनिकता के शोर-गुल में खरी कृतियां खो रही हैं, क्योंकि उनके साथ तथाकथित आधुनिकता के विज्ञापन नहीं होते। रंग-बिरंगे विज्ञापनों वाली कविता की स्थापना हो रही है और विज्ञापन-हीन परिवेश के दंश की ईमानदार प्रस्तुति भी ध्यान आकर्षित करने में असमर्थ सिद्ध हो रही है।

आज कविता के नाम पर स्थान-स्थान पर शिविर-बन्दी है। एक शिविर के कवि दूसरे शिविर के कवियों को परशुराम की भंगिमा या ठण्डी उपेक्षा से नकारते हैं। अपने शिविर के कवियों को छोड़कर शेष कवियों को वे क्षुद्र प्राणी समझते हैं। इस साहित्यिक लामेबन्दी में अकेली आवाज़ अस्त हो जाती है, क्योंकि उसमें आत्म-निर्भरता का दम्भ रहता है। आत्म-गरिमा की सज़ा भी उसे ही भोगनी पड़ती है। मतलब यह है कि शिविरबन्दी के इस युग में सच्ची काव्यात्मा को प्रश्रय नहीं दिया जा रहा है तथा पक्ष-विपक्ष के हिसाब से नकली काव्य-स्थितियों की स्थापना की जा रही है। यह एक दुःखद तथ्य है। आलोचनात्मक गद्य इतना हावी हो रहा है कि इसमें नक़ली कविता की वकालत इतने सबल तरीके से की जा सकती है कि उसे असली कविता की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। गद्य का चमत्कार इस बात में भी है कि कुछ खेमेधारी अग्रज कविता को भी गद्य के स्तर तक खींच लाने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दावा कर रहे हैं। इस दावे के परिणामस्वरूप ही इस दौर की अधिकतर कविताएँ शुष्क, नीरस, वक्तव्यपूर्ण तथा बौद्धिक गद्यात्मक कविताएँ हो गई हैं, जिन्हें सुविधा व स्नेह-दान के लिए ही कविताएँ कहा जा सकता है। इन रचनाओं की छोटी-बड़ी पंक्तियाँ तथा इनकी काव्य-भाषा एक प्रकार की काव्य-मनःस्थिति का भ्रम पैदा करती है, हक़ीक़त में ये रचनाएँ चालू मुहावरों में ढली हुई व्यक्तित्वहीन अनुकृतियाँ हैं।

●

रचना के क्षेत्र में इन दिनों दो तरह के बोध बहुत खतरनाक सिद्ध हुए हैं—नगर-बोध और मृत्यु-बोध; इन दोनों के साथ-साथ कभी-कभी एक और बोध भी जुड़ जाता है—सेक्स-बोध। इन सभी बोधों का केवल एक इलाज है, जिसका नाम है आत्मबोध। कवि अपने स्वत्व से साक्षात्कार करे तो आत्म-ज्ञान के क्षणों में वह सोचेगा कि जिस नगरीय परिवेश को या मृत्युमुखी आस्था को या देहवादी जुगुप्सा को वह आँक रहा है, उसकी हज़ारों आवृत्तियाँ तो पहले इन दो-चार वर्षों में हो चुकी हैं; अब उस बासी संवेदना को शब्दों के सिक्के बदल-बदलकर चलाना आत्म-वंचना या स्वयं का दुहराव नहीं है तो क्या है? व्यक्ति को इतनी बार 'बौना' और 'नगण्य' घोषित किया जा चुका है कि अब 'बौना' व 'नगण्य' जैसे शब्द अपने अर्थ में ही बौने व नगण्य बन चुके हैं। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ स्थान-स्थान पर कविताएँ, कहानियाँ व उपन्यास बिखरे पड़े हैं—लोगों की करोड़ों तरह की ज़िन्दगियाँ कविताएँ भी हैं, कहानियाँ भी और उपन्यास भी—ऐसी भारतीय ज़िन्दगी को केवल नगर, मृत्यु और सेक्स की धुरी पर केन्द्रित कर देना सच्ची धुरीहीनता है। यह समझ-हीन दार्शनिकता ही आज की कविता की सच्ची गद्यात्मकता है, जिसमें न सही चिन्तन है, न आत्मानुभूति।

'ज्ञानोदय' के अप्रैल, १९६८ के अंक में चिली की कवयित्री गैब्रेला मिस्ट्राल की 'मातृत्व की छह अनुभूतियाँ' पढ़ीं तो लगा कि व्यक्ति की सच्ची प्रतिमा और नक़ली मिट्टी की मूर्ति में अन्तर कहाँ है! चिली की ये कविताएं नारी के भाव-जगत् की खरी, सहज-ग्राह्य व संवेदनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। जब अनुवाद में ही इतनी क्षमता है तो मूल की कल्पना की जा सकती है। नारी के मनोभाव अनुभूति की इतनी गहनता से प्रस्फुटित हुए हैं कि वे सार्वजनीन और सार्वकालिक हो गए हैं। इनकी तुलना में यह सोचकर दुःख होता है कि इस देश का कवि कविता की प्रकृति को लाँघकर उसे आडम्बर बनाने के चक्रव्यूह में क्यों फँसता जा रहा है!

इस सारी प्रस्तावना से मेरा यह अर्थ नहीं है कि हमारे यहाँ सच्ची कविता विलुप्त हो गई है या हो रही है। वह दिखती है—मेघाच्छन्न आकाश से फूटती एक आलोक-किरण की तरह। धूमिल की 'पटकथा' (आलोचना, जनवरी-मार्च, १९६८) अपने सम्पूर्ण विस्तार में सुखद यात्रा है, जो वर्तमान भारत की कुरूपता, छविहीनता, राजनीतिक आधारहीनता को आक्रोशपूर्ण वाणी में ईमानदारी से चित्रित करती है। ऐसी ही चन्द और कविताएँ जो यदा-कदा देखने को मिलती हैं, इतना विश्वास सौंपती हैं कि गद्य के नीरस रेगिस्तान में भटक-भटककर कविता अभी भी मरी नहीं है। यह स्पष्ट है कि उसकी व्याधि-ग्रस्तता किसी कुशल चिकित्सक की प्रतीक्षा में है।

●

हर युग में लेखकों की एक पौध पनपती है। इस पौध में पनपे लेखक अपने इर्द-गिर्द एक व्यामोह का किला बना लेते हैं तथा इस किले में स्वयं को सुरक्षित समझते हैं। अंग्रेज़ी के अठारहवीं सदी के लेखकों ने अपने चारों ओर एक स्वप्निल व ऐन्द्रजालिक जाला बुन लिया था। इन लेखकों ने कीर्ति-शिखर पर आरूढ़ विश्व-कवियों की पंक्ति में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लिया था। इस महत्त्वाकांक्षी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तात्कालिक आलोचना उनकी सहायक थी। आत्म-रति-लीन ये लेखक अपने युग को स्वर्ण-युग समझने के आडम्बर में मस्त रहे तथा मीठे भ्रमों के शिकार रहे। परवर्ती आलोचना की स्याही ने उनके स्वप्निल कुहरे को भेद दिया तथा उन्हें उनकी सीमाओं के धरातल पर खड़ा कर दिया। इस पूरे युग को 'गद्य व तर्क का युग' घोषित किया गया। इतिहास का यह पुनर्मूल्यांकन हमारे सामने एक संकेत के रूप में खड़ा है। कहीं हमने अपने-आपको किसी मोह के चक्रव्यूह में क़ैद तो नहीं कर लिया है! कहीं हमारे चारों ओर सपनों का कोई इन्द्रधनुष तो नहीं खिंच आया है! जिन नये धरातलों की तलाश कर हम अपनी लेखनी की सक्षमता पर गौरवान्वित हो रहे हैं, कहीं वे धरातल उलझन-भरे, प्रबुद्ध दिखने वाले पद्य बनने का नाटक करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले तो नहीं हैं।

हमारी उपलब्धियों की माला-जपती-समीक्षा ने हमें कविता में नये वातायन खोलने का गौरव दिया है, राजनीतिक टकराव को साधारण व्यक्ति की दृष्टि से देखने का श्रेय दिया है, तथा लघु मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करने की महत्ता दी है। इन सन्दर्भों में यह सोचना है कि अपनी सहजता-साधारणता-लघुता के वातावरण में कहीं हमारी कविता अतिवादी नाटकीयता तो नहीं बन रही है! सही अभिव्यक्ति को नकली अभिव्यक्ति से अलग देखने की जरूरत पहले है तथा उपलब्धियों की सूची बनाने का कार्य बाद में सम्पन्न किया जा सकता है।

●

इन सब तर्कों के सन्दर्भ में काव्यात्मा को परिभाषित कर लेना लाभदायक होगा। सच्ची कविता भावक से बरबस एक प्रतिक्रिया खींचती है, यही कविता की भेदन-शक्ति है। कविता का आस्वाद पाठक के अभिभूत होने में है। भावाभिभूत होने का अर्थ है पाठक के मन में एक भाव-तरंग का पैदा होना। यह भाव-तरंग रचनाकार की निजी भाव-तरंग को सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने से उत्पन्न होती है और इस तरंग की मौलिक आकृति रचनाकार की वह तरंग रही है, जो उसने सृजन-प्रक्रिया के क्षणों में अपने में अनुभव की थी। कवि का सत्य ऐसे क्षण में पाठक का सत्य बन जाता है तथा यों काव्यात्मा का स्थानान्तर हो जाता है। कवि की इस भावानुभूति के निर्यात को ही हम पाठक की रसानुभूति कह सकते हैं। कवि के मानस का इन्द्र-धनुष पाठक के मानस का इन्द्र-धनुष बन जाता है। काव्यात्मा के इस स्थानान्तर को वहन करती है काव्य-संवेदना, जो कवि के बिम्ब को पाठक का बिम्ब बनाने की सामर्थ्य रखती है। काव्यात्मा से भावानुभूति के इस निर्यात की कमज़ोरी कविता को बौद्धिक गद्य बनाकर छोड़ देती है। हम यों कह सकते हैं—काव्य-संवेदना से रिक्त कविता केवल काव्य-स्थिति है, उसमें काव्यात्मा नहीं है। काव्यात्मा अनुभूति के रागात्मक सम्प्रेषण में है, काव्य-स्थिति में रागानुभूति का अभाव होता है। काव्य-स्थिति केवल बौद्धिक चिंतन की काव्य दिखनेवाली-सी स्थिति है, जो शुष्कता का वातावरण पैदा करती है। इस प्रकार की कविता कविता के नाम पर चिन्तन की उलझन का निर्यात करती है। आज की अधिकतर कविताएँ चिंतन की इस उलझन के चक्कर में लड़खड़ा रही हैं। उनमें काव्य-संवेदना का नितान्त अभाव है। ऐसी कविताएँ कुछ चमकदार वक्तव्यों के सहारे ही कविताएँ बने रहने की नाटकीयता निभा सकती हैं तथा पाठकों के गले 'उपलब्धियों' की उपाधियों के साथ उतारी जा सकती हैं।

काव्य-संवेदना से मेरा अभिप्राय किसी भी प्रकार की संस्कार-बद्ध, छायावादी, रूमानी-रेशमी, अभिजात-वर्गीय भावुकता से नहीं है। मेरे चेतन या अचेतन में ऐसी किसी भी काव्यात्मा की आधुनिक तस्वीर नहीं है। मैं नयी कविता और परवर्ती कविता के सन्दर्भ में काव्य-संवेदना के औचित्य की बात कहता हूँ। अज्ञेय की भाषा का रूप-विन्यास छायावादी काव्य-भाषा-सा ही है, यद्यपि कथ्य व शिल्प की दृष्टि से उन्होंने राह के अन्वेषी बनने का श्रम किया था। छायावादी काव्य की सुकुमारता व भाव-प्रवणता आज कल्पनातीत है। रूमानियत की जो सृष्टि नीरज, भारती तथा गिरिजाकुमार माथुर ने एक समय की थी, वह भी आज की जीवन-प्रतीति से दूर है। भाषा व भाव की कमनीय रूप-सज्जा, शब्दों का रस-सिक्त अलंकरण आज के जीवित यथार्थ को अभिव्यक्ति देने में सुयोग्य नहीं है। आज की कविता वे कवि ही लिख रहे हैं, जिन्होंने भाषा व भाव की रंगीनी को शासित किया है तथा जो कविता को ज़िन्दगी के करीब-से-करीब खींचने में प्रयत्नशील हैं। हमारे जीवन की पेचीदगी तथा तनाव को ढोने में किसी भी प्रकार की सुकुमारता या रस-सिक्तता अनुकूल नहीं लगती। इस सबके बावजूद मेरा विचार है कि कविता को उसके लक्ष्य तक ढोने वाली वस्तु काव्य-संवेदना होती है, जो कविता को कविता बनाये रखने के लिए ज़रूरी है। इस काव्य-संवेदना से विरक्त कविता महज़ अभिनय है, ढोंग है, नाटक है। जो शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना सर्वेश्वर, नईम, कैलाश वाजपेयी, कीर्ति चौधरी, विजयदेव नारायण साही अदि की कविताओं में है, कविता से यदि उसका निष्कासन कर दिया गया तो कविता में क्या बचेगा? कविता के नाम पर बोझिल, ऊटपटांग तथा शुष्क गद्य लिखा जाना एक पथ-भ्रष्ट स्थिति लगती है। काव्य राजनीति को घसीटने से ही सिद्धि नहीं पा लेगा, न वह प्रबुद्धता के नाम से चलाया जा सकेगा। कविता में काव्य-संवेदना ही काव्यात्मा का निर्माण करती है और इस काव्य-संवेदना की रिक्तता का अर्थ है कविता की इति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गद्य का जन्म।

इस बिन्दु पर पहुँचते ही कविता और गद्य के बीच सीमा-रेखा खींचना नितांत आवश्यक हो जाता है। कुछ लोग गद्य की भाषा व कविता की भाषा में कोई मौलिक अन्तर नहीं देखते, यह एक भ्रम की स्थिति है। कविता के शब्द जिस फ्रेम में फिट होते हैं, उसमें गद्य के शब्द अजनबी लगते हैं। पद्य व गद्य की मूल संवेदनाओं में मौलिक अन्तर है। कविता में शब्द **चिंतन तथा भावना के सम्मिश्रण** का कार्य करते हैं (फ़्यूज़न आॅव इन्टलेक्ट एण्ड इमोशन : टी० एस० एलियट), जबकि गद्य में भावना की परिधि एकदम संकुचित होती है। गद्य एक प्रकार की तार्किक बौद्धिकता की सृष्टि करता है। कविता की भावुकता प्रलाप न बने, अतः उस पर चिंतन का अंकुश लगा रहना चाहिए, लेकिन यह भी एकदम स्पष्ट होना चाहिए कि कविता कोरी बुद्धि नहीं है। कविता न छन्द में होती है, न लय में; अब कविता न शब्दालंकरण में है, न रस-सिक्त रूमानियत में। कविता का सच्चा निकष है शासित-अनुशासित काव्य-संवेदना (पोइटिक सेन्सिबिलिटि) तथा आधुनिक ज़िन्दगी के करीब से ली गई काव्य-भाषा, जो कथ्य को काव्यमय बना सके। ज़िन्दगी के करीब से ली गई भाषा को गद्य की भाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कविता की भाषा गद्य की भाषा से अधिक कोमल व परिमार्जित होती है।

शब्द और शब्दों के अर्थ कविता को जन्म देते हैं। अर्थ-हीन संगीतमय शब्द केवल सतही जमघट बनकर साधारण संगीत-प्रधान काव्य-स्थिति पैदा करते हैं, शब्दों के बिम्बात्मक अर्थों में व्यंजित ध्वन्यात्मकता सच्ची काव्यात्मा की जननी होती है। शब्दों के अभिधात्मक प्रयोगों से सीधी-सपाट ध्वनि उत्पन्न की जाती है, वह ध्वनि कविता का बाह्य देहालंकरण करती है। पंतजी का 'नौका विहार' या मैथिलीशरण गुप्त की अनेक कविताएँ शब्दों के अलौकिक संगम बनकर रह गई हैं। शब्दों की सपाट संगति से भाषा का तिलिस्म उभरता है, काव्य-संवेदना का खरापन नहीं उभरता।

आज 'मन-कमल' 'घन-अलक-जाल' 'शशि-वदन' वाली नज़ाकत बेमानी लगती है। यह काव्य-सूरज एक युग में तपकर, दहककर अस्त हो गया है। इस तथ्य के बावजूद लगता है कि कविता में भावाभिभूत करने की क्षमता का विद्यमान रहना उसे पद्य बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें काव्य-संवेदना को सही काव्य-भाषा ढो रही है, परिणामतः काव्यात्मा की निर्मिति हुई है—

इन तमाम
शव-भोगी लोगों के बीच
ओ! मेरे मरे हुए देश
आँसू आ जाते हैं सोचकर,
कल सुबह तेरी लाश तक
पहिचानी न जायेगी।

—कैलाश वाजपेयी

मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने-आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता—
सिर्फ पूँछ होने की मजबूरी नहीं है।

—धूमिल

यहाँ ऊँची-ऊँची इमारतें
आश्रय के लिए नहीं,
आत्म-भोग के लिए हैं;
उन्हें पीठ पर लादकर रेंगता हूँ,
समय एक विशाल पहिए-सा
लुढ़कता हुआ आता है
और मुझे किसी ढाल पर
कुचला हुआ छोड़कर
आगे निकल जाता है।

—सर्वेश्वर

इन उदाहरणों की भावना शासित-अनुशासित है। इस काव्य-संवेदना से कविता को वियुक्त करना कविता की ही इति है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनमें आधुनिकता के मोह में नक़ली काव्य-स्थितियों को उठाया गया है। नये मुहावरे की तलाश तथा जीवन की साधारणता से सम्पृक्ति प्राप्त करने की लालसा ने उन्हें शुष्क व बोझिल गद्य बना दिया है—

लगातार छत्तीस सौ पचास दिन
एक नदी-भरा तरबूज फाँक करके
कई सह्याद्रि, एल्पस, विन्ध्यारावलियाँ
हँफती हुई टापू से छू सपाट करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगातार मैंने दाँतदार चक्कर घुमाया···

—कैलाश वाजपेयी

सड़क है सामने न लेटी है न बैठी
उठाकर मोड़ दूँ हण्टर की तरह आसमान
की पीठ पर सड़ाक से फटकार दूँ
खयाल में······

—श्याम परमार

यही सोचते हुए गुज़र रहा हूँ मैं कि गुज़र गई
बगल से
गोली दनाक से।
राहज़नी है या क्रान्ति ? जो भी हो, मुझको
गुज़रना ही रहा है
शेष।

—श्रीकान्त वर्मा

थोड़ी-सी देर को लगता है सही
टोपियों का रखरखाव
जब तक कमरे में कोई बोले नहीं।
जैसे ही मैंने कहा देश मेरा भी है यह
बाजा बैताल हो गया मैं अकेला
टोपियाँ समेटकर ले गए दीनानाथ
रह गए फूलदान और कुछ मसौदे
और अभी तक तो है मेरी नौकरी

—रघुवीर सहाय

कविता में काव्य-संवेदना काम-सूत्रात्मक, नगण्यता-बोधक अकविताओं में भी प्राप्त होती है. विशेषकर जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं में—(द्रष्टव्य : 'विजप')जबकि इसी संग्रह में श्याम परमार की कविताएँ नुस्खेबाज़ी तथा गंगाप्रसाद विमल की कविताएँ ओढ़ी हुई मनःस्थितियों से लदी पड़ी हैं। ऐसी कविताएँ केवल कविता का भ्रम पैदा करती हैं।

●

कविता के क्षेत्र में निकष-निर्धारण की अव्यवस्था समाप्त होनी चाहिए। डॉ० रामविलास शर्मा जैसे जागरूक आलोचक ने 'सम्प्रेषण—३' में भावुकता तथा काव्योचित भाव में अन्तर किया है। उनकी राय में हिन्दी-कविता का बहुत-सा आधुनिकता-बोध महज भावुकता है। "भाव-विचार और यथार्थ-चित्रण के अभाव पर कवि जरी के काम का ऐसा पर्दा डालते हैं कि आँखें चौंधिया जाएँ, लेकिन ध्यान से देखो तो पहले जो सोना-चाँदी लगा था, वह गिलट निकलता है।" यह बात बड़े सीमित दायरे में कही गई है और इसकी चोट नकली कविता पर नहीं पड़ी। आज की कविता से रिसते घावों वाले नक़ली चेहरों को साफ़-सुथरे चेहरों से, कल्पित-खण्डों को यथार्थ-खण्डों से पृथक् देखने की आवश्यकता है, वर्ना प्रामाणिक कविता लुप्त होती जाएगी और प्रदर्शनकारी कविता प्रतिष्ठित होती जाएगी।

●

अब ज़रा आन्दोलनों की चर्चा छेड़ें ! आन्दोलन सबसे अधिक कविता के क्षेत्र में ही पनपे हैं और क्रमशः सब आन्दोलनों की शोभा-यात्राएँ समाप्त हो गई हैं। कारण थी पृष्ठभूमि की धुरी-हीनता। आन्दोलनों का आविष्कार चमत्कार द्वारा चौंका देने की महत्त्वाकांक्षा से होता है, उसके पीछे गम्भीर व बुनियादी चिन्तन नहीं होता। जितनी भी कवि-पीढ़ियाँ पिछले चन्द वर्षों में पनपी हैं, सतही भावुकता के आधार पर पनपी हैं। उन्होंने चन्द नारे दिए हैं तथा चन्द तथाकथित कवि उछाले हैं, फिर ये पीढ़ियाँ या तो विभाजित हो गई हैं या अस्त हो गई हैं। कुछ ऐसे भी स्वनाम-धन्य कवि रहे हैं, जो हर आन्दोलन के साथ हो लिए हैं, बावजूद इस तथ्य के कि एक आन्दोलन की प्रवृत्ति दूसरे आन्दोलन की विपरीत-धर्मा रही है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ एक ही महत्त्वाकांक्षा के पोषण के लिए निकाली जाती रही हैं—नाम उछालने की महत्त्वाकांक्षा के लिए, एक प्रपंच को उपलब्धि बनाने की महत्त्वाकांक्षा के लिए।

इन आन्दोलनों, घोषणा-पत्रों तथा कवि-पीढ़ियों ने कविता को मखौल बनाकर छोड़ दिया है। भाव-जगत् में व्याप्त अर्थ-हीनता तथा जीवन-प्रतीति से विरक्ति इन कवि-पीढ़ियों की देन है। कविता को आडम्बर बनाने का श्रेय भी इन्हें है। इन संकुचित आन्दोलनों को दार्शनिक गरिमा प्रदान करने के लिए आलोचक भी कहीं-न-कहीं मिलता ही रहा है। ये आन्दोलन साहित्य के काल-प्रवाह के अस्थायी यात्री ही नहीं रहे हैं, इन्होंने बुराइयों को भी जन्म दिया है, समीक्षा के नाम पर गाली-गलौज किया है और रचना के नाम पर सेक्स तथा मृत्यु की विराट्ता को रचा है। इसे आलोचक महोदय युवा-पीढ़ी का विद्रोह तथा 'समय का गुस्सा' कहते हैं। परस्पर-प्रशंसा तथा आत्म-रति में लीन इन कवियों-आलोचकों ने आलोचना को व्यंग्य-विनोद बनाकर छोड़ दिया है। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि कुछ आन्दोलनों के नाम-मात्र ही शेष बचे हैं; पर, इन आन्दोलनों ने नफ़रत का कुछ ऐसा वातावरण तैयार कर दिया है कि साहित्य परस्पर स्नेह-दान तथा विरोध के लिए विरोध करने का माध्यम बन गया है। इन आन्दोलनों के कुप्रभाव से ही कविता में रेखागणित तथा अंकगणित की समस्याएँ हल की गईं; इनकी कृपा से ही कार्टून, नक्शे, विराम-चिह्न, प्रश्न-चिह्न, विस्मय-चिह्न, सरगम के स्वर, टूटे हुए शब्द, टूटी हुई पंक्तियाँ तथा पंक्तियों के ऊटपटांग मोड़ कविता में प्रवेश पाते गए तथा अपना परिवार बढ़ाते गए। इन नुस्खों को ढोती कविता हास्य व प्रलाप बनती गई। कविता को रचते हैं शब्दों के बिम्ब, शिल्प के ये सतही प्रयोग कविता को दृष्टि-हीन ही बना सकते हैं। इन पेचीदा अस्त्र-शस्त्रों का संचालन जिन योद्धाओं ने किया, वे प्रचलित लकीरें तो मिटाते रहे, पर नई लकीरें बनाने में एकदम असमर्थ रहे।

●

कविता को जीवन से सम्पृक्त करने के प्रयास ने एक और दुराग्रह का रूप धारण कर लिया और गीत की सत्ता को नकार दिया गया। गीत अपनी स्पर्शी तन्मयता से जीवन की अनास्था व अतृप्ति को बहलाता है। गीत को हवाई कहकर रद्दी की टोकरी में नहीं फेंका जा सकता। वे लोग, जो गीत का नाम सुनते ही कानों में उँगलियाँ डाल लेते हैं, उनसे बहस करना तो व्यर्थ होगा, पर जिस गीत का विकास 'निराला' से बच्चन तक तथा बच्चन से आज तक हुआ है, वह कोई फ़िल्मी विधा ही नहीं है। जो लोग गीतों को सुधियाँ बहलाने वाली रचना कहते हैं, उनसे पूछा जा सकता है—क्या हमारे जीवन में युद्ध, प्रणय, स्नेह, बन्धुत्व और प्रकृति की सभी सूक्ष्म भावनाएँ नष्ट हो गई हैं ?

कभी 'धर्मयुग' में राही मासूम रज़ा की हिन्दी में रूपान्तरित एक गज़ल पढ़ी थी, उसकी पंक्तियाँ आज भी मुझे किसी भी अच्छी नई कविता से कम प्रभावित नहीं करतीं—

कल कुछ ऐसा हुआ मैं बहुत थक गया
इसलिए सुनके भी अनसुनी कर गया
कितनी यादों के भटके हुए कारवाँ
दिल के जख्मों के दर खटखटाते रहे।
जहर मिलता रहा, जहर पीते रहे
रोज़ मरते रहे, रोज़ जीते रहे
ज़िन्दगी भी हमें आज़माती रही
और हम भी उसे आज़माते रहे।

हिन्दी-गीत की यह एक अछूती अभिव्यक्ति भी ध्यान देने योग्य है—

ना तो सतर का हूँ
ना ही कतारों का
जो सर उठाये हैं, उन देवदारों का।
× × ×
ना भीड़ लहरों की
ना हूँ कगारों का
जो प्यार से भेंटे, उन यादगारों का।
× × ×
ना फूल अचकन का
ना शूल अड़चन का
ना फूल गमलों का, मैं फूल बन बन का।

—उमाकांत मालवीय

व्यर्थता और अकेलेपन का बोध किसी भी कविता से कम मुखरित इस गीत में नहीं है—

झरती भाँप, खाँसता बिस्तर, चिथड़ा साँसें
उबकाई
धक्के देकर मुझे ज़िन्दगी आखिर कहाँ
गिरा आई

टेढ़ी दीवारों पर चलते
मुरदा सपनों के साये
जैसे कोई हत्यागृह में
रह-रहकर लोरी गाये
यह अधनंगी शाम और
यह टूटा हुआ
अकेलापन
मैंने फिर उकताकर कोई पन्ना मोड़ दिया।

—कैलाश वाजपेयी

गीत का जन्म व्यक्ति को यथार्थ के त्रासक जगत् से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हटाकर कला के जगत् में ले चलने को होता है। यह पलायन रचनात्मक होता है। गीत की रचनात्मक क्षमता को नकारना जीवन को रस-हीन, जड़ व लयहीन कहने की भूल करना है। यह बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि आज गीत का वह स्वरूप ही स्वीकार्य हो सकता है, जो आधुनिक ज़िन्दगी की मुद्रा व तनाव को अभिव्यक्ति दे रहा हो; जिसकी लयात्मकता नयी कविता के समकक्ष हो। जीवन के यथार्थ को जो गीत आधुनिक अर्थवत्ता की कोमलता प्रदान करे, वही गीत सही गीत है तथा स्थिर रहने वाला है। यहाँ उस गीत की चर्चा नहीं है, जिसे नव-गीत कहा जाता है, क्योंकि कविता की कोई विधा शीर्षक पकड़कर मशीनी प्रक्रिया बन जाती है। यहाँ केवल उस गीत की चर्चा है, जो शब्द-संगीत का उद्घाटक न होकर जीवन-जगत् की असंगतियों का वाहक होता है। वह गीत जो अपने लयात्मक स्पर्श से हमारे जीवन की संत्रस्तता को बहला सकता हो।

●

इन सब आग्रहों का आशय यह है कि कविता के मूल्यांकन के निकषों की पुनः जाँच हो, नये निरीक्षण-परीक्षण हों, ताकि सही कविता की पुनः स्थापना हो सके। सही कविता वह कविता होती है, जो अपनी सहजता में ग्राह्य होती है तथा जिसका काव्यात्मक दंश पैना होता है। इस अवधारणा के केन्द्र में रखकर यदि हम कविता के प्रस्तरत्व का उद्धार कर सकें तो वह इस पीढ़ी का आत्म-साक्षात्कार होगा, वर्ना यंत्र बनी कविता के घिसते हुए चालू पुर्जे उसे ठप्प कर देंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो कविताएँ

शिवकुटीलाल वर्मा

लिपि

: १ :

संकेतों की लिपि अत्यन्त जटिल होती है।
अब मैं आपको कैसे समझाऊँ
कि हँसी के संकेत समझने की प्रक्रिया में आप
रो पड़ेंगे।
दर्द की व्याख्या होते ही दर्द काफ़ूर हो जाएगा
और आपमें सिर्फ दर्द की महक रह जाएगी।
महक आपको हँसा भी सकती है।
पर वह हँसी एक अजोबोगरीब हँसी होगी।
संकेतों की लिपि में कैसे पैठ पाएगी?
उसे वहाँ फिर प्रवेश दिलाने के लिए
आपको पक्षियों की शरण में जाना पड़ेगा।
पर पक्षियों की शरण में जाने वालों में लगभग
सभी का
स्थलीय भाषा में एक उथला अनुवाद होकर
रह गया।
तब आप भी अनुवाद से कैसे बच पाएँगे।
और यदि मान भी लिया जाए कि आप
यह खतरा उठाने को तैयार हैं
तो भी क्या आप उत्सुक भ्रान्तियों द्वारा अपने-
आपको
केवल एक ऐतिहासिक महत्त्व की पाण्डुलिपि
समझा जाना गवारा करेंगे
जबकि आप पक्षियों के बीच में
एक निष्कासित हँसी के लिए
एक सूक्ष्म पर जीवंत लिपि रच रहेंगे।

: २ :

आकाश बिल्कुल रुक गया था।
पक्षी भी रुक गए थे।
गलियाँ सहमी हुई थीं
और सड़कें चलते-चलते जैसे जम गई थीं।
फूल खिलते-खिलते रुक गए थे
और पेड़ों में न नई पत्तियाँ उग रही थीं
और न पुरानी झड़ रही थीं।
आवाज़ों में तेज़ी आने के बजाए एकरसता थी
और रोशनी में चमक के बजाय एक ऐसा
फीकापन
जिसे पहिचानने की अब कोई जरूरत नहीं रह
गई थी
न कहीं कोई भूचाल था
न कहीं कोई दुर्घटना।
माथे का पसीना तक गिरते-गिरते थम गया था
(पर मैं चल रहा था, निरन्तर चल रहा था।)
अचानक मैंने पाया
कि सब एक साथ ही चल पड़े।
आकाश, पक्षी, सड़कें, गलियाँ सभी चल पड़े!
रोशनी चमकीली होती गई
और आवाज़ें तेज़।
फूल मौत का डर छोड़कर
पूरी तरह खिलने को आतुर हो गए।
पेड़ों ने पुरानी पत्तियाँ अस्वीकार कर दीं
और नई पत्तियों के साथ हिल-मिल गए।
भूचाल भी आने शुरू हुए
और नित्य नई दुर्घटनाएँ भी होने लगीं।
माथ पसीने से तरबतर हो गए
और दिल जज़्बातों से सराबोर।
सचमुच यह सब-कुछ कितना अनहोना था।
शायद मैं ही था
जो कहीं घटित होते-होते भी
बच गया था। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्मूल्यांकन

विश्वविद्यालयों का कवि : प्रसाद

मुख्यत: 'लहर' की छोटी कविताओं के अध्ययन-प्रसंग में

रमेशचन्द्र शाह

फ़तवे—और खासतौर से साहित्यकारों द्वारा दिये गए फ़तवे तो—कभी-कभी बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद सिद्ध होते हैं, चाहे वे नितान्त गम्भीर भाव से दिये गए हों चाहे निहायत, महज़ छेड़खानी की गरज़ से। अब यों तो प्रसादजी भी लिख गए कि (यथार्थवाद) "लघुता पर एक 'साहित्यिक' दृष्टि-पात" ही है : कौन कह सकता है कि उनका इरादा मखौल उड़ाने का था ? वे तो बेचारे अपने जाने एक सटीक व्याख्या और परिभाषा ही दे रहे थे। आज अगर किसी को यह लगे कि वे बड़ी सफ़ाई से बड़ी बारीक चुटकी काट गए तो इसमें प्रसाद जी का क्या दोष ! ···अपनी-अपनी समझ है। श्रीकान्त वर्मा की समझ में छायावादी कविता शब्दों के खिलवाड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ठीक है, आप भी उनसे प्रतिप्रश्न कर सकते हैं कि साहब ! कविता मात्र इसके अलावा और क्या होनी है ? या कि खुद आपकी ही कविता क्या है ? मगर इससे क्या उनका फ़तवा कट जायगा ? इतना तो वे भी जानते ही हैं। तब ? एक फ़तवा वह होता है जो जानते-बूझते, पूरे होशोहवास में दिया जाता है। वह पारदर्शी फ़तवा होता है और कोई आड़ नहीं देता। उसमें आपकी समझ के लिए काम करने की पूरी गुंजाइश होती है। समझ को सम्बोधित करने का यह भी एक खासा तरीका है; उसे दुरुस्त करने का भी, हालाँकि चिन्ता वहाँ समझाने की उतनी नहीं है, जितनी कि समझे जाने की। कवियों के बारे में कवियों द्वारा दिये गए फ़तवे ज्यादातर इसी कोटि के हुआ करते हैं। किन्तु एक दूसरे प्रकार का फ़तवा भी होता है जो हमारी समझ को उकसाने के लिए नहीं, बल्कि उसे बहकाकर उस पर हावी होने के लिए दिया जाता है। वह ठोस और अपारदर्शी होता है ताकि आप उसमें निहित 'समझ' (या समझहीनता) को न देख पाएँ।

चूँकि "प्रसाद विश्वविद्यालयों के कवि हैं", यह फ़तवा एक कवि की ओर से ही आया है, अतः इतनी उम्मीद तो की ही जा सकती है कि उक्त दूसरी कोटि का तो यह नहीं ही होगा। या फिर यह एक और तीसरी ही कोटि का फ़तवा होगा जिसके लक्षणों का पता अभी हमें नहीं है। हालाँकि हमें याद पड़ता है कि कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात टी० एस० एलियट ने भी मैथ्यू आर्नाल्ड की कविता के बारे में कही थी, "ही इज़ एन एकेडेमिक पोएट इन द बेस्ट सेन्स आव द टर्म"। इसे कहते हैं—"डैम विद फ़ेण्ट प्रेज़···"; मगर दूसरी ओर हम पाते हैं कि प्रसादजी को तो यह 'फ़ेण्ट प्रेज़' भी नसीब नहीं है। मैथ्यू आर्नाल्ड के साथ कम-से-कम इतनी तो ग़नीमत है कि आधुनिक काव्य के लक्षणों की शुरुआत उसमें देख ली जाती है: अतीत मोह और क्लैसिक रुझान के साथ-साथ थोड़ी-बहुत सार्थक आधुनिकता (समसामयिक भाव-बोध) भी उसे बख्शी गई है। मगर प्रसादजी को तो वह सांत्वना भी नहीं है। उनमें आधुनिकता कैसे ढूँढ़ी जाए ? हाँ, एक मुक्तिबोध को ज़रूर, जाने कैसे यह इलहाम हो गया कि समस्त छायावादियों में प्रसाद ही एक ऐसे कवि हैं जो अपने बाद की पीढ़ी को चुनौती-सी देते हैं और उनसे निपटे बिना चलेगा नहीं; वर्ना हमारी पीढ़ी के लिए तो वे हुए-न-हुए एक जैसे ही हैं।

तो क्या प्रसाद सचमुच इतने अल्पप्राण और अप्रासंगिक कवि हैं कि विश्वविद्यालयों की सुरक्षित चारदीवारी के बाहर ज़िन्दा न रह सकें ? क्या उनकी सार्थकता सिर्फ़ इतनी ही है कि उन्होंने कुछ प्राध्यापकों को बौद्धिक व्यायाम का अवसर सुलभ कराया और भाष्यकारों की एक भीड़ अपने आस-पास बटोर ली ? क्या उनका दीर्घायु होना 'कठिन काव्य के प्रेत' की हैसियत से ही सम्भव है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे नहीं मालूम कि विश्वविद्यालयों में प्रसाद को वास्तव में कठिन काव्य के प्रेत की तरह पढ़ाया जाता है या नहीं; किन्तु इतना जरूर जानता हूँ कि विद्यार्थियों के बीच निराला, पन्त और महादेवी के प्रति जितना उत्साह दीखता है उसका दशमांश भी प्रसाद की रचनाओं के प्रति नहीं दीखता। विद्यार्थियों में ही क्यों, कविता से जिन्हें कुछ भी लेना-देना है, ऐसे अपेक्षाकृत सयाने लोगों के बीच भी मुश्किल से कभी कोई ऐसा मिल जाता है जिसे सचमुच प्रसाद का चस्का हो। 'विश्वविद्यालयों का कवि'—अगर इस फ़तवे में व्यंग्य हो तो वह व्यंग्य भी ऐसा है जिस पर हँसा भी नहीं जा सकता क्योंकि अपने तमाम समकालीनों में प्रसाद ही ऐसा कवि है जिसके बारे में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उसको समझने की शुरुआत ही विश्वविद्यालय से निकलने के बाद होती है क्योंकि मुझे तो यह विशेषता ही प्रतीत होती है कि जहाँ दूसरे कई कवियों के साथ अर्थग्रहण करने की सजगता बढ़ने के साथ-साथ कविता का आस्वाद और मूल्य भी कम होता जाता है, वहाँ प्रसाद में ठीक इसके विपरीत मामला है। एक तरह से प्रसाद की कविता का आस्वादन कविता के पाठक की रीझ-बूझ की कसौटी बन जाता है। दूसरे कवि हैं जिनकी कविता हमें बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है लेकिन तभी तक, जब तक कि हम कविता के भीतर गहरे पैठने का उद्यम नहीं करते, बहुत ज्यादा शिक्षित संवेदन और प्रश्नाकुल जिज्ञासा लेकर उनका सामना नहीं करते। होता यह है कि अर्थान्वेषण की सजगता बढ़ने के साथ-साथ उनकी कविता की महिमा भी हमारे मन में घटने लग जाती है। पन्तजी की अनेक कविताओं का प्रभाव मेरे लिए इसी तरह क्षीण होता चला गया है। जबकि इसके ठीक विपरीत आज से दस साल पहले प्रसाद की जो कविताएँ मेरे मन पर कोई छाप ही नहीं छोड़ती थीं—वे ही आज मुझे सबसे ज्यादा विशिष्ट और सारपूर्ण लगती हैं। शायद ऐसा इसी कारण सम्भव हो सका है कि अब जाकर मैं उस मानसिक स्तर से किसी क़दर सहानुभूति स्थापित कर सकने योग्य हो सका हूँ कि जहाँ पर, जहाँ से इन कविताओं का उद्भव हुआ है।

यहाँ पर प्रसाद की छोटी कविताओं का उल्लेख ही अभीष्ट है क्योंकि एक तो उनका महत्त्व अपने-आपमें भी कम नहीं है, बल्कि ज्यादा ही है, इस दृष्टि से कि जो उनके वैशिष्ट्य को नहीं समझ सकता, वह कामायनी के साथ भी न्याय नहीं कर सकता। उनकी प्रतिभा की बनावट को समझने के लिए ये कविताएँ बुनियादी महत्त्व की हैं। यह ठीक है कि प्रसाद उन थोड़े-से कवियों में हैं जो गीति और स्फीति दोनों को समान गरिमा के साथ निबाह सकते हैं किन्तु इसके साथ एक दूसरा तथ्य यह भी है कि वे ऐसे कवि (भी) हैं जिनके रचना-क्रम में शुरू से आखिर तक एक ख़ास क़िस्म की एकता, एक बुनियादी पर्युत्सुकता का 'पैटर्न' दिखाई देता है, मानों सृष्टि और अस्तित्व की मूलभूत चुनौतियों से निपटने के लिए, उनको अपनी जीवनानुभूति और वेदनतन्त्र द्वारा सिद्ध और हल करने के लिए ही इन्हें कवित्व दिया गया हो : मानों इनकी कविता और इनकी यह पर्युत्सुकता सहजात हों, परस्पराश्रित हों। ऐसे कवियों के साथ दिक्कत यह आ जाती है कि उन्हें पूरा पढ़ना पड़ता है; उनके विकास के प्रत्येक चरण को ध्यानपूर्वक समझना पड़ता है। इस दृष्टि से भी इन कविताओं का अध्ययन बहुत आवश्यक है। यह भी है कि शायद इन पर ध्यान एकाग्र करके ही हम कामायनी के लिए अपेक्षित स्फूर्ति इकट्ठा कर सकते हैं और उस पर जमी हुई काई छुड़ा सकते हैं।

●

ऊपर संकेत किया गया है कि प्रसाद अपने अन्य सहवर्तियों की तरह प्रथम साक्षात् में ही आकर्षित करने वाले कवि नहीं हैं। हिन्दी में लिखने वाले ऐसे अनेक कवि होंगे जिन्होंने अपने विकास के आरम्भिक सोपानों पर पन्त और निराला से प्रेरणा पायी होगी। किन्तु विरला ही कोई कवि होगा जिसे प्रसाद उस दौर में आकर्षित कर सके हों। कारण, प्रसाद में ऐसा बहुत कम, नहींवत् है जो किशोर कल्पना को उत्तेजित कर सके, किशोर और युवा भावनाओं को स्फूर्ति दे सके। वे थिराये हुए आवेग के हृदय की प्रशान्त बोधशीलता के कवि हैं :

"कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्ष-पत्र की मधु छाया में
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है"

प्रसाद उन कवियों में हैं जो अपेक्षाकृत जल्दी वयस्क हो जाते हैं। अकाल परिपक्व नहीं; बल्कि वयस्क जिज्ञासाओं से उन्मथित। ऐसे कवि जल्द ही अपनी भावनाओं को जीवन-जगत् के प्रति एक दृष्टि अर्जित करने के अनिवार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष में नियोजित करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। एकदम शुरू की कविताओं में ही :

"भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गया उस पार
न हो मुझको ही जब सन्तोष
तुम्हारा इसमें क्या है दोष"

× × ×

क्या अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी ?
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नहीं
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर सुनो,
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही
....
....
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही,
मिलता नहीं हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नहीं

× × ×

इसीलिए यह कवि अपने मानसिक संघर्ष को, भावनाओं के झंझावात को सीधे अभिव्यक्ति देने को प्रेरित नहीं होता; बल्कि उसे अनवरत चिन्तन-मंथन में से छानकर ही अपनी कविता प्राप्त करता है। व्यक्तित्व का सीधा प्रकाशन उसे 'भोंडा' लगता है। प्रकृति पर अपने भाव-संवेगों को थोपकर उनसे मुक्त होने की चेष्टा के बजाय वह प्रकृति को पढ़ते हुए उसके जरिए अपने अन्तर्जगत् को व्यवस्थित और परिभाषित करने का धैर्यपूर्ण उद्यम करता है :

"आज इस घन की अँधियारी में
कौन तमाल झूमता है, इस सजी सुमन-क्यारी में"

× × ×

"किन्तु न मेरी करो परीक्षा प्राणधन !
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से,
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है"
"चन्दकिरण हिमविन्दु, मधुर मकरन्द से,
बनी सुधा रख दी है हीरक पात्र में,
मत छलकाओ इसे, प्रेम-परिपूर्ण है।"

एक ओर अनुभव का यह कड़वा पाठ :

तुम्हारी आशालता सिंचाव, बहुत ले चुकी, न देती दाँव
सींचकर क्या फल पाया, फूल भी हाथ न आया
नील नीरदमाला की वृष्टि
दीनता की करती थी सृष्टि

और, दूसरी ओर यह प्रशान्त, धीर अवबोध :

सृष्टि में सब-कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास
बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक देखो तब यह सौन्दर्य

या, इससे भी गहरे :

"गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहें
अन्तरिक्ष विशाल में हैं मिल रहीं"

स्वाभाविक ही, इस प्रकार कवि-मन के भावावेग ज्ञानात्मक अनुभूति में ढलते चले जाते हैं। बाह्य विश्व, ऐन्द्रिय संवेदना का जगत् कवि-कल्पना के लिए कलात्मक विलास के उपकरण जुटाने के बजाय उसे एकाग्र संवेदन और अर्थान्वेषण की प्रेरणा देता है। प्रसाद में प्रारम्भ से यह रुझान स्पष्ट है: अपनी ही अनुभूतियों और भाव-संवेगों के अध्ययन-मनन की प्रवृत्ति···।

"बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
....
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना"

जोकि आगे जाकर ऐसी प्रौढ़-परिपक्व, संश्लिष्ट व्यंजनापूर्ण काव्यपंक्तियों का सृजन करती है···

"चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई"

ये पंक्तियाँ मुझे बरबस प्रख्यात मैटाफ़िज़िकल कवि एण्ड्रू मार्वेल का स्मरण करा देती हैं—

बट हार्क अपॉन माइ पल्स आइ हियर
टाइम्स ह्वीलिंग चैरियट ड्राइंग नियर
....

प्रसाद की बौद्धिकता कोई अलग ऊपर से थोपा हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य नहीं है; वह उनकी जिजीविषा की अनिवार्य उपज है : उनके अन्तर्जीवन की अनिवार्य लय और दिशा···। अपनी अनुभूतियों के प्रति उनकी काव्यात्मक प्रतिक्रिया सर्वथा उनकी अपनी है, सर्वथा मौलिक और अनूठी। यह कहना कि शुरू से ही उन पर किसी विचार-दर्शन का अंकुश था, निहायत गलत होगा। उन पर किसी का अंकुश नहीं था : यदि अंकुश था भी तो, वह उन्होंने स्वेच्छा से परिश्रमपूर्वक अर्जित किया था। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया, उनकी आरम्भिक कविताओं में ही अपनी निजी अनुभूतियों के प्रति एक ऐसी गहरी ईमानदारी और आलोचनात्मक निरीक्षणशीलता मिलती है जैसी कि बिरले ही कवियों में पाई जाती : "जब लेता हूँ, आभारी हो, बल्लरियों से दान/कलियों की माला बन जाती अलियों का हो गान/विकलता बढ़ती हिमकन में, विश्वपति ! तेरे आँगन में/जब करता हूँ कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार/तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार/चमत्कृत होता हूँ मन में/विश्व के नीरव-निर्जन में/···

अपनी अनुभूति को कल्पना द्वारा नाना प्रकार से अलंकृत करने—जितनी जैसी वह है, उससे बड़ी दिखाने, अतिरंजित करने की बजाय—वे उसे समझने-बूझने की कोशिश करते हैं। इसी से उनकी अभिव्यक्ति में एक सहज गरिमा है; ताप और तीव्रता नहीं। और कौन कह सकता है कि इस कविता में सौन्दर्य नहीं ?···

मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थीं सो रहीं, अन्त करण नवीन
मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय था हो रहा, बाह्य आन्तरिक
प्रकृति सभी सोती रहीं

●

प्रसाद प्रतीकों से बहुत काम लेते हैं : उनके यहाँ हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। प्रसाद देखा जाय, तो पन्त के ठीक विपरीत हैं। पन्त में अर्थ (भाव-कथ्य) अधिकतर सामान्य मनोभूमि का होता है : उसको वे कल्पना (और फैंसी) से, इच्छित चिन्तन और शब्द-शिल्प से फैला लेते हैं। प्रसाद अपने बोध में छने हुए अर्थ को शब्द के जरिए और भी ज़्यादा छानकर गाढ़ा कर लेते हैं। पन्त में शब्द ही वस्तुएँ हैं; प्रसाद में शब्द केवल इंगित हैं···उन्हें शब्दों के रूपरंग में ज़्यादा दिलचस्पी नहीं। यदि पन्त की कविता में शब्द ठोस हैं अपेक्षाकृत, तो निराला में वे अधिक द्रवित हैं और प्रसाद में सीधे उद्वाष्पन। कोई आश्चर्य नहीं, यदि हम पाएँ कि लगभग एक-जैसी विषय-वस्तु को लेकर कविता करते हुए पन्त सबसे ज़्यादा शब्दों का प्रयोग करते हैं; निराला उनसे कम; और प्रसाद सबसे कम। पन्त में शब्द अलग-अलग पच्चीकारी के टुकड़ों से दीखते हैं; निराला में रिलेमिले बहते-से···। प्रसाद में वे अलोप-से हो जाते हैं···। एक-एक शब्द को आँखें फाड़-फाड़कर देखना होता है। पूरे 'पाद' को तीन-तीन, चार-चार बार पढ़ना होता है। तब जाकर उस शब्द की सही जगह का अन्दाज़ लगता है। शरीर से वह जहाँ रखा होता है, वहाँ वह होता ही नहीं, कहीं और··· कहीं और होता है।

ओ री मानस की गहराई
तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल
मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर सुन्दर अविरल
तू हँस जीवन की सुघराई
हँस ले भय, शोक, प्रेम या रण
हँस ले काला पट ओढ़ मरण
हँस ले जीवन के लघु-लघु क्षण
नाविक अतीत को उतराई

प्रसाद के यहाँ कुछ शब्द रूढ़ पदों की तरह बार-बार दुहराए जाते हैं मानो उनके बिना उनका काम ही न चलता हो। मज़े की बात यह है कि ये उतने और उस तरह खलते नहीं जैसे कि किसी दूसरे कवि में खलते। वस्तुतः ये 'रूढ़ पद' भी दूसरे कवियों द्वारा प्रयुक्त 'रूढ़ पदों' की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक और जानदार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद 'मधु' या 'माया' से जितना काम ले लेते हैं, उतना पन्तजी 'स्वर्ण' को उनसे कई गुना ज़्यादा पुकारकर भी नहीं ले पाते। विशेषण उनके यहाँ कम हैं : वे उन पर बहुत कम निर्भर करते हैं। उनका एक खास अपना लहज़ा है : खास अपनी 'लय' जो अपने नितान्त औचित्य के बल पर पर हमारे मन को पकड़ता है।

वे अनेक भावों की सजावट नहीं दिखाते; न किसी आवेग में बह जाते हैं। वे भाव को अर्जित करते हैं गहन चिन्तन-मन्थन द्वारा; और उसे फिर शब्दों द्वारा आकर्षित करते हैं। उनसे ज़्यादा अन्तर्मुख शायद ही कोई दूसरा कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। कविता उनके लिए आत्माभिव्यक्ति से ज्यादा अपने आत्मशोध-आत्मपरिष्कार को जाँचते-समझते रहने की प्रक्रिया है। वह प्रथमतः उनके अपने लिए है। उसमें बहुत आँच या उबाल नहीं है; —केवल निथरा हुआ तत्त्व है : संवेदनात्मक अनुभूति और ज्ञानात्मक चेतना दोनों के दीर्घकालिक संपीड़न से निचुड़ा हुआ सार-तत्त्व। उनका अनुभव-संवेदन जब तक शोधित-परिशोधित होते-होते एक स्थायी भाव का, विचार का गौरव प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक शायद उन्हें अभिव्यक्ति का कोई उत्साह ही अनुभव नहीं होता। और जब वे उसे अभिव्यक्त कर रहे होते हैं तब भी मानो वे अपने को ही सम्बोधित करते होते हैं; इसलिए कि उनके संवेदनशील मन और अर्थान्वेषिणी चेतना के बीच जो द्वंद्व रहा है, उसका पर्यवसान पूरी तरह उस कविता में हुआ है या नहीं, यह शंका उन्हें बेचैन किए रहती है। इसलिए वे विचार-संवेदन के उस संश्लिष्ट स्वरूप को अपनी बुद्धि और संकल्प की पूरी एकाग्रता के साथ अपने सामने मूर्त्त करना चाहते हैं।

नहीं; प्रसाद रहस्यवादी कवि नहीं हैं। वे प्रथम और अन्तिम रूप से बौद्धिक कवि हैं। अनुभूति की बौद्धिक प्रतीक व्यवस्था के, अनुभूति और बुद्धि के रासायनिक संश्लेष के कवि हैं।

अरे आ गई है भूली-सी, यह मधुऋतु दो दिन को
छोटी-सी कुटिया में रच दूं, नई व्यथा-साथिन को
मेरे किसलय का लघु भव यह
आह खलेगा किनको ?

प्रसाद की दुरूहता भाषा की नहीं, भाव की है। उस एक भाव तक (जो कि अनेक भावनाओं, संवेदनाघातों और विचारों का रसायन होता है) पहुँचने की प्रक्रिया उनकी कविता में उजागर नहीं होती। स्थूल अर्थ में जिसे आत्माभिव्यक्ति कहा जाता है, वह उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान, संवेदन और आवेग जब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के दौर से गुजरकर चिन्तन-मनन द्वारा अपनी चंचलता खोकर थिर हो जाते हैं···तभी वे लिखने बैठते हैं। निष्कर्ष वे नहीं देते; निरावेग ढंग से, किन्तु प्राण की समूची ललक के साथ, भावना के पूरे सौकुमार्य में शब्द को दे दिए जाते हैं—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।"

इस अपार धीरज और कवि-कर्म के साथ गहन अन्तरात्मिक सम्पृक्ति का ही परिणाम है कि ऐसी विलक्षण और दिमाग में घुमड़ती पंक्तियाँ रची जा सकीं :

"मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में"

'ले चल मुझे भुलावा देकर' पलायन की आकांक्षा से प्रेरित नहीं है। वह प्रसाद के कवि की स्वाभाविक और जायज माँग है। "जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया/ढीले अपनी कोमल काया, नील नयन से ढुलकाती हो/ताराओं की पाँत घनी रे/जिस गम्भीर मधुर छाया में/विश्व चित्रपट चल माया में/विभुता विभु-सी पड़े दिखाई/दुख-सुख वाली सत्य बनी रे/··· यह कोलाहल की अवनी से घबराने वाले दुर्बल-प्राण कवि का गीत नहीं है। प्रसाद दिन के कवि नहीं हैं : वे 'श्रम-विश्राम क्षितिज-बेला' के कवि हैं। इसलिए नहीं कि वे दिन का सामना नहीं कर सकते; बल्कि इसलिए कि उन्हें अपनी कविता वहीं पर मिलती है। कवि के रूप में उनकी खोज उसी 'गम्भीर मधुर छाया' की है जिसमें 'विश्व-चित्रपट चल माया' में 'दुख-सुख वाली विभुता', 'विभु'-सी दिखाई पड़े। एक-एक शब्द पर ध्यान दीजिए : कवि कितनी गहरी बात कह रहा है ! 'नील नयन से ढुलकाती हो, ताराओं की पाँत घनी रे'······यह किस मानवीय स्थिति का बिम्ब है ? साँझ अपने-आप में इष्ट नहीं है। वह कोई निरपेक्ष स्वप्न-लोक नहीं है। न वह प्रतिकृति है। वह जीवन की प्रगाढ़ अन्तर्मुख अनुभावना है जहाँ साक्षात्कार सम्भव हो सके। वहाँ प्रकाश होगा; पर ऐसा प्रकाश जिसमें वस्तुएँ नहीं, उनका आन्तर-सत्य झलक जाय······। जीवन की करुणा का जो अन्तरंग अनुभव कवि ने अर्जित किया है, उसी का सघन अन्तरावलोकन उसे अभीष्ट है।

सन्ध्या और रात्रि के चित्र ही प्रसाद में सबसे ज्यादा हैं। और हाँ 'उषा' के। इसी कविता की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए—

श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला से
अमर जागरण उषा-नयन से, बिखराती हो ज्योति घनी रे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…ताराओं की पाँति भी 'घनी' थी और यह ज्योति भी 'घनी' है। साँझ-सी जीवन छाया के नील-नयन से ढुलका हुआ जीवन का राशिभूत संवेदन ही चहुँओर परिव्याप्त अन्धकार की थाह लेता हुआ उसके भीतर, उसकी निविड़ सम्पृक्ति में से, पुनः सृजित होकर, अमर जागरण की ज्योति बनकर उषा नयन से (बाहर को) विकीर्ण होता है। यह 'घनी ज्योति' सृजन की (पूर्ण में से पूर्ण के सृजन की) है। इसी से वह 'अमर जागरण' है।

आपने देखा होगा कि 'उषा' के अंकन में जो औदात्य प्रसाद में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

•

प्रसाद जिस युग में कविता करने लगे, वह युग—प्रसाद जिस संस्कृति के कवि हैं—उस संस्कृति की सन्ध्या सरीखा है। हम पाते हैं कि हमारे जातीय-सांस्कृतिक इतिहास की सबसे प्रखर आत्म-चेतना प्रसाद में ही मिलती है। निश्चय ही प्रसाद ने अतीत का गौरव-गान किया है किन्तु वे उस तरह अतीतजीवी नहीं थे। अतीत इस कवि के लिए उस तरह अतीत है भी नहीं। नहीं तो अन्य कवियों की तरह वे भी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाते दिखाई देते। जबकि उनकी रचनाओं में अतीत इस तरह स्पन्दित और सृजित है मानो वह वर्तमान की ही बात हो। कुछ कवियों में अतीत से तादात्म्य की—अतीत के माध्यम से आत्म-स्थितियों के साक्षात्कार की—क्षमता स्वाभाविक और जन्मजात होती है। प्रसाद ऐसे ही कवि हैं।

वे पलायन के कवि नहीं हैं। देखने की बात है कि उनका नाविक भी उन्हें भुलावा देकर आखिर ले किस ओर को जाता है?…वहीं न, जहाँ "अमर जागरण उषा नयन से बिखराती हो ज्योति घनी रे"? क्या यहाँ भी भ्रम की गुंजाइश है?

और यह नाविक कौन है?…स्वयं काल? स्वयं कवि का इतिहास-बोध भी—शायद! ऊपर प्रसादजी की एक बहुत निजी छाप वाली कविता उद्धृत की गई थी: "ओ री मानस की गहराई…। नाविक अतीत को उतराई।…" अब यहाँ पर उसे थोड़ा ग़ौर से देख लिया जा सकता है।

व्यक्तिगत कवि-मानस की गहराई को अतीत रूपी नाविक ही जान सकता है। वर्तमान को—कितने ही लघु क्षणों की नौकाओं को वह खेता है। प्रतिदान इतना ही कि हम उन्हें—एक-एक क्षण के 'गुण' को—पूरे मन से जी सकें। कोई भी अनुभूति हमारी संवेदना के समूचे प्रसार में से तभी उत्तीर्ण हो सकती है जब हम नाविक अतीत को उसकी उतराई दे सकें, क्योंकि वही हमें उतारता है। क्योंकि वह नाविक हमसे—हमारे व्यक्तिगत मन से—बड़ा है; क्योंकि वह पूरी जाति के अनुभवों का राशिभूत व्यक्तित्व है। एक गहरे अर्थ में वह हमारा 'इतिहास-बोध' है। हमारे व्यक्ति-मानस की गहराई को वह जानता है, जिसमें से कि सारी जीवनानुभूतियाँ उत्तीर्ण होना चाहती हैं। यह 'गहराई' भी स्वयं क्या है, किसकी है?…"तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल…।" यह तरलता कोई भावुक, रूमानी तरलता नहीं है…

"इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में।"

यह 'नील विषाद गगन' ही वह 'नील नयन' है जो 'ताराओं की पाँति' ढुलकाता है।

अतीत हमारे व्यक्तिगत जीवन का भी होता है जो पल-पल हमारे वर्तमान को प्रभावित करता है और उससे प्रतिकृत भी होता है। यह अतीत तो स्वयं-सिद्ध स्वयं-स्फूर्त सत्ता है जो हमारे सहयोग के बिना भी अपना काम जारी रखता है। हाँ, खुली संवेदना होनी चाहिए वर्तमान 'क्षण' की अनुभूति के प्रति; तभी अतीत भी उसे हमारी सम्पूर्णता में रचा सकता है; हमारे 'ज्ञान' का अंग बना सकता है। प्रसाद की कविता का 'नाविक' महज़ प्रसाद के कवि का व्यक्तिगत अतीत ही नहीं है; वह एक प्रकार से समूची जाति का अतीत है; संस्कृति है; सामूहिक अवचेतना भी आप चाहें तो उसे कह सकते हैं। वही हमारे क्षणिक अस्तित्व को सनातन काल में से उत्तीर्ण करता है।

व्यक्तिगत विषाद का मोक्ष विश्व-वेदना की प्रगाढ़ अनुभूति (करुणा) में; और उस अनुभूति को अपनी सांस्कृतिक चेतना एवं इतिहास-बोध के द्वारा सर्जनात्मक सार्थकता एवं संतुलन देने की प्रेरणा…यह है कवि के रूप में प्रसाद की आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा भी, आप चाहें तो कह लें उसे।

हो सकता है प्रसाद की कविता अपने उद्‌गम में, मूल प्रेरणाओं में अत्यन्त व्यक्तिगत हो जैसी कि किसी भी कवि की कविता हो सकती है, होती ही है। हो सकता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत वैकल्य और विषाद के कटु अनुभवों ने भी उन्हें कवि बनाया हो; किन्तु उनकी कविता में ये प्रेरक मूल 'हृत्कंपन' की तरह अन्तर्धान हो जाते हैं, जो कि चुपचाप रच-पच गए हैं; ···विचारों, भाव-तरंगों में ढलकर अपने-आपको भूल गए हैं। ऐसा लगता है जैसे प्रसाद अपनी अनुभूतियों को सीधे 'बुद्धि' और 'आत्मा' में परिणत करने के लिए ही कविता करते हैं; उन्हें अपना शरीर नहीं बनाने देते। शरीर में तो हृत्कंपन तब भी अधिक स्थूलता के साथ रचता है: मन और मस्तिष्क तक पहुँचते-पहुँचते तो उसकी गति बहुत ही सूक्ष्म-विरल हो जाती होगी। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि प्रसाद में किसी भी अन्य कवि, मसलन निराला की ही, अपेक्षा संवेदन-क्षमता कम थी। एकमात्र और महत्त्व-पूर्ण अन्तर यह है कि प्रसाद की कविता में वह संवेदन अधिक लम्बा पथ पार करके, अधिक जटिल स्तरों से छनकर संक्रमित होता है और इसीलिए स्वभावतः उस तक पहुँचने के लिए हमें शायद परिश्रम भी ज्यादा करना पड़ता है। कवि के लिए जो स्वाभाविक है, वही हमारे लिए श्रमसाध्य और दीक्षागम्य भी हो जा सकता है।

प्रसाद को रागात्मक ऐश्वर्य का कवि कहने के बजाय विराम के ऐश्वर्य का कवि कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। रागात्मक ऐश्वर्य की बात ही की जाय, तो वह उनके कथा-साहित्य में अधिक है। कविता में वे अधिक निर्लिप्त, अधिक सारमय हैं। ऊपर कहा गया कि व्यक्तिगत अनुभव-क्षण की तात्कालिक त्वरा और तीव्रता उस तरह उनकी कविता में नहीं मिलती। यह भी कहा गया कि उनमें अनुभूति अपना शरीर न रचकर सीधे-साधे अपना मस्तिष्क अपनी 'आत्मा' रखती जान पड़ती है। इसका आशय यह, कि उनकी कविताओं में मांसलता नहीं है। इस बात को सही-सही समझने की ज़रूरत है। यदि उनकी जीवन-चेतना पंतजी की तरह स्वप्निल और वायवीय होती तो कहानी-उपन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती; न उनमें इतना रूप-रंग, चरित्र और मानवीय वैविध्य सृजित होता। हमें स्मरण रखना होगा कि हिन्दी कहानी में यथार्थवाद की नींव उन्होंने ही डाली थी। ठेठ यथार्थवादी कहानियों की तो बात ही क्या, 'ममता' और 'आकाशदीप' जैसी भावोच्छ्वसित कहानियों का भी थोड़ा-सा विश्लेषण यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी होगा कि उनकी भी बुनियाद ठोस मनोवैज्ञानिक यथार्थ पर रखी गई है। इसीलिए भाषा की एक अभिजात दूरी के बावजूद, रुचि-सम्बन्धी सारी कठिनाइयों के रहते भी उनका प्रभाव हम पर पड़ता है और हमारा मन एकाएक यह मानने को तैयार नहीं होता कि ये रचनाएँ नश्वर भी सिद्ध हो सकती हैं। नहीं, हम यही सोचने को विवश होते हैं कि यदि प्रसाद की कविता में वाञ्छित मांसलता भी नहीं है, तो इसका कारण उनकी अक्षमता ही नहीं है। यह भी तो हो सकता है कि वे कविता में अधिक सूक्ष्म उपकरणों से काम करना चाहते हैं याकि कविता की उनकी धारणा ही यह है कि वह एक अत्यधिक सूक्ष्म उपकरण है अनुभूति के यथार्थ को पचाने और आत्मसात् करने के लिए। इस प्रकार यहाँ उनका उद्देश्य और आग्रह ही भिन्न हो जाता है। निराला और प्रसाद की कुछ पंक्तियाँ आमने-सामने रखकर देखिए:

"कहाँ
मेरा अधिवास कहाँ?
क्या कहा? रुकती है गति जहाँ?
भला इस गति का शेष
संभव है क्या?
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश?"

यह हैं निराला। अब ज़रा प्रसादजी पर कान लगाइए:

"निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता"

निश्चय ही निराला अधिक आत्मीय लगते हैं; क्योंकि उनका 'टोन' अधिक नज़दीकी का, सहज-संलापी और मुक्त-मुखर-वैयक्तिक है। तुलना में प्रसाद का स्वर वैसा घनिष्ठ और 'वैयक्तिक' नहीं प्रतीत होता; एक पर्दा-सा उनके और हमारे बीच रहता है। उनका टोन, उनका लहजा अधिक निर्वैयक्तिक लगता है। फिर भी, कौन कह सकता है कि प्रसाद कम मार्मिक हैं? निरालाजी का कथ्य उनकी पंक्तियों में प्रवाहित होता चलता है: उसमें गति है और उसे इसी रूप में हम देखते-अनुभव करते हैं। प्रसादजी में गति 'विधि' बन गई है। उनका कथ्य गति से आगे बढ़कर विधि में समाहित होता हुआ कविता में उतरा है।

एक बात और···। प्रसादजी गहरे अर्थों में संस्कृति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि हैं। उनके शब्दों का संसार पावनता, सरलता और गरिमा के एक अद्‌भुत रासायनिक यौगिक से रचा हुआ जान पड़ता है। व्यक्तिगत वैफल्य और निराशा की तीव्र संवेदनाएँ उनके काव्य में अभिव्यक्त नहीं दीखतीं। "स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है" जैसी तीव्र-बेधक आत्माभिव्यक्तियाँ उनके यहाँ दुर्लभ हैं। फिर क्या कारण है कि उनकी कविता का अनुभव एक गहरे औदास्य का अनुभव भी होता है ?

"प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्यशिथिल बिछली पड़ती है, वहन कर रहा उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता ?
वंचित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम ?"

यह 'अतीत की विकल कल्पना' ही मानो कवि की कविता का प्रमुख उत्स है: अतीत का संमोह नहीं; 'अतीत की विकल कल्पना'!' जो कि एकसाथ नितान्त आत्मीय-वैयक्तिक भी है और सामूहिक-सांस्कृतिक भी। एक ओर 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में :

"आह इस खेवा की!
कौन थामता है पतवार इस अन्धड़ में
अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा
उमड़ रहा है ज्योति-रेखाहीन क्षुब्ध हो
खींच ले चला है काल-धीवर अनन्त में
साँस सफरी-सी अटकी है किसी आशा में"

और दूसरी ओर,

सागर-लहरों-सा आलिंगन निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल-वैभव है सीमाविहीन, वह रहा एक कन को निहार
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार
दल विरज डालियाँ भरी मुकुल, झुकतीं सौरभ-रस लिए अतुल
अपने विषाद-विष से मूर्च्छित, काँटों से बिंधकर बार-बार
धीरे से वह उठता पुकार।
पागल रे वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन से गिन-गिनकर, यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अपने 'विषाद-विष से मूर्च्छित' मन को कवि ने किस प्रकार जगाया है, यह देखिए; और तुलना कीजिए पहली कविता से "तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल, सुखलहर उठा री सरल-सरल, तू हँस जीवन की सुघराई···।" यह है इस कवि के आत्म-परिष्कार, आत्म-विकास की अनिवार्य दिशा और सूचना।

●

अन्य छायावादी कवियों के बीच प्रसाद की स्थिति को समझने के लिए कुछ मसाला शायद ऊपर के विवेचन में इकट्ठा हो गया होगा। तथापि उस अन्तर और वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए शायद इतना काफ़ी नहीं है। बहरहाल प्रसाद की 'लहर' शीर्षक कविता को पढ़ने के दौरान मेरे दिमाग़ में दो कविताएँ आई थीं: एक तो पंतजी का 'हिलोरों का गीत' और दूसरा निराला का 'तरंगों के प्रति'। तीनों कविताओं को साथ-साथ रखकर पढ़ने से मुझे लगा कि इस तुलना से हम कुछ और निकटता हासिल कर सकते हैं। तीनों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर शायद अप्रासंगिक न लगे। ज़रूरी होगा कि इस विश्लेषण से गुज़रते हुए कविताएँ सामने हों। समूची उद्धृत करना तो संभव नहीं है: इतने सहयोग की अपेक्षा पाठक से की ही जानी चाहिए।

पंतजी की कविता में सौन्दर्य-संवेदन और अर्थ (कथ्य) की स्थिति एकाकार नहीं है। दूसरे शब्दों में हिलोरों का संवेदन कवि की अन्य जीवनानुभूतियों से—व्यापक जीवन की उसकी पहचान और संवेदना से—जुड़कर एकाकार नहीं होता। मुख्य प्रेरणा वहाँ एक दृश्य-सौन्दर्य से मुग्ध होने और उस मुग्ध भाव को शब्दबद्ध करने की है। वह सौन्दर्य आँखों से उतरकर हमारे अन्तर्जीवन को नहीं पकड़ता। "अपने ही सुख से चिरचंचल, हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल···।" एक दृश्य-संवेदन दूसरे समानान्तर दृश्य-संवेदन को उकसाता है और बिम्ब उत्पन्न करता है। 'खिल-खिल' में खिलखिलाहट भी है और फूलों की खिलावट भी। आगे दूसरी पंक्ति में इसको और स्पष्ट फैला दिया गया है "जीवन की लतिका में लहलह, विकसा इच्छा के नव-नव दल"। इसके तुरन्त बाद 'रास' का बिम्ब कवि की सूझ में आता है। "सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि/गृह-पुलिन नांघ, सुख से विह्वल/हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल/खस-खस पड़ता उर से अंचल"/··· एक-एक ब्यौरा इकट्ठा करके चित्र को पूरा कर दिया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि कवि को दृश्य-चित्रण ही अभीष्ट है : उसका स्वयं का व्यक्तित्व उस दृश्य-संवेदन से सम्पृक्त नहीं होता भीतर तक; वह अलग, असम्पृक्त एक दृष्टि-बिम्ब को रचने-सजाने, उसे पूरा उभारने में संलग्न है। उसकी अनुभूति प्रथम और अन्तिम रूप से सौन्दर्य (छवि) की ही अनुभूति है; अर्थानुभूति या मार्मिक जीवनानुभूति नहीं। 'लहर' का जीवन उसके जीवन से अलगाया हुआ है; लहर का जीवन भी उसकी आँख और 'चितेरे हृदय' में है; मस्तिष्क में नहीं।

किन्तु अन्त की चार पंक्तियाँ बताती हैं कि यह सौन्दर्यानुभूति वैसी शुद्ध और निरपेक्ष नहीं है। यहाँ कवि अर्थ को निकाल रहा है। इस तरह कि मूल सौन्दर्यानुभूति पर यह प्रक्षेप जैसा लगता है। एक दार्शनिक पश्चाद्बुद्धि से प्रेरित जान पड़ती हैं ये पंक्तियाँ :

"चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर,
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर,
फिर-फिर उसमें हो हो ओझल"

'लहलह' और 'खिलखिल' में जिस प्रकार कवि की अनुभूति का स्पन्दन है उस प्रकार इस 'चिर जन्म-मरण' में नहीं। वहाँ कविता है; यहाँ कविता से ज्यादा काव्यरूढ़ि।

कुल मिलाकर यह एक स्थिर चित्र है। हम अलग-अलग शब्दों के संवेदन से आकर्षित होते हैं। रास का चित्र भी उस तरह गतिमय-सजीव नहीं हो पाता : एक तो छन्द की लय ही उतनी स्वतन्त्र और लचीली नहीं; दूसरे, कवि ने रास के बिम्ब की उद्भावना एक सादृश्य के रूप में हिलोरों के चित्र-संवेदन को पुष्ट करने के लिए की है; वह भावना उतनी नहीं जितनी उद्भावना है; आवेग उतना नहीं जितना कि रूप-संवेदना।

अब निराला की 'तरंगों' का अनुभव लीजिए और दोनों कवियों का अन्तर देखिए—

यहाँ रास का संकेत देने वाला कोई शब्द नहीं है—सिवा 'मण्डलाकार' के, जोकि अनायास ही तरंगों का सहज विशेषण बनकर आ गया है—फिर भी चित्र में उसका पूरा सजीव स्पन्दन अनुभव होता है। पंत में 'मरुत-मुरली की धुन' भी है; लहरों के 'गृह-पुलिन नांघने' का ज़िक्र भी है : रूपक को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु निराला की पंक्तियों में शिल्प का वैसा सचेतन उद्योग नहीं है। एक तीव्र भावना, एक रसावेश है जो तरंगों से उत्पन्न होकर तरंगों से ही तदात्म हो जाता है, और उन्हें भी अपने भीतर खींच ले जाता है। "किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर, आती हो तुम सजी मण्डलाकार"···यह दृश्य-संवेदन अनुभूति के एक ही क्षण में पूरे बिम्ब को प्रत्यक्ष सजीव कर देता है। किसी सादृश्य-विचार का अंतराल महसूस ही नहीं होता।

यह एक पूरी चित्रानुभूति है। दूसरे पैराग्राफ़ में यह संवेदन अपनी ही लयगति से दूसरे संवेदनों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। पहला चित्र अपने-आप में पूर्ण है, उसमें अभी कवि की आत्म-स्थिति का उलझाव-जुड़ाव नहीं है : वह एक निरपेक्ष सौन्दर्य का निरपेक्ष-सम्पूर्ण संवेदन है। दूसरे पैराग्राफ़ में यह संवेदन और अधिक आन्तरिक बनकर कवि के अन्तर्जीवन में और गहरे उतरता है; दूसरे शब्दों में सौन्दर्यानुभूति और अधिक 'जीवन' समेटती है अपने प्रवाह में; और यह 'जीवन' तरंगों के अपने 'जीवन' से अभिन्न है; उस पर आरोप नहीं है, न उसकी सजावट। तरंगों का जीवन और मनुष्य का जीवन दोनों एक-दूसरे में प्रवाहित होने लगते हैं :

"गन्ध-मन्द-गति कभी पवन का मौन भंग उच्छ्वास
छाया-शीतल तट के तल आ तकतीं कभी उदास
क्यों तुम भाव बदलती हो
हँसती हो, कर मलती हो।"

यहाँ लहरें 'कवि' हैं और कवि 'लहरें'···। किन्तु इसके फ़ौरन बाद 'लहरें' फिर लहरें हो जाती हैं और दूसरा पैराग्राफ़ पहले की लय को फिर समेट ले जाता है (चंचल चरण बढ़ाती हो, किससे मिलने जाती हो ?)

पहले की टेक दुहराकर मूल संवेदन की एकता को व्यंजित करते हुए कवि बड़े बारीक़ प्रच्छन्न कौशल के साथ दूसरे पैराग्राफ़ का नया संवेदन भी उसमें मिला देता है।

तीसरे पैराग्राफ़ के शुरू होते-न-होते तरंगों के साथ कवि के संघर्षशील व्यक्तित्व का अधिक घनिष्ठ उलझाव प्रकट हो जाता है।

"बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी
दग्ध चिता के कितने हाहाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी
अबलाओं की कितनी करुण पुकार!"

विशेषता यह, कि तरंगें जिस प्रकार आवेग के एक धक्के को समेटकर, दूसरे धक्के से प्रभावित होती हुई···अपने को लगातार विस्तृत करती चलती हैं—सहज नम्यता और समीकरणशीलता के साथ; उसी प्रकार कवि की भाव-तरंगें भी उसी लय-गति के साथ अपने आवेगों को क्रमशः समेटती हुई अग्रसर हो रही हैं। जो सन्तुलित गत्वरता तरंगों में है, वही कवि के आवेगों में और वही उसके लय-तुक और शब्द-विन्यासों में।

इन पंक्तियों में कवि एक साथ व्यक्ति और व्याप्ति होकर बोल उठा है। यहाँ कवि का व्यक्तिगत जीवन और व्यापक मानवीय जीवन दोनों एक सुपरिचित बिम्ब-दृश्य की अनुभूति से एकाकार हो गए हैं। तरंगों का अनुभव अपने ही अन्दरूनी दबाव से जीवन और मृत्यु के अनुभव में अर्थान्तरित हो गया है : बिना किसी अतिरिक्त विचारणा (आइडिएशन) के आरोप के। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति की लय-गतियाँ पृथक्-पृथक् न रहकर कवि की वैयक्तिक संवेदना के संपीड़न में एक हो जाती हैं। रूपक का आश्रय लेकर कहूँ तो यहाँ कवि की संवेदना वह पैण्डुलम है जो सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति के दो छोरों को पल-पल एक-दूसरे की ओर आकर्षित करती रहती है—करते रहने को विवश है। कवि के रूप में वह अपने व्यक्तिगत जीवन की लय को प्रकृति की लय में और दूसरी ओर व्यापक मनुष्य की लय में ढूँढता-खोजता-मिलाता चला जाता है। इस प्रकार एक ही कविता में तरंगों का अपना जीवन भी पूरी छविमयता में अभिव्यक्त हुआ है और कवि का अन्तर्जीवन तथा व्यापक जीवन का सत्य भी। पन्त की कविता में "चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर, हम आलिंगन करतीं पल-पल···" यह आवेग-सृजित विचार नहीं है; इसमें चित्र और विचार एकीभूत नहीं; वे मिलाये गए हैं। जबकि इसके विपरीत "बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी दग्ध चिता के कितने हाहाकार···" में एक वास्तविक बिम्ब का अनुभव कवि की भोगी गई व्यक्तिगत अनुभूति और देखे हुए समष्टिगत हाहाकार का मर्म खींचे लेता है। इसीलिए उसके प्रति हमारी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी सीधी और गहरी होती है।

अब इन कविताओं के साथ प्रसाद की 'लहर' को रखकर देखें :

"उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परछाईं-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर···"

इन पंक्तियों को पढ़िए और देखिए, क्या दीखता है? क्या जो आप देख रहे हैं, वह 'लहर' है? आप देख रहे हैं या सोच रहे हैं? शायद आप एक-एक शब्द पर अटकते हुए सोच रहे हैं। नहीं, ऐसे कुछ हाथ नहीं आएगा। पहले पूरी कविता पढ़ जाइए। तब नहीं जाकर आपको ये शब्द दीखेंगे, पकड़ में आएँगे। जोकि अभी हाथ में आ-आकर भी फिसले जा रहे हैं।

लीजिए, अब आपने समूची कविता पढ़ डाली और अब फिर से पढ़ रहे हैं। आप इस 'लहर' को पकड़ना चाहते हैं··· अनेक अमूर्त चित्रों से घिर-घिर जाते हैं। आपने पन्त में 'मलय-मारुत' की वंशी सुनी थी; यहाँ आप 'मलयानिल की परछाईं' को पकड़ने दौड़ रहे हैं। यह मलयानिल आपको छायावाद में बीसियों बार मिला है। प्रथम आवृत्ति में आपका ध्यान इस ओर गया भी नहीं होगा। काव्य-रूढ़ि में काव्य कहाँ?···आपने सोचा होगा; और प्रसाद की रूढ़िग्रस्तता से आप संकुचित भी हुए होंगे। फिर आप यहाँ अटके क्यों हैं? क्या कोई सूक्ष्म तत्त्व झलक मार रहा है?

स्पष्ट ही, यह 'मलयानिल' भिन्न है। वह रूढ़ार्थ पीछे छूट गया है। एक तो मलयानिल वैसे ही अमूर्त···, फिर उसकी भी परछाईं···यह लहर! 'परछाईं' से कितना कुछ व्यंजित होता है! आपको 'अभिनयमय परिवर्तन' की याद आती है और इसी कविता के आगे की पंक्ति—'यह खेल खेल ले ठहर-ठहर'। यह परछाईं 'करुणा की नव अँगराई' और 'सूखे तट' से जुड़कर क्या देती है? ऊपर कहा गया कि प्रसाद में हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। इसलिए नहीं कि वे प्रतीक रचना चाहते हैं बल्कि इसलिए कि प्रतीक उन्हें घेर-घेर लेते हैं। वे सीधे भावावेश में या सौन्दर्य-संवेदन में से कविता रचने नहीं बैठते—बल्कि वे अपनी संवेदना का मनन-मंथन करते हैं—अपने तमाम जीवनानुभव और ज्ञानात्मक चेतना के आलोक में; यहाँ तक कि वस्तु का मूल संवेदन एक बोध-संवेदन में रूपान्तरित होने लगता है और इस अवस्था में वे लिखने बैठते हैं। मानो वे किसी एक कविता द्वारा किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक वस्तु को, किसी एक भावस्थिति को अभिव्यक्त नहीं करना चाहते बल्कि प्रत्येक कविता द्वारा अपने सम्पूर्ण बोध को, अपनी सम्पूर्ण आत्मवत्ता को पकड़ना चाहते हों। इस प्रकार उनकी प्रत्येक कविता उसी एक 'बड़े जीवन' की छोटी कथा बन आती है।

और यह कथा कभी बासी नहीं पड़ती। शब्द दुहराए जाते हैं मगर उनके अर्थ और प्रयोजन नहीं। प्रत्येक बार वे नये ढंग से हमारे साथ पेश आते हैं। समझने-बूझने की नई चुनौतियाँ लेकर। मैंने कहा कि प्रसाद बौद्धिक कवि हैं। रहस्यवादी वे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। बौद्धिक कवि से अभिप्राय बुद्धि का कवि नहीं, बल्कि बौद्धिक संवेदना का कवि है। प्रसाद गहन संवेदना के कवि हैं और संवेदन भी कैसा ?····"संवेदन जीवन-जगती को, जो कटुता से देता घोंट" (मनु का मन था विकल हो रहा, खाकर संवेदन की चोट) किन्तु वे इस 'संवेदन' को उसकी तात्कालिक विह्वलताओं से नहीं गढ़ते। वे उसे अपनी बुद्धि—अपनी प्रचण्ड बौद्धिकता—में से छानकर थिराने देते हैं। प्रसाद की यह बौद्धिकता उनकी नितान्त अपनी बौद्धिकता है जिसे उन्होंने साधना द्वारा अपना 'पितृऋण' चुकाकर—परम्परा को अस्थि-मज्जा तक पचाकर अर्जित किया है। यह पचाने की प्रक्रिया इतनी दीर्घ और अनवरत रही है—इसमें उनकी इतनी जिजीविषा खपी है कि परम्परा का जीवन उनके भीतर उनकी व्यक्तिगत जीवनी के समान ही रच गया है। और दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध स्थापित होता चला गया है। उनकी व्यक्तिगत अनुभूति—व्यक्तिगत संवेदन—इस सांस्कृतिक जीवन की ज्ञानात्मक चेतना से टकराकर परावर्तित और प्रतिच्छायित होता है। इसीलिए, यदि उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाए तो अचरज की बात नहीं। वह स्वाभाविक है। जो व्यक्तिगत है, निजी है, वह इस संस्कारी बोध से छनकर उससे संघर्षित और अनुकूलित होकर ही बाहर को आता है। इतना अवश्य कहा जाएगा और यह प्रसाद की आलोचना का एक बुनियादी नुक्ता हो सकता है कि इस प्रक्रिया में अनुकूलन जितना है, संघर्षण उतना नहीं। यह प्रसाद की सीमा—शायद हमारी पीढ़ी के दृष्टिकोण से वहुत बड़ी सीमा—है।

ऊपर उद्धृत अनेक परस्पर सम्बद्ध कविताओं के भीतर से गुज़रते हुए हम पहली कविता पर लौटें तो हम उसे अधिक पाते हैं। 'अशोक की चिन्ता' में हम पढ़ते हैं :

"आँसू कन-कन ले छल-छल, सरिता-भर रही दृगंचल
सब अपने में हैं चंचल, छूटे जाते सूने पल"

'करुणा की नव अँगराई' एक मानवीय चित्र और एक प्रज्ञात्मक अनुभूति का यौगिक है। 'आँसू कन-कन ले छल-छल' यहाँ अधिक संवेदनमय, अधिक संश्लिष्ट ज्ञानात्मक अर्थ पा जाता है; इसीलिए अधिक मार्मिक भी। 'करुणा' और 'अँगराई'—दो दूरवर्ती शब्दों की अर्थात्माओं को पास खींचकर कवि ने कैसी व्यंजना उत्पन्न कर दी है! 'करुणा की नव अँगराई-सी'···जीवनानुभूति यहाँ विशिष्ट होकर भी सामान्यता से बहिष्कृत नहीं है। 'अँगराई' में जागरण, यौवन, सौन्दर्य और सुषमा की व्यंजनाएँ बोलती हैं और 'करुणा' में एक सांस्कृतिक बोध का अर्जित संवेदन। दोनों को एक कर दिया गया है। 'मलयानिल की परछाईं' की तरह। परछाईं भ्रम होते हुए भी सत्य (गोचर-संवेद्य) है। मलयानिल अदृश्य-अमूर्त होते हुए भी लहर का स्रष्टा और कारणभूत है। मूर्त और अमूर्त का सन्धि-स्थल है मनुष्य की 'चेतना' जो दो दुनियाओं में एक साथ विचरने को विवश है। उसकी प्रत्येक अनुभूति उसके अस्तित्व के इस मूलगत द्वैत में निहित है। और कवि की हैसियत से उसकी एक लड़ाई अपनी इस 'अस्तित्वपरक स्थिति' (एक्जिस्टेंशियल कंडीशन) से भी है। उसे 'जीवन की सुघराई' भी चाहिए और 'सत्य की सुघराई' भी······। फ़िलहाल इस कविता की आगे की पंक्तियाँ देखिए :

"उठ-उठ, गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पदचिह्न बना जाती
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल-सिहर"

'तरल-सिहर' की व्यंजना पर ध्यान दीजिए और इन पंक्तियों के मर्म-वैशिष्ट्य को पकड़ने के लिए एक दूसरी कविता पढ़िए। वही इसकी व्याख्या और पर्याप्त टिप्पणी भी होगी शायद।

"कितने दिन जीवन जलनिधि में,
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी कूल चूमने चलकर,
उठती-गिरती-सी रुक-रुककर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में !"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी मधु-संगीत निनादित,
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गाएगी वंचित,
पागल-सी इस पथ-निरवधि में
दिनकर, हिमकर, तारा के दल,
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनावेंगे निज चंचल,
आशा की माधुरी अवधि में

प्रसाद की लहर "अस्थिर आशा का अभिनय" नहीं है। वह 'आशा की माधुरी अवधि' है; 'करुणा की नव अँगराई' है। चूँकि जिनके लिए उसने "सब अपने में हैं चंचल" कहा है, वह स्वयं उनमें न होकर उनका साक्षी, उनका कवि है, अतः इसीलिए वह अकेला भी है ("छूटे जाते सूने पल"···)। इन सूने पलों को सार्थकता कौन देगा ? इसके लिए वह उसी 'करुणा' का आह्वान करता है।

"तू भूल न री पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर"

यह करुणा महज़ भक्ति के रसावेश में से प्राप्त किया गया आश्वासन नहीं है। 'कन-कन अनन्त अम्बुधि' बनते देखकर वह कहता है, "कब रुकती लीला निष्ठुर"; और मनुष्य के अश्रुओं को समेटने वाले सूर्योदय में वह 'रोष भरी लाली' देखता है। नर की करुणा से ही वह संवेदित है। वह स्वयं को 'तरल गान' गाते हुए भी 'वंचित' ही महसूस करता है। विकल अनिल (ज़रा 'मलय-अनिल' से इसकी संगति मिलाइए) से प्रेरित जीवन जलनिधि की लहरें उस निरवधि, उपलब्धि-शून्य पथ की यात्रिक सरीखी ही जान पड़ती हैं। फिर वह किस करुणा का आह्वान कर रहा है ? निश्चय ही वह रूढ़ आस्तिक विश्वास की करुणा नहीं है। प्रसाद उस तरह के आस्तिक नहीं हैं। तब ? क्या यह बौद्ध करुणा ('महाकरुणा') है ? उत्तर इतना आसान नहीं है। संभवतः इसका सम्बन्ध उस 'प्रज्ञा' से है, जिसका अनुभव पाने के लिए प्रसाद ने आजीवन साधना की और जिस साधना में उन्होंने अपने व्यक्तित्व से भरसक लगातार पलायन किया। पलायन ! लेकिन जीवन से नहीं; अपनी व्यक्तिता से। यदि 'व्यक्तित्व से पलायन' में आपको एलियटी छूत प्रतीत होती हो तो आप 'व्यक्तित्व का होम' कह सकते हैं। उसमें छूत भी न होगी और भारतीयता भी ज्यादा रहेगी।

ऊपर 'लहर' के विश्लेषण के दौरान प्रसाद के कवि की एक मूलभूत पर्युत्सुकता का संकेत उभरा है। मानवीय चेतना में निहित अस्तित्व के द्वैत की समस्या, जो प्रसाद में बार-बार उभरती है। हम पाते हैं कि प्रसाद की कवि-चेतना वैराग्य-विषाद और अनुराग-आह्लाद की एक अजीब रंग-स्थली-सी है। उनका वैराग्य अधिक मूलभूत है (हालांकि इतनी विलासी, ऐश्वर्यमयी कल्पना छायावादी कवियों में किसी को प्राप्त नहीं) : नील (विषाद) गगन की भाँति, जिसमें अनुराग के रंग खिलते और विलीन हो जाते हैं। प्रसाद का विराग व्यक्तिगत अनुभूति और सांस्कृतिक अनुभव का अविच्छेद्य यौगिक है। यही उनके अनुराग-क्षणों को—विलास-वृत्ति को भी—सौन्दर्य, अर्थ और एक पवित्र प्रभा-मयी गरिमा दे देता है। (उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की कितनी है मोहमयी माया···)

मनुष्य की अस्तित्वपरक परिस्थिति में निहित द्वैत की करुणा प्रसाद की कवि-संवेदना में एक स्थायीभाव की तरह बद्धमूल है।

वेदना-विकल यह चेतन
जड़ का पीड़ा से नर्तन
लय-सीमा में यह कम्पन
अभिनयमय है परिवर्तन
चल रहा कभी से यह कुढंग

इन पंक्तियों की संश्लिष्ट व्यंजना को देखिए। यह पश्चिमीय या फ्रायडीय दुःखवाद नहीं है। उमरखैयामी बिम्ब-योजना तक प्रसाद के यहाँ नई अर्थच्छवियाँ उभारती है।

इन पंक्तियों में 'बिम्ब' है। किन्तु कवि की दृष्टि सर्वथा आशय के सारपूर्ण अंकन की है। एक-एक शब्द सटीक-सारगर्भित है। 'लय-सीमा में यह कम्पन' पढ़ते ही हमें 'आँसू' की "चेतना-लहर न उठेगी; जीवन-समुद्र थिर होगा" का स्मरण हो आता है। देखने की बात है कि किस प्रकार प्रसाद अपनी अनुभूति को बौद्धिक सारतत्त्व में—कहूँ कि 'बौद्धिक बिम्ब' में ढालने के अभ्यस्त हैं। दर-असल वे अनुभूति की बजाय अनुभूति का आसव पेश करते हैं। चौथी पंक्ति की गढ़न देखिए···"अभिनयमय है परिवर्तन"। वे चाहते तो मायामय भी कह सकते थे। फिर उन्होंने 'अभिनयमय' क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा? अभिनयमय में जो व्यंजनाएँ हैं (एक साथ खीझ, नैराश्य, वंचना, विनोद और लीला की) वे भायामय में कहाँ?

"आलोक किरन है आती, रेशमी डोर खिंच जाती
दृग-पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती"
कलरव कर सो जाते विहंग

कितनी नश्वरताओं का अनश्वर बिम्ब है! ···आयु की, संकल्प की, प्रेरणा की, दृष्टि की।···

इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में
उलझा है चंचल मन-कुरंग

यह है विशुद्ध वैराग्य का काव्य! विशुद्ध और सारमय। प्रसाद में कोई भी शब्द महज़ अलंकरण नहीं होता। प्रत्येक शब्द उनके अन्तर्जीवन (और बुद्धिजीवन) में गोता लगाकर बाहर आता है। यह ऐसा दावा है जो छायावाद के किसी अन्य कवि के बारे में नहीं किया जा सकता।

●

अपने सहवर्त्तियों के बीच प्रसाद की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए—पन्त और निराला के साथ उनकी तुलना के आधार जुटाने के लिए तीनों की लगभग एक ही विषय से प्रेरित एक-एक कविता को नजदीक से विश्लेषित करने के बाद अब कुछ सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है।

प्रसाद का अपना स्वर, अपनी टोन है जिसके द्वारा वे अपनी एक-दो पंक्तियों के द्वारा ही पहचान में आ जाते हैं। उनकी प्रारंभिक कविताओं की भाषा और शिल्प में पंत और निराला जैसा विस्फोटक नयापन नहीं है। किन्तु जहाँ इन दोनों कवियों की कविता में उनकी अपनी व्यक्तिगत आवाज़ काफ़ी देर बाद सुनाई देती है, वहाँ प्रसाद का कवि अपेक्षाकृत जल्द ही वयस्क होकर अपनी आवाज़ में अपनी बात कहने का आत्मविश्वास प्राप्त करने लगता है। इसके बावजूद वह कम रोचक और श्रुतिमधुर है क्योंकि उसकी समस्या पद्य में सच बोलने की एक पुष्ट और समर्थ शैली विकसित करने की है—परम्पराप्राप्त भाषा को अपनी वाणी के रूप में स्पष्ट अनुभव करने की है; वह उतना आत्म-सम्मोहित नहीं है जितना कि वाक्-सम्मोहित। न केवल ब्रजमाधुरी के विरुद्ध हिन्दी गद्य के ठण्डे विकास को—व्यवस्थित और स्पष्ट अभिव्यक्ति की उसकी नवजात क्षमताओं को—प्रसाद का पद्य अपने भीतर समेटता है, बल्कि अपने पूर्ववर्त्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्दविधियों की भी सामर्थ्य की भरपूर छानबीन करता चलता है।

प्रसाद में आवेग-सर्जित लयकारियों की वैसी समृद्धि नहीं है जैसी कि निराला में हम देखते हैं। उनमें भाषा के प्रति वैसी मोहमुग्धता, रूपतंत्र की नई-नई उद्भावनाओं का उत्साह भी नहीं लक्षित होता। उनके भाषिक संवेदन में निराला का लचीलापन नहीं है। शब्दों के रंग-रूप की उनकी रीझ-बूझ सीमित है। शब्दों का वज़न और तुमुल भी उन्हें आकर्षित नहीं करता, शब्द उनके यहाँ बाँध तोड़कर नहीं बहते···धीरे-धीरे विन्यस्त होते हैं। निराला कई बार शब्दों को किसी शाहखर्च की तरह अबाध-अरोक गति से अपने भीतर से बाहर को फेंकते प्रतीत होते हैं: अपने निहित-संभाव्य अर्थों के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का प्रचण्ड दुर्दम वेग भी उनके शब्द वहन करते और झलकाते प्रतीत होते हैं मानो यह भी उनके कवि-कर्म की अनिवार्यता हो और कमाल यह कि अक्सर यह अतिरिक्तता पाठक को खलती नहीं—उसके आलोचकत्व को उकसाती नहीं; वह छूट दे देता है। बिना जाने-महसूसे कि वह छूट दे रहा है। निराला का प्रचण्ड वेग ही मानो पाठक की सजगता को शिथिल कर देता है। शब्दों की यह ऊर्जस्विता और अतिरिक्त दीप्ति प्रसाद के यहाँ बहुत कम देखने को मिलती है। हाँ, उनकी ध्वन्यात्मक संवेदना निश्चय ही विशिष्ट है। हालाँकि उसमें निराला जितना वैविध्य नहीं है; तो भी यह शायद इसीलिए है कि वह स्वभावतया अधिक विशेषीकृत है और इसी कारण उनकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए पर्याप्त भी। प्रसाद शब्द की ध्वनि का अपने स्वरों की सीमाओं में विशिष्ट उपयोग करते हैं (उनका संगीत व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों पर अधिक अवलम्बित है) किन्तु उनकी लयगति निराला की अपेक्षा कम स्वतन्त्र है। निराला का छन्द पर असाधारण अधिकार है। यह कहना कुछ विचित्र लगेगा किन्तु कहे बिना रहा भी नहीं जाएगा कि मुक्त छन्द में मुझे प्रसाद की गति अधिक सहज और मुक्त प्रतीत होती है—बनिस्बत निराला के। विशेषकर लम्बी कविताओं में। 'शिवाजी का पत्र' की तुलना आप 'प्रलय की छाया' से करके देख सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना अस्वाभाविक न होगा कि अपने भाव-संवेगों (अन्ततः अपने व्यक्तित्व) पर प्रसाद को निराला की अपेक्षा अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशासन सिद्ध था। और उपयुक्त वस्तु-स्थिति पाकर उसकी अभिव्यक्ति भी अधिक मितव्यय-सुघर हो जाती थी।

निराला की वे लम्बी रचनाएँ अधिक सफल हैं जिनमें छन्द का अनुशासन है। बल्कि छोटी कविताओं तक में जहाँ छन्द जितना ही जटिल है, भाव-संवेग उतनी ही सुन्दरता के साथ व्यक्त हुए हैं। प्रसाद में स्थिति इसके विपरीत नहीं, तो भिन्न अवश्य है। वे चुनी हुई सरल-साधारण लयगतियों में सूक्ष्म-संश्लिष्ट भावों की योजना कर देते हैं। बात यह है कि प्रसाद में भाव-संवेगों की मूल शक्ति-प्रेरणाएँ काव्य नहीं रचतीं—एक दीर्घ अनुशासित भाव-साधना में से छनकर कविता निष्पन्न होती है। इसीलिए वे पहले से सुघर-व्यवस्थित रहती हैं और मुक्त छन्द की मुक्तता में भी बिखरती नहीं; जबकि निराला में भाव-संवेग अपनी मौलिक तीव्रता और विह्वलता में ही काव्य का कारण बनता है। अतः उसके सुन्दर काव्याभिव्यक्ति में परिणमित होने के लिए छन्द का अनुशासन आवश्यक और सहायक-साधक होता है। प्रसाद के स्वभाव में ही इतना संयम और अनुशासन है कि उन्हें अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनुशासन और अतिरिक्त सजगता की उतनी ज़रूरत नहीं पड़ती।

प्रसाद की कुछ लयगतियाँ उन्हें इतनी अनुकूल पड़ती हैं —उनके कवि-स्वभाव से इतनी समरस हो गई हैं कि वे कवि की अपनी विशिष्ट आवाज़ की अनुगूंज-सी रच जाती हैं हमारे कानों में।··· "जगे हम लगे जगाने विश्व"···, "हिमाद्रि तुंग-शृंग से"···, "इस शिथिल आह से खिंचकर, आओगे तुम आओगे···", "उन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की, कितनी है मोहमयी माया"···, "अब जागो जीवन के प्रभात", "हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर", "बीती विभावरी जाग री"··· इत्यादि उनकी कुछ चुनी हुई लयगतियाँ हैं, जिनकी सामर्थ्य का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है और जिनका संगीत मानों प्रसाद की कविता का ख़ास अपना, बहुत अपना संगीत है; उनका ख़ास अपना आविष्कार है। निराला की प्राणशक्ति अधिक दुर्दम है। इसलिए उनकी लयात्मक उद्‌भावनाएँ भी संख्या में अधिक हैं; अधिक रोचक भी। निराला ने हिन्दी भाषा की सांगीतिक संभावनाओं का अधिक दूरगामी उपयोग और विस्तार किया है। उनकी कविता भाषा के अधिक स्तरों पर कार्यशील हुई है—पन्त या प्रसाद की तुलना में। पन्त का भावजगत् इन दोनों की अपेक्षा संक्षिप्त और सीमित है, अतः उनके यहाँ शिल्प-तंत्र को अतिरिक्त महत्त्व मिला है और उस दृष्टि से उनका योगदान उल्लेखनीय है। किन्तु वह योगदान "वागर्थसम्पृक्ति" के सूक्ष्म स्तरों पर बहुत कम है; रूपगठन और कलात्मक परिष्कार के स्तर पर ही वह अधिक सक्रिय है। उनकी कोमलवृत्तियाँ स्वभावतः वहीं अधिक रमती हैं जहाँ मानवीय जटिलताएँ अनुपस्थित हों या उन्हें सरल कर लिए जाने की गुंजाइश हो। प्रकृति-वर्णन में वे इसीलिए सफल और काफी कुछ मौलिक हो सके क्योंकि यह उनके लिए अनुकूल क्षेत्र था। प्रकृति जड़ है और वह कल्पना को कम-से-कम प्रतिरोध देती है। पन्त उसी सौन्दर्य के कवि हैं जिस तक कम-से-कम प्रतिरोध और संघर्ष द्वारा पहुँचा जा सके। प्रकृति उन्हें यह सुविधा देती है। उनकी वृत्ति हर चीज़ को सरल, सुन्दर और स्वप्निल करने की है और अक्सर वे ऐसी ही वस्तु चुनते भी हैं। विवादी भावों को साधना उनके बस की बात नहीं (निराला तो स्पष्ट ही कहते हैं: "स्वरविवादी ही लगा")। न वह 'पैशन' ही उनमें था कि वे अपने-आपको किसी आवेग में या किसी दार्शनिक बेचैनी में पूरी तरह झोंक सके। फिर भी उनके 'परिवर्तन' में एक आश्चर्यजनक (अभूतपूर्व और अभूतपश्चात्) लयात्मक उत्तेजन है। शायद पहली बार उन्हें उद्वेग, शंका और अनाश्वस्ति की मनःस्थितियों को झेलने-समझने की कोशिश करने का उत्साह और साहस हुआ। 'ग्रंथि' और 'उच्छ्‌वास' में भी कुछ ऐसे स्थल हैं। ऐसे स्थलों पर उनका रूपतंत्र भी विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। किन्तु मुश्किल यही है कि वे ऐसी मनःस्थितियों को देर तक सहन नहीं कर पाते। एक स्वप्नशीलता ही उनके अन्तर्जीवन की नियामक-प्रेरणा बन रहती है। एक बार फिर 'ग्राम्या' में आकर वे अपनी अतिस्वप्निलता से जगते हैं और प्रकृति की पृष्ठभूमि में जीवित मनुष्य पर दृष्टिपात करते हैं। पूरी तरह उलझ जाना तो उनके बस की बात नहीं है पर उन्होंने कम-से-कम उसके नज़दीक आने का प्रयास तो किया ही है। जीवन से थोड़ी भी निकटता हासिल करने पर एक सौन्दर्य-चेतन शिल्पी कवि कितना कुछ दे जा सकता है, इसका प्रमाण 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ देती हैं: 'धोबियों का नृत्य' जैसा मौलिक छन्द-शिल्प, 'भारतमाता ग्रामवासिनी' जैसी गहरी भाव-सृष्टि और "अन्धकार की गुहा-सरीखी उन आँखों से डरता है मन" जैसे टिकाऊ शब्दचित्र और मानवीय संस्पर्श···।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नौकाविहार' इसीलिए बराबर अच्छी लगती है कि उसमें कवि छन्द को और शब्दों को अपने साथ चला सकने में सफल हुआ है। उसमें विषयवस्तु की एक विश्वस्त प्रगति है। उसका शब्द-कोष भी ज्यादा लचीला है और लय-योजना भी। हर पंक्ति को कविता बनाने की अस्वाभाविक और व्यर्थ कोशिश उसमें नहीं है। वर्णन के साथ विचार और संवेदन (सेंसेशन) की लय गुँथी हुई है और अपनी भाषा को कवि अवसरानुकूल मोड़ सका है। साथ ही उसमें थोड़ी हरकत (एक्शन) भी है: वर्णन जड़ और अगत्यात्मक नहीं है। अनावश्यक अलंकरण भी कम-से-कम है। 'धोबियों का नृत्य' में भी शिल्प की यह समतोल व्यवस्था और यथेष्टता सराहने योग्य है। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत 'ग्राम-युवती' में सन्तुलन बिगड़ जाता है। कौशल उघड़ जाता है और वस्तु की संवेदना उससे आच्छादित हो जाती है। कौशल यूँ ज़रूरी है किन्तु वह वस्तु में अंतर्हित हो जाना चाहिए। वही उघड़ जाए तो बाकी सब-कुछ गड़बड़ा जाता है। 'वसन्त' में क्या कम कौशल निहित है? किन्तु वह वस्तु-संवेदन में रच-खप जाता है और हम उस अनुभूति में ही रम जाते हैं—उसके उपकरणों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। सामान्यतया पन्त में यह खूबी समूची कविताओं में कम और अलग-अलग खण्डों में अधिक परिलक्षित होती है। जबकि इसके विपरीत प्रसाद की कविता का आस्वाद एक समूची, अखण्ड रचना का आस्वाद होता है।

प्रसाद को अपना कौशल छिपाने की ज़रूरत ही नहीं जान पड़ती। वे कौशल से बहुत काम लेते प्रतीत ही नहीं होते। उनका 'अर्थ' रूप के साथ संघर्ष करता नहीं महसूस होता। उनकी प्रतिभा का रुझान रूपकथात्मक है। भाषा से भी ज्यादा वे रूपों में (मधुप, झरना, लहर, भिक्षुक आदि) अपनी अभिव्यक्ति खोजते हैं। क्या ऐसा किसी भाषिक अक्षमता के कारण था? शायद नहीं; क्योंकि वे भाषा के कई प्रकारों से अच्छी तरह परचे हुए थे। उनकी कुछ कविताएँ ही नहीं, उनकी कहानियाँ भी प्रमाण हैं कि न वे आदमी की सामाजिक-वैयक्तिक जटिलताओं के प्रति उदासीन थे और न उसके वास्तविक परिवेश और भाषा के प्रति। निश्चय ही, जैसा कि पहले ही संकेत किया गया, उनकी भाषिक संवेदना निराला की तुलना में कम विस्तृत और कम सजग है और उनकी शब्द-साधना भी अधिक विशेषीकृत होने के कारण अन्य कवियों के लिए निराला की तरह आकर्षक और फलदायी नहीं जान पड़ती। (निराला का अनुकरण किया जा सकता है और यह प्रारम्भिक अभ्यास फ़ायदेमन्द भी हो सकता है; कवियों के दीक्षागुरु वे हो सकते हैं रूपतंत्र की दृष्टि से विशेषकर। किन्तु प्रसाद का अनुकरण न तो उतना आसान है और न उतना सुरक्षित; उस अर्थ में कवियों के कवि वे नहीं हैं; उनके शब्द एक विशेष वातावरण में ही साँस लेते हैं—कदाचित् इसीलिए भाषा के सामान्य प्रदूषण और भ्रंश की प्रक्रियाओं से वे अपेक्षाकृत सुरक्षित और मुक्त भी साबित हों; किन्तु क्या इसी कारण विशेष रुचि और दीक्षा की माँग करने वाला उनका कवि सुदूर और दुर्लभ नहीं पड़ जाता?)

दरअसल उनकी रूप-आसक्ति एक विशेष प्रकार की अर्थाशक्ति का अनिवार्य परिणाम है, जिसका विश्लेषण करते हुए हम किसी नतीजे पर शायद पहुँच सकें। सभी जानते हैं कि प्रसाद भारतीय संस्कृति और भारतीय तत्त्व-चिन्ता के गहरे अध्येता थे। परन्तु इस तथ्य को भी महसूस करना आवश्यक है कि उनका यह अध्ययन मात्र अध्ययन—पांडित्य-लालसा—नहीं था। उसमें उन्होंने अपना व्यक्तित्व—अपनी जिजीविषा ही—झोंक रखी थी। अतीतजीवी का भ्रम यहीं से खड़ा होता है। पर वह भ्रम ही है और भ्रम से भी भयंकर अर्द्धसत्य। प्रसाद उन लोगों में से हैं जो अपने-आपको भी संस्कृति की आँख से देखते हैं। उन्होंने आजीवन उस सांस्कृतिक आँख को पाने के लिए तप किया। यह तप कठिन है और ज़रूरी भी; ऐसे युग में तो और अधिक (खासकर हमारे यहाँ) जबकि आदमी की संवेदना और उसकी संस्कृति के बीच के सारे सेतु भरभरा चुके हों। भारतवर्ष में तो यह स्थिति सबसे ज्यादा करुण है जिसका विश्लेषण फिलहाल अप्रासंगिक होगा। बहरहाल मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रसाद ने स्वयं को भारतीय दृष्टि से इस कदर तदात्म कर दिया था कि उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति काव्य में उसी दृष्टि के द्वारा सम्मत विधियों से ही सम्भव थी। उनका अतिक्रमण करना उसके लिए बेईमानी होती। हमारे दृष्टिकोण से तो नहीं, किन्तु उनके दृष्टिकोण से—शायद। अतिक्रमण वे कर सकते थे लेकिन नहीं कर सके। क्यों? ('स्कन्दगुप्त' की रचनात्मक विडम्बना ही देख लीजिए)

प्रसाद की व्यक्तिगत मनीषा पर भारतीय मनीषा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोझ था जो उन्होंने स्वेच्छा-आग्रहपूर्वक धारण किया था। उसके साथ अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को उन्होंने तदाकार कर लिया था। मेरा अन्धविश्वास है कि बीसवीं सदी के किसी भी भारतीय कवि ने इस बोझ को इतना और इस तरह वहन नहीं किया होगा, जितना कि प्रसाद ने। प्रसाद की भारतीयता निराला, अज्ञेय और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा कहीं अधिक ज़िम्मेदार, आधिकारक और विशाल थी। वे ब्राह्मणों के ब्राह्मण और बौद्धों के भी बौद्ध थे।

निराला के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी कविता की सीमाएँ अनेक व्यक्तित्व की सीमाएँ हैं। एक दूसरी अतिवादी स्थापना यह भी देने को मन करता है (क्योंकि बिना अतिरंजना के तो सत्य भी नहीं कहा जाता; हिन्दी में तो और भी नहीं) कि प्रसाद के कवित्व की सीमा भारतीय काव्य-दृष्टि की सीमा है। इस बात पर थोड़ा विस्तार से विचार करना होगा।

रचना क्या होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके पीछे जो भी कारणभूत दबाव और वस्तुस्थितियाँ रही हैं, उन्हें बोध के किस स्तर पर एकाग्र और संघटित होना पड़ा है। जिस तरह जीव के विकास का इतिहास अस्तित्व के लिए संघर्ष का इतिहास है, उसी प्रकार जीवन के अर्थ का इतिहास भी अस्तित्व के लिए संघर्ष का ही इतिहास है। इसलिए सबसे ज्यादा कविता वहाँ होनी चाहिए जहाँ यह संघर्ष सबसे ज्यादा बुनियादी और व्यापक हो। कवि का व्यक्तित्व मानो एक रणक्षेत्र है जिसमें अब तक का अर्जित मानवीय ज्ञान और अर्थ उन सारी चीज़ों और स्थितियों के विरुद्ध संघर्षरत होता है जो उस अर्थ को निरर्थक किया चाहता है।

प्रसाद की कविता में मानवीय अर्थ के लिए यह संघर्ष मौजूद है। वही उसे एकत्व भी देता है। किन्तु कठिनाई यह है कि उनका आग्रह इस संघर्ष को कुछ आदिम रूपों (रूपकथाओं) और एक विशिष्ट संस्कृति-प्रसूत प्रतीकों और अवधारणाओं के टर्म्स में परिभाषित करने का जान पड़ता है। उनके औज़ार कुछ पुराने पड़ गये लगते हैं। अर्थ के लिए भारत में जो संघर्ष किया गया उसको प्रसाद का कवि— झरना से लेकर कामायनी तक—एक उपलब्धि के रूप में मान लेता है। किन्तु मुश्किल यह है कि हमारी विचित्र विडम्बनापूर्ण ऐतिहासिक परिस्थितियों ने—शताब्दियों के सूने अन्तराल ने—हमारे भीतर उस अर्थ की जीवन्त सक्रियता को समाप्त-सा कर दिया है; उसे सुदूर और दुर्लभ बना दिया है। वह हमें इस युग के पूँजीपति 'अनर्थ' से संघर्ष करने के लिए पर्याप्त आत्मविश्वास और उत्साह नहीं जुटाता। एक अजीब अयथार्थता से ग्रस्त हो गई है हमारी सांस्कृतिक चेतना। दूसरे शब्दों में हमारी सामान्य मानवीय चेतना और हमारी सांस्कृतिक चेतना के बीच कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं रह गया, क्योंकि दोनों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष की परम्परा ही हमारे यहाँ नहीं बन सकी। जितना जो कुछ संघर्ष रहा, वह बहुत ही खण्डित और बिखरा-बिखरा···।

यह नितान्त सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी कठोर साधना द्वारा उस सांस्कृतिक चेतना-परम्परा के सर्वोत्कृष्ट को अर्जित कर ले (जैसा कि प्रसाद ने कर दिखाया) किन्तु इससे कवि की हैसियत से उसकी मुक्ति नहीं हो जाती। उसके अपने दृष्टिकोण से हो भी जाए, तो भी दूसरे परवर्ती कवियों के लिए उसका कृतित्व उतना सार्थक-उन्मेषकारी नहीं बन पाता।

हमने देखा कि प्रसाद अतीतजीवी नहीं थे। उनका व्यक्तित्व सरलीकृत भी नहीं था। वह निरन्तर संघर्षशील था अर्थ के लिए : बिलकुल विरोधी मनोभूमियों की कविता भी उनके यहाँ आमने-सामने मिल जाएगी। किन्तु हमें ऐसा लगता है कि वे पर्याप्त आलोचक नहीं थे—उस संस्कृति, उस दृष्टि के प्रति जिसे उन्होंने साधनापूर्वक अर्जित किया। उन्होंने उस दृष्टि को अपनी जीवनानुभूति का, अपनी बौद्धिकता का भी निकष-सा बना लिया। उनमें 'ट्रैजिक सेन्स' था। उनकी 'करुणा' एक जटिल संवेदना का समतुल्य है; सरल संवेदना का नहीं (जैसा कि उनकी कविताओं के पाठ से हम अनुभव करते हैं)। किन्तु यहीं तो एक गहरी शिकायत उमड़ती है कि उन्होंने अपनी जटिल संवेदना को ऐसे उलझे हुए (अर्थात् ज़रूरत से ज्यादा साफ़ सुथरे) रूप में क्यों व्यक्त किया? क्यों नहीं उन्होंने अपनी मनःस्थितियों को उनकी मूल आवेगात्मकता में उद्घाटित किया? क्यों उनकी कविता की ऊर्जा आवेगात्मक उन्मोचन की बजाय अर्थ के ऊर्ध्वगामी संचरण को ही संभव बनाने में व्यय हो जाती है। क्यों कवि के रूप में उनकी ज़िद अपनी चेतन-अवचेतन जीवनानुभूति को अति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतन (सुपरकांशस) बोध में उद्‌वाष्पित करने की है ? क्या कविता प्रसादजी के लिए आत्म-परिष्कार में ही है; आत्मा की अस्तव्यस्तता अराजकता और अनगढ़ता में नहीं ?

ग़ौर करके देखने पर यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्रसादजी ने अपनी कविता को अपने सांस्कृतिक बोध की सीमाओं के भीतर ही पाना और पनपाना चाहा। नहीं; उसकी सीमाओं के प्रति पर्याप्त स्वचेतन होने की निर्ममता उनसे नहीं सधी। उनके कवि-व्यक्तित्व पर 'व्यक्तित्व' की भारतीय धारणा का अंकुश रहा। काव्य में 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति कितनी, कैसी होनी चाहिए—इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि बहुत उन्मुक्त और उदार नहीं है। इस युग में वह चल नहीं सकती। किन्तु हम मानें, न मानें, हमारे अनजाने ही वह धारणा भारतीय कवि की स्वतन्त्रता को संकुचित और बाधित करती रही है। प्रश्न उस तरह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का ही नहीं है। वह दूसरी गहरी समस्या उपजाता है—अस्तित्व की अभिव्यक्ति की। और उस प्रकार का अंकुश यहाँ अनिष्टकर हो सकता है। कविता की समस्याएँ मात्र व्यक्तित्व की समस्याएँ नहीं हैं। आपने अपने व्यक्तित्व को कितना धीर, उदार, गहन या विस्तृत बनाया, इसे आपकी कविता प्रमाणित करे यह आवश्यक नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आपकी कविता आपके व्यक्तित्व के माध्यम से मानवीय अस्तित्व का कितना दबाव अपने ऊपर झेलती है; उसे कितना मूर्त और परिभाषित करती है। और अस्तित्व की समस्याओं को किसी एक संस्कृति (जो सक्रिय नहीं रही) की भाषा में प्रतिबिम्बित देखने की चेष्टा ग़लत न होते हुए भी अपर्याप्त है। वह प्रक्रिया बाद में अपने-आप काव्य-विकास की अनिवार्य परिणति के रूप में आए तो वह उस तरह आलोचना का विषय नहीं बन सकती। (हालाँकि बनती ही है फिर भी) किन्तु पहले से इस प्रक्रिया में उलझ जाना उसके काव्य-फल को कच्चा ही तोड़ लेने जैसा है। कविता जिन दबावों में से निष्पन्न होती है, उनमें से एक सांस्कृतिक चेतना भी है। किन्तु सबसे ज़रूरी और फलदायी दबाव वह है जो कवि को कहीं टिकने नहीं देता; उसके संस्कारी मन, सांस्कृतिक बोध में भी नहीं।

निश्चय ही ऊपर प्रसाद की कविता का जो विश्लेषण-विवेचन किया गया है, वह उक्त आरोप की धार को जगह-जगह कुन्द भी कर सकता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष में कविता और कवित्व की जो धारणाएँ रही हैं, उनमें उक्त प्रकार के संघर्ष के लिए गुंजाइश कम—काफ़ी कम—रखी गई है। उन पर वास्तविक मानवीय जीवनानुभूतियों का दबाव कम और दार्शनिक धारणाओं एवं भावनाओं का दबाव अधिक रहा है। रस ही कविता का निकष नहीं है; कविता भी रस की निकष है, इस तथ्य को तो कभी से हमारा युग हमें पहचनवा रहा है, किन्तु इस पहचान का पूरा-पूरा उपयोग होने में अभी काफ़ी कसर है।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व से पलायन का नुस्खा भारतीय कवि के लिए उतना प्रासंगिक और प्रखर नहीं है जितना कि व्यक्तित्व में पलायन का नुस्खा। दार्शनिक—या अन्ततः काव्यात्मक दृष्टि से भी यदि वह बुरा हो, तो भी इस बुराई की ज़रूरत हिन्दी कविता को है। शायद यही कारण है कि आज हमारे चारों ओर व्यक्तित्व में पलायन का ही दृश्य फैला हुआ है। हिन्दी का कवि इस स्वतंत्रता में से समूचा पूरा गुज़र निकले, तभी वह तथाकथित भारतीय दृष्टि का युगानुकूल सही उपयोग करने की स्थिति में आएगा। यही नहीं, उसे अपनी भारतीयता का ही सही और समूचा अहसास तभी होगा। फ़िलहाल हिन्दी कवि की, कवि के रूप में ज़िन्दगी इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसमें भारतीयता है या नहीं। वह इससे ज़्यादा इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें व्यक्तित्व, 'पैशन', कट्टरता है या नहीं। भारतीय आदमी में कट्टरता का अभाव होता है। जहाँ उसे लचीला होना चाहिए, वहीं वह कट्टर होता है। बाकी सारे स्थलों पर वह ढुलमुल हुआ करता है। इसीलिए वह तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता।

ये बातें यदि अवान्तर ही हों, तो भी नितान्त अप्रासंगिक नहीं हैं क्योंकि प्रसाद का कवि हमें इन पर सोचने का अवसर देता है। यह भी उसका एक अतिरिक्त माहात्म्य है। किसी भी अन्य कवि का अनुशीलन हममें इस प्रकार के विचारों को नहीं उकसाता। प्रसाद इसलिए उकसाते हैं कि उनके काव्य का वैशिष्ट्य अच्छे लगने, न लगने की कोटि से ऊपर अवस्थित है। बात महज़ इतनी ही नहीं कि वे एक अत्यन्त शालीन और संस्कारी कवि हैं : महत्त्व की बात यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे संस्कृति के कवि हैं—एक समूची संस्कृति के प्रतिनिधि कवि। ऐसे कवि से हमारा रिश्ता वास्तविक प्रेम और वास्तविक असंतोष और घृणा का ही हो सकता है : उपेक्षा और अवहेलना का कदापि नहीं। कोई भी संस्कृति ऐसे कवियों के बग़ैर चल नहीं सकती। परम्परा उनके भीतर अपने-आपको पहचानती है; आत्म-चेतन बनती है और नया जीवन पाकर आगे को बढ़ती है। इसीलिए उनका महत्त्व है। इसी अर्थ में वे 'विश्वविद्यालयों के कवि' हैं। उनकी भाषा में द्विवेदी-युग का अर्जित परिष्कार और छायावाद की नई व्यंजकताएँ दोनों का एकत्र परिपाक हुआ है। वे नई व्यंजकताएँ स्वयं उनकी अपनी वैयक्तिक संवेदना और प्रतिभा का फल हैं। उनकी कविता की गरिमा संस्कृत की मोहताज नहीं : हिन्दी के तद्भव संस्कार का तब तक का विकास ही उसके लिए यथेष्ट है : कम-से-कम छूट लेकर अधिक-से-अधिक कविता उन्होंने उससे निचोड़ी है। उनका वाक्य-विन्यास उनकी अपनी विशिष्ट आवाज़ की रक्षा करते हुए हिन्दी के वाक्य-विन्यास की भी रक्षा करता है। हिन्दी की प्रकृति में निहित अनगढ़ताओं से यह कवि सकुचित और बाधित नहीं। कविता का आस्वाद अन्ततः भाषा का आस्वाद है; और हम पाते हैं कि प्रसाद की कविता की तरह प्रसाद की भाषा का आस्वाद—भी नितान्त वैयक्तिक—विशिष्ट और विलक्षण होते हुए भी सहज विश्लेष्य नहीं है। इसीलिए उसका अनुकरण भी आसान नहीं है (उनके गद्य की तरह) हालाँकि उनके पद्य की तरह उनके गद्य की भी लय विशिष्ट है; तो भी, चूँकि गद्य अपेक्षाकृत स्थूल माध्यम है और प्रसाद का असली अन्तरात्मिक लगाव पद्य से है; अतः उनका गद्य—उनके अपेक्षाकृत स्थूलतर प्रयोजनों का संवाहक होने के कारण—अपने बाहरी लक्षणों और रूप-रंग में आसानी से अनुकरणीय हो जाता है। (अनुकरण हुआ भी काफ़ी)। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि जहाँ उनका काव्य 'आत्मा की सकलपात्मक अनुभूति' में से आता है, वहाँ उनका गद्य सभवतः उन मनः-स्थितियों से प्रेरित होना चाहता होगा जिन्हें उन्हीं की शब्दावली के वज़न पर 'आत्मा की विकलपात्मक अनुभूतियाँ' कह सकते हैं। इससे यह अनुमान लगाना अस्वाभाविक न होगा कि प्रसाद के भीतर अपने ही रचनात्मक स्वभाव को लेकर एक घपला-सा था। यूरोपीय काव्य-चिन्तन और आलोचना में 'सोल' का प्रयोग सहज भाव से सुनिश्चित अर्थों में किया गया है। उससे लिपटी हुई दार्शनिकता उसके साहित्यिक सन्दर्भ को धूमिल नहीं करती। हमारे यहाँ दुर्भाग्य-वश यह संभव नहीं है। 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' इसलिए भी एक गोलमोल मुहावरा बन जाता है हालांकि जैसाकि ऊपर के विश्लेषण से प्रकट है, प्रसाद की कविता एक गहरे अर्थ में इस परिभाषा को प्रतिफलित करती प्रतीत होती है। जहाँ तक यह परिभाषा भारतीय चिन्तन और भारतीय काव्य-परम्परा की उपज है हम देखते हैं कि यह 'मानवीय' से ज़्यादा 'आदर्शात्मिक' अधिक है। काव्य की अनेक 'प्रकृत' भूमियों को इस परिभाषा में निहित 'आग्रह' छाँट-छिनगाकर बहिष्कृत कर देता प्रतीत होता है। हम समझ नहीं पाते कि 'आत्मा की विकलपात्मक अनुभूति' काव्य की उतनी ही स्वाभाविक और जायज़ प्रेरणा क्यों नहीं बन सकती? ऐसा आग्रह क्यों? हमें तो ऐसा लगता है कि पश्चिम के काव्य की अपेक्षाकृत अधिक मानवीय समृद्धि का कारण यही है कि वहाँ ऐसा कोई आग्रह-निषेध नहीं है। 'आत्मा की विकलपात्मक अनुभूति' वहाँ के साहित्य में उतनी ही गहरी स्वतंत्रता के साथ सक्रिय है जितनी कि आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति; बल्कि शायद पहली चीज़ का पलड़ा ही भारी पड़े। हम यही सोचने को विवश हैं कि हमारी दार्श-निक धारणाओं और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं में—हमारी 'भारतीयता' में ही—कुछ घपला है। क्या ऐसी शंका निर्मूल है कि जो उस दृष्टि से जितना प्रतिश्रुत है जितना ही उसका प्रतिनिधित्व अपनी रचनात्मकता द्वारा करता है, उसको यह अन्तर्निहित घपला उतना ही नुकसान भी पहुँचा सकता है। कोई अचरज न होगा यदि कोई आलोचक यह फतवा दे दे कि प्रसाद की कविता में भारतीय काव्य-परम्परा की सारी खूबियाँ और सारी कमियाँ एक साथ इकट्ठी मिलती हैं। आज की पीढ़ी का कवि और पाठक जब कालिदास और वाल्मीकि तक के काव्यगुणों से तत्काल संवेदित होने में कठि-नाई का—दूरी का—अनुभव करता है, तो प्रसाद की कविता से पहले ही सम्पर्क में आकर्षित न हो पाने की स्थिति सहज ही समझी जा सकती है। यूँ भी 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' जैसी सहज-गोल परिभाषा से कोई भी बिदक सकता है : प्रसाद को विश्वविद्यालयों का कवि कहने वाला कवि भी। क्या कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनको प्रेम करने और पाने के लिए पहले उनसे ईमानदारी से नफ़रत करना आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है ? यदि यह सच है, तो कहना पड़ेगा कि प्रसाद ऐसे ही कवि हैं। प्रसाद को समझने और प्रेम करने की पहली सीढ़ी शायद यही है कि हम उनसे घृणा करें। कौन जाने, जिसे हम भारतीयता या भारतीय संस्कृति कहते हैं, उसके साथ भी कुछ ऐसी ही बात हो !

यह एक रोचक कल्पना होगी कि यदि प्रसाद अकस्मात् सशरीर उपस्थित हो जाते और हम उनको यह संवाद देते कि "महोदय ! न केवल यह कि हमारे कवि ही आपको विश्वविद्यालयों का कवि घोषित करते हैं बल्कि आपके पाठक और आलोचकों की भी राय यही है कि आपको विश्वविद्यालयों से बाहर न निकाला जाय, क्योंकि आपकी सही जगह वही है" तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होती ?

मुझे तो यही लगता है कि वे इस संवाद से बिलकुल विचलित न होते हुए केवल मुस्करा देते और अपनी ही कविता की एक पंक्ति की ओर चुपके से इशारा कर देते :—

"यह विडम्बना ! अरी सरलते, तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं !"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मायकोव्स्की की तीन कविताएँ[1]

रणजीत, नरेश कुमार

: १ :

रुचियों की भिन्नता

घोड़े ने देखा ऊँट को
और हिनहिनाया :
"कैसा दैत्याकार दोगला घोड़ा है !"
ऊँट बलबलाया :
"तुम ? घोड़े ?—बिलकुल नहीं ।
तुम महज़ एक अविकसित ऊँट हो !"
और सिर्फ़ सफेद दाढ़ी वाला ईश्वर ही जानता था
कि वे दोनों अलग-अलग नस्लों के जानवर हैं ।

: २ :

जवाब के लिए

युद्ध के नगाड़े बजते हैं
और माँगता है लोहा
ज़िन्दा मांस का बलिदान !
प्रत्येक देश से गुलामों के बाद गुलाम
संगीनों के फौलाद पर फेंके जाते हैं ।
किसलिए ?
काँपती है धरती
नंगी और भूखी !
मानवता नहलाई जाती है : खून की फुहारों में ।
सिर्फ इसलिए कि कहीं कोई व्यक्ति
अल्बानिया को अपनी जेब में रखे रखना चाहता है ।
मनुष्यों के वहशी गिरोह
ख़ूँख्वार आवाज़ों के साथ
खींचते हैं धरती की खाल
सिर्फ़ इसलिए
कि किसी के जहाज़
निःशुल्क बॉसफोरस से गुज़र सकें ।
थोड़े ही दिनों में
धरती की कोई पसली साबत नहीं रह जाएगी
वे उसकी आत्मा तक को खींच लेंगे
और उसे कुचल देंगे
सिर्फ़ इसलिए
कि कोई मेसोपोटामिया को हथिया सके ।
किसके नाम पर ?
घुटनों तक पहुँचने वाले खुरदरे फ़ौजी जूते
शहरों को कुचलते हैं ?
कौन है युद्ध के आकाश में ?
स्वाधीनता ?
ईश्वर ?
नहीं, सिर्फ़ रुपया !
अपना जीवन उन्हें चढ़ाने वालो !
कब तुम उठोगे ?
पूरी शक्ति और बुलन्दी के साथ ?
और कब ?
अपने सवाल को सीधे उनके चेहरे पर मारोगे :
"आखिर हम क्यों लड़ें ?"

१. विभिन्न अंग्रेज़ी अनुवादों से सहायता लेते हुए सीधेरू सी से हिन्दी रूपान्तरण ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

टैक्स इन्स्पेक्टर से कविता के बारे में बातचीत

नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर !
माफ़ करना मुझे, कि मैं तुम्हारे काम में बाधा डाल रहा हूँ
धन्यवाद…चिन्ता मत करो…मैं खड़ा ही ठीक हूँ
मुझे तुमसे एक नाजुक मसले पर बातचीत करनी है :
मज़दूरों के समाज में कवि के स्थान के बारे में ।
दुकानदारों और ज़मींदारों की तरह
मैं भी टैक्स अदा करता हूँ
और जुरमाना भी ।
तुम मुझसे पाँच सौ प्रति छमाही चाहते हो
और पच्चीस इसलिए
कि मैंने पहले अपने बारे में सूचनाएँ नहीं भेजीं ।
मेरा काम किसी भी दूसरे काम की तरह है
देखो, मुझे कितना नुकसान उठाना पड़ा है
मेरे उत्पादन के खर्चों पर ध्यान दो
और देखो कि कच्चे माल पर मुझे कितना खर्च करना पड़ता है ।
निश्चय ही तुम 'तुक' से परिचित होगे
मान लो कि एक पंक्ति का अन्तिम शब्द है 'पिता'
तब एक पंक्ति लाँघते हुए
मात्राएँ और अक्षर गिनते हुए
अगली पंक्ति में हमें लाना होगा 'चिता' या 'स्मिता'
या ऐसा ही कुछ और ।
तुम्हारी शब्दावली में कहा जाय
तो तुक एक प्रामेसरी नोट की तरह है
जिसका भुगतान तीसरी पंक्ति में किया जाता है
यही है तुक का नियम ।
और इस तरह हमें प्रत्ययों और विभक्तियों की रेज़गारी ढूँढनी पड़ती है
क्रियारूपों और संज्ञारूपों की खाली होती हुई तिजोरी में से
हम एक शब्द को किसी पंक्ति में धकेलने की कोशिश करते हैं
पर वह वहाँ नहीं जमता
और ज़ोर लगाने से टूट जाता है ।
नागरिक कर-निरीक्षक !
मैं कसम खाकर कहता हूँ
कि कवि के लिए ये शब्द
रुपयों से कहीं कीमती हैं ।
अपनी शब्दावली में कहूँ
तो एक तुक एक कनस्तर है—
डाइनामाइट से भरा हुआ
और एक पंक्ति एक पलीता
जब वह सुलगती हुई पंक्ति अन्त तक पहुँचती है—
विस्फोट होता है !

और सिर्फ एक छन्द
एक पूरे शहर को उड़ा सकता है ।
कहाँ और किस कीमत पर मिल सकती हैं ऐसी तुकें
जो ठीक निशाने पर मार करती हों
शायद पाँच-छह अभूतपूर्व तुकें
मुझे वेनेज्युअला में मिलें
इसीलिए मैं अग्रिम और कर्ज़ से दबा हुआ
ठण्डे प्रदेशों से गर्म प्रदेशों तक भटकता रहता हूँ
सुनो,
क्या तुम मेरे लिए मार्गव्यय नहीं मंजूर करोगे ?
कविताएँ
—सब कविताएँ—
अज्ञात की ओर की गई यात्राएँ हैं ।
कविता करना रेडियम निकालने की तरह है :
वर्षभर मेहनत और रत्तीभर प्राप्ति !
कई बार हमें सिर्फ एक शब्द के लिए
वाणी की टनों कच्ची धातु बरबाद करनी होती है
लेकिन कितनी ज्वलन्त होती है उन तराशे हुए शब्दों की ऊष्मा
वाणी की धुँधुवाती हुई कच्ची धातु की तुलना में ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये शब्द
लाखों हृदयों को प्रेरित कर देते हैं
हज़ारों बरसों के लिए ।

निश्चय ही कवि भी कई तरह के होते हैं
उनमें से कई हाथ की करामात दिखाते हैं
वे मदारियों की तरह खींच लेते हैं पंक्तियाँ
अपने और दूसरों के मुँह से ।
जैसे कविनपुंसकों के बारे में कोई क्या कह सकता है
जो कोई पराई पंक्ति अपनी कविता में रखते हैं
और खुश हो लेते हैं
यह सीधी-सादी चोरी है, ग़बन है
देशव्यापी धोखेबाज़ी का एक रूप मात्र ।
ये सब कविताएँ
जो आज प्रशंसा के शोर के बीच
चिंघाड़ती और सिसकियाँ भरती हैं
इतिहास में बेकार का खर्च ही मानी जाएँगी
हम दो या तीन लोगों की उपलब्धियों की तुलना में ।

बहुत-सा नमक, मैं खा चुकूँगा,
जैसा कि मुहावरा है,
और बहुत-सी सिगरेटें पी चुकूँगा
मानव की पाताल-स्पर्शी गहराइयों में से
एक अमूल्य शब्द प्राप्त करने के लिए !
इसलिए मेरा बढ़ता हुआ टैक्स एकदम कम हो जाना चाहिए
यह एक पहिए-सा शून्य काट दो मेरे टैक्स से,
एक नव्वे—
सौ सिगरेटों के लिए
और एक साठ—
नमक के लिए ।
तुम्हारी प्रश्नावली में कितने ही प्रश्न हैं :
"क्या व्यवसाय-सम्बन्धी यात्राएँ आपने की हैं ?"
पर यदि मैं कहूँ कि मैं पिछले पन्द्रह बरसों में
दस बार मौत तक जाकर आया हूँ
कविता पर सवार होकर, तो ?
और यहाँ मेरी स्थिति लिख लो—आर्थिक और सामाजिक :

मैं जनता का नेता हूँ
और साथ-ही-साथ उसका नौकर भी
वर्ग मेरे शब्दों में बोलता है
और मैं सर्वहारा हूँ—
कलम का मेहनतकश !

घिसते जाते हैं आत्मा के पुरजे
वर्षों की गति के साथ-साथ
लोग कहते हैं : समय हो गया है
इसे अब अभिलेखागार में रख देना चाहिए
ढेर सारी कविताओं में यह अपने आपको लिख चुका है ।
और तब कम-से-कम होती जाती हैं प्यार और साहस की क्षमताएँ
और वक्त की गड़गड़ाहट
मेरे माथे को झकझोर जाती है
और तब आता है मूल्यह्रासों में से सबसे भयानक
—हृदय और आत्मा का मूल्यह्रास !

और जब यह सूर्य
एक मोटे होते हुए सूअर की तरह सन्तुष्ट
एक ऐसे भविष्य के क्षितिज पर उगेगा
जहाँ कोई भिखमंगा और कोई अपंग नहीं होगा
मैं युगों से मृत, कभी का मिट्टी में मिल चुका हूँगा
किसी बाड़ के नीचे
एक दर्जन सहयोगी कवियों के साथ ।
मेरा मरणोत्तर हिसाब तैयार कर लो
मेरा निश्चित दावा है
—और मैं जानता हूँ कि यह कितना सच है—
कि अपने समय के व्यापारियों और धोखेबाज़ों की पृष्ठभूमि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं अकेला कभी न चुकने वाले कर्ज़ से लदा रहूँगा ।
मेरा कर्तव्य है
ताम्रकण्ठी साइरन की तरह ऊँची आवाज़ में बोलना
टटपूँजियेपन के कोहरे में
तूफानी हलचलों के बीच

कवि हमेशा संसार का देनदार रहता है
व्यथाओं में ब्याज और जुरमाने अदा करता हुआ
मैं देनदार हूँ
राजपथ की रोशनियों का
बगदादी[1] के आसमानों का
लाल फ़ौज का
जापान के चेरी वृक्षों का
और उन सबका
जिनके बारे में मैं लिख नहीं सका ।
पर यह काव्यात्मक पक्षपात क्यों ?
कि तुकें लक्ष्य हों
और लयें विश्रृंखल हो जाएँ ।
कवि के शब्द तुम्हारा पुनर्जीवन हैं
और तुम्हारा अमरत्व, नागरिक अधिकारी !

शताब्दियों बाद
कागज़ पर लिखी हुई एक पंक्ति कोई उठाएगा
और आज के दिन को वापस बुला लेगा
अपने तमाम टैक्स इन्स्पेक्टरों और चमत्कारों के साथ
और आज की स्याही की गन्ध गमक उठेगी ।

तुम जो सिर्फ अपने युग के ही निवासी हो
जाओ और जन-परिवहन-विभाग से अमरता का
एक टिकिट ले आओ
और मेरी कविताओं के प्रभाव की गणना कर
मेरी उपलब्धि को आने वाले तीन सौ बरसों में
विभाजित कर दो।
पर किसी कवि की शक्ति सिर्फ इसी बात में नहीं है
कि भविष्य में लोग हिचकियों के साथ उसे याद
करते हैं
नहीं, आज भी
कवि का एक शब्द
एक आलिंगन है,
और एक नारा,
और एक संगीन,
और एक कोड़ा !
नागरिक टैक्स इन्स्पेक्टर
अपने मूल्यांकन में से सब शून्यों को काट दो
मैं तुम्हें सिर्फ पाँच सिक्के दूँगा
और माँगता हूँ, अपने अधिकार के अनुसार
एक बालिश्त ज़मीन
निर्धनतम मज़दूरों और किसानों की श्रेणी में ।
और अगर तुम्हें ऐसा लगता है
कि यह सब पराये शब्दों की दुहराहट मात्र है
तो यह लो मेरी कलम, साथी !
और तुम खुद जितना चाहो लिख लो ।

१. मायकोव्स्की का जन्मस्थान, जार्जिया में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंगला के आधुनिक शास्त्र-मुक्त आलोचक

इन्द्रनाथ चौधुरी

हर देश के साहित्य-विचार में साहित्यालोचकों को दो श्रेणियों में बाँटने की परम्परा रही है : विश्वविद्यालयीय आलोचक (Academic) एवं उनसे इतर शास्त्र-मुक्त (Non-academic) आलोचक। अमरीका के विख्यात आलोचक विलबर स्कॉट अपने देश की आलोचना के इतिहास के बारे में टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि बीसवीं शती के प्रारम्भ में साहित्यालोचना विश्वविद्यालयीय आलोचकों के अधिकार में थी, परन्तु धीरे-धीरे यह अधिकार शास्त्र-मुक्त आलोचकों ने ग्रहण कर लिया, परन्तु तृतीय दशक से फिर यह विश्वविद्यालय के अध्यापकों के अधिकार में आ गई (देखिए, (Five Approaches of Lit. Criticism, p. 17)। इस वाक्य से यही प्रतीत होता है कि स्कॉट को इससे गहरा सन्तोष है कि आलोचना की धुरी अध्यापकों ने सँभाल रखी है। हिन्दी में इस सम्बन्ध में कुमार विमल का स्पष्ट वक्तव्य है कि हिन्दी की नई आलोचना के स्वरूप का कोई भी अनुकरणात्मक सम्बन्ध अंग्रेज़ी साहित्य के न्यू क्रिटिसिज़्म के साथ नहीं है। साथ ही यह आजकल के विश्वविद्यालय में प्रचलित 'एकेडेमिक क्रिटिसिज़्म' से नितान्त भिन्न है। नाम की दृष्टि से नई आलोचना को कुमार विमल उपरम्परित आलोचना, अत्याधुनिक आलोचना या कलाशास्त्रीय आलोचना कहा जा सकता है (देखिए, अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य, भूमिका)। बँगला में एकाडेमिक आलोचना का उल्लेख वक्रतापूर्ण ढंग से ही किया जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र, अंग्रेज़ी रोमांटिक तथा विक्टोरिया समालोचना पद्धति के आधार पर जिस आलोचना पद्धति का निर्माण बँगला में हुआ है उसे ही एकेडेमिक कहा जाता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों के अतिरिक्त, कॉलरिज, शेली, पेटर तथा मैथ्यू आर्नल्ड इस एकेडेमिक समालोचना के पथ-प्रदर्शक माने जाते हैं। इस आलोचना पद्धति का पाथेय विश्लेषण है और लक्ष्य सौन्दर्य है। कवि के सृजन की आलोचना करते हुए उसके भीतर एक सुनिर्दिष्ट नियम की क्रियाशीलता का अनुभव करना एवं सृष्टि-कर्म पर इस नियम के सामग्रिक प्रयोग का विश्लेषण करना एवं उसमें से जीवन के सम्पर्क में कवि के वक्तव्य को ढूंढ़ निकालना ही इस आलोचना का क्रियारूप है। सुधीरकुमार दास गुप्त, अतुलचन्द्र गुप्त, विष्णुपद भट्टाचार्य, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, श्रीकुमार बंद्योपाध्याय, सुबोधचन्द्र सेन गुप्त, शशिभूषणदास गुप्त आदि एकेडेमिक आलोचना-गोष्ठी के अन्तर्भुक्त हैं। इन आलोचकों ने ऐतिहासिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक समालोचना रीति का बार-बार उल्लेख किया है, किन्तु रसाश्रित सौन्दर्यमूलक आलोचना रीति, जिसे बँगला में नान्दनिक आलोचना रीति भी कहा जाता है, को अपनाना ही इनकी आलोचना का लक्ष्य रहा है। मोहितलाल मजूमदार के अनुरूप कतिपय आलोचकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र की अवहेलना कर नवीन साहित्य की नई आलोचना-पद्धति के निर्माण का प्रयत्न किया, परन्तु सेंट्सबेरी, मरे, डाउडन, ब्राडली, टेन, सेंट ब्यूव एवं रेनाँ का पल्ला पकड़े रहने से यथार्थ रूप से नव्य समालोचक नहीं बन सके। यह ठीक है कि एकेडेमिक आलोचक नये आलोचक नहीं हैं परन्तु इससे इनकी समालोचना रीति का मूल्य कम नहीं हो जाता है।

बँगला में शास्त्र-मुक्त आलोचना का बीजारोपण रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था, परन्तु उनकी स्वकीय विशेषताओं के कारण आलोचना के क्षेत्र में वे अननुकरणीय ही बने रहे। वे भी नान्दनिक या रसाश्रित सौन्दर्यवादी आलोचक ही थे, परन्तु रस, सौन्दर्य एवं बृहत् जीवनादर्श—इन तीन मानदण्डों की सहायता से उन्होंने शास्त्र से इतर व्यक्तिनिष्ठ आलोचना (Impressionistic) को ही अधिक महत्त्व दिया। रवीन्द्रनाथ की आलोचना में नव्य आलोचना की केवल इस कड़ी—व्यक्तिनिष्ठ आलोचना-पद्धति का ही उन्मेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। उस युग में टेन के प्रभावस्वरूप ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति की बड़ी धूम मची हुई थी, परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यही था कि इस पद्धति के आलोचक साहित्य के मूल्यांकन के स्थान पर उसके ऐतिहासिक विवर्धन की समीक्षा में ही अधिक तत्पर रहते थे। परिणामतः रवीन्द्रनाथ के द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिनिष्ठ आलोचना पद्धति से आलोचना के क्षेत्र में एक उत्साहवर्धक परिवर्तन आया परन्तु यह परिवर्तन बहुत ही सीमित क्षेत्र में ही आविष्ट रहा। कदाचित् इस प्रकार की आलोचना में आलोचक की रुचि, ज्ञान तथा लेखन-प्रणाली की व्यक्तिनिष्ठता इतनी सुतीव्र होती है कि उसकी आलोचना सर्वबोधगम्यता के सर्वमान्य गुण से हीन 'टाईप' का आकार धारणा कर लेती है। रवीन्द्रनाथ की आलोचना में भी यह दोष उपलब्ध है, परन्तु यह निश्चित है कि नव्य आलोचना की इस कड़ी को प्रश्रय देकर उन्होंने बँगला आलोचना को नयी दिशा दी और नॉन-एकेडेमिक आलोचकों की श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। यद्यपि यह भी सत्य है कि उन्होंने साहित्य-तत्त्व विषयक कोई अभिनव मतवाद अथवा सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा नहीं की परन्तु उनके कारण ही बँगला की नव्य-आलोचना तत्त्व, व्याख्या तथा विश्लेषण की दृष्टि से सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित हो सकी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिस नयी आलोचना या शास्त्र-मुक्त आलोचना की नींव रखी उसका प्रसार मगर उन्हीं के सपक्ष या विपक्ष में किये गए आलोचना के सिलसिले में नये आलोचकों के द्वारा शुरू हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ० आदित्य ओहदेदार ने स्पष्ट कहा है, "हमारे समालोचकों ने आज-तक···उन्नीसवीं शती की कोशिशों के अनुरूप रवीन्द्रनाथ पर कतिपय Bio-critical ग्रन्थ ही लिखे हैं। इस ढंग की ग्रन्थ-रचना परिश्रम-सापेक्ष होने पर भी लेखक की कोई विशेष क्षमता का परिचायक नहीं एवं इस प्रकार की रचना के लिए साहित्य रस-बोध विशेष न रहने पर भी काम चल जाता है।···रवीन्द्र-साहित्य की प्रकृत समालोचना अभी तक शुरू नहीं हुई है।···अंग्रेजी में जिसे Practical Criticism कहते हैं, अथवा नयी समालोचना (New Criticism) की जो धारा आज प्रवाहित है, बँगला समालोचना-साहित्य में अभी तक उसका कोई विशेष निदर्शन नहीं मिला है।" (रवीन्द्र-साहित्य समालोचनार धारा)।

वस्तुतः शास्त्रमुक्त आलोचना की दिशा में जिन कतिपय बँगला आलोचकों ने पहले-पहल साहस के साथ कदम रखा था उनमें लगभग सभी 'सबुजपत्र' के लेखक रहे हैं और 'सबुजपत्र' गोष्ठी के विद्वान् माने जाते हैं, परन्तु बुद्धि की मुक्ति और मननशीलता की साधना करने पर भी स्थायी समालोचनाकर्म में इनका योगदान नगण्य है। नॉन-एकेडेमिक क्षेत्र में 'परिचय' पत्रिका का विशेष महत्त्व है। इस पत्रिका के द्वारा ही सुधीन्द्रनाथ दत्त, विष्णु दे, बुद्धदेव वसु, आबु सयीद आयूब आदि आलोचक शास्त्रमुक्त आलोचना का प्रसार करने में समर्थ हुए थे।

सुधीन्द्रनाथ दत्त तथा विष्णु दे ने आई० ए० रिचर्डस् तथा टी० एस० इलियट की समालोचना पद्धति का विस्तार से विवेचन करते हुए बँगला समालोचना में नवयुग का निर्माण किया। भाषाविज्ञान की सहायता से शिल्प के अंतरंग अर्थात् मनस्तत्त्व का पर्यवेक्षण ही रिचर्डस् की आलोचना का लक्ष्य था। इसीको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है, "To explore with thoroughness the intricacies of the modes of language as working modes of mind"। भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के इस द्विविध आधार के आश्रय से सत्येन्द्रनाथ दत्त तथा विष्णु दे ने बँगला समालोचना-क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक (Psychological) तथा प्रकरणमूलक (Formalistic) पद्धति का प्रसार किया। इन दो आलोचना-पद्धतियों में मनोवैज्ञानिक पद्धति का सूत्रपात शास्त्रमुक्त आलोचकों के द्वारा किए जाने पर भी विश्वविद्यालयीय आलोचकों में इसका विशेष आदर हुआ। जीवन के साथ काव्य का पारम्परिक सम्बन्ध स्थापित किए बिना वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सहायता से बँगला के शास्त्रमुक्त आलोचकों ने रिचर्डस् तथा इलियट की सहायता से जिस मनःसमीक्षामूलक समालोचना पद्धति का सूत्रपात किया था बाद में विश्वविद्यालय में वही एकेडेमिक साहित्य-समीक्षा का आधार बना। कदाचित् हर्बट रीड, एडमंड विलसन, एफ० एल० ल्यूकस तथा आई० ए० रिचर्डस् आदि परम्परावादियों का भी, जिन्होंने मनोविज्ञान को साहित्य-समीक्षा का मानदण्ड स्वीकार किया था, इसमें अप्रत्यक्ष सहयोग हो। जो कुछ भी हो, परिचय-गोष्ठी के शास्त्रमुक्त आलोचकों की मनोवैज्ञानिक विवेचना पद्धति बँगला आलोचना के लिए लाभदायक सिद्ध हुई इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकरणमूलक आलोचना-पद्धति को ही यथार्थ रूप में नई शास्त्रमुक्त आलोचना की आख्या दी जा सकती है। विष्णु दे तथा सुधीन्द्रनाथ दत्त इलियट तथा रिचर्ड्स के प्रभाव-स्वरूप ही बँगला काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इसका प्रवर्त्तन करने में समर्थ हुए थे, परन्तु पाश्चात्य देश में इस पद्धति का यथार्थ-रूप उद्घाटन करने वाले एम्पसन, ब्लैकमूर, टेट, रैनसम, क्लीन्थ ब्रुक तथा रबर्ट पेन वैरेन माने जाते हैं और बँगला में भी सुधीन्द्रनाथ दत्त तथा विष्णु दे के उपरान्त अमिय चक्रवर्ती को प्राकरणिक आलोचना के मूलतत्त्ववेत्ता स्वीकार किया जाता है। प्रकरणमूलक आलोचना पद्धति के अनुसार साहित्य-समीक्षा के लिए सामाजिक, नैतिक या मनोवैज्ञानिक आधार अनावश्यक हैं, वरन् साहित्य की समीक्षा साहित्य, उसकी भाषा, उसके पाठ एवं अभिव्यंजना के आधार पर ही होती है अर्थात् इस पद्धति के अनुसार साहित्य नान्दनिक निर्मिति (Aesthetic Structure) है। टी० ई० ह्यूम तथा एजरा पाउण्ड के विचारों के आधार पर जब इलियट ने कविता को कवि के व्यक्तित्व तथा अनुभूति से पलायन माना, तब आलोचना के क्षेत्र में कवि के आत्मपक्ष के विश्लेषण के स्थान पर केवल कविता के भाव तथा अभिव्यंजना पक्ष के विवेचन की प्रवणता बढ़ी। सुधीन्द्रनाथ दत्त की आलोचना में प्रकरण-सचेतनता का यह रूप स्पष्ट है। उन्होंने लिखा है, "महाकवि अपनी भाषा का निर्माण स्वयं कर लेता है किन्तु वह भाषा जब अन्तिम रूप लेती है तब उसमें नित्य नैमित्तिक उक्ति-प्रत्युक्ति की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है।" (स्वगत, पृ० १४६)। विदेश में एल० सी० नाईट तथा एफ० आर० लेवीस ने मगर इस प्रकरणमूलक आलोचना पद्धति का घोर विरोध किया। उनका कहना है कि प्रकरणमूलक (Formalistic) आलोचना में साहित्य के केवल एक पक्ष की ही आलोचना होती है; ऐसी आलोचना में साहित्य का सम्पूर्ण रूप (totality) उद्घाटित नहीं होता है। कदाचित् इन विरोधी तत्त्वों से अवगत अमिय चक्रवर्ती ने अपनी प्राकरणिक आलोचना में मध्यम मार्ग अपनाते हुए कहा है, "असली बात तो यह कि आज की काव्यालोचना में टेकनीक अथवा वक्तव्य की ऐकान्तिक निन्दा-प्रशंसा दोनों के मूल में समग्र काव्य के मूल्य विचार की प्रचेष्टा विद्यमान है। समालोचकों का प्रकृत लक्ष्यस्थल आधुनिक काव्य का रूपविधान या विषयवस्तु नहीं—कागज़ में चाहे वे कुछ भी लिखें, साम्प्रतिक बँगला कविता की मूल प्रवणता के सम्बन्ध में वे सचेतन हो उठे हैं। भाव और छन्द की नवीन युग्मता में साहित्य का विशिष्ट रूप दिखाई पड़ रहा है इसको और अस्वीकारा नहीं जा सकता···टेकनीक में परिवर्तन युग-मन के परिवर्तन के साथ कैसे सम्बन्धयुक्त है इसके विश्लेषण का समय आ गया है।" (साम्प्रतिक, पृ० १६)। अमिय चक्रवर्ती के विचार प्रकरण-मूलक आलोचना पद्धति में संशोधन लाने वाले शिकागो स्कूल के विद्वान् ओल्सन, ब्लैकमूर आदि के विचारों से मेल खाते हैं। वस्तुतः शिकागो स्कूल के संशोधनकर्ताओं ने प्रकरणवादी आलोचना के अन्तर्गत काव्य-प्रकरण के विश्लेषण के साथ-साथ उसके नान्दनिक मूल्य का भी विवेचन करना शुरू किया है और इन लोगों के परिश्रम से यह पद्धति नान्दनिक निर्मिति (Aesthetic Structure) का रूप धारण कर सकी है। अमिय चक्रवर्ती ने भी इस संशोधित प्रकरणमूलक आलोचना के आश्रय से कविमानस का सुन्दर परिचय दिया है।

बंगला की शास्त्रमुक्त आलोचना के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक तथा प्रकरणमूलक आलोचना पद्धति के अतिरिक्त एक तीसरी पद्धति भी विशेष प्रचलित है जिसे समाजनिष्ठ आलोचना-पद्धति कहा जाता है। प्रारम्भिक अवस्था में यह आलोचना विश्वविद्यालयीय स्तर पर साहित्य और जीवन से सम्बन्धित तथा इस सम्बन्ध की परिणति मानवीय मूल्यबोध पर आश्रित थी। मैथ्यू आर्नल्ड, आयरविंग वेबिट, एडमण्ड-फुलर, एफ० आर० लेविस आदि के प्रभावस्वरूप नैतिकता के आधार पर साहित्य की जीवननिष्ठ व्याख्या का प्रचलन हुआ था। इस ढंग की व्याख्या की प्रतिक्रिया में बँगला में मार्क्स के द्वान्द्विक भौतिकवाद पर आश्रित शास्त्रमुक्त आलोचकों ने एक नवीन ढंग की समाजनिष्ठ आलोचना-पद्धति का प्रचलन किया, परन्तु नॉन-एकेडेमिक होने पर भी मार्क्स के दर्शन के आधार पर इस पद्धति ने इतना अधिक शास्त्रीय रूप धारण कर लिया कि बंगला के, सही दृष्टि में जो शास्त्रमुक्त आलोचक हैं वे इसके बन्धन में नहीं आए। इस बन्धन के बाहर बुद्धदेव वसु तथा प्रेमेन्द्र मित्र ने बिना किसी दार्शनिक मत या पूर्वग्रह के साहित्य को सामाजिक परिवेश में स्थापित कर उसका विश्लेषण करते हुए समाज के साथ उसके सम्बन्ध का विवेचन किया है। कला, लेखक तथा सामाजिक परिवेश के योगसम्बन्ध का विवेचन ही इस पद्धति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आधेय है। बुद्धदेव बसु का कहना है, "मनुष्य दुःखी है, परन्तु उसे मालूम होना चाहिए कि वह दुःखी है, मनुष्य पापी है, किन्तु उसे मालूम हो कि वह पापी है; मनुष्य रुग्ण है, किन्तु उसे पता चले कि वह रुग्ण है; मनुष्य मुमूर्ष है किन्तु उसे मालूम हो कि वह मुमूर्ष है; मनुष्य अमृताकांक्षी है एवं उसे मालूम हो कि वह अमृताकांक्षी है···मगर सब नहीं जानेंगे, जान नहीं सकेंगे, जानना नहीं चाहेंगे; किन्तु कवियों को जानना है। यह ज्ञान ही आधुनिक साहित्य का अभिज्ञान है।" (प्रबन्ध संकलन, पृ० २४२)। शास्त्रमुक्त आलोचक प्रेमेन्द्र मित्र ने भी इसी ढंग से समाजनिष्ठ आलोचना पद्धति का आश्रय ग्रहण किया है। उनका कहना है, "वास्तविक दृष्टि से साहित्य की सार्थकता उपकरण के प्राचुर्य या वैचित्र्य पर अवश्य ही निर्भरशील नहीं है, किन्तु देश या काल के हृदय का मुकुर जो साहित्य बनना चाहता है, उसका आलोक काफी दूर तक फैल सके, क्या इस ढंग से उसे जलना नहीं चाहिए ?" (वृष्टि एल, पृ० १६)। वस्तुतः विलवर स्कॉट के अनुसार प्रेमेन्द्र मित्र भी यह विश्वास करते हैं कि शून्यता में कला की सृष्टि नहीं हुई है; यह केवल एक मनुष्य का कार्य नहीं, मगर एक ऐसे लेखक का कार्य है जो देश या काल से आबद्ध है, जो एक गोष्ठी के प्रश्नों का उत्तर देने वाला उस सामाजिक गोष्ठी का सवाक् अंग है।

बँगला के शास्त्रमुक्त आलोचकों में उपर्युक्त तीन आलोचना-पद्धतियों का प्रसार ही परिलक्षित होता है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना अभी तक वास्तविक रूप से आधुनिक नहीं बन पाई है। सुधीन्द्रनाथ दत्त, विष्णु दे तथा अमिय चक्रवर्ती ने प्राकरणिक आलोचना-पद्धति के प्रति सचेतनता दिखाई है, परन्तु पाश्चात्य प्रमुख नव्य समालोचकों ने लेखक को अलगकर साहित्यकर्म की जिस ढंग से व्याख्या की है। अथवा लेखक-मन के अनिश्चित क्रिया-कलाप की व्याख्या की अपेक्षा प्रत्यक्ष वस्तु साहित्य-कर्म के रूप-विश्लेष के प्रति जो आग्रह दिखाया है अथवा साहित्य की संश्लिष्ट संगठनात्मक व्याख्या के प्रति जो गुरुत्व आरोपित किया है, बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना में ऐसा कुछ दिखाई नहीं पड़ता है। हाँ, समाजनिष्ठ आलोचना-पद्धति के प्रति शास्त्रमुक्त आलोचक जागरूक हैं। मनोवैज्ञानिक विवेचन-पद्धति को अपनाने में, जो बहुत अधिक एकेडेमिक बन चुका है, ये आलोचक ऐसे ही बहुत अधिक सचेष्ट एवं सक्रिय नहीं हैं। आधुनिक युग की आर्कीटाइपल आलोचना-पद्धति का भी बँगला की शास्त्रमुक्त समालोचना में प्रसार दिखाई नहीं पड़ता है। आर्कीटाइपल आलोचना-पद्धति एक विचित्र प्रकार की पद्धति है जिसमें साहित्य के प्रकरण के सम्पूर्ण अध्ययन के साथ-साथ मानवीय स्तर पर उसके नान्दनिक मूल्यों की पहचान तथा मनोविज्ञान के आश्रय में पाठक-कवि के सम्बन्धों की खोज एवं सर्वोपरि सामाजिक स्तर पर साहित्य के मूल आवेदन मौलिक सांस्कृतिक दृष्टांतों की व्याख्या की जाती है। इस तरह यह ऐतिहासिक भी है क्योंकि प्राचीन, सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के साथ साहित्य का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, मगर इस सम्बन्ध की बात करते हुए ऐसी आलोचना में साहित्य को देश-काल के बन्धनों से मुक्त अनैतिहासिक अर्थात् सर्वकालिक भी स्वीकार किया जाता है। संक्षेप में आर्कीटाइपल आलोचना-पद्धति में साहित्य को प्राचीन मौलिक किसी सारगर्भित तथा मानवीय सांस्कृतिक दृष्टान्तों का विदर्शन रूप स्वीकार किया जाता है। मौड बौडकिन, नौर्थरूप फ्राई, रिचर्ड चेज़, फ्रांसिस फरगेसन, लेसली फिडलर आदि आर्कीटाइपल पद्धति के आलोचक माने जाते हैं। इस पद्धति के प्रति बँगला के एके-डेमिक या नॉन-एकेडेमिक आलोचक अभी तक उदासीन ही हैं। निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना में नवीन मूल्यबोध की परख हो रही है, परीक्षण-निरीक्षण चल रहा है और इसीलिए सम्पूर्ण रूप से अभी तक यह नवीन नहीं बन पाई है, परन्तु यह निश्चित है कि बँगला की शास्त्रमुक्त आलोचना परिणति के पथ पर अग्रसर है—विशेष रसज्ञान के प्रति उसकी यात्रा शुरू हो चुकी है। इस आलोचना की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इस आलोचना-कर्म से यह स्पष्ट हो गया है कि यथार्थ समालोचना बन्धन नहीं है, मुक्ति है; इससे साहित्यकर्म के आस्वादन में पाठक को सहायता पहुँचती है, बाधा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बँगला कहानी : विभाजन के बाद

इन्दुमती ओझा

हिन्दी कहानी में स्वतन्त्रता के बाद अनेक प्रतिभाओं ने जन्म लिया। परन्तु, बँगला में १९४७ के पहले की प्रतिभाएँ इतनी प्रबल और तीव्र हैं कि उनके सामने नई प्रतिभाएँ कुछ नई चीज नहीं दे सकी हैं। अभी भी बँगला-साहित्य के पाठक **ताराशंकर, प्रेमेन्द्र मित्र, नारायण गंगोपाध्याय को ही पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। नवोदित बँगला-कहानीकारों में समरेश वसु, रमापति चौधरी, जरासंध, शंकर, विमलकर, विमल मित्र, नरेन्द्रनाथ मित्र, गजेन्द्रनाथ मित्र, ज्योतिरीन्द्र नन्दी, अवधूत आदि उल्लेखनीय हैं।**

विभाजन ने हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों को बहुत कम प्रभावित किया था। पंजाब और बंगाल में ही विभाजन की भयंकरता साक्षात् दिखाई पड़ी थी। इसीलिए, बँगला-साहित्य में दुर्भिक्ष, साम्प्रदायिक दंगा तथा देश-विभाजन के फलस्वरूप बंगाल के सीमान्त अंचल में जो परिवर्तन आया है, उस जीवन-यात्रा की अनेक कहानियाँ दिखाई पड़ती हैं। साथ ही साथ, कलकत्ता महानगरी के जीवन में इस विभाजन से किस तरह का आंदोलन आरम्भ हुआ और किस तरह व्यक्ति के चिर-संचित विश्वास और आदर्शों को इसने विनष्ट कर दिया है, इसका भी वर्णन सुलभ होता है।

विमल मित्र की कहानी 'तीन नम्बर साक्षी' में यह बताया गया है कि विषम परिस्थिति से हार खाकर व्यक्ति कैसे आत्महत्या करता है। कहानी एक गवाह के मुख से कही गई है। गवाह तथा कहानी के नायक मि० भट्टाचार्य दोनों एक ही डब्बे में यात्रा कर लेते हैं, अतः सहयात्री को ही इस मृत्यु के सिलसिले में गवाह बनना पड़ा है। वह गवाह नम्बर तीन है।

मि० भट्टाचार्य से जो परिचित थे उन्होंने यह गवाही दी कि वे मस्तिष्क-विकृति से पीड़ित थे। तीन नम्बर गवाह, अर्थात् कहानीकार अन्तिम रात्रि में मि० भट्टाचार्य से उसकी जो बातचीत हुई थी उसे बताते हुए कहता है कि— मि० भट्टाचार्य के पिता अंग्रेज़ों के समय वायसराय के पर्सनल सेक्रेटरी थे। इसलिए मि० भट्टाचार्य उच्च शिक्षा प्राप्त करके आई० सी० एस० बनते हैं, परन्तु वे नौकरी नहीं करते। अब भारत स्वाधीन हो गया था। पिता का सारा धन लेकर वे स्कूल खोलते हैं। लेकिन, सद्इच्छा से ही सद्काम नहीं होता। लोगों ने यह अपवाद फैलाया कि स्कूल के नाम से मि० भट्टाचार्य अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं।

सरकार की ओर से इन्क्वायरी शुरू हो जाती है। किसी को यह विश्वास नहीं होता था कि आई० सी० एस० होकर मि० भट्टाचार्य निःस्वार्थ सेवा कर सकते हैं। किसी ने कहा यह अमेरिकन स्पाई है, तो किसी ने कहा रशियन स्पाई है। इस पर भी स्कूल चलता ही रहा। लेकिन जिस व्यक्ति से मि० भट्टाचार्य ने ज़मीन खरीदी थी, उसने उनके ऊपर दावा कर दिया कि बिना खरीदे ही उन्होंने ज़मीन दखल कर ली है। यह मामला पाँच वर्ष तक न्यायालय में चलता रहा। उधर स्कूल में भी दलबन्दी होने लगी।

मजिस्ट्रेट कहानी सुनते-सुनते ऊबकर पूछते हैं कि गाड़ी में क्या हुआ? क्या ऐसी कोई घटना हुई जिससे यह पता चलता है कि वे विकृत-मस्तिष्क थे? तीन नम्बर साक्षी जवाब देता है 'नहीं', सोते समय उन्होंने एक बात कही थी कि 'Present India' में किसी अच्छे आदमी के लिए स्थान नहीं है। अच्छे आदमियों के लिए यहाँ जीना विडम्बना है।' न्यायालय निःशब्द हो जाता है।

जज ने फैसला दिया : "मि० भट्टाचार्य विकृत-मस्तिष्क के थे, अतः आवेश में आकर उन्होंने आत्महत्या की।"

इस कहानी में तिर्यक् व्यंग्य है। जो व्यक्ति मि० भट्टाचार्य जैसा होगा वह भला विकृत मस्तिष्क का नहीं होगा तो और क्या होगा? कहानी का एक वाक्य कि "Present

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

India' में अच्छे लोगों का जीना विडम्बना है," इसी व्यंग्य को प्रकट करने के लिए है।

शक्तिमद राजगुरु की कहानी 'अनुशासन' में निष्ठावान् ब्राह्मण 'गौरसुन्दर' का विश्वास कैसे टूटता है और समय के अनुशासन को उसे कैसे मानना पड़ता है, इसका एक यथार्थ उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। गौरसुन्दर तथा गौरांग सुन्दर दोनों भाई स्वच्छन्द जीवन-यापन करने के अभ्यासी हैं। विभाजन के समय गौरसुन्दर किसी तरह प्राण-रक्षा करके, अपने परिवारों के साथ, बेटे के पास कलकत्ते में आते हैं। पुत्र नवेन्दु पिता पर बड़ा नाराज़ होता है कि वे काका को लेकर क्यों आए ? पर गौरसुन्दर ने स्पष्ट कह दिया कि प्राण रहते वे भाई को पृथक् नहीं कर सकते। गाँव का एक दूसरा व्यक्ति भूतनाथ भी बहुत दिनों से कलकत्ते में रहता है। जाति का वह निम्नशूद्र है। उसी की चेष्टा से इन लोगों को रहने का आश्रय मिलता है। ब्राह्मण के आत्माभिमान को चोट लगती है। जिसकी वे कभी छाया नहीं छूते थे, उसी के आश्रय में रहना पड़ता है। परन्तु, भाग्य की विडम्बना ! इससे भी बड़ा आघात उन्हें तब लगता है, जब उनकी लड़की सुमित्रा एक कायस्थ लड़के से विवाह करना चाहती है। पिता कठोर होकर मना कर देते हैं। कुछ दिनों बाद पुत्र नवेन्दु भूतनाथ की लड़की से विवाह कर लेता है जिसके कारण उसे अलग हो जाना पड़ता है। अब गौरसुन्दर से गृहस्थी का भार नहीं चलता। वह पूर्व बंग लौटकर अपनी सारी सम्पत्ति बेच आता है। छोटे भाई गौर सुन्दर को उसमें से कुछ भी नहीं देता, क्योंकि जीवन में वह बदल गया है। यथार्थ के साथ उसका साक्षात् हो गया है। इन सब कष्टों को सहते हुए भी गौरसुन्दर जी रहा है। लेकिन, भूतनाथ के संबंध को लेकर लोगों का उपहास वह नहीं सह सकता था। इसीलिए वह इच्छामति अंचल की ओर चला जाता है। लेखक फिर दो वर्षों के अंतर की कथा बताता है। इच्छामति, स्टेशन पर आज एक ब्राह्मण भीख माँगता फिरता है— 'ब्राह्मणत्व' का, आज भिक्षा का अवलंबन कर, हजारों व्यक्तियों से भिक्षा का प्रार्थी है।" इस तरह गौरसुन्दर तर्कतीर्थ को देशव्यापी परिवर्तन से विक्षुब्ध, नई परिस्थिति के साथ मिलकर चलने में असमर्थ और साक्षात् निराशा के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है।

विभाजन के पहले साम्प्रदायिक दंगा तथा उसके प्रभाव ने जीवन में अनेक दृष्टियों से कठोर सत्यों को पहचानने में सहायता दी। रमापति चौधरी की कहानी 'अंगपाली' ऐसी ही एक कहानी है। विभाजन के गोलमाल में विधर्मी मुसलमान सविता को उठाकर ले जाते हैं। मुसलमानों के घर में ही उसने आविष्कार किया कि वह गर्भवती है। यद्यपि अवांछित, अयाचित सन्तान होगी, फिर भी, भावी सन्तान के लिए उसका मन मधुर स्वप्न से भर जाता है। उसे माता-पिता, भाई-बहन सबकी याद आती है। लेकिन, इस दुःख की व्यर्थता को अनुभव करके वह चुप हो जाती है। यथासमय उसे एक पुत्र प्राप्त होता है। बच्चा जब आठ महीने का होता है, तभी भारत की पुलिस सविता का उद्धार करती है और उसे माँ के पास पहुँचा देती है। सविता जानती थी कि इस बच्चे के साथ घर में उसका स्वागत नहीं होगा। इसीलिए वह जाना नहीं चाहती थी। लेकिन, पुलिस नहीं मानती। सविता संकोच के साथ घर में आती है। माँ दबे-भाव से उसका स्वागत करती है। छोटी बहन बच्चे को प्रसन्न होकर खिलाती है। सविता की माँ भी उस बच्चे को प्यार करने लगती है। संकोच और लज्जा का वातावरण दूर होता है और सविता के मन का तनाव भी दूर हो जाता है। श्रान्त सविता सो जाती है। आधी रात को नींद खुलने पर उसने देखा कि अस्वस्थ माँ नहाकर निकल रही है। छोटे भाई के पूछने पर माँ जवाब देती है— बिना नहाए कैसे रहें, क्योंकि दिन-भर बच्चा उनके पास था, और वह तो हम लोगों का बच्चा नहीं है। सविता स्तब्ध रह जाती है। परिस्थितिवश, माँ भी अपनी बेटी के बच्च से घृणा करने लगती है। लेकिन, ऊपर से उसे प्यार करती रहती है। इस कठोर सत्य का आभास सविता को होता है।

बँगला की ऐसी कहानियाँ, जो विभाजन और साम्प्रदायिक दंगों से सम्बन्धित हैं, प्रायः यथार्थवादी धरातल से निकली हैं, इसलिए इनकी सम्वेदनशीलता अत्यन्त तीव्र है।

ग्राम-केन्द्रित बँगला कहानियाँ

बँगला कहानियाँ आरम्भ से ही ग्राम-केन्द्रित हैं। बँगला के प्रायः सभी प्रमुख कहानीकार ग्राम्य जीवन के कलाकार हैं। रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र, विभूतिभूषण, ताराशंकर आदि सभी लेखकों ने ग्राम्य जीवन को सहानुभूति और आत्मीयता की दृष्टि से देखा है। हिन्दी में प्रेमचन्दजी ही अकेले इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र के लेखक थे। उनकी दृष्टि मुख्य रूप से किसानों तथा अन्य ग्रामीणों की सामाजिक बुराइयों की ओर गयी है। लेकिन, बँगला कहानीकारों ने ग्रामीण जनता के शोषित रूप के अतिरिक्त उसके गार्हस्थ जीवन के मधुर पक्ष की ओर भी ध्यान दिया है। उनकी भावनाओं की गहराई को परखा है। बँगला कहानियों में आरम्भ से ग्रामीण जीवन को अधिक महत्त्व दिया गया था, जिसके प्रतिक्रिया-स्वरूप १९३६ के बाद 'पल्लीकेन्द्रित' कहानियों के बदले नागरिक जीवन की अनेक कहानियाँ लिखी जाने लगी हैं। लेकिन, आज भी बँगला-लेखक पल्लीजीवन की ओर ही झुकते हैं। स्वतन्त्रता के बाद की बँगला-कहानियों में और पहले की कहानियों में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु आज की बँगला कहानियाँ, पिछले खेमे के अतिरिक्त भावोच्छ्वास या मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से मुक्त हैं।

नरेन्द्रनाथ मित्र की कहानियाँ वस्तुनिष्ठ हैं। वे यथार्थवादी धरातल पर लिखी गई हैं। उन्होंने ग्राम्य जीवन के पारिवारिक सहज रूप को अपनी अनेक कहानियों का विषय बनाया है। सहज जीवन-यात्रा के प्रति आकृष्ट होकर आप जीवन की छोटी-छोटी समस्याओं तथा हृदय-संघातों का वास्तविक चित्रण उपस्थित करते हैं। उदाहरण के लिए नरेन्द्रनाथ की कहानी 'यौध' को लिया जा सकता है। इसमें अपरूप तथा स्वरूप दो भाइयों की कहानी वर्णित है। वे बढ़ई हैं। बड़े भाई अपरूप के लड़के की बीमारी के समय नारियल तोड़ते समय स्वरूप गिर जाता है, जिससे उसके दोनों पैर नष्ट हो जाते हैं। अपरूप तथा उसकी पत्नी मल्लिका दोनों ही स्वरूप की बहुत सेवा करते हैं और स्वरूप के कष्ट को दूर करने की कोशिश करते हैं। मल्लिका और स्वरूप के सहज भावी-देवर सम्बन्ध से घर जगमगाता रहता था। स्वरूप दिन-भर बैठे-बैठे सूक्ष्मकारु कार्य करता रहता था। मल्लिका गृहस्थी के काम के बीच बीच में उसको छेड़ती रहती थी। लेकिन इस सहज जीवन में भी एक दिन स्वरूप को यह अनुभव होता है कि वह व्यर्थ ही इतना श्रम करता है। उसका अपना कोई नहीं है। भाई-भाभी केवल ऊपरी लाड़ से फुसलाकर उससे काम निकाल लेते हैं। उस दिन से उसके मन में अजीब परिवर्तन आता है। वह कम बोलने लगता है। मल्लिका से भी अब कम मजाक करता है। रात-रात जागकर काम करता है। इसके फलस्वरूप वह बीमार पड़ जाता है। क्रमशः बीमारी बढ़ती जाती है और धीरे-धीरे उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। मरते समय अपने बड़े भाई से अपूर्ण मूर्ति को पूर्ण करने के लिए अनुरोध करता है। मृत्यु के कुछ दिनों बाद अपरूप उसके कमरे में जाकर कपड़ा हटाकर जो मूर्ति देखता है, वह और किसी की नहीं, मल्लिका की ही होती है। इस कहानी में नरेन्द्रनाथ मित्र ने यह बताने की चेष्टा की है कि अपने एकान्त जीवन में भाभी का ही एकमात्र स्नेह उसने पाया था। अन्तिम समय तक उसी स्नेह को मूर्त-रूप देने का प्रयत्न वह करता रहा है। इस कहानी में कोई मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता या भावोच्छ्वास नहीं है। लेकिन हिन्दी कहानियों की जो वस्तुनिष्ठ दृष्टि है, उसका भी इसमें अभाव है।

प्रेम-कहानियों का यथार्थ

इस युग की अधिकांश कहानियों में एक नैराश्य-प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। व्यक्ति के परम्परा-प्रथित आदर्श तथा विश्वास कैसे टूटते हैं, कैसे यथार्थ में परिवर्तित होने लगते हैं, यही इन कहानियों का विषय है। इस युग का यथार्थ-बोध पिछले खेमे के यथार्थ-बोध से सशक्त नहीं कहा जा सकता। पिछले खेमे के प्रतिनिधि कहानीकार प्रेमेन्द्र मित्र में यह यथार्थ-बोध सन्तुलित रूप में दिखाई पड़ता है। इस युग में जीवन के अन्य क्षेत्र में, जैसे आर्थिक क्षेत्र में, धन के क्षेत्र में, यथार्थ-बोध पर्याप्त तीव्र है। परन्तु जहाँ तक प्रेम-कहानियों का सम्बन्ध है, ये भावोच्छ्वास से मुक्त नहीं हो पाई हैं। 'नीरजा' विमलकर की एक प्रेम-कहानी है, जिसमें यथार्थ के आघात से व्यक्ति के प्रेम का स्वप्न टूट जाता है। आज के युग में भाव-विभोरता का कितना स्वल्प मूल्य है, यह इस कहानी का प्रतिपाद्य विषय है। नायक के मतानुसार प्रेम मृत्यु को जीत सकता है। बचपन में नायक ने सौमति की कहानी सुनी थी। सौमति की प्रेयसी की मृत्यु हो गई। सौमति रथ का पीछा करते-करते यमराज के स्थान में पहुँचा। यमराज ने कहा—मृत्यु जिसे एक बार ले लेती है, उसको वापस नहीं देती। उसकी शक्ति के सामने मनुष्य की सभी शक्तियाँ हार मान जाती हैं। पर सौमति ने कहा—प्रेम मृत्यु पर भी विजयी होता है। इस प्रश्न की मीमांसा करने के लिए एक तराजू मँगाया जाता है। एक पलड़े में लड़की का मृत शरीर रखा जाता है दूसरे में सौमति का प्रेम। प्रेम का पलड़ा भारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है। नायक के मन में भी प्रेम का यही आदर्श है। वह नीरजा से बड़ी आशाओं के साथ विवाह करता है। लेकिन घमण्डी तथा उद्दंड नीरजा उसके प्रेम के स्वप्न को साकार नहीं कर पाती। यहाँ तक कि वह घर छोड़कर अन्य पुरुष के साथ चली जाती है। नायक भी किसी अन्य नगर में चला जाता है। अनेक वर्षों बाद दोनों में भेंट होती है। नीरजा किसी अमीर की लड़की की सेविका के रूप में इस नगर में आई है। रात को वह देख भी नहीं पाती है। परन्तु नायक को नीरजा को इस प्रकार देखकर खुशी नहीं हुई। बल्कि वह सोचने लगा कि उसे उस मृत नीरजा अथवा उसके अतीत की नीरजा को पाने के लिए न जाने कितना भटकना पड़ेगा, क्लेश उठाना पड़ेगा। कहानी में नायक के प्रेम का स्वप्न टूटता है। लेकिन फिर भी प्रेम का एक आदर्श रूप इस कहानी में दिखाई देता है, एकांगी प्रेम का। इस तरह की आदर्शात्मक प्रेम-कहानियाँ दो-तीन दशक पहले की कहानीकारों की सृष्टि में मिलती हैं।

वाणीराय की कहानी 'मीडिया' में अनेक आधुनिक तत्त्व विद्यमान हैं। मीडिया ग्रीक पुराण की नायिका है, जिसने अपने पति से बदला लेने के लिए अपनी सन्तानों की हत्या कर डाली थी। मीडिया का वही प्रतिहिंसात्मक रूप आज भी नारी में विद्यमान है। समय और अवसर पाते ही नारी का वह रूप जाग्रत हो जाता है। लेखिका का कथन है—"अस्पष्ट विस्मृति के तट से आज भी मीडिया की अशान्त आत्मा वर्तमान को छूना चाहती है। आज भी नारी-प्रेम के लिए सर्वस्व-त्याग करना जानती है। आज भी वह प्रतिशोध लेना नहीं भूली है। सहस्र युग बीत जाने पर भी विश्व-नारी में मीडिया चिर-जागृत है।" इस कहानी में कंका नायिका है और वह उसी मीडिया का ही प्रतिरूप है। कंका हिस्ट्री (ऑनर्स) में प्रथम आई थी। अब वह हिस्ट्री में ही एम० ए० कक्षा में अध्ययन करने आती है। उसका दीप-शिखा की तरह उज्ज्वल रूप, तीक्ष्ण कजरारी दीप्तिमान आँखें सबको आकर्षित करती हैं। जयन्त एम० ए० (फ़ाइनल) इंगलिश का लड़का है। पढ़ने में कमज़ोर, सुन्दर, खेलने में तेज़ प्रकृति का है। कंका उसकी ओर आकर्षित होती है और उसकी पढ़ाई में सहायता करती है। उसकी सहायता से जयन्त द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाता है। परन्तु कंका की आशा के विपरीत उसे पता चलता है कि जयन्त उससे विवाह नहीं कर सकता, क्योंकि वह ब्राह्मण है, कंका कायस्थ है। कंका इस समाचार के बाद जयन्त से अन्तिम भेंट करती है और उसको बताती है कि वह कायस्थ-कन्या नहीं है, बल्कि चांडाल-कन्या है। चांडाल होने पर भी गाँव में उसका बाप ज़मींदार था। वह एक ब्राह्मण-कन्या को चाहता था। कंका की माँ ने जब इस विषय में आपत्ति उठाई तो क्रोध में आकर उसने उसकी हत्या कर दी। तब से उसका पिता अण्डमान में है। बूआ और फूफ़ा को सारी सम्पत्ति देकर, कंका को मिशनरी स्कूल में छोड़कर वह चला गया है। तभी से कंका मिशनरियों के साथ बड़ी हुई है। कंका की यह कथा सुनकर जयन्त के लिए उससे विवाह करना असम्भव हो जाता है। वह उससे अपना प्रेम-पत्र माँगता है। पर कंका कहती है कि पत्र तो उसने फाड़ डाला है। कंका जयन्त से यह भी कहती है कि वह उसकी भावी पत्नी को विवाह के दिन देखना चाहती है। विवाह के दिन कंका खूब सजती है, काला वस्त्र पहनती है और काले वस्त्र में विद्युत-सी चमकती है। अपने साथ एक छोटा सूटकेस लेकर वह जयन्त की नववधू को देखने जाती है। वहाँ पहुँचकर वह वर-वधू के मुख पर एसिड फेंककर ही शान्त नहीं होती, बल्कि जयन्त द्वारा लिखित सारे प्रेम-पत्रों को भी वधू को देकर चली जाती है। इस प्रकार वह प्रेम का प्रतिशोध लेती है।

यह कहानी प्रकृतिवादी धरातल पर लिखी गई है। सभ्यता के नीचे जो आदिम मनोवृत्ति है, उसको उभारने की चेष्टा की गई है। कंका के शिक्षित और सभ्य होने पर भी उसमें वही प्रवृत्ति प्रधान है, जो मीडिया में थी। कहानी अत्यन्त कलात्मकता के साथ प्रस्तुत की गई है।

इसी प्रकार नवेन्दु घोष की 'तृष्णा' कहानी में भी प्रेम की उत्कट तृष्णा का रूप प्रदर्शित है। बिहारी ड्राइवर वासुदेव पूना में एक महाराष्ट्रीय लड़की गंगा को प्रेम करने लगता है। गंगा का बाप लुहार है। वह वासुदेव को इस धृष्टता के लिए खूब मारता है और उसके मालिक से शिकायत भी कर देता है। मालिक वासुदेव को छुड़ा देने की धमकी भी देते हैं। परन्तु गंगा का आकर्षण उसके लिए इतना तीव्र है कि वासुदेव सब-कुछ सहकर भी उससे प्रेम करता रहता है। एक दिन गंगा घर से गायब हो जाती है। रात को वासुदेव की मालकिन स्टोर में गंगा को पाती है। मालकिन ने समझ लिया कि वह गर्भवती हो चुकी है। स्त्री-सुलभ सहानुभूति से उनका हृदय द्रवित हो जाता है और वह वासुदेव और गंगा को रात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही को गाड़ी में चढ़ाकर घर भेज देती है। इस कहानी में स्त्री-पुरुष के जैविक आकर्षण का बड़ा ही सूक्ष्म निदर्शन किया गया है।

स्वाधीनता के उपरान्त कुछ लेखकों में यथार्थ-बोध की भावना तीव्र रूप से व्यक्त हुई है। ज्योतिरीन्द्र नन्दी की कहानियाँ ऐसी ही हैं। 'टैक्सीवाला' कहानी में एक टैक्सीवाले का अनुभव चित्रित है। टैक्सी वाला एक सुन्दर और सम्भ्रान्त लड़की को अपनी टैक्सी में बैठाता है। लड़की की बातचीत से यह पता चलता है कि पति से उसकी पटती नहीं है। वह अपनी माँ के यहाँ से पति महीतोष के घर जा रही है। महीतोष के घर पहुँचने पर टैक्सीवाला देखता है कि वह अपमान करके लड़की को भगा देता है। लड़की उसी टैक्सी में लौट आती है। टैक्सीवाले का मन लड़की के प्रति सहानुभूति से भर जाता है। लड़की फफककर रो उठती है। फिर टैक्सीवाला पूछता है—"कहाँ जाना है?" लड़की के इस कथन से कि वेश्या का क्या कोई घर होता है, टैक्सीवाले की सारी सहानुभूति तिरोहित हो जाती है। वह पूछता है—किराए के लिए पैसे हैं कि नहीं? और 'नहीं हैं' जानकर टैक्सीवाला उसे उसी स्थान पर उतार देता है। जिस लड़की के लिए टैक्सीवाले के मन में इतनी सहानुभूति उमड़ रही थी, उसी के लिए वह इतना निष्करुण हो जाता है और अन्त में कहता है—"बिना उसकी ओर देखे मैं फर्राटे से गाड़ी चलाकर सर्कुलर रोड पर आ गया। तेल नहीं था, पानी था। इसीलिए ट्राउज़र से हाथ पोंछने में मुझे असुविधा नहीं हुई।" तेल नहीं था, वाक्य से लेखक यह संकेत कर देना चाहता है कि उस स्त्री के लिए उसके मन में कोई स्नेह नहीं था, केवल थोड़ी-सी आर्द्रता थी, जिससे अनायास ही उसको पोंछ-फेंकने में असुविधा नहीं हुई। इस कहानी में यथार्थ का बड़ा निर्भीक चित्रण हुआ है।

प्रयोग

अज्ञेय की 'जयदोल' जैसी प्रयोगशील कहानियाँ भी बंगला-साहित्य के इस युग में कुछ मात्रा में दिखाई पड़ती है। 'आरो एक शरीर' में नारायण गंगोपाध्याय ने यह दिखाया है कि श्यामली, जो अपने को सदा पुरुष से दूर रखती है और पुरुष से घृणा करती है, वही अपनी सखी सुधा के पति के पत्र को पढ़कर विचित्र अभाव का अनुभव करती है। एक दिन जब सुधा के पति उसके यहाँ मिलने आने वाले थे, तो वह अनजाने में बहुत अधिक सज जाती है। अकेली उन दोनों की प्रतीक्षा करती हुई उसको एक अद्भुत स्वप्न-सा दिखाई देता है। उसे लगता है कि उसके शरीर से एक और शरीर उत्पन्न हो रहा है। और वह शरीर नदी के पार चला जा रहा है। उसको आश्चर्य होता है कि ऐसी अद्भुत चिन्ता क्योंकर उसके मन में आई। यह चिन्ता या स्वप्न बार-बार उसके मन में आने लगा। इस प्रकार स्वप्न-माध्यम से नारी के मातृत्व की स्वाभाविक इच्छा प्रतीकात्मक रूप में श्यामली के मन में आई है। श्यामली के बाल्य-जीवन का कटु अनुभव, उसके मन में पुरुष के प्रति घृणा-भाव का पोषण करा रहा था। लेकिन, मातृत्व की कामना उसके अन्तर्मन में दबी हुई थी। वही प्रतीक बनकर एक और शरीर के रूप में श्यामली के चेतन को उद्वेलित करती है। इस कहानी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। कहानी चेतन और अवचेतन मन की स्थितियों का वर्णन करती है।

प्रयोग की दृष्टि से रमापद चौधरी की कहानी 'तीतर रुदनेर माठ' (तीतर रुदन का मैदान) भी उल्लेखनीय है। इसमें कल्पना और स्मृति दोनों को लेखक ने बड़े कौशल से एक साथ सजाया है। अरुणिमा तथा असीमेन्दु की असफल प्रेम-कहानी को सतीश स्मरण करता है। असीमेन्दु के दिवंगत होने पर अरुणिमा का विवाह अन्य के साथ हो गया था। असीमेन्दु की याद का रूप उसकी कल्पना में है। बहुत दिनों बाद अरुणिमा अपने पति तथा बच्चे के साथ तीतर रुदन का मैदान, जो एक स्टेशन है, पर आने वाली है। अरुणिमा की प्रतीक्षा करते-करते सतीश सोचता है कि अरुणिमा उससे कैसे मिलेगी? उसका पति कैसे उससे हैण्डशेक करेगा, उसका बच्चा कैसे हँसेगा, आदि। फिर वह सोचता है कि वह अरुणिमा को एक दिन एकान्त में पाकर उसे असीमेन्दु के विषय में बतायेगा कि वह एक्सिडेंट से नहीं मरा था, बल्कि जान-बूझकर उसने आत्महत्या की थी। असीमेन्दु सतीश के साथ ही पढ़ता था। वह बहुत धनी घर का लड़का था। अरुणिमा से प्रेम करने के कारण, पिता ने उसे त्याज्य पुत्र घोषित कर दिया था। सतीश की चेष्टा से इसी तीतर रुदन के मैदान में उसे भी नौकरी मिल गई थी। घर-द्वार सजाकर असीमेन्दु अरुणिमा से विवाह करने कलकत्ता जाता है, परन्तु पता नहीं क्यों, बिना विवाह के ही लौट आता है। सतीश के बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूछने पर भी वह कुछ नहीं बताता। सात दिन बाद उसके पास एक पत्र आता है। वह पत्र क्या था, सतीश नहीं जानता, लेकिन उसी दिन पहाड़ तोड़ने के लिए डायनामाइट लगाने के पहले, खतरे की घंटी बजने के बाद भी असीमेन्दु उधर जाता है और इस प्रकार आत्म-हत्या करता है। रिकार्ड में लिखा जाता है—एक्सिडेंट।

अरुणिमा को इस कहानी का अंतिम भाग पता नहीं है। सतीश सोचता है कि वह जब अरुणिमा को इस विषय में बतायेगा तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। वह सोचता है, शायद अरुणिमा भी स्वस्थ एवं धनवान पति को प्राप्त कर सुखी नहीं है। वह हवा-पानी बदलने वहाँ आ रही है। शायद उसकी बीमारी बीमारी नहीं है, है आत्म-निःशेष। इस प्रकार इस कहानी में मध्यवर्गीय समाज के असफल प्रेम का एक मार्मिक चित्रण है। जीवन की सहजता के नीचे कितनी व्यथा और कितनी तड़प हो सकती है और उसे कैसे निःशब्द सहना पड़ता है, वह इस कहानी में अत्यन्त स्पष्ट है। यद्यपि तीव्रता की दृष्टि से यह कहानी पिछले खेमे की कहानियों से अधिक तीव्र अनुभूति नहीं देती, लेकिन शैली की दृष्टि से यह एक नया प्रयोग है।

समरेस वसु की कहानी 'वालीर झड़' (रेत का तूफान) आधुनिक मनोवृत्ति से निष्पन्न कहानी है। इसमें एक मामूली-सी गलती के कारण नायक कैसी बेचैनी का अनुभव करता है, इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। शिवनाथ तथा सुलता, पति-पत्नी गर्मी के दिनों में दार्जिलिंग जाते हैं। 'संकरी गली घाट' नामक स्टेशन में रेत का तूफान आता है जिससे शिवनाथ अपनी पत्नी के बदले लीला नामक स्त्री को अपनी पीठ से चिपकाकर रास्ता पार करता है। इस गलती को वह सुलता से कह नहीं सकता जिसके कारण उसके मन में एक तरह का आच्छन्न भाव रहता है। दार्जिलिंग में लीला तथा उसके पति भी पहुँचते हैं। शिवनाथ एक दिन लीला को अकेले पाकर क्षमा-याचना करता है। और उसके बाद उसकी बेचैनी दूर हो जाती है। कहानी में बड़ी कलात्मकता के साथ इस बेचैनी का वर्णन किया गया है।

कुछ अति-आधुनिक बंगला कहानियाँ धार्मिक जीवन से सम्बन्धित हैं। धार्मिक जीवन का इनमें केवल आडम्बर के रूप में ही चित्रण मिलता है, लेखक की सहानुभूति धर्मनिष्ठ चरित्रों के प्रति नहीं है, बल्कि इन धर्मनिष्ठ चरित्रों की आलोचना ही इनका उद्देश्य है। 'अवधूत' की कहानियों में तान्त्रिक-साधना पद्धति के अन्तर्निहित बीभत्स और भयानक रस का उद्घाटन हुआ है। अवदमित प्रवृत्ति के पीछे अवचेतन की यौन-प्रवृत्ति का प्रक्षेप बड़ी सूक्ष्म दार्शनिकता तथा कलात्मकता के साथ किया गया है। कहीं-कहीं रुचिहीनता भी दृष्टिगोचर होती है। उनकी 'पियारी' तथा 'दावानल' ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'पियारी' कहानी में एक शिष्य द्वारा अपने गुरुमहात्मा की कुकीर्ति का उल्लेख है। इसमें तथाकथित महात्माओं के मिथ्या-अभिमान, आराम का मोह, तथा अलौकिक शक्ति के आडम्बर पर तीव्र व्यंग्य है। 'दावानल' कहानी में आचारवान ब्रह्मचारी चतुर्भुज त्रिवेदी महाशय का मनोविश्लेषण किया गया है। ब्रह्मचारीजी के बगल के कमरे में भाई तथा उसके परिवार के लोग रहते हैं। रात को प्रणय-चांचल्य के गुंजन से ब्रह्मचारीजी के मन में कुछ उलट-पुलट होने लगती है और क्रमशः उनमें मानसिक परिवर्तन भी होने लगता है। उसे रात को छिपकर, दरिद्र भारद्वाज पति-पत्नी के दाम्पत्य-सम्भोग-लीला के दर्शन से मानस तृप्ति मिलने लगी। इस दरिद्र परिवार के भरण-पोषण का भार वे अपने ऊपर ले लेते हैं और परोक्ष रूप से अपने काम की तृप्ति करने लगते हैं। परन्तु यह छद्मवेशिनी आत्म-मर्यादा एक दिन भारद्वाज-पत्नी के कठोर सत्य भाषण से धूलि-लुण्ठित हो जाती है। इस तरह के धर्म-जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ बँगला-साहित्य में अब कम लिखी जाती हैं। द्वारेश चन्द्र शर्माचार्य तथा आशुतोष मुखोपाध्याय की कुछ कहानियाँ इस विषय से सम्बन्धित हैं।

'जरासन्ध' एक नवीन विषय लेकर बँगला कथा-साहित्य में आये हैं। जेल जीवन ही इनकी कहानियों की विषयवस्तु है। आपकी दृष्टि में जेल मानव-प्रकृति की सर्वापेक्षा तीव्र दाह्य उपदान-समूह की संग्रहशाला है। यहाँ की वन्य, दुर्वार प्रकृति, नियतिलाञ्छित करुणा, असहाय अनुशोचना का तीव्र रूप दिखायी पड़ता है। 'दागी', 'आलादा जात' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। इनमें उदार मानवतावादी दृष्टिकोण से चरित्रों को देखा गया है। जरासन्ध की वर्णन शैली वनाढ्य मन के अन्तस्तल तक दिखा देती है। लेकिन, मौलिकता के अभाव में आपकी कहानी, उपन्यास सभी एक जैसी शैली में विकसित होते हुए प्रतीत होते हैं।

प्रसिद्ध उपन्यासकार 'शंकर' की कहानियाँ भी व्यक्तिगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मजीवन की अभिज्ञता पर आधारित हैं। इनकी सभी कहानियों में नायक (मैं) एक ऐसा व्यक्ति होता है जिस पर सब लोग विश्वास करके, उसे अपनी-अपनी गाथा सुनाते हैं। 'शंकर' की कहानियों में भी एकरसता है।

कला की दृष्टि से इस युग की बँगला कहानियों में कुछ नवीन परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। पिछले खेमे के प्रेमेन्द्र मित्र, ताराशंकर आदि की कहानियाँ इतनी अधिक विकसित थीं कि उससे आगे बढ़ने में ये कहानीकार अक्षम हैं। परन्तु यथार्थ को और भी सशक्त रूप में पकड़ने के लिए इस युग के कथाकार शैली को सहज और आडम्बरहीन बनाते दिखाई पड़ते हैं। भाषा सहज और सरल हो गयी है। उसमें चित्रात्मकता और बिम्बात्मकता की शक्ति अधिक है। 'संकेत' शैली की सूक्ष्मता बँगला कहानी में भी हिन्दी-जैसी ही मिलती है। नरेन्द्रनाथ मित्र की 'श्वेत मयूर' में से तथा वाणीराय की 'मीडिया' में से इसके अनेक उदाहरण उद्धृत किए जा सकते हैं।

परन्तु काव्यात्मक भाषा का प्रयोग अभी भी बँगला-लेखक छोड़ नहीं पाये हैं। मानों यह बँगला-लेखकों के खून में समा गया हो। पिछले खेमे के प्रेमेन्द्र मित्र, अन्नदाशंकर तथा प्रमथ चौधरी आदि कुछ लेखक थे, जिन्होंने इस काव्यात्मकता से अपने को मुक्त किया था। इस युग में फिर से काव्यात्मकता की अधिकता दिखाई देने लगी है। नरेन्द्रनाथ की 'श्वेत मयूर' कहानी का एक उदाहरण दर्शनीय है—"दुर्बोध भाषा के अन्तराल में आज जिस प्रणय-भाषण ने जन्म पाया है, वह चिरकाल के लिए विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायेगा।" लेकिन साथ ही सहज और सरल भाषा का भी प्रयोग दर्शनीय है—"कुएँ से एक लड़की पानी खींच रही है। उसकी चूड़ी की खनखनाहट सुनाई दे रही है। बाल्टी भर तृष्णा का पानी। पानी की तृष्णा। लेकिन यही तृष्णा क्या मनुष्य की अन्तिम तृष्णा है ? क्या इससे भी अधिक मर्मघाती कोई अन्य तृष्णा नहीं है ? और इन अन्तहीन तृष्णाओं का नाम ही क्या जीवन नहीं है ?"[१]

लोक-कथा तथा पुराण-कथा के माध्यम से कहानी कहने की शैली बँगला में भी दिखायी पड़ती है। 'निरजा' कहानी में प्रेम का स्वरूप प्राचीन कथा के आधार पर दिखाया गया है। 'मीडिया' में भी यही शैली अपनायी गई है। मुख्य कथा की गति में ये पुरानी कथाएँ तीव्रता प्रदान कर देती हैं, और वे एक-दूसरे को छूती हुई चलती हैं, पुराण-कथा का टूटा हुआ सूत्र अनायास फिर से चालू हो जाता है, और इस प्रकार मुख्य कथा की संवेदना को तीव्र कर देता है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त की कहानियों में नये प्रयोग के लिए आग्रह अवश्य दिखायी पड़ता है। शैली तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रयोग का आग्रह स्पष्ट है। कहानीकारों ने जीवन को देखने और उसको ग्रहण करने की दृष्टि ही बदल दी है। उन्होंने अपनी गहन अनुभूति से जो कुछ नयापन देखा और पाया है उसे ही अपनी कहानी में स्वर देना चाहा है। लेकिन, अभी भी उनका उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। इसलिए, इन भटके हुए, नवीन को ढूँढ़ते हुए कहानीकारों की कहानियों की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराकर ही हम अपने मन्तव्य की इतिश्री मान लेंगे।

१. नवेन्दु घोष, तृष्णा, अणिमा, सन् १९६७ ई०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन कविता : एक दृश्यालेख

अशोक वाजपेयी

कवियों ने जो आलोचना लिखी है उसे लेकर उनके द्वारा अक्सर यह कहा जाता रहा है कि वह उनके बुनियादी कामों में से नहीं बल्कि आवद्धर्म है। इस बात में कुछ सफ़ाई देने, कुछ अपना बचाव करने का-सा भाव है हालाँकि ज्यादातर नये काव्यमूल्य, धारणाएँ और प्रतिमान कवियों की लिखी आलोचना से ही स्पष्ट और विकसित हुए। आलोचना को अपने लिए आवद्धर्म मानने की एक वजह शायद यह भी रही है कि कवि का एक आग्रह आलोचना को दूसरे दरजे का काम मानने का रहा है। यह समकालीन आलोचकों के ज्यादातर दकियानूस, विपन्न और काहिल होने का दुष्परिणाम था। इस झमेले में यह बात भुला दी गई कि आलोचना भी मनुष्य की हालत को देखने, समझने और अपनी अस्मिता और अभिव्यक्ति की खोज का एक उत्कट माध्यम हो सकती है।

आलोचना के बारे में मेरी यही धारणा है और जहाँ तक बन पड़ा है समकालीन कविता को समझने-बूझने और इस समझ से हमारे समय के मनुष्य की हालत के बारे में अपने अहसास को प्रासंगिक और गहरा करने की मैंने कोशिश की है। इस कोशिश के पीछे इस खोज का अचरजभरा सुख भी है कि कविता, भाषा, रचनात्मक संवेदना की हालत की पड़ताल अपने-आप समकालीन मनुष्य की हालत की समझ और पहचान की ओर ले जाती है। विज्ञान, प्रविधि, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के भयावह आतंक के बावजूद, जिनके रहते रचनात्मक शब्द की स्थिति आधुनिक समाजों में अवमूल्यित होती जा रही है, कविता मनुष्य की विश्वसनीय और समावेशी परिभाषा है। निराला ने कहा था कि गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है। नई कविता ने गद्य के नज़दीक आकर उससे गहरी आत्मीयता स्थापित कर अपने को जीवन संग्राम की उतनी ही उद्दाम सहज और उत्तेजक भाषा बना लिया है जितनी समकालीन गद्य की है।

किसी भी समय की महत्त्वपूर्ण कविता अपने समय का साक्ष्य हो सकती है या फिर अपने समय में सीधे हिस्सा लेती जूझती-उलझती रचना हो सकती है। यह भी ज़रूरी नहीं है कि अपने समय का, उसके तनावों-दबावों और दृष्टियों का कविता सीधे-सीधे खुला बखान करे। आलोचना के लिए यह एक बुनियादी समस्या है कि वह कैसे अपनी रुचि को बिना उसके केन्द्रहीन हुए इतनी लचीली और समावेशी बनाए कि उससे कई तरह की कविताओं, काव्य-दृष्टियों और मूल्यों का सहानुभूति लेकिन दृढ़ता के साथ सामना किया जा सके। रुचि की कोई भी सँकरी दकियानूसी आलोचना का सम्पर्क रचनाओं की सजीव वास्तविकता से तोड़कर उसे एक अप्रासंगिक परिपाटी में बदल देती है।

लेकिन रुचि के लचीलेपन का अर्थ निरी तात्कालिकता से चिपटकर रह जाना नहीं है। ऐन इस समय हमारे यहाँ नितांत सम-सामयिकता का ऐसा आतंक है और सारे ऐतिहासिक विवेक को ताक पर रखकर नितान्त नये का ऐसा कनफोड़ नगाड़ा बजाया जाता है कि यह बात भुला दी जाती है कि हमने उत्तराधिकार में भी कुछ पाया है, कि हमसे पहले भी मनुष्य ने अकेलापन और अपने को कागार पर महसूस किया है कि निराशा, सन्देह और अनास्था पहले भी मनुष्य को सता चुके हैं कि मनुष्य ने पहले भी भयावह सकलीकरणों, निरर्थकता और संप्रास के विरुद्ध संघर्ष किया है। बावजूद बहुत सारे बुनियादी अन्तरों के बीसवीं सदी का भारतीय मनुष्य एकदम अद्वितीय और विविक्त है और इसलिए मनुष्यता के परम्परागत इतिहास से एकदम बाहर और अपरिभाषेय, ऐसा मानना समकालीन साहित्य के मानवीय

यह निबन्ध लेखक की निकट भविष्य में प्रकाशित होनेवाली पुस्तक 'फ़िलहाल' का एक अंश है। पुस्तक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हो रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ को अकारण सीमित और संकरा करना है।

ऐतिहासिक विवेक को छोड़ने के नतीजे रचनात्मक और आलोचनात्मक और दोनों ही स्तरों पर भयानक हुए हैं। इससे इतिहास के भार से मुक्ति इतनी नहीं मिली है जितनी एक बेमानी-सी स्वतन्त्रता। रचनात्मक स्तर पर भाषा के संस्कार के प्रति उसकी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति उदासीनता आई है और अपनी पारम्परिक अनुगूंजों और आसंगों से कवियों के अज्ञान और अरुचि के कारण कट जाने से काव्य-भाषा में ज्यादातर युवा कवियों की भाषा में सपाटता, सतहीपन और मानवीय दरिद्रता आई है। अगर साथ-ही-साथ कुछ खुलापन भी आया है तो उससे भाषा ने जो मूल्यवान खो दिया है उसकी बहुत थोड़ी क्षतिपूर्ति भर हो पाई है।

आलोचना में, खासकर उस आलोचना में जो युवा लेखक लिख रहे हैं, पुराने काव्यमूल्यों और प्रतिमानों का ज़िक्र क्या, आज से दस बरस पहले की धारणाओं और प्रतिमानों की याददाश्त भी धुँधली हो चुकी है। इस सबका समकालीन दृश्य पर प्रभाव पड़ा है। बौद्धिक तर्क की जितनी अवज्ञा आज साहित्य में है उतनी शायद हाल के इतिहास में कभी न रही होगी। किसी धारणा, आलोचनात्मक सिद्धान्त या मत का खण्डन बौद्धिक स्तर पर करने का किसी को उत्साह ही जैसे नहीं रह गया है। फतवेबाज़ी, रिटोरिक आदि से इसको-उसको किसी राजनीतिक, व्यावसायिक संगठन या किसी पीढ़ी आदि के षड्यंत्र का हिस्सेदार रहकर उसकी चरित्र-हत्या करने की खूब और लगातार कोशिश की जाती है, लेकिन बौद्धिक आधार पर तैयारी के साथ उसके तर्कों का संगत खण्डन नहीं किया जाता। इस बात से जैसे विश्वास उठ गया है कि तर्क का प्रतिकार तर्क से हो सकता है। एक जागरूक बुद्धिजीवी के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा कि अपनी समकालीन दुनिया में उसे बौद्धिक चुनौतियाँ दी जाना बन्द हो जाएँ। नतीजा यह है कि हिन्दी में बुद्धिजीवी, बिना खुद चाहे, बौद्धिक चुनौती के अभाव में धीरे-धीरे स्थापित व्यवस्था बन जाता है। व्यक्ति का अपने-आप अपने परिवेश और सहयोगियों की अबौद्धिकता से ऐसा बन जाना लेखक-समाज के भयानक दिवालियेपन की हद पर पहुँचने की सूचना है। स्थापित व्यवस्था के पारम्परिक चेहरों को पहचानना कठिन नहीं, वे सबको मालूम हैं। लेकिन इस चेहरा-हीन व्यवस्था की ओर बुद्धिजीवी को ढकेलने की दायित्व-हीनता को थोड़ा गहरे जाकर पहचानने पर दहशत होती है। बौद्धिकता और विचारों से इतनी अरुचि और ऊब के, जाहिर है, बड़े पैमाने पर बहुत गम्भीर यहाँ तक कि मानवद्रोही नतीजे निकल सकते हैं।

ऐसी हालत में यह पहचान नई करना जरूरी है कि वयस्क कविता के लिए निरा अनुभव काफी नहीं समझ भी ज़रूरी है और काव्य भाषा को अनुभव भर नहीं कवि के विवेक को भी चारितार्थ करना चाहिए। मनुष्य की हालत को, जो निरन्तर जटिल होती जाती है, परिभाषित करने के लिए भाव-संवेदना के अलावा समझ होना भी आवश्यक है। अगर समकालीन कविता तक ही अपने को सीमित रखना हो तो मुक्तिबोध, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथसिंह, विजयदेव नारायण साही, कुंवर नारायण आदि की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। अपनी आदर्श सफलताओं में इन कविताओं में मात्र संवेदनात्मक पकड़ें नहीं बौद्धिक समझ और विचारशीलता भी है। यह ठीक है कि उनमें से हरेक की विचारधारा अलग है। इधर युवा कवियों में जो भोलापन या अबोधन और अबौद्धिकता की मुद्राएँ हैं वे उनके काव्य-संसार को सीमित और उथला करती हैं क्योंकि उसे विचारों से सुरक्षित रखा गया है। बल्कि यह कहना निराधार न होगा कि अनुभूति, सीधी और नंगी अनुभूति के साहस के साथ-साथ विचार के साहस का न होना उनके तथाकथित साहस की व्याप्ति और प्रासंगिकता को काफी हद तक अधूरा और कमज़ोर करता है। इस हालत में ज्यादातर युवा कविता में ऐन्द्रिकता और आदिम चमक भले है, समझ शायद नहीं है—कम-से-कम अपने समय के मनुष्य की हालत के बारे में हमारे अहसास को वह सहलाती तो है पर उसे गहरा, तीखा या विचलित कर किसी नई समझ या पहचान की ओर ले जाने में अक्सर असमर्थ रहती है।

शायद विचार का साहस न होने का ही एक नतीजा यह है कि अक्सर हमारे यहाँ ज्यादातर कवियों का कोई उल्लेखनीय और रचनात्मक विकास नहीं हो पाता। नई कविता में चरितार्थ अनेक और कई बार अन्तर्विरोधी जीवन और मूल्य-दृष्टियों के बीच कोई ऊपर-नीचे आगे-पीछे की कठोर या स्वयंसिद्ध क्रम परम्परा निश्चित नहीं की जा सकती। लेकिन कोई दृष्टि प्रासंगिक है या नहीं इसकी पड़ताल ज़रूर की जा सकती है। यह पड़ताल बौद्धिक और रचनात्मक दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तरों को समेट सकती है और उसमें यह देखना होगा कि कौन-सी दृष्टि या दृष्टियाँ समकालीन, जीवन और अनुभव के ज़्यादा-से-ज़्यादा तथ्यों, समस्याओं और संकटों को समेटने और समझने में हमारी मदद करती हैं। दूसरे, किसी दृष्टि की शक्ति की परख इससे भी होगी कि वह किस हद तक दूसरी दृष्टियों द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों के प्रति सक्रिय ढंग से जागरूक है और किसी नई सचाई के दबाव से अपने को यथोचित रूप से संशोधित या परिवर्द्धित करने के लिए तत्पर है। इस सिलसिले में कुल एक ठोस प्रसंग उठाने से अभिप्राय कुछ और स्पष्ट होगा। पिछले दिनों यह बात बहुत ज़ोर-शोर से उठाई गई है कि साहित्य का कोई सामाजिक अभिप्राय या उद्देश्य नहीं होता और अगर होता भी हो तो उसका अहसास होना लेखक के लिए न केवल ज़रूरी नहीं है बल्कि खतरनाक है। इसी से साहित्य की नितान्त स्वायत्त दुनिया होने की धारणा भी विकसित की गई है। आमतौर पर इन धारणाओं को आधुनिकता की धारणाएँ मानकर नई संवेदना की चारित्रिक विशेषताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि के लोकप्रिय रहते एक दूसरी घटना हुई मुक्तिबोध की कविता की उपलब्धियों का स्वीकार जिसमें इस दृष्टि के लिए सबसे बड़ी चुनौती छिपी हुई है। इस बात पर अधिकाधिक सहमति होती गई है कि मुक्तिबोध की कविता नई कविता की श्रेष्ठ उपलब्धि है और बहुत सारे युवा कवियों के लिए वह उद्गम-ग्रन्थ बन गई है। लेकिन मुक्तिबोध साहित्य के सामाजिक उद्देश्य और उसके सचेत अहसास की पुरानी लगती धारणाओं में विश्वास करते थे। उनकी आधुनिकता उनके पोर-पोर और कविरूप में गहरे समकालीन होने से कोई इनकार नहीं करता, तब क्या सामाजिक उद्देश्य की धारणा को पुरानी और अप्रासंगिक मानने वाली हमारी दृष्टि कमज़ोर है? क्या युवा कवि मुक्तिबोध की कविता के सिलसिले में कविता के सामाजिक उद्देश्य, परिणति और दायित्व के उसकी स्वायत्तता के प्रश्नों पर अपनी धारणाओं पर फिर से विचार करने को तैयार या उत्तेजित है। अगर नहीं, जोकि शायद सच भी है, तो मुक्तिबोध की चुनौती का क्या जवाब है? उनकी कविता की उपलब्धि और अपेक्षाकृत पुरानी दृष्टि और दूसरों की तथाकथित नई दृष्टि के बीच जो भीषण अन्तर्विरोध जन्म लेता है उसका समाधान क्या है? या इस अन्तर्विरोध को पहचानने और उससे जूझने की कोई ज़रूरत युवा लेखक को नहीं लगती क्योंकि वह अपनी अबौद्धिकता में 'नींद में डूबे योद्धा' की तरह सुरक्षित है।

युवा लेखकों के विचार-विरोध और ऊब अबौद्धिकता का एक और पक्ष कविता में इधर बढ़ी सपाटबयानी से भी जुड़ा हुआ है। नई कविता में बिम्बों और प्रतीकों की ऐसी भरमार हो गई थी कि कविता शब्दाडम्बर होने लगी थी और उसकी अनुभावात्मक तात्कालिकता नष्ट-सी हो गई थी। कविता को फिर जीवित तात्कालिकता देने के लिए और काव्य-भाषा को, जो बिम्बों में फँसकर गतिहीन और जड़ हो चली थी, ताज़गी और जीवन्तता देने के लिए युवा कवियों ने अगर सपाटबयानी की ओर रुख किया तो यह स्वाभाविक और ज़रूरी ही था। लेकिन सपाटबयानी जल्दी ही सतही और यान्त्रिक बखान का पर्याय बन गई है और समकालीन यथार्थ का बड़ा अबोध बयान उसके माध्यम से हो रहा है: इसकी तह में समझ की अनुभूति को नियन्त्रित न करने देकर यथार्थ का कामचलाऊ और निरा इन्द्रिय-बोधी सरलीकरण करने की प्रवृत्ति भी कहीं-न-कहीं ज़रूर घर करती जान पड़ती है।

सपाटबयानी के खतरे का एक दूसरा पक्ष भी है। इधर की कविता में शिल्प की धारणा भी खासी अवमूल्यित हुई है। बहस और चर्चाओं में भी शिल्प की कोई बात नहीं उठाता। ऐसी हालत में भाषा और काव्य-व्यवस्था के प्रति एक तरह का कामचलाऊ रुख भर है और इस बात की आशंका है कि समझ को और भी पीछे ढकेलकर भाषा के अनियन्त्रित और मनमाने उद्रेक को कविकर्म मानने की निहायत रूमानी धारणा का युवा प्रतिभा शिकार हो रहेगी। इस सिलसिले में कुछ युवा कवियों का लम्बी कविता के प्रति आकर्षण उल्लेखनीय है। दुनिया के अपने अहसास और समकालीन जटिलताओं को अधिक संक्लिष्ट ढंग से उजागर करने के लिए अगर युवा छोटी जटिल कविता की परिपाटी तोड़कर एक व्यापक कार्य की ओर बढ़े हैं तो यह उचित ही है। धूमिल की 'पतकथा' मणि मधुकर की 'खण्ड-खण्ड पाखण्ड पर्व' और सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' जैसी लम्बी कविताओं में अनुभव का विस्तार और गहरा संयोजन उतना नहीं है जितना उसकी स्फीति। केन्द्रीय अनुभव—बौद्धिक रूप में नहीं, कविताओं में चरितार्थ रूप में—सीमित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण इन कविताओं में कोई सजीव नाटकीयता नहीं है बल्कि रूमानी अतिरंजना और बड़बोलापन है। फिर वह कहीं बिम्बधर्मिता से हो और कहीं सपाटबयानी से। रोजमर्रा की दुनिया में अपनी पीड़ा और संत्रास का उत्सव मनाना वैसा ही रूमानी काम है जैसे किसी रहस्य, दृष्टि या लोकोत्तर संसार या आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य का उत्सव मानना।

यथार्थ से सीधे साक्षात्कार के नाम पर रूमानियत और आत्मसाक्षात्कार के नाम पर आत्मरति नज़र आने को समझने के लिए युवालेखन से बाहर जाकर उसका समाजशास्त्रीय सन्दर्भ देखना भी शायद ज़रूर हो गया है। ज़्यादातर युवा लेखक छोटे शहरों और कस्बों से महानगरों की ओर भाग रहे हैं। महानगरों में एक तरफ़ तो भीड़ का निर्वैयक्तिक संसार है और दूसरी तरफ़ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में, खासकर युवक-युवतियों को लेकर, बढ़ती हुई स्वतन्त्रता और बेहिचक सहजता। यह कहना गलत न होगा कि भारत के महानगरों पर, खासकर दिल्ली पर, इस मामले में नवयुवक-युवतियों ने, जिन्हें अंग्रेज़ी में टीनएजर्स कहा जाता है, जैसे कब्जा-सा कर लिया है। उनके संग-साथ और निर्भीक खुले व्यवहार से महानगरों में एक लगातार सनसनी का वातावरण बन गया है। ज़्यादातर युवा लेखकों का निजी कस्बाई परिवेश, परिवार और अन्य संस्थाएँ, जिनके बीच वे पलकर बड़े हुए हैं, इस तरह की निर्भीकता पारस्परिक घनिष्ठता और खुलेपन का न तो कोई अवसर देते थे और न ही इजाज़त। इसलिए उनकी कस्बाई संवेदना में इच्छा, निजी वास्तविकता और महानगरों के परिवेश की वास्तविकता में एक गहरी खाई पैदा होती है। लगता है बहुत से युवा लेखक इस खाई को पहचानकर उससे विकसित तनावों की कोई गहरी रचनात्मक पड़ताल कर उसके तीखे सच्चे अनुभवों को अपनी सृजनात्मकता का आधार नहीं बनाते बल्कि सामाजिक स्तर पर इस स्थिति को जैसे लाँघने-छिपाने के लिए अपनी रचनाओं में एक असम्भव 'टीन ए' की दुनिया बसाते हैं—स्त्री, यौन-सम्बन्ध प्रेम आदि को लेकर जो "जीभ और जाँघ का चालू भूगोल" इन रचनाओं में नज़र आता है वह शायद सामाजिक स्तर पर अपने पिछड़े होने के अहसास को सम्बन्धों में आक्रामकता और उग्रता द्वारा दुरुस्त करने की कोशिश की ही एक परिणति है। बहुत-सा युवा-लेखन स्त्री से अगर आक्रान्त है और उसका खासा भाग स्त्रियों के जीवन में आने-जाने पर केन्द्रित है तो यह आकस्मिक नहीं है। बल्कि जो अपेक्षाकृत गम्भीर और संभ्रांत लेखक हैं, जैसे महेन्द्र भल्ला और श्रीकान्त वर्मा, उनमें भी एक तरह का आत्मप्रदर्शन इस सिलसिले में नज़र आता है। वे भी अपने तथाकथित पुरुषत्व की इमेज में गिरफ्तार लेखक हैं और कई बार लगता है कि उनका उद्देश्य स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को लेकर कुछ महत्त्वपूर्ण खोजना-रचना उतना नहीं है जितना कि अपना गुरुत्व साबित करना।

स्त्री के आतंक के समानान्तर दूसरा आतंक है भीड़ का। अगर स्त्री का आतंक निजी वास्तविकता को सरलीकृत करता है तो भीड़ का आतंक सामाजिक वास्तविकता को। शहरों में लगातार बढ़ती हुई भीड़ें हमारी ज़िन्दगी का एक रोज़मर्रा अनुभव है, इसलिए युवालेखन में समकालीन दृश्यालेख का एक प्रमुख तत्त्व भीड़ है तो इसमें अचरज नहीं होना चाहिए लेकिन बात इतनी ही नहीं है। दरअसल समाज की पूरी धारणा ही अवमूल्यित होकर भीड़ की धारणा में बदल गई है। केदारनाथ सिंह की एक कविता के शीर्षक से शब्द उधार लेकर कहा जा सकता है कि ज़्यादातर युवा-कविता 'भीड़ के विरुद्ध शब्द' है। समाज से एक आर्गनिक रिश्ता संभव है लेकिन उस चेहराहीन नामहीनता से, जिसे भीड़ कहते हैं, ऐसा कोई रिश्ता सम्भव नहीं। इसलिए युवा कवि की अस्मिता की खोज समाज में अस्मिता की खोज न होकर भीड़ के विरुद्ध अस्मिता की खोज हो गयी है। सवाल यह है कि समाज को उसकी जटिल विविधता और जीवित उलझावों में देखकर उसे भीड़ के रूप में सरलीकृत करने से कविता पर क्या असर पड़ता है। बल्कि उससे भी पहले शायद यह परखना ज़रूरी है कि क्या समाज को सिर्फ भीड़ मानना, जिससे अलगाव, कटाव और विरोध ही सम्भव है, जीवित वास्तविकता को सही समझ प्रगट करता है या नहीं, अगर साहित्य से बाहर के तथ्यों का सहारा न लेना हो तो एक बार फिर मुक्तिबोध की कविता को देखा जा सकता है। उसमें हमारे समय की जटिल और भौचक करने वाली सचाई का गहरा और तीखा अहसास है लेकिन समाज की धारणा भी सक्रिय रूप से मौजूद है। समाज में कारगर शक्तियों के उलझाव, टकराव और तनाव को उनकी कविता बिना किसी सरलीकरण के सीधे और तीव्र ढंग से पहचानती है। मुक्तिबोध के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य-संसार में समकालीन मनुष्य का सारा भय और सन्देह मौजूद है, लेकिन भीड़ नहीं, समाज और उसमें विविध शक्तियों का स्पष्ट बखान और कई बार तो विश्लेषण तक है। यह बखान और उसके पीछे सक्रिय पहचान उनकी कविता में निजता और सामाजिकता के द्वैत को अप्रासंगिक कर देती है और आधुनिक मनुष्य के निजी संसार और उसकी सामाजिक जड़ों की हमारी पहचान और समझ को गहरा और सार्थक करती है। मुक्तिबोध का काव्य-नायक युवा-कवियों के काव्य-नायकों की तरह भीड़ के विरुद्ध नहीं है बल्कि क्योंकि उनके यहाँ भीड़ नहीं जीता-जागता समाज है, समाज के विरुद्ध खड़ा हुआ व्यक्ति नहीं है—वह समाज का एक विराट सरलीकरण भीड़ में कर उससे छुट्टी नहीं पा लेता बल्कि वह सामाजिक शक्तियों के भीषण टकराव में उन ठोस सामाजिक शक्तियों के विरुद्ध है जो मनुष्य की अस्मिता, अस्तित्व और मुक्ति के विरुद्ध षड्यंत्र करती हैं। मुक्तिबोध के यहाँ इसलिए व्यक्ति का संघर्ष किसी सरलीकरण या सामान्यीकरण से नहीं बल्कि ठोस सामाजिक और आन्तरिक शक्तियों से है। इससे स्पष्ट है कि भीड़ के बहाने युवा कविता जीवित सामाजिक संघर्ष, ठोस शक्तियों और जटिल ब्यौरों से जूझने से बचती या कतराती है : भीड़ का सपाट सरलीकरण समकालीन व्यक्ति के परिवेश की समझ को भी अधूरी और एकांगी करता है और बौद्धिक समझ और रचनात्मक बोध दोनों ही स्तरों पर युवा संवेदना को सतही करता है। अपने व्यक्तित्व के हर कमज़ोर-मज़बूत रेशे को आत्यन्तिक और महत्त्वपूर्ण समझने वाला युवा लेखक भीड़ को एकबारगी बिना किसी हिचक के ऐसे अस्वीकार कर देता है जैसे वह जीवित व्यक्तियों का समूह न होकर एक जड़ दृश्यपट भर हो। इस सरलीकरण से जहाँ व्यक्ति के संघर्ष और तनाव का मानवीय सन्दर्भ सीमित और ओछा होता है वहाँ इस पहचान के अभाव से कि भीड़ में शामिल लोगों में भी तनाव और आत्मसंघर्ष होता है तथाकथित 'मैं' का वस्तुनिष्ठ स्थिति से कोई जोड़ नहीं हो पाता और वह रूमानी और शब्दाडम्बरी हो जाता है। यों भी कविता में जब जटिलता का स्थान सरलीकरण लेता है तब उसमें सतहीपन और सपाटता आती है, पर जब सरलीकरण अपने पूरे जीवित परिवेश का ही हो तो कविता के अमानवीय डिह्यूमेनाइज्ड होने का भारी खतरा पैदा होता है। बहुत सारी युवा-कविता अगर अब और चिढ़ पैदा करती है तो इसलिए कि वह घूम-फिरकर स्त्री और भीड़ के सरलीकरणों में उलझ जाती है और इन जटिलताओं का अहसास और समझ नहीं देती जो दरअसल आज हमारी ज़िन्दगी में है।

किसी भी समय युवा प्रतिभा का अपने सच को चरितार्थ करने के लिए चालू मुहावरों से बचना पहली ज़रूरत है। इस समय ऐसे युवा कवि खोजना मुश्किल हो रहा है जो चालू मुहावरों से बिल्कुल सुरक्षित रह पाये हों। जिन कवियों का मुहावरा निजी और विशिष्ट होने के क्रम में लगा जान पड़ता था उनमें भी चालूपन के दबावों ने कुछ विकृति पैदा कर ही दी है। कमलेश की कविता 'वहाँ से लौटकर' में रघुवीर सहाय की तरह भद्रराम इस्माइल आदि व्यक्ति नामों का इस्तेमाल है। विनोदकुमार शुक्ल की 'आरम्भ ५' में प्रकाशित लम्बी कविता 'एक कविता' में उनके सही रंग से हटकर सामाजिक सचाई के बारे में ऐसी प्रचलित चुस्त फिकरेबाज़ी की पंक्तियाँ हैं—"चूहा। एक आसान किस्त है। आदमियत का कर्ज़ पढ़ने के लिए" या 'जहाँ' तक अफसर की घण्टी की आवाज़ जाती थी। मेकमोहन लाइन वहीं से शुरू होती थी। धूमिल की 'शहर, शाम और एक बूढ़ा' में इस तरह के अतिव्याप्त कथन है—"चौराहे पर / कवायद करते हुए ट्रैफिक पुलिस के चेहरे पर / मुझे हमेशा जनतंत्र का नक्शा / नजर आया है।" लीलाधर जगूड़ी की इस व्यवस्था में सामान्यीकरण हैं जैसे "जातीय ज़मीन पर / देशवासी हो जाना / प्रजातन्त्र का मसविदा है।"

पिछले कुछ दिनों से कविता और राजनीति को लेकर जो बहस चल रही है उसमें कुछ दिलचस्प धारणाएँ सामने आई हैं, खासकर उन लोगों की जो दोनों के बीच किसी रिश्ते को खतरनाक और गैर-ज़रूरी मानते हैं। एक तर्क यह है कि कविता समग्र सचाई की खोज करती है और बाकी सब अनुशासन, फिर वह राजनीति हो, धर्म, विज्ञान या और दूसरे, खण्ड-सचाई की। अनुशासनों में एक क्रम-परम्परा-सी बनाना भ्रामक है। मनुष्य कई क्षेत्रों में अपनी हालत की परिभाषा में अपने पूरे सत्य की खोज करता है—परिभाषा के लिए औज़ार, अन्तर्दृष्टियाँ और विधियाँ अलग-अलग हैं, लेकिन यह मानने का कोई आधार नहीं जान पड़ता कि कविता में उपलब्ध परिभाषा दूसरी परिभाषाओं से अधिक समग्र या अधिक प्रामाणिक है। ऐसा मानना आधुनिक समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कविता के अवमूल्यन के विरुद्ध भावुक प्रतिक्रिया हो सकती है, लेकिन दूसरे अनुशासनों को अवमूल्यित कर सत्य पर कविता के एकाधिकार या अधिक प्रामाणिक अधिकार के दावे को तथ्यों या धारणात्मक दृष्टि से पुष्ट करना लगभग असम्भव है। दूसरा तर्क यह है कि राजनीति कविता को हमेशा भ्रष्ट ही करती है। इस तर्क से एक तो कवि का अपने में आत्मविश्वास न होना ज़ाहिर होता है और दूसरे सारी राजनीति को भ्रष्ट मानने का सरलीकरण। अगर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय और धूमिल जैसे कवियों को राजनीतिक घनिष्ठता ने भ्रष्ट नहीं किया है तो खोट राजनीति में नहीं कवि की प्रतिभा में खोजना चाहिए। आखिर स्त्री और भीड़ के चालू मुहावरे भी कवियों की निजता और वैशिष्ट्य को क्षति पहुँचाते हैं। भ्रष्ट होने वाला कवि राजनीति से ही क्या धर्म, नृतत्व, मनोविज्ञान, दर्शन, अपने सँकरे व्यक्तित्व, शुद्धता, जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि, तत्कालीन रुचियों आदि से भी भ्रष्ट होता रहता है, लेकिन महत्त्वपूर्ण कवि इन दबावों के अहसास में जागरूक ढंग से अपनी संवेदना भाषा और अन्ततः कविता के संसार को अधिक गहरा, प्रासंगिक और समृद्ध करता है।

इससे जुड़ा सवाल समकालीनता और आधुनिकता का भी है। मनुष्य की ज़िन्दगी का एक तात्कालिक सन्दर्भ है जिसमें उसके तात्कालिक प्रश्न और समस्याएँ हैं, उसके नितान्त आज के सरोकार, तनाव और अन्तर्विरोध हैं। इनसे अलग लेकिन जुड़ा हुआ मनुष्य का एक व्यापक सन्दर्भ है जिसमें उसके चिरन्तन या चरम प्रश्न और समस्याएँ हैं जिनके रहते मनुष्य संसार में अपने होने, अपनी हालत, अपनी नियति और भविष्य के बारे में चिन्तित होता है, हल खोजता है। जो कवि मनुष्य के तात्कालिक सन्दर्भ तक सीमित रह जाते हैं वे समकालीन तो होते हैं, आधुनिक नहीं। लेकिन ऐसे कवि, जो तात्कालिक सन्दर्भ से सीधे या परोक्ष ढंग से प्रतिकृत होते हुए अपने तात्कालिक अनुभव को मनुष्य के चरम अनुभव के प्रकाश में उजागर करने और समझने की कोशिश करते हैं उन्हें ही आधुनिक कहा जा सकता है। ज़ाहिर है कि जहाँ आधुनिक कवि का समकालीन होना अनिवार्य है यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि समकालीन कवि आधुनिक भी हो। शायद हर समाज कहीं गहरे अपनी नियति, अपने भविष्य, अपने अर्थ की खोज करता संसार है। पर यह अक्सर स्पष्ट नहीं होती। इसी तरह आधुनिक काव्य संसार में इस खोज का अहसास और तनाव ज़रूरी नहीं कि स्पष्ट हो। मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह और रघुवीर सहाय की दुनिया अपने-अपने ढंग से सीधे समकालीन हैं लेकिन जहाँ मुक्तिबोध में तात्कालि क चरण सीधे तनाव की स्थिति में प्रगट होते हैं शमशेर बहादुर सिंह और रघुवीर सहाय के यहाँ शायद यह तनाव अधिक प्रच्छन्न है। श्रीकान्त वर्मा की कविता में यह तनाव स्पष्ट महसूस किया जा सकता है। लेकिन अज्ञेय की बाद की कविता समकालीन तनावों से कट जाने के कारण एक सतही शाश्वतता से आक्रान्त हो जाती है और अपनी जड़ें तो आधुनिकता से काट लेती है तथा समकालीन और आधुनिक दोनों ही तरह की प्रासंगिकताओं से नीचे गिर जाती है।

ऊपर कुछ उन धारणाओं और विचारों का उल्लेख है जो समकालीन कविता के दृश्य को देखने-समझने के आधार को स्पष्ट करती हैं। शायद इस आधार की केन्द्रीय धारणा कविता के प्रति यह ट्रैजिक दृष्टि है कि कविता को समकालीन मनुष्य की हालत उजागर करने, समझने और परिभाषित करने की कोशिश करना चाहिए हालाँकि कविता उन शक्तियों में से नहीं रह गयी है जो आधुनिक समाज में उस हालत को प्रभावित या बदल सके। इस कोशिश से निकटता या दूरी समकालीन कविता की क्रमशः समृद्धि और वयस्कता या विपन्नता और अपरिपक्वता की विश्वसनीय पहचान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

निराला की साहित्य साधना : तीन समीक्षाएँ

निराला की साहित्य साधना
लेखक : रामविलास शर्मा :: प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली :: पृष्ठसंख्या : ६३०
मूल्य : रु० २७.००

औपन्यासिक प्रतिभा का नया परिचय

अमृतलाल नागर

डॉ० रामविलास शर्मा लिखित 'निराला की साहित्य-साधना' का प्रथम (जीवनी) खण्ड पाकर मैंने ऐसा संतोषभरा हल्कापन अनुभव किया, मानो मेरी ही बरसों की मेहनत सफल होकर सामने आई हो। रामविलासजी की दो अन्य पुस्तकों—'सन् '५७ की राज्य क्रांति' तथा 'भाषा और समाज' पाकर भी मुझे कमोबेश ऐसा ही अनुभव हुआ था। पिछले ३३-३४ वर्षों के साथ में हमने जिन विषयों पर आपस में अधिक चर्चा की है उनमें तीनों पुस्तकों की विषय-वस्तुओं का प्राधान्य रहा है। इनमें भी निरालाजी की तो बात ही निराली है।

इस पुस्तक को लिखने का संकल्प रामविलासजी ने तब किया था जब उनकी अन्य यशस्वी कृतियों की कोई योजना तक उनके दिमाग में न आई थी। यह पुस्तक उनके लगन-भरे चिन्तन-मनन और कठिन श्रम का सुफल है। रामविलास शर्मा के प्रति निरालाजी के मन में वात्सल्य भाव था। वे उनके जीवन में तब आये जब या तो वे अपने भक्तों से घिरे हुए थे या कटु आलोचकों से। सृजनशील कवि-कलाकार अपने दीवाने भक्तों के बूते पर कभी पनप नहीं पाता, इसलिए आत्म-प्रशंसा की भूख में वह ऐसे भक्तों की किसी हद तक चाहने के बावजूद अपना नहीं पाता है। दीवाने भक्तों की प्रशंसा में उसे अपने संबंध में ऐसी बेपर की 'दिव्य' बातें सुनने को मिला करती हैं जिन्हें उसका ईमान अक्सर गवारा नहीं कर पाता। प्रसादजी अपनी वंशानुगत व्यापारी वृत्तिवश मतलब की बातें लेने और बे-मतलब की नज़रअंदाज़ कर जाने की कला में सहजसिद्ध थे। पंतजी ऐसे अवसरों पर मीठे व्यंग्य और अपनी हँसी का सहारा लेते हैं। निरालाजी ठेठ बैसवाड़ी की तरह से डपट पड़ते थे। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के काशी अधिवेशन में 'साहित्य परिषद्' के अध्यक्ष पद से बोलते हुए निरालाजी ने एक वाक्य कहा था जो मुझे जस का तस याद है : "हमें देश के विज्ञ चाहिए देश के दीवाने नहीं।" इस वाक्य में 'देश' शब्द की जगह निराला नाम रख देने से उनकी भीतरी तड़प की थाह मिल जाती है। रही आलोचना की बात, मेरा ख़याल है कि हर समझदार व्यक्ति उसका भी आदर करता है, यदि वह खरी हो तो। रामविलास शर्मा निरालाजी की दृष्टि में 'निरालाविद्' सिद्ध हुए। रामविलासजी से उन्हें अपनी उन खूबियों और बारीक-निगारियों की सराहना तो मिलती ही थी, जिन्हें वे समझते थे कि केवल वही समझते हैं, साथ ही उन्हें रामविलास से अपनी उन विशेषताओं का भी पता मिलता था जिनकी ओर स्वयं उनका ध्यान तब तक न गया होता था। तन्मय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर रामविलास शर्मा की बातें सुनते समय कई बार देखीं उनकी रीझी हुई आँखें और खिला हुआ चेहरा मुझे याद है। साथ ही उनकी बातों से लाजवाब होकर निरालाजी का कटहरे में बन्द शेर की तरह विवश क्रोधभरी दृष्टि से रामविलास को घूरकर देखना और फिर उत्तेजना में घूम-घूमकर उनका बड़बड़ाना भी याद है। रामविलासजी ऊपरी तौर पर कभी उत्तेजित नहीं होते। वे निरालाजी की प्रबल दहाड़ों को अपने पैने व्यंग्यों या अपनी बहुचर्चित विद्रूपभरी 'फिन्च' मार्का हँसी से परास्त कर देते थे। 'चकल्लस' काल के एक दिन की याद आ गई। पैसों की तंगी में, भाँग की तलब में निरालाजी अक्सर पैदल चलकर मेरे यहाँ पधारते थे। तीन-चार घण्टे तरावट से गुज़ारकर वे डॉ० शर्मा और स्व० पढ़ीसजी के साथ इक्के पर लौट जाया करते थे। कभी मैं इक्का या ताँगा मँगवा देता था। एक दिन डॉ० शर्मा से उनका किसी बात पर शास्त्रार्थ हो गया। जब निरालाजी के तर्क और व्यंग्य-शर चुक गए तो उनकी दहाड़ें शुरू हुईं; इस पर भी जब वे चारों खाने चित हुए तो क्रोध में तम-तमाते हुए उठे और कुर्ता कन्धे पर डालकर चले गए। हम सभी को पछतावा हुआ कि बेचारे पैदल जाएँगे। मैंने डॉक्टर को खरी-खोटी सुनाईं, पर डॉक्टर भी क्या करें। एक जगह पर वे स्वयं अपनी आदत से मजबूर थे, और एक हद तक अब भी हैं। फिर भी, अपनी-अपनी मजबूरियों के साथ दोनों ही एक-दूसरे के प्रति श्रद्धालु और ममतालु बने रहने के लिए भी मजबूर थे। जवाहर और जौहरी की यह पारस्परिक मजबूरी ही निराला और रामविलास के बीच का नाता रही। निरालाजी के समान अहंकारी व्यक्ति अपने से आयु में छोटे किन्तु विद्वान् पुरुष को शिष्य-पुत्रवत् मानकर ही झुक सकते थे और ऐसे ही वे झुके भी। रामविलास शर्मा से साक्षात् परिचित होने से पहले मैंने निरालाजी के श्रीमुख से उनकी प्रशंसा सुनी थी। कहा था—"एक दिन 'सिद्धान्त' को पछाड़ेगा।" अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सिद्धान्त रामविलासजी के गुरु थे। उनकी आड़ लेकर निरालाजी दरअसल अपने पछड़ जाने की बात कह रहे थे। रामविलास शर्मा के समान व्यक्ति ही साहित्य-साधक निराला का जीवन-चरित लिखने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो सकता था। यही कारण था कि आरम्भ ही से उनके सभी निकटवर्ती मित्रों ने उन्हें इस काम के लिए बढ़ावा दिया। रामविलासजी इस पुस्तक से संबधित बहुत-से नोट्स, पुरानी चिट्ठी-पत्रियाँ आदि समय-समय पर मुझे दिखलाते रहे थे। हमने आपस में खूब विचार-विमर्श भी किया। पुस्तक के कुछ प्रारम्भिक अध्याय भी उन्होंने मुझे सुनाये थे। इन्हीं कारणों से प्रस्तुत ग्रंथ के साथ मेरा निजत्व बोध होना स्वाभाविक ही है।

यह किताब ऐसे समय में प्रकाशित हुई है जबकि निराला युग एकदम भूले-बिसरे ज़माने की कहानी नहीं बन पाया। हमारे सौभाग्य से निरालाजी की अग्रज पीढ़ी के सुकवि श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' से लेकर युग-निर्माण में उनके अनन्य सहयोगी श्री सुमित्रानन्दन पन्त तक विद्यमान हैं। महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, केदार, सुमन, श्रीनारायण चतुर्वेदी, वाचस्पति पाठक आदि बहुत-से व्यक्ति, जो इस निराला नाटक में पात्र बनकर बार-बार आते रहे हैं, नज़्रे बद दूर, अब भी हमारे साथ हैं। सम-कालीन इतिहास लिखना भिड़ के छत्ते में हाथ लगाने के बराबर होता है। किसी भी विषय-वस्तु को देखने के लिए हर व्यक्ति के अपने-अपने दृष्टिकोण होते हैं। इस सिलसिले में भी डॉ० शर्मा से मेरी बात हुई थी। उनका कहना था कि अपनी ओर से वे कोई अप्रामाणिक या 'ध्वंसात्मक' बात नही लिखेंगे, परन्तु लिखते समय किसी की राज़ी-नाराज़ी की चिन्ता में अपना ध्यान भी न भटकने देंगे। उनकी इस बात का विरोध नहीं किया जा सकता था।

निरालाजी का चरित्र-चित्रांकन करने में डॉ० शर्मा ने खूब ही तन्मयता साधी है। अहम् के तीनों गुणों को समान शक्ति से प्रदर्शित करने वाले योगी-भोगी, काव्य की नई धारा को प्रवाहित करने वाले उग्र आन्दोलनकर्ता, गृहस्थ-अगृहस्थ, कठिन-कोमल चरित्र को सूझबूझ-भरी ममभेदी दृष्टि से देख-कर उनके जीवन-क्रम को यथावत् संजोने में उन्होंने अपनी औपन्यासिक प्रतिभा का नया परिचय दिया है। प्रथम अध्याय से ही कहानी का ऐसा समा बँधता है कि किताब पूरी पढ़े बिना रहा नहीं जा सकता। हर व्यक्ति का जीवन एक कथा है और निरालाजी का चरित्र तो यों भी खासा नाटकीय है। कथा-शिल्प के यही मूलभूत सूत्र साधकर रामविलास शर्मा ने एक उपन्यासकार की सिद्धि भी सहज ही प्राप्त कर ली। परन्तु इस विधा को अपनाकर वे एक क्षण के लिए भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहासकार होने के दायित्व से नहीं हटे। उपसंहार में उन्होंने जीवनी-लेखन विधा के संबंध में अपने विचार भी प्रकट कर दिए हैं। अपना ठेठ 'बौद्धिक मसाला' निराला कथा के उपरान्त सँजोकर उन्होंने हर तरह से उचित कार्य किया है। निराला का जीवन और परिवेश एक बार जस-का-तस हमारे सामने रखकर वे अपनी दृष्टि से उनका मूल्यांकन करने के लिए स्वतंत्र थे, दूसरे अपनी दृष्टि से स्वतंत्र हैं। यह सुनीति निश्चय ही सराही जाएगी।

निराला-कथा अवध बैसवाड़ा, गढ़ाकोला गाँव और चरितनायक के वंश-परिचय से आरम्भ होती है। बैसवाड़े के लोगों के जीवट और हेकड़ी, बजरंगबली और तुलसीकृत रामायण के प्रति उनके आस्थायुक्त संस्कार, वहाँ की वर्णगत संकीर्णता के धक्के, अवधी किसानों का काव्य-प्रेम और वहाँ की दरिद्रता के सारे भले-बुरे संस्कार महिषादल बंगाल में जन्म लेने वाले 'सिधारी' पंडित के पौत्र और जमादार रामसहाय तेवारी के पुत्र सुर्जकुमार तेवारी ने विरासत में पाये थे। रामसहाय तेवारी ने चालीस की उम्र पार करके सुख-सम्पन्नता के दिनों में यह बेटा पाया था सो भी निपट छुटपन में बिना माँ का हो गया था; वे हरदम उस पर अपनी जान ही छिड़कते रहते थे। बेटे के कारण ही दूसरा ब्याह न किया। बिना माँ के बच्चे को पास-पड़ोस की औरतें हाथों-हाथ रखती थीं। इस प्रकार हर तरफ़ से स्नेह पाकर यह नितान्त स्वाभाविक ही था कि होश सँभालने के साथ ही साथ बच्चा अपने-आपको 'कुछ' समझने लगता। सुर्जकुमार 'खिलाड़ी नटखट और कुछ-कुछ ज़िद्दी हो चले।' इस प्रकार उनके भावी जीवन का कर्मबीज पनप चला। सृजन व्यक्तित्व की निर्माण-प्रक्रिया में उपरोक्त विशेषताएँ भी किसी-न-किसी रूप से महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। हठ में और चाहे जो भला-बुरापन हो उसके द्वारा इच्छा को चंग पर चढ़ाकर एकाग्र करने की राह अवश्य बनती है। घर में लाड़ पाने वाले बच्चे रो-पीट और फैल मचाकर अपनी ज़िदें पूरी करवाते हैं। इस प्रकार मनमौजी बादशाह बन जाने के बाद बच्चा वयस्क होने पर लाड़ के लिए बे-सहारा होने पर अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अपने-आपको समाज पर तरह-तरह से आरोपित करता है। बाहर से नामुराद टक्करें मिलने पर वह हठपूर्वक अपने-आपको स्वयं अपने ही ऊपर आरोपित करता है। व्यक्तित्व का एक भाग अपने दूसरे भाग को दासवत् स्वेच्छापूर्ति के लिए कर्म संलग्न कराता है। ज़िद्दी बच्चों में एक दूसरा पक्ष यह भी उभरता है कि ज़िदें पूरी करने वाले समर्थ बड़ों के अभाव में वह ख़ुद उनका रोल साधने लायक बड़प्पन साधकर इच्छा करने वाले अपने पूर्वपक्ष के प्रति लाड़ लड़ाते हुए कर्म-संलग्न होते हैं। निरालाजी में ये दोनों ही विशेषताएँ आई थीं। उनका बहुआलोचित 'बुली-पन' उनका बचपन का अर्जित संस्कार था। 'हम का कोऊ ते कम हन'—नेशनल तकियाकलाम वाली बैसवारी हेकड़ी उनके ख़ून ही में मौजूद थी। अपने कवि बनने की महत्त्वाकांक्षा को उन्होंने स्वयं अपने प्रति करुणार्द्र होकर बड़ों की तरह लाड़ लड़ाते हुए साधा। निराधार के आधार बनने का स्वभाव उनमें इसीलिए पनप सका। निरालाजी के व्यक्तित्व में निहित ज़िम्मेदारी ओढ़ने वाला पिता-पक्ष ही उनका साधक पक्ष भी था। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि निराला के रूप में रामसहाय तेवारी ही आज सर्वत्र अपनी जय-जयकार पा रहे हैं। 'निराला-राहुल इण्टरव्यू' छपने के बाद जिस शोध-सधाव से रामविलास शर्मा ने निराला के पिता को पहचानने के लिए श्रम किया था उसका प्रत्यक्ष गवाह इस पुस्तक में वर्णित स्वयं रामसहाय तेवारी का चरित्र है। अनुशासन की कठोरता और मोह की दुर्बलता के पारस्परिक द्वन्द्व के साथ पिता-पुत्र के नाते को रामविलासजी ने बधाइयाँ पाने लायक कुशलता से अंकित किया है। शिकायत बस यही है कि 'जासूस' शर्मा ने रामसहायजी का जो अलभ्य चित्र प्राप्त किया था वह इस किताब में नहीं छपा।

लाड़-प्यार करने के बावजूद रामसहाय अनुशासन के मामले में बड़े सख़्त थे। बड़े ग़ुस्सैल भी थे। बेजा बातों पर वे जमकर सुर्जकुमार की ठुकाई भी करते थे। इसीलिए तमाम बच्चों की तरह बालक सुर्जकुमार भी अपने ऊपर लगाए जाने वाले प्रतिबन्धों को घोर अत्याचार मानते थे। बचपन में शौच के बाद बग़ैर आबदस्त लिए आने पर पिता जिस तरह एक हाथ से उठाकर लटकाए हुए उन्हें ताल तक ले गए और बार-बार 'सौंचता जा, सौंचता जा' कह-कहकर उन्हें पानी में डुबकियाँ दीं, उससे भोले बालक का तन तो अवश्य स्वच्छ हुआ पर मन सदा के लिए मलिन हो गया। बचपन में होनेवाले ऐसे अनुशासनिक 'अत्याचारों' को आम-तौर से यह समझा जाता है कि मनुष्य बड़ी उम्र में भुला देता है, लेकिन मुझे लगता है कि यह नियम हर व्यक्ति के सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लागू नहीं होता। गंदगी साफ़ करने के सम्बन्ध में प्यार के बजाय मार से समझाए जाने के कारण ही निराला के मन में एक ऐसा नादान विद्रोह घर कर गया कि वे उससे कभी न उबर पाए। रामविलास शर्मा ५८ नम्बर नारियलवाली गली के घर में उनके साथ रहने गए। घर में कूड़ा देखकर झाड़ू लगाने की सोची। निरालाजी का कमरा साफ़ करने पहुँचे। पर यह प्रस्ताव उन्हें बिलकुल पसन्द न आया। उन्होंने कहा—"अपना कमरा साफ़ कर लो; हम अपना कमरा जब ज़रूरत समझेंगे, साफ़ करेंगे।" श्री सुमित्रानन्दन पंत जब भार्गव मैजेस्टिक होटल लखनऊ में मिले तब "निराला ने थूक-थूककर सारा कमरा गन्दा कर रखा था। पंत ने फ़िनैल से कमरा धुलवाया।" सन् '५४ में इलाहाबाद में श्री कमलाशंकर सिंह के यहाँ मैं निरालाजी से मिलने गया। उनकी एक बगल पक रही थी, उसमें से बदबू आने लगी थी। हाथ को थोड़ा-सा उठाकर मवाद सनी बगल की झलक दिखलाकर निरालाजी बोले : "लुक, वी आर स्टिंकिंग।" मैंने बाद में कमला से शिकायत की। वे बोले कि हम क्या करें। सिविल सर्जन तक मजबूर हैं। कम्पाउण्डर आता है तो कहते हैं कि अभी हाथ नहीं उठता, जब दर्द हल्का होगा तब आकर साफ़ कर जाना। डॉ० शर्मा की पुस्तक में दो उपरोक्त प्रसंग पढ़कर मुझे अपना यह अनुभव याद आया। मुझे लगा कि गन्दगी के प्रति उनकी विद्रोह-भरी काहिली इस रूप में आ गई थी कि अपने को पीड़ित करके भी वे उसे अपने साथ लपेटे रख सकते थे। दीदाओदानिस्ता नादानियाँ करने वाले निरालाजी की प्रबल हठशक्ति बचपन में पाये गए 'सौंचता जा सौंचता जा' जैसी शिक्षाओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप अपनी चरम परिणति में कुछ स्थलों पर एकदम जड़ हो जाती थी। लाड़-प्यार और मार के असंतुलन में पलनेवाले बच्चों के स्वभाव में यह झकोला अवश्य ही आता है। अंधे को राह सुझाई जा सकती है, सूझते को कौन बतलाए। इसी प्रकार आलस्य उनका दूसरा 'राज' रोग था। राजा कहीं काम करते हैं, वह तो बैठे-बैठे हुकुम चलाते हैं। और नियति ने यदि हुकुम बजानेवाले नौकर नहीं दिए तो विधना के इस अन्याय के प्रति भी उनके मन में आक्रोश होना ही चाहिए था। बचपन में निहायत ही भोलेमन से बाप को सलाह दी कि सिपाही तो तुम्हारी ही मातहती में हैं, राजा को लूट क्यों नहीं लेते। बच्चे की इस 'नेक सलाह' पर भी बाप का कठिन वज्रप्रहार हुआ था। परिस्थितियाँ यदि उनके मानस को ब्रह्मोन्मुखी कवि न बना देतीं तो उनका जड़-विद्रोह उन्हें लुटेरा भी बना सकता था, या साथ मिलने पर वे क्रांतिकारी भी हो सकते थे। कवित्व-शक्ति ने उन्हें एक बादशाहत तो दे ही दी। एक-पर-एक पारिवारिक मौतों का दर्द अपनी हद से गुज़रकर ब्रह्मरूपी दवा बन गया। इस ब्रह्म-स्पर्श ने भी उन्हें बादशाहत दी। 'श्री रामचन्द्र कृपालु भजमन' गाने से उन्हें अपनी पत्नी स्व० मनोहरादेवी की याद का स्पर्श और ब्रह्मानुभूति साथ-ही-साथ होने लगी। इस परमपद की छुवनभर से मन की हीनता, सारे अभाव दूर हो जाते थे। हम का कोउ ते कम हन—बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरी शतरंज के। मन को जब इस शहंशाही का स्वाद मिल गया तो बाहरी शानशौक़त और नौकरों-चाकरों के अभाव पर मन के आलस्य ने उभरकर पर्दा डाल दिया। अपने आलस्य और गन्दगी को भी वे ब्रह्मरस में बोर लेते थे। निरालाजी की अनुपस्थिति में एक दिन रामविलास शर्मा ने ५८ नम्बर नारियलवाली गली के घर से सारा कूड़ा-कचरा साफ़ करके ही दम लिया। तीज-त्यौहारी न मिलने वाले घर का इतना नरक ढोते हुए मेहतरानी को शिकायत हुई। उसने निरालाजी से कहा। घर में प्रवेश करने पर चारों ओर झकाझक देखकर निरालाजी के मन में कुछ शर्म भी जगी ही होगी। मेहतरानी की शिकायत और अपनी शर्म को फ़लसफ़े के रंग में रंगकर उन्होंने रामविलास से कहा—"यहाँ का हिसाब-किताब तुम्हें मालूम नहीं।…हर आदमी को अपना काम खुद करना चाहिए।…रामकृष्ण, ईसा मुहम्मद में वही ब्रह्म है जो चमार में है। बाप समझता है वह बच्चे को पालता है लेकिन बच्चा अपनी मुस्कान से उसे जो देता है, बाप क्या उसका बदला चुका सकता है।" कुल मतलब यह है कि घर की सफ़ाई से निराला महाराज प्रसन्न नहीं हुए, फिर भी शर्म ने इतना ज़ोर तो मारा ही कि अपने कमरे से पीक-भरा गन्दा कुल्हड़ उठाकर बाहर फेंक आए।

जीवनसौन्दर्यचेता निराला के पास यदि महाराज महिषादल या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह नौकर-चाकर होते तो वे निश्चय ही अपने आसपास तनिक-सा भी कूड़ा-करकट शायद बर्दाश्त न कर पाते। यदि संयमनियमानुशासित कर्मठ होते तो भी न कर पाते। रामविलासजी को समझाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था कि आदमी को अपना काम आप करना चाहिए। परन्तु अपनी अत्यधिक मनोव्यस्तता के कारण उनके बहुत से बाहरी काम सदा भिनकते ही रहते थे। ऊपर से उनका राजालस्य भी कोढ़ में खाज की तरह मिल गया था। न्यूरासिस की अमरबेल उनके जीवन-वट पर शुरू ही से चढ़ चुकी थी।

लेकिन यह गन्दगी, आलस्य, बुलीपन आदि ही निराला नहीं, यह तो वह कीचड़ है जिससे उनका कवि-कमल शतदल प्रस्फुटित होता है। जहाँ सुर्जकुमार तेवारी जन्म भर यथार्थ से कतराये हैं वहाँ सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने छक-छककर यथार्थ ब्रह्म के दर्शन किये हैं। उन्होंने गरीबी-अमीरी के भेदभाव और सामाजिक वैषम्य को खूब अच्छी तरह से समझा था। दूसरों की चिन्ता में वे अपना आपा लय भी कर सकते थे। मानव-मन के चार भेद बखानते हुए पतंजलि कहता है कि उन्मत्त मन वाला कभी योगी नहीं बन सकता, हाँ, बीच-बीच में, वह ऐसे क्षण अपने जोश से पा ज़रूर लेता है। निराला परमपद लाभार्थ योगी बनने लायक स्थिरचित्त और स्वानुशासनबद्ध भले न हो सकते हों पर कवि ज्ञानी वे अवश्य बन सकते थे। यथार्थ जीवन के कठिन संघर्ष ने उनके चित्त को एक समय वर्षों तक इतनी स्थिरता और स्वानुशासनबद्धता अवश्य दे रखी थी। फिर भी उनके मलिन उन्मत्त मन को प्रसन्न मुद्रा अथवा तीव्रावेश के क्षणों की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। डॉ० शर्मा ने लिखा है कि पत्रों के उत्तर तक देने के लिए उन्हें अपने 'प्रसन्नमन' का इन्तज़ार रहता था। किसी कविता या लेख, कहानी आदि का मूलभाव मन में चमक उठने पर वे बड़ी मेहनत से उसे अपने मन में सहेजते-सँवारते और विकसित करते थे। 'योगः कर्मसु कौशलम्' में उनका पूरा विश्वास था। डॉ० शर्मा के शब्दों में। "किसी लेख या कविता के बारे में—जिसकी चर्चा वह कर रहे हों और न लिखी हो—मैं पूछता कि कब लिखेंगे, तो वह जवाब देते—"तिनू स्वाँगा खाँगा दुरुस्त कइ लेई।" अर्थ यह कि आवश्यक सामग्री सहेज लें तब लिखना शुरू करें। प्रायः सभी बड़े कलाकारों की तरह से न्यूरासिसग्रस्त उन्मत्त-मना निराला योग क्षणों के कर्मठ साधक थे। उनका बड़प्पन इसी बात में है कि वे अपनी 'कीचड़' से अधिकाधिक शतदल कमल खिलाने के लिए आजीवन अपने से जूझते रहे। मॉपासाँ और गार्शिन पूरी तरह से पागल होकर मरे, उनकी सृजन-शक्ति अन्त तक उनका साथ न दे सकी। निराला इस तरह अपने-आप से कभी पराजित न हो सके। उनकी अन्तिम कविता—'पत्रोत्कण्ठित जीवन का विष बुझा हुआ है'—इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। काल की चोटें खाते-खाते वे टूट अवश्य गये थे पर अन्त तक हारे नहीं। बस, इसी बात के तो निराला निराला थे। इस अन्तिम कविता को लेकर रामविलासजी ने निरालाजी के मन की अच्छी और सही झलक हमें दिखलाई है—"निराला का कलाप्रेमी मन ध्वनि के आवर्तों से अब भी खेल रहा था, ऋतुओं का रूपक बाँधकर वह कविता की आंतरिक संगीति पर मुग्ध था। निराला की सजग अथक अन्तर्दृष्टि शरीर की शिथिलता से लेकर मन की क्रीड़ाओं और उसकी व्रीड़ा तक को देख रही थी। जब मृत्युलीला समाप्त हो जाएगी, तब भी यह कविता रहेगी। मृत्यु पर यही निराला की विजय थी।"

निराला एक तरफ़ तो यों मृत्यु को पछाड़ रहे थे और दूसरी तरफ़ गन्दगी पालने के सम्बन्ध में अपने बचपन के गलत विद्रोह से घिरकर वे दूसरों को परेशान भी कर रहे थे। कहते हैं कि मरने से पहले आदमी का मन अपने जनम भर के किये-धरे भले-बुरेपन और भूली-बिसरी यादों से घिर जाता है। निराला की मानसिक अस्वस्थता इस भीतरी घेराव का दोष दूसरों पर डालती। किताब में लिखा है—"इधर उनकी मानसिक अस्वस्थता का नया लक्षण दिखलाई दिया। वह आसपास के लोगों पर सन्देह करते कि वे उन्हें गन्दी चीजें खिलाते हैं। घी के लिए कहते कि उसमें जूते भिगोकर मुलायम किये गये हैं, वही बचा हुआ घी उन्हें खिलाया जाता है। डेरी के मक्खन पर भी शक था। दूध जमाकर दही से मक्खन निकाला गया। निराला ने कहा, "गायें मैला खाती हैं, उनके घी में मैले की दुर्गन्ध आती है। घी छोड़ दिया और तेल में चीज़ें पकवाने लगे।"

हर्निया से पीड़ित होने पर, माँस-भोजन मना होने पर भी स्वाद के लालच में, दूसरों को खिलाने के बहाने चार घन्टे तक स्वयं बैठकर मांस पकाया। दूसरों को तो खिलाया ही, आप भी दो-चार गस्से खाये। उस समय उतना गरिष्ठ भोजन उनके लिए विष था, पर किसकी मजाल थी कि उन्हें रोक लेता। जब तबीयत बिगड़ी तो सारा दोष कमला की दी हुई सेब पर डाल दिया—सेब जहरीली थी। भला इतने ध्यानपूर्वक पकाए गये उनके मांसाहार से कोई खराबी कैसे पैदा हो सकती है। अपनी गलती वह मान ही नहीं सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। मगर इसके विपरीत दूसरी ओर, वे अपने सबल-दुर्बल मन का सारा अन्तर्द्वन्द्व, अपना पूरा मन साहित्य में सँजो भी गये हैं।

रामविलासजी की किताब में अंकित निराला का चरित्र पढ़कर मुझे कहीं-कहीं लगा कि मैं दर्पण में अपनी सूरत देख रहा हूँ, फिर बहुत से जाने-पहचाने लोगों की सूरतें नज़र आने लगीं। सूर्य से खंडित होकर गिरने के बाद और फिर सृजन-शील होने लायक बनने से पहले, धरती को आग, पानी, गैस, भाप, हिम, भूडोल आदि के जितने कष्ट झेलने पड़े थे, वे सारे कष्ट नाना रूप रूपाय कवि कलाकारों को एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल तक पहुँचने के लिए सतत झेलने पड़ते हैं; धरती तो केवल एक ही बार सहकर उससे छूट गयी। कला-कारों में बहुतों के दोहरे-तिहरे-चौहरे व्यक्तित्व तक दिखलाई पड़ जायेंगे। कवि कलाकारों की कौम में ऐसे एक नहीं अनेक हैं जिनके जीवन की आधी शक्ति अपने मन पर छाये हुए तरह-तरह के अवसादों और उनमें निहित सही-ग़लत वास-नाओं की तेज़, सुस्त, छोटी-बड़ी भँवरों में चक्कर काटने, उलझने-लिपटने, डूबने, उतराने में ही जूझते-जूझते खर्च हो जाती है। कोई धन की चिन्ता में, कोई माशूकों को रिझाकर उन्हें अपनी अहंता के जाल में फँसाने की चाहना में, कोई अपने नाम-माहात्म्य, पद-लालसा में बँधा अपनी कामना-सिद्धि के लिए प्रयत्न-कुप्रयत्न, ईर्ष्या-द्वेष, अनुराग-विराग उदारता आदि की पहाड़ियों घाटियों और मैदानों में अनवरत चढ़ाइयाँ-उतराइयाँ पार करता हुआ अपने अनुभवपक्व मन की खान से बार-बार सोना खोद-खोदकर निकालता और मानव-संस्कृति को नववैभव प्रदान करता है। निराला ऐसे ही एक अभागे-सौभाग्यशाली पुरुष थे। प्रकृति से वे घुन्ने न थे, खुले थे। बचपन की मारों से, फिर दुनिया की कठिन मारों से मजबूर होकर जहाँ उन्हें घुन्ना बनना पड़ा वहीं उनका ग़लत-सही विद्रोह भी भड़कता रहा। राम-रावणमय निरालाजी महाराज अन्त तक अपने दोनों ही दौरों से बराबर गुज़रते रहे। सोचता हूँ यदि यह साहित्यदेवता हर तरह से संगठित व्यक्तित्व पा जाता तो इसकी अबाध आत्मशक्ति हमें दूसरे ही रूप में विकसित होकर मिलती और हमें बहुत-कुछ दे जाती। ख़ैर उनके इस जड़-चेतनमय व्यक्तित्व में समाई हुई उनकी उन्मुक्त प्रकृति ने उनके जीवन को बड़ी नाटकीयता प्रदान कर दी। अपने साहित्य से अधिक अपने इस व्यक्तित्व के प्रभाव से निराला समाज के आकर्षण का केन्द्र बन गये। वे सृजनशील साहित्यिकों के संघर्ष-स्वाभिमान-मूडमय जीवन के प्रतीक बनकर किंवदंतियों के नायक बन गये। इस पुस्तक की सफलता का आधा श्रेय रामविलास शर्मा को दिया जाना चाहिये और आधा निराला के नाटकीय व्यक्तित्व को। कम जीवनी-लेखकों को ऐसा चरितनायक आँकने को मिलता है।

निराला के साथ-साथ महावीरप्रसाद द्विवेदी, महादेव प्रसाद सेठ, शिवपूजन सहाय, उग्र, मुंशी नवजादिकलाल, स्वामी प्रेमानन्द आदि अनेक व्यक्तियों के चित्रांकन बड़ी सुघराई से किये गये हैं। स्वयं डॉ० शर्मा की भी अच्छी झलक हमें मिल जाती है। गृहस्थी के क्षेत्र में सौभाग्यवती मनोहरा देवीजी और अपने कर्मक्षेत्र में श्रीयुत सुमित्रानन्दनजी पन्त ही से निराला के मन का घना नाता जुड़ा था। निरालाजी ने मनोहरा देवी को जीते-जी कभी चैन न लेने दिया और मरने के बाद वे उनकी 'रत्नावली' हो गईं। पन्तजी को भी उन्होंने अपने बोल-कुबोलों से बेहद सताया और बुलीपन से आतंकित किया। रामविलास शर्मा ने पन्त और निराला के ऐतिहासिक सहयोग को सही महत्त्व दिया है। उन्होंने अलग से भी कवि पन्त के महत्त्व को खुले दिल से सराहा है। डॉ० शर्मा निराला के उस फ़रेब का पर्दा फ़ाश करने से भी नहीं चूके जो उन्होंने 'जुही की कली' की रचना और अपनी आयु की तिथियों में उलटफेर करके पन्त पर अपनी 'सीनियारिटी' का रौब जमाने के लिए किया था। शिकायत केवल इस बात की है कि निराला के जड़-चेतन व्यक्तित्व की झाँकी जहाँ इतने विस्तार से प्रस्तुत की गई है वहाँ पन्त के जड़-चेतन व्यक्तित्व की झलक हमें झाईं-सी ही मिल पाती है। यह सही है कि निराला की जीवनी में निराला ही की बातों को अधिक विस्तार मिलना चाहिए, पर पन्त जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का उल्लेख करने पर उनका चित्रांकन भी उसी मार्मिक अन्तर्दृष्टि से किया जाना चाहिये था। इस प्रसंग को रामविलास शर्मा ज़रा और नोकपलक साधकर लिखते तो बात उम्दा तरीके से निखरती; कुछ व्यर्थ के भ्रम न पैदा होते जो उन्होंने अपने अनजाने में पैदा कर दिये हैं या पैदा हो सकते हैं।

प्रसंगवश अपने जी की एक बात यहाँ अवश्य कहना चाहता हूँ, श्रद्धेय पंतजी ने अपने भोले भ्रमवश रामविलास को 'लोकायतन' में वाग्विलास बनाकर जो तान्त्रिक का यश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदान किया है, वह कम्बख्त इसके कतई योग्य न था। 'ॐ ह्रीं क्लीं फट्' वाली साइंस से डॉ० शर्मा की कोई दूरदराज़ की जान-पहचान भी नहीं है। रामविलास की इच्छा-शक्ति इतनी प्रबल है कि निराला क्या साक्षात् अल्ला मियाँ भी उन्हें अपने लिए तन्त्र-मन्त्रों का माध्यम नहीं बना सकते। अपने पति के 'संग दोष' से ही रामविलासजी की परम आस्थावान् सरल ग्रामीणा सहधर्मिणी ने अहोई, करवा चौथ जैसे व्रत-उपवास तक छोड़ दिए जिन्हें पढ़ी-लिखी, शहरी समाज में पली औरतें भी नहीं छोड़ पातीं। स्वयं डॉ० शर्मा की अखंड सौभाग्यवती पुत्र-वधुएँ भी सुहाग-सन्तानों की शुभ-कामना में यह व्रत रखती हैं, पर मेरी इस देहातिन भाभी को अपने दूध-पूत सुख-सुहाग की अचलता में आस्था बनाए रखने के लिए अब उनकी आवश्यकता नहीं रही। अपने वर्षों के घनिष्ठ सम्बन्धों के आधार पर मैं यह तो कह सकता हूँ कि रामविलास शर्मा का 'कवि हृदय' निश्चय ही एक जगह पर आस्तिक है पर उनका 'ज्ञानी पंडित' पूजा-अर्चा, मन्त्र-तन्त्रों की हवा तक से कोसों दूर है।

जहाँ तक निरालाजी के जन्तर-मन्तर सिद्ध होने की बात है, उसे मुझसे अधिक निकट से जानने वाले बड़े लोग मौजूद हैं। चकल्लस के 'भाभी' अंक में छपे 'देवर का इन्द्र-जाल' स्केच वाला छछूँदर-मार सुर्जकुमार भावी सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के व्यक्तित्व का एक आरम्भिक रूप भर था। इस किताब को पढ़कर भी यही लगा कि निराला संन्यासियों के बीच में रहकर भी कभी तन्त्र-साधक नहीं रहे थे। निराला जैसा आलसी और अपने 'प्रसन्न मन' की बाट जोहने वाला व्यक्ति ऐसी साधनाओं के काबिल ही नहीं था। इस किताब से यह बात भी साफ़ उभरती है कि अपने प्रति-द्वंद्वियों और विरोधियों को 'पछाड़ने' के लिए उन्हें अपनी कलम और ज़बान पर ही अधिक आस्था थी। वे गाली-गलौज कर सकते थे, झूठ बोल सकते थे, गीदड़ भभकियाँ दे सकते थे, बस इसके अलावा वे कुछ नहीं कर सकते थे। अपने बुलीपन से वे सीधे को तो दबोच लेते थे पर टेढ़े खाँ-मार्का लोगों से कतरा जाते थे। रायबहादुर पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी के घर में मैंने बरसों पहले एक बार स्व० हितैषीजी और निरालाजी की नोक-झोंक होते देखी थी। न वह दबने वाले न यह; साथ ही दोनों एक-दूसरे का आदर भी करते थे। श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री निराला में भी सदा बनी-न-बनी वाली बात ही रही। डॉ० शर्मा की किताब से मैंने यह जाना कि छोटे क़द और बड़े बाँके मिज़ाज वाले हमारे भगवती बाबू का नाम निरालाजी ने 'बेंटराज' रखा था। पढ़कर बड़ी ज़ोर से हँसी आई, साथ ही अनूठे और उप-युक्त नामकरण करने वाली निरालाजी की बैसवारी प्रतिभा की दाद दिये बिना भी न रहा गया। भगवती बाबू से भेंट होने पर जब यह प्रसंग आया तो वे बोले—"मैं तो अपनी 'लाइक्स' और 'डिसलाइक्स' (पसन्द और नापसन्दगी) में शुरू ही से निरालाजी से एकदम साफ़ रहा। वे हमारे मुँह पर कहते थे, मैं उनके मुँह पर। मगर उनकी 'बाबू तुम मुर्गी खाते' वाली कविता को 'विचार' में मेरे द्वारा नोट लगाकर छापे जाने के प्रसंग में रामविलास ने मेरे साथ न्याय नहीं किया। मैंने न तो वह कविता मँगाई थी और न रिमाइण्डर भेजा था। यह ग़लत 'स्टेटमेंट' है।

हमारे मित्र ज्ञानचन्द जैन ने कहा कि यह तो निरालाजी के पत्र के आधार पर ही लिखा गया है। इस पर भगवती बाबू बोले—"बात उस पत्र से ही उठती है। निरालाजी की यह बात कि कविता मैंने मँगाई थी और न पहुँचने पर रिमाइण्डर भेजा था, शत-प्रतिशत ग़लत है। तुम तो जानते ही हो, उन दिनों मैं पक्का गांधीवादी था, ऐसी कविता मँगा-कर छापने का सवाल ही नहीं उठता। वह कविता मुझे दी गई थी। बात यों हुई कि मैं इलाहाबाद गया था, वाचस्पति पाठक के यहाँ निरालाजी से भेंट हुई। उन दिनों वे पाठकजी के यहाँ रहते थे। उन्होंने यह कविता सुनाई और मुझसे कहा कि छापोगे। पहले तो मैं सकुचाया पर जब उन्होंने मुझे दो बार चुनौती दी तो हमने भी कहा कि दे दीजिए, छापेंगे। निरालाजी ने वह कविता मुझे वहीं दे दी। पाठकजी भी उस समय मौजूद थे।"

मैं समझता हूँ कि इसके लिए रामविलास शर्मा को दोष देना ग़लत है। बात भगवती बाबू और निरालाजी के बीच की है, शर्मा और वर्मा के बीच की नहीं। निरालाजी कविता छापने की चुनौती भी दे सकते थे और उसके स-नोट छपने पर माँगकर छापने की धौंस भी जमा सकते थे। रामविलासजी ने एक बार प्रसंगवश मुझे एक मज़ेदार घटना सुनाई थी। निराला और रामविलास शर्मा सड़क पर बातें करते चले जा रहे थे। उन दिनों साहित्य-जगत् में सन्नाटा छाया हुआ था। हवा में बहस-मुबाहसे की गर्मी पैदा करने के लिए निरालाजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने रामविलासजी से कहा कि कुछ लिखो, न हो तो मेरे विरुद्ध ही लिखो। रामविलासजी ने कह दिया कि अच्छा, आपके विरुद्ध लिखेंगे। बस यह सुनना था कि निरालाजी पलट पड़े। गरमाकर बोले, "लिखौ हमरे खिलाफ़। तुमका चिनौटी आहीं।" निरालाजी के चरित्र में बड़ा विरोधाभास था।

इस पुस्तक में निराला के परिवार में अनेक मौतों वाली घटना, अनाथ भतीजों को पालने के लिए भयंकर संघर्ष भरे दिनों और 'भावों की भिड़न्त' वाले आंदोलन तथा 'सिफ़लिस' से पीड़ित नायक निराला के 'पतन' वाले दिनों का बड़ा ही मार्मिक विवरण अंकित हुआ है। 'भावों की भिड़न्त' लेख के प्रकाशन से 'युगांतरकारी प्रतिभा का धनी' सूर्यकान्त 'बंगाली कविताओं का भाव चुराने वाला' बतलाया जाकर मज़ाक का पात्र बन गया था। रामविलासजी ने अपने चरितनायक का चित्रण खास तौर से उसके कठिन क्षणों में बड़ी ही अन्तरंगता और कलात्मकता से किया है। उनका कलकत्ता जीवन, समन्वय और मतवाला-मण्डल के दिन, निराला-उग्र का आपसी ईर्ष्याद्विन्द्व, सब-कुछ बहुत सजीव रूप से पुस्तक में अंकित किया गया है। वे दिन चूंकि निराला के साथ-साथ छायावाद के उदयकाल के भी थे इसलिए हिंदी साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इतिहासकाल एक बार फिर से जी उठकर हमारे सामने स्पष्ट उभर आता है। इस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन-नाटक के साथ एक समाज की साहित्यिक क्रान्तिगत विचारधारा रस बनकर औसत साहित्य-चेता पाठक तक को सहज ही मिल जाती है।

अपने पढ़ने के शौक़ में अनाप-शनाप, बहुत-कुछ पढ़ते रहने के बावजूद आत्मचरित या जीवनचरित मैंने संयोग से **कम** पढ़े हैं। जीवनी साहित्य के सिलसिले में, अंग्रेजी में महारानी विक्टोरिया, तोल्सतोय, बालज़क और रामकृष्ण परमहंस के विस्तृत जीवनचरितों का ध्यान ही इस समय मन में है, शायद दो-चार और भी पढ़े हों। बँगला में रवीन्द्रनाथ का जीवनचरित पढ़ा था। वह देवपुरुष का जीवनचरित अधिक लगा मानव का कम। हिंदी में शिवनन्दन सहाय लिखित तथा राधाकृष्णदास और ब्रजरत्नदास में से किसी एक के लिखे दो भारतेन्दु चरितों को भी मैंने पढ़ा था। इसके बाद, पहला नामलेवा विस्तृत जीवनचरित तो श्री अमृतराय लिखित 'प्रेमचन्द: कलम का सिपाही' ही शायद हिंदी में आया। शिवरानीजी कृत 'प्रेमचन्द घर में' किताब भी मुझे बहुत अच्छी लगी थी, और अमृतराय की किताब से वह एक जगह मुझे इसलिए अधिक अच्छी लगती है कि उसमें चरितनायक की अच्छाइयों के साथ-साथ उसकी कुछ बुराइयाँ भी झलक उठती हैं; हमें प्रेमचन्द का अधिक यथार्थ रूप देखने को मिलता है। खैर, अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद 'प्रेमचंद: कलम का सिपाही' पुस्तक का अपना महत्त्व है और रहेगा। परन्तु रामविलास शर्मा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' अपने चरितनायक के सजीव और यथार्थ चित्रण में नामचीन्ह विदेशी जीवनचरितों से बराबर की टक्कर लेने में कहीं अधिक समर्थ है। निराला के यथार्थ स्वरूप को देखकर उनके प्रति मेरी श्रद्धा अब अपने सही सधाव के साथ टिकती है। मोर की सुन्दरता उसके गंदे पैरों के साथ ही अपना सही मूल्यांकन पाती है, उसके पैर काटकर नहीं। मेरे जी से तो बंधुवर रामविलास शर्मा का यह श्रम भरपूर सार्थक हुआ है। सब-कुछ कहे जाने के बावजूद यह पुस्तक हिंदी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी ही जाएगी।

निराला का अर्थ है हिन्दी...

विष्णुकान्त शास्त्री

'निराला की साहित्य साधना' के प्रथम खंड के रूप में निराला के जीवनचरित का प्रकाशन ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है।

हिन्दी में प्रचलित 'सर्वगुणसम्पन्न हमारे चरितनायक'-वाद की अतिशय भावुकतापूर्ण, आधे तथ्य, आधे अनुमान से भरे जीवनचरित-लेखन की धारा से सहज ही अलग दिखनेवाली इस गौरवशालिनी कृति का सबसे बड़ा गुण है आत्मीयतापूर्ण श्रद्धा के बावजूद नीर-क्षीर-विवेकी वैज्ञानिक की-सी वस्तुपरकता एवं तथ्यों के प्रस्तर-खंडों को तराशकर उन्हें जीवन्त कर देने वाले शिल्पी की-सी भावमयता का मणि-कांचन संयोग। सच, डॉ० रामविलास शर्मा ने निराला को देवता या सन्त बनाये बिना, उनकी दुर्बलताओं पर पर्दा डाले बिना, उनके सहज महान् मानवरूप को इसमें मूर्त्त कर दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निराला के जीवन की रेखाओं को परिस्फुट करने वाली प्रामाणिक सामग्री के संकलन में बहुत ही विवेकयुक्त परिश्रम किया गया है। उनके साहित्य में आये आत्मव्यंजक उल्लेखों, उनके और उनसे सम्बद्ध अन्यों के पत्रों, संस्मरणों, समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित रिपोर्टों, आलोचना-प्रत्यालोचनाओं, मूल्यांकन आदि को यथासंभव ठोक-बजाकर ही ग्रहण किया गया है। तथ्यों के प्रति निष्ठा इस कृति में इस सीमा तक है कि रामविलासजी इसमें 'गाथा-भंजक' के रूप में प्रकट हुए हैं। अपनी कुछ ग्रंथियों के कारण निराला ने स्वयं अपने बारे में कई गाथाएँ रची थीं, उनके श्रद्धालु भक्तों और द्वेषी आलोचकों ने उनके अनुकूल-प्रतिकूल जो 'गाथा-जाल' रचा है, उसका परिमाण विशाल है। चतुर वकील की तरह जिरह कर और अनुसंधान द्वारा उपलब्ध प्रमाणों की तुला पर तोलकर उन्होंने बहुतेरी गाथाओं को धूलिसात् कर दिया है। प्रचलित विश्वासों के प्रतिकूल उनके कुछ प्रमुख निष्कर्ष हैं : निराला का जन्म वसन्तपंचमी को नहीं हुआ था, महिषादल में उनका लालन-पालन राजकुमारों की तरह नहीं, जमादार के बेटे की तरह अभावों में ही हुआ था, बड़े होने पर भी राज में उन्हें अत्यन्त साधारण नौकरी और प्रचुर लांछना मिली थी, मतवाला का प्रकाशन उनकी प्रतिभा को प्रकाश में लाने के लिए नहीं हुआ था, यह ठीक है कि आरम्भ में मतवाला-मंडल में उनकी स्थिति बहुत सम्मानपूर्ण थी, किन्तु 'भावों की भिड़न्त' के प्रकाशन के बाद वह बात नहीं रह गई थी और 'उग्र' के आगमन के बाद तो वह दयनीय हो गई थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें 'मंडल' से अलग होना पड़ा था, 'जुही की कली' उन्होंने सोलह साल की उम्र में नहीं लिखी थी, न वह उनकी पहली कविता थी, न महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में उसे 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजा ही गया था अतः उनके द्वारा उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं उठता, मुक्त छन्द के आविष्कारक निराला नहीं हैं, उन्होंने इसे बँगला के प्रसिद्ध नाटककार गिरीशचन्द्र घोष से ग्रहण किया था, दुलारेलाल भार्गव ने उनका पोषण कम और शोषण बहुत अधिक किया, उन्होंने पन्त की काव्य-प्रतिभा का अपहरण कर अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ नहीं लिखीं, वे पागल नहीं हो गये थे उनका मानसिक विक्षेप 'न्यूरोसिस' और 'पैरानोइया' की भूमिका से आगे नहीं बढ़ा था, वे औढरदानी ज़रूर थे किन्तु रुपये लुटाते नहीं फिरते थे, उन्हें प्रायः अन्त तक अपने बृहत्तर परिवार एवं आश्रितों की चिन्ता रही और यथाशक्ति उनकी आर्थिक सहायता करते रहे। निराला की दुर्बलताओं को भी उन्होंने नहीं छिपाया है, अपेक्षाकृत रूप से अल्पज्ञात तथ्यों 'भोग के पुरस्कार में रोग' पाने का, जीविका के लिए छतरपुर नरेश की प्रशस्ति में कविता लिखने का, अज्ञात कारणों से प्रौढ़ावस्था में हुए उन पर संगीन-आघातों का वर्णन भी किया है और रवीन्द्र एवं पन्त के प्रति ईर्ष्या भरी स्पर्धा का विस्तृत निरूपण भी। इन सबके बावजूद निराला कवि के रूप में ही नहीं, मनुष्य के रूप में भी महान् थे। अपने प्रतिकूल चलने वाले संगठित विरोध अभियान, प्रकाशकों के हृदयहीन शोषण एवं नियति के क्रूर आघातों के विष से दग्ध होते हुए भी अमृतसन्धानी निराला की अदम्य आशावादिता, जीवट-भरी संघर्षशीलता, मर्मस्पर्शी कृतज्ञता एवं आघात-जर्जर मन की अपराजेय आस्था के प्रचुर उदात्त, करुण चित्र इस पुस्तक में मिलेंगे। किन्तु शर्माजी ने जिस प्रकार वीर-पूजा की अन्धश्रद्धाभरी प्रवृत्ति से अपने को बचाया है, उसी प्रकार करुणा उगाहने की रुग्ण मनःस्थिति से भी। इस पुस्तक का, एवं संभवतः निराला के जीवन का भी करुणतम प्रसंग है सरोज की मृत्यु। दारुण अर्थाभाव में छटपटाता पिता (दुलारेलाल भार्गव ने उस समय निराला को रुपया देने से बिलकुल इन्कार कर दिया था) और सम्यक् चिकित्सा के अभाव में तिल-तिल कर मृत्यु की ओर अग्रसर होती पुत्री। किन्तु जिस तरह सरोज की मृत्यु की सूचना पाकर निराला ने 'न एक भी आँसू गिराया, न एक भी शब्द कहा' (पृ० २६३) उसी तरह रामविलासजी की लेखनी ने उस चरम पीड़ा-भोग को परम वाक् संयम द्वारा अत्यन्त प्रभविष्णु बना दिया है। सस्ती (प्रायः कृत्रिम) भावुकता से गंभीर भावप्रवणता का अन्तर ऐसे ही स्थलों पर स्पष्ट होता है। जो दुख निराला के खून में ज़हर बनकर घुल गया था और उन्हें जला रहा था, उसके तीखे दाह की अनुभूति पाठक भी करता है साथ-ही-साथ उस शक्ति का अनुभव भी जिसके लिए रामविलासजी ने लिखा है, 'निराला ने अन्तर की समस्त शक्ति बटोरकर भ्रम और प्रवंचना से दूर अपने क्षुब्ध मन को शान्त किया।' (पृ० २६८) इसी तरह प्रेमचन्द्र, प्रसाद और स्वयं निराला की मृत्यु के प्रकरणों में भी सघन वेदना की हृदयद्रावक अनुभूति के बावजूद अश्रु-छलछल भावुकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है।

यह जीवनचरित एक व्यक्ति का होते हुए भी, व्यक्ति-सीमित ही नहीं है। निराला एक व्यक्तिमात्र ही तो नहीं थे। वे संघर्षशील, श्रमजीवी हिन्दी लेखकों के प्रतिनिधि थे, अतः उनकी ज़िन्दगी बहुत दूर तक सर्वसामान्य श्रमजीवी लेखक की ज़िन्दगी है। वे अपने युग के प्रमुख निर्माताओं में से एक थे, स्वभावतः उनके चरित्र में उनके युग की प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ और अन्तर्विरोध भी उभरे हैं। साहित्यिक स्तर पर वह छायावाद के उपहास, विरोध, प्रतिष्ठापन एवं प्रगतिशील, प्रयोगशील धाराओं में रूपान्तर की कहानी है तो राष्ट्रीय स्तर पर कर्मठ वेदान्त, राष्ट्रीयता, गाँधीवाद और 'कास्मिक' समाजवाद के समवाय की गाथा। और फिर वे केवल अपने युग के ही नहीं हैं, रूढ़ियों को निर्ममतापूर्वक तोड़ने वाला यह क्रान्तिकारी परम्परा से सर्वाधिक जुड़ा भी होने के कारण न केवल हिन्दीभाषी जाति का ही बल्कि आह्वमान काल से चली आने वाली भारतीय संस्कृति का मुखपात्र भी है, अतीत का भी है और भविष्य का भी। रामविलासजी ने निराला-चरित के इन विविध स्तरों को सचेत रूप से उद्घाटित किया है, निम्नलिखित उद्धरण इसके प्रमाण हैं—

"आज हर लेखक का भाग्य निराला के भाग्य से जुड़ा हुआ है—उस हर लेखक का भाग्य जिसने ईमान बेचा नहीं है, जो अपनी कला के प्रति सच्चा है। विशेष रूप से हिन्दी लेखक, जो अभावों और रूढ़ियों की दुनिया में एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए जूझ रहे हैं, निराला के भाग्य को अपना भाग्य मानते हैं···" (पृ० ५२२) "निराला अपने युग के साथ महान् थे। भारतेन्दु ने जो आंशिक क्रान्ति की थी, उसे बहुत-कुछ पूरा किया निराला और उनके सहयोगियों ने।" (पृ० ५४८) "निराला का अर्थ है हिन्दी, हिन्दी साहित्य की परम्परा। जिसने परम्परा की कड़ियाँ सबसे ज्यादा तोड़ी थीं, वही उस परम्परा का सबसे समर्थ प्रतिनिधि था।" (पृ० ४६५) "हिन्दीभाषी जाति की अतुल शक्ति और उसके अन्तर्विरोधों के प्रतीक निराला थे।" (पृ० ५५०) "वाल्मीकि और व्यास का उदात्त स्वर भक्ति-काल की विनम्र वाणी में खो गया था। वह स्वर भारतीय जनता ने फिर से इस युग में सुना—निराला के काव्य में।" (पृ० ५५०) हो सकता है कि कुछ लोगों को ये दावे अति-रंजित लगें किन्तु इस विवाद का सही निर्णय तो समय ही कर सकता है। प्रस्तुत जीवनचरित के सम्बन्ध में यही कहना है कि अत्यन्त व्यापक दृष्टि से संवलित होने के कारण यह निराला और उनके युग को विम्बित करने वाला महत्त्वपूर्ण आलेख बन गया है।

निस्सन्देह इस ग्रन्थ के वे परिच्छेद अधिक मार्मिक और रोचक हैं जो निराला के 'लखनऊ निवास' से सम्बद्ध हैं क्योंकि उस समय रामविलासजी निराला के घनिष्ठ सम्पर्क में थे। प्रत्यक्षदर्शी की अभिज्ञता के कारण उनकी प्रामाणिकता और जीवन्तता बहुत बढ़ गई है। संयोग से यही काल निराला के साहित्यिक चरमोत्कर्ष का काल है, जीवन की सार्थकता के मर्मन्तुद्र प्रश्न को सचेत रूप से हल करने के उनके प्रयास का काल है। इस काल में निराला से अपने निकट साहचर्य के कारण ही रामविलासजी उनकी अन्तःप्रकृति को करीब-करीब ठीक-ठीक समझ पाये थे। 'सरोज स्मृति', 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा' जैसी महान् कविताओं एवं 'प्रभावती', 'चमेली' जैसी गद्य-कृतियों की सृजन-प्रक्रिया के साक्षी होने के कारण ही वे उनकी पृष्ठभूमि को साधिकार स्पष्ट कर सके हैं। अपने परिवेश से सम्बद्ध होते हुए भी ये रचनाएँ किस प्रकार उसका अतिक्रमण करती हैं, इस बात को समझने में उनके विवेचन बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। यह सचमुच प्रशंसनीय है कि रामविलासजी ने इन परिच्छेदों में ध्वजदंड की तरह प्रायः अपने को आवृत्त रखकर निराला की यशः-पताका को ही ऊँचे उठाया है।

निराला के व्यक्तित्व का विश्लेषण एवं पन्त और निराला का तुलनात्मक अध्ययन रामविलासजी की बौद्धिक विदग्धता एवं साहित्यिक मर्मज्ञता का निश्चित प्रमाण तो है ही, इस बात का सूचक भी है कि वे सन् '४८ के सकीर्णतावादी दौर से बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

फिर भी निराला की प्रतिभा इतनी इन्द्रधनुषी और उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी बहुमुखी थीं कि अपनी इस कृति के सम्बन्ध में स्वयं रामविलासजी की यह विनम्र उक्ति कि 'उसके सर्वथा निर्भ्रम और पूर्ण होने का दावा मैं नहीं करता' बहुत उचित है।

निराला के जो दो रूप रामविलासजी को सर्वाधिक भाए हैं उनमें से एक है मर्यादा निभाने के लिए अपने को होम देनेवाला, धरती और लोकजीवन से सम्बद्ध रहनेवाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका बज्र देहाती रूप, जो अमीर माँ-बाप के विदेशफिरत इंटेलेक्चुअलिहा नवाबज़ादों को—चाहे वे राष्ट्रवादी हों, चाहे समाजवादी—फटकार देता था, और दूसरा है आस्थावान् संघर्षशील योद्धा लेखक का···वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास की परम्परा से जुड़नेवाले लेखक का रूप जो गांधी-नेहरू या सेठ-साहूकारों के सामने अपना मस्तक उन्नत रखता था। स्वभावतः इन्हीं दोनों रूपों को इस ग्रन्थ में प्रमुखता प्राप्त हुई है। किन्तु निराला के व्यक्तित्व के और भी पहलू हैं। रामविलासजी ने ही एक जगह लिखा है, "निराला आधे मन से भोगी हुए, आधे मन से संन्यासी" (पृ० ४७३)। तुलसी के मर्यादावाद के अनुगामी रामविलासजी उनकी तफरीह में शामिल होने से इन्कार करते हैं, वे कुछ तथ्यपूर्ण संकेतों में ही उनके भोगी रूप की चर्चा यथेष्ट समझते हैं।

संन्यासी भाव की चर्चा अपेक्षाकृत अधिक हुई है किन्तु मार्क्सवादी होने के कारण वे उसे पूरा समर्थन नहीं दे पाते। उनका कर्मठ वेदान्ती (ज्ञानी) रूप और रामचरितमानस तथा महावीर का उपासक कर्मण्य, लोकसंग्रही भक्त रूप उन्हें फिर भी पसन्द है किन्तु समर्पणशील विनयपरायण भक्त रूप, लगता है, उन्हें संस्कारतः प्रिय नहीं है। इसीलिए निराला के उत्तरवर्त्ती काव्य की (जो प्रमुखतः विनय काव्य है) एवं तदनुरूप मनोभाव की सम्यक् विवेचना उन्होंने नहीं की है। उस दौर की उनकी कविताओं में भी, जो प्रकृति के रस, रूप, गंध पर हैं, उन्हें ही उद्धृत कर उन्होंने बार-बार यह दिखाना चाहा है कि 'उनका मन संसार की छवि पर अब भी मुग्ध था' (पृ० ४५३)। किन्तु उनका मन मुख्यतः विनय भाव का अवलम्बन कर अपने को विघटित होने से बचा रहा था, यह उन्होंने भलीभाँति नहीं दिखाया है। ऐसा नहीं है कि वे इसको जानते न हों, "लेखनी को लेकर जो हाथ उठा था, अब वह माला की सुमिरनी पकड़ना चाहता है" निराला की यह उक्ति उन्होंने पृ० ४३५ पर उद्धृत की है। उनका यह विश्लेषण बहुत ठीक है, "निराला कल्पना करते थे कि वह बहुत बड़े अद्वैतवादी हैं···पर उनके मूल संस्कार एक भक्त के थे, रामचरितमानस पढ़नेवाले भक्त के थे।" (पृ० ५४०) उनका यह अनुमान भी बहुत संगत है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में वे चेतन-अचेतन रूप से श्री रामकृष्ण परमहंस देव के व्यवहारों का अनुकरण कर रहे थे। किन्तु अपने विश्वासों की सीमा के कारण शर्माजी यह नहीं देख और दिखा पाए कि अन्य भावों के संघात के बावजूद मुख्यतः इसी 'विनय भाव' का अवलम्ब ग्रहण कर निराला ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष काटे थे। पूर्वग्रह के कारण व्याख्या किस हद तक विकृत हो जा सकती है इस सन्दर्भ में रामविलासजी के विवेचन से इसका एक उदाहरण देना चाहता हूँ। सरोज की मृत्यु के बाद जीवन की सार्थकता के प्रश्न से जूझते हुए निराला की कुछ पंक्तियाँ और उन पर शर्माजी की टिप्पणी इस प्रकार है—

लाञ्छना इन्धन, हृदय तल जले अनल,
भक्ति नत नयन मैं चलूँ अविरत सबल
पार कर जीवन प्रलोभन समुपकरण।

"···जो शक्ति रहस्यवादियों के ज्ञान और प्रकाश से न मिली थी, वह उन्हें अपने मन में संचित अपमान से मिली। लाञ्छना की अग्नि विकट प्रेरक शक्ति बनकर उन्हें आयु के शेष वर्षों के पार ले जाएगी।" (पृ० २९८) सोचने की बात है कि इन पंक्तियों से यह अर्थ कैसे निकल सकता है कि निराला को आयु के शेष वर्षों के पार ले जानेवाली शक्ति लांछना की अग्नि है। इसका सीधा अर्थ यही है कि हृदयतल में लांछना इन्धन की आग जलते रहने के बावजूद मैं जीवन के प्रलोभन के समुपकरणों को पार कर भक्ति से नत नयन हो सबल रूप से अविरत चलता रहूँ। उनकी प्रेरणा की शक्ति लांछना की अग्नि नहीं, भक्ति की शीतलता है। इसी गीत के पहले बन्द में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से कही गई है:

भीरुता के बँधे पाश सब छिन्न हों,
मार्ग के रोध विश्वास से भिन्न हों,
आज्ञा, जननि, दिवस-निशि करूँ अनुसरण।

(गीतिका—गीत सं० ९२)

निराला का सम्बल लांछना की अग्नि जैसी निषेधक भावना नहीं, विश्वास और जगन्माता की आज्ञा (निराला का अत्यन्त प्रिय शब्द, जिसे बाद में वे 'आर्डर' के द्वारा व्यंजित करते थे) के अनुसरण के निश्चय जैसे विधायक भाव हैं। किन्तु मार्क्सवादी तो प्रेरणा के भौतिक स्रोत को ही स्वीकार सकते हैं। रामविलासजी ने इसी ग्रंथ में अन्यत्र माइकेल एञ्जेलो और निराला की तुलना करते हुए लिखा है कि अपने मित्र के यह पूछने पर कि, 'इस ठंड में कौन सी चीज़ आपको जिलाये थी? माइकेल एञ्जेलो ने कहा—अपमान की ज्वाला। अपने गीत में निराला ने लिखा था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लांछना इन्धन हृदयतल जले अनल—तब वह माइकेल एन्जेलो की वही अनुभूति व्यक्त कर रहे थे।" (पृ० ५१६) ऊपर के विवेचन से यह साफ है कि माइकेल एन्जेलो और निराला की अनुभूति में ज़मीन-आसमान का फर्क है।

इसी तरह इस पुस्तक में हिन्दी जातीयता की रट इतनी अधिक लगायी गई है कि कहीं-कहीं उसके आगे हिन्दू जातीयता और भारतीय राष्ट्रीयता भी दब गई है। हिन्दू जातीयता तो खैर मार्क्सवादियों के लिए साम्प्रदायिकता से भिन्न कुछ है ही नहीं। रामविलासजी के लिए यही कम अफसोस की बात नहीं है कि मतवाला-मंडल में हिन्दू जातीयता की भावना बहुत प्रबल थी, फिर निराला ने भी हिन्दुत्वपरक कुछ कविताएँ लिखी हैं, इस तथ्य से उनको कष्ट पहुँचना स्वाभाविक ही है किन्तु सन्तोष इसी बात का है कि निराला की 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताओं को 'इच्छानुसार हिन्दू संगठन के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था, अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए भी' (पृ० ११५)। ध्वनि यह है कि हिन्दू संगठन बुरा काम है। निराला को दबाव में पड़कर उसके समर्थन में जब कुछ लिखना पड़ा तो उन्होंने ऐसे ढंग से लिखा कि साँप भी मर गया और लाठी भी नहीं टूटी, मतवाला-मंडल के हिन्दू संगठनवादी मित्र भी सन्तुष्ट हो गए और निराला की क्रान्तिकारिता पर साम्प्रदायिकता का धब्बा भी नहीं लगा। यहाँ रामविलासजी ने दुहरा अन्याय किया है, एक तो निराला पर उन्होंने अपनी मानसिकता आरोपित की है, दूसरे 'तू कभी न ले दूसरी आड़' के विश्वासी निराला को कूटनीतिज्ञ बना दिया है। जिस निराला की मान्यता थी 'यदि मिला न तुमसे हृदय छन्द तो एक गीत मत गाना तुम' वह निराला किसी के दबाव में पड़ कर मुँहदेखी कविताएँ लिखेगा, यह कल्पनातीत बात है। फिर फर्माइशी कविताएँ 'जागो फिर एक बार', 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी ओजस्विनी एवं मर्मस्पर्शिणी नहीं हो सकतीं। सच्चाई यह है कि विवेकानन्द के अनुयायी निराला के लिए हिन्दू जातीयता आन्तरिक श्रद्धा और सम्मान की भावना थी तभी वे उसके स्पर्श से अपनी कुछ सर्वश्रेष्ठ वीररसपरक कविताएँ लिख सके थे।

यह भी एक दिलचस्प बात है कि हिन्दू जातीयता को प्रतिक्रियाशील माननेवाले रामविलासजी हिन्दी जातीयता को प्रगतिशील भावना मानते हैं। क्या निराला भी ऐसा मानते थे? रामविलासजी ने 'निराला के मन में हिन्दी-बंगाली जातियों की बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता' के भाव की चर्चा की है। बहुत ठीक, किन्तु क्या इसके चलते वे 'हिन्दी जातीयता बोध' को विकसित करना हितावह मानने लगे थे? इस सम्बन्ध में रामविलासजी द्वारा उद्धृत निराला के वक्तव्य का विश्लेषण करना ही यथेष्ट होगा। निराला का वक्तव्य है, "मैं यह विरोध हरगिज न करता अगर यू० पी० में रहकर अपने दूसरे शिक्षित भाइयों की तरह मैं भी प्रान्तीयता-वू-विवर्जित हो गया होता, परन्तु नहीं, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू० पी० का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त होता? बंगाल में रहने के कारण एक उन्नति मेरी ज़रूर हुई। बंगालियों के संसर्ग से प्रान्तीयता का ज़हर मेरी नसों में खूब फैल गया और नशे में बेहोश कर देने की जगह बेतरह मुझे सजग कर देने लगा—हर वक्त बंगालियों की एक चाल में।" (पृ० ११३) क्या इस कथन से यह नहीं झलकता कि प्रान्तीयता-वू-विवर्जित होना ही निराला के लिए आदर्श स्थिति थी? क्या बंगाली जातीयता के अनुरूप ही हिन्दी जातीयता से 'प्रान्तीयता का ज़हर' फैलने की संभावना नहीं है? हिन्दी जातीयता, बंगाली जातीयता आदि प्रादेशिक राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ावा देने वाली अवधारणाओं के साथ निराला का नाम जोड़ना संगत नहीं प्रतीत होता।

जो हो, वैचारिक निष्ठा पर आधारित तत्त्व-सम्बन्धी मतभेदों का सहअस्तित्व भी चल सकता है, किन्तु पर्याप्त सतर्कता बरतने के बावजूद इस ग्रन्थ में रह गयी कुछ भ्रान्तियों का निराकरण तो आवश्यक हो जाता है।

रामविलासजी ने लिखा है कि निरालाजी को 'आठवें से दसवें तक पहुँचने में छह साल लग गए।' (पृ० २८) इसका कारण उन्होंने बताया है कि रामसहाय तेवारी द्वारा "कम उम्र में बिना पूरी तैयारी के उन्हें जो आठवें दर्जे में भर्ती कराया गया उससे नींव बराबर कमज़ोर रही।" (पृ० २८) इस पुस्तक में कई स्थलों पर इस प्रसंग की कुछ अलग-अलग ढंग से उन्होंने चर्चा की है, उदाहरणार्थ पृ० ४८६ पर लिखा है, "नौ साल की उम्र में वह आठवें दर्जे में भर्ती हुए, सोलह साल के होने तक दसवीं पास न कर पाये। पर राहुल जी से उन्होंने ऊँची हाँकी—एक साल में तीन क्लासें पार कीं।" (पृ० ४८६) इन सबका निष्कर्ष यही निकलता है कि राम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलासजी की धारणा के अनुसार वे कक्षाओं में एकाधिक बार फेल हो-होकर ऊपर की कक्षा में चढ़ते रहे। यह सच नहीं है। असल में बंगाल की पुरानी शिक्षा-पद्धति से अपरिचित होने के कारण रामविलासजी से यहाँ अनजाने गलती हो गयी है। महिषादल के हाई स्कूल में निरालाजी का नाम १३ सितम्बर १६०७ को कक्षा ८ सेक्शन बी में लिखा गया था। उन दिनों के नियम के अनुसार हाई इंगलिश स्कूल की प्रारम्भिक कक्षा ही कक्षा ८ होती थी जो आजकल की कक्षा ३ के समतुल्य थी। ऊँची कक्षाएँ क्रमशः सेवेन्थ क्लास, सिक्स्थ क्लास आदि हुआ करती थीं, सर्वोच्च कक्षा को एंट्रेंस क्लास या फर्स्ट क्लास कहा जाता था। (देखिए **रूल्स एंड ऑर्डर्स ऑफ़ द एजुकेशनल डिपार्टमेंट, बंगाल, चैप्टर ३ स्कूल्स—(फिफ्थ एडीसन, १६१६) पृ० सं० ६**) इसका अर्थ यह हुआ कि निरालाजी उस विद्यालय की निम्नतम कक्षा में भर्ती हुए थे और यदि रामविलासजी की यह बात ठीक है कि वे छह साल में ही एंट्रेंस क्लास में पहुँच गये थे तो वे किसी कक्षा में अनुत्तीर्ण तो हुए ही नहीं होंगे, दो बार उन्हें 'डबल प्रोमोशन' मिला होगा अर्थात् राहुलजी से उन्होंने बहुत ऊँची नहीं हाँकी थी। इससे यह साफ हो जाता है कि आरम्भ में वे पढ़ाई-लिखाई में तेज़ ही थे, कमज़ोर नहीं, एंट्रेंस में अनुत्तीर्ण होने का कारण चाहे 'राजपुस्तकालय से अंग्रेज़ी-बँगला-संस्कृत के काव्य' पढ़ना हो, चाहे वैराग्य भाव, चाहे गौना।

इसी तरह रामविलासजी ने लिखा है, "निराला ने बँगला पद्य में उस भाषा में रची हुई अपनी पहली कविता में पन्त को उत्तर दिया।" (पृ० ५५२) संभवतः हिन्दी जातीयता के भाव के ज़ोर मारने पर उपसंहार में रामविलासजी ने यह भी जोड़ दिया, "बँगला उनके लिए मातृभाषा के समान न थी, न आरम्भ में वह बँगला या संस्कृत में कविता करते थे।···जीवन की किसी मंज़िल में भी उनका बँगला-ज्ञान उनके हिन्दी-ज्ञान के समकक्ष या उससे बढ़कर न था।" (पृ० ६१०) ये निष्कर्ष भी ठीक नहीं लगते। पन्तजी की लिखित निराला की बँगला कविता की प्रसंगगत पंक्तियाँ ये हैं—

आमि एइ भाषाय प्रथम कविता लिखियाछिलाम
ताइ इहातेइ तोमार अभिनन्दन करिलाम। (पृ० १६२)

अर्थात् मैंने इसी भाषा में (अपनी) पहली कविता (या पहले-पहल कविता) लिखी थी, अतः इसी (भाषा) में तुम्हारा अभिनन्दन किया। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि यह कविता बँगला की मेरी पहली कविता है। इसी कविता से यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भ में उन्होंने बँगला में ही कविताएँ लिखी थीं।

रही बात यह, कि उनके लिए बँगला मातृभाषा के समान थी या नहीं अथवा उनका बँगला-ज्ञान जीवन की किसी भी मंज़िल में हिन्दी-ज्ञान के समकक्ष या उससे बढ़कर था या नहीं। बंगाल के ग्रामांचल में पलने और बंगाल के माध्यम से एंट्रेंस तक पढ़ने वाले निराला के लिए बँगला मातृभाषा के समान हो गयी होगी, यह अनुमान अत्यन्त संगत है, बिना किसी प्रतिकूल प्रमाण के इसका निषेध करना हठधर्मिता का परिचय देना है। एंट्रेंस तक (अर्थात् १६१४-१५ ई० तक) निराला का हिन्दी साहित्यज्ञान रामचरितमानस एवं पद्माकर के कवित्तों के अतिरिक्त और कहाँ तक था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता जबकि बँगला का ज्ञान कम-से-कम एंट्रेंस के स्तर तक का तो था ही। अतः सम्भावना यही है कि उस समय हिन्दी साहित्य विशेषकर खड़ी बोली के साहित्य के ज्ञान की तुलना में बँगला साहित्य का उनका ज्ञान अधिक होगा। कम-से-कम हिन्दी जातीयता बोध से अनाक्रान्त व्यक्तियों का अनुमान इसी स्थापना के पक्ष में होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस पुस्तक के प्रकाशक से तीन ज़बर्दस्त शिकायतें हैं। पहली तो यह कि छापे की भूलें—हिन्दी के स्तर को ध्यान में रखते हुए भी—इसमें बहुत अधिक हैं, दूसरी यह कि जिल्द इतनी खराब और कमज़ोर बँधी है कि किताब खरीदनेवालों को सात, आठ दिन बाद ही उसे पुनः मढ़वाना पड़ेगा और तीसरी यह कि दाम इतना अधिक है कि औसत मध्यवित्त पाठक इसे नहीं खरीद सकेगा।

पर ये सब बातें गौण हैं। बड़ी बात यह है कि रामविलासजी की वर्षों की एकनिष्ठ साधना के फलस्वरूप 'तुलसीदास के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि' की इतनी विशद जीवनी··· (हिन्दी में अब तक लिखित जीवनी साहित्य की उत्कृष्टतम उपलब्धि) हमें प्राप्त हो सकी। इसके लिए समस्त हिन्दी-जगत् की ओर से कृतज्ञतापूर्वक उनका शतशः अभिनन्दन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्विरोधों का सरलीकरण

नेमिचन्द्र जैन

किसी सर्जनशील व्यक्तित्व का अन्वेषण तथा साक्षात्कार और फिर उसकी पुनःसृष्टि बड़ा चुनौतीभरा और उत्तेजक कार्य है। और यदि वह व्यक्तित्व निराला-जैसा प्रखर, उग्र और अन्तर्विरोधों से भरपूर हो तो यह कार्य बड़ा कठिन और जोखिम का हो सकता है। कठिन इसलिए कि ऐसा व्यक्ति अपनी सर्जनशीलता के कारण बहुत बार एक से अधिर स्तरों पर जीता और रचना करता है, जिससे उसके व्यक्तित्व में इतनी तहें बन जाती हैं कि उन्हें ठीक से अलग-अलग देखने और फिर उनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए एक ओर बड़ी प्रखर और निर्मम वस्तुपरक दृष्टि की, और दूसरी ओर उस व्यक्ति के साथ सच्ची सहानुभूति और तादात्म्य की, जरूरत होती है। साथ ही, प्रतिभाशाली रचनाशील व्यक्ति के बारे में सहज ही मिथक बन जाते हैं; उसका चुम्बकीय आकर्षण निरंतर ऐसे अंधभक्त और प्रशंसक अथवा विरोधी पैदा करता है जो इन मिथकों की संख्या बढ़ाते रहते हैं; कई बार स्वयं रचनाकार भी ऐसे मिथकों की सृष्टि और वृद्धि में जाने-अनजाने योग देता है। इन सब कारणों से ऐसे व्यक्तित्व की सही-सही पहचान और परख में यह जोखिम रहती है कि वे वस्तुपरक न हों और अतिशय निन्दा या भक्ति के दो भावप्रधान छोरों में उलझी रह जाएँ। निराला का जीवन और कृतित्व इस बात का बड़ा जीता-जागता प्रमाण है। वे ज़िन्दगी भर अपने व्यक्तित्व और लेखन दोनों से ही अतिवादी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करते रहे, और उनकी मृत्यु के बाद भी उनके बारे में जो कुछ लिखा गया है उसमें श्रद्धांजलि का भाव अधिक है, एक समर्थ कृतिकार और तेजस्वी व्यक्ति का वस्तुपरक मूल्यांकन या विश्लेषण बहुत कम। हाल ही में प्रकाशित रामविलास शर्मा के तीन खंडों में प्रस्तावित ग्रंथ 'निराला की साहित्य साधना' का जीवन-चरित सम्बन्धी प्रथम खंड इस कार्य की सभी कठिनाइयों, चुनौतियों और खतरों को ज़ाहिर करता है।

ग्रन्थ का उद्देश्य निस्संदेह बड़ा भी है और महत्त्वाकांक्षी भी। भूमिका में लेखक ने कहा है : "निराला के पारिवारिक, सामाजिक परिवेश से, उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों से, उनके जीवन के बाह्य रूपों के साथ उनके अंतर्जगत से, पाठकों को परिचित कराना मेरा उद्देश्य है।" और कि "मैंने भरसक उनका वस्तुपरक जीवनचित्र दिया है, जिसका उद्देश्य पाठक को मुग्ध करना नहीं, विवेक से निराला के व्यक्तित्व को समझने में सहायक होना है।" रामविलास शर्मा का निराला के साथ लंबे अरसे तक बड़ा गहरा और निजी संपर्क था और वे कवि के बहुत-से बाहरी और आन्तरिक संघर्षों के बड़े समीप के साक्षी रहे। निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ उनका लगाव और तादात्म्य भी ऐसा रहा है जो सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और सहानुभूति के साथ लिखने में सहायक हो सकता है। ज़ाहिर है कि अपनी इस पुस्तक में उन्होंने निराला के जीवन से सम्बन्धित बहुत-सी नई सामग्री का बड़ी मेहनत और लगन के साथ विभिन्न स्रोतों से संग्रह किया है, और बहुत-सी परिचित अथवा अल्प-परिचित घटनाओं, परिस्थितियों और प्रसंगों को एक तर्कसंगत क्रम में रखने की कोशिश की है। विशेषकर जिस युग में निराला की प्रतिभा विकसित होकर निखरी, उस पूरे दौर के साहित्यिक इतिहास की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण स्थितियों और घटनाओं तथा उनके साथ निराला के संबंध पर प्रकाश पड़ा है।

मगर जीवनीकार की ज़िम्मेदारी केवल तथ्यों के संग्रह मात्र की नहीं है, और न ही किसी पूर्वनिश्चित योजना और पक्षपात या आग्रह के साथ तथ्यों को सजा देने की है। साथ ही जीवनी कोई उपन्यास भी नहीं कि कल्पना के सहारे चरितनायक की सुन्दर प्रतिमा गढ़ने के लिए तथ्यों को खास ढंग से तोड़ा-मरोड़ा या घटाया-बढ़ाया जाए। इसलिए सक्षम और 'वस्तुपरकता' का उद्देश्य लेकर चलने वाले जीवनीकार को दो स्तरों पर कार्य करना पड़ता है : एक, सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों को लेकर, चाहे वे कितने ही अप्रिय या अवांछनीय क्यों न हों, एक निष्पक्ष जीवनवृत्त प्रस्तुत करना; और दूसरे, उन तथ्यों में अभिव्यक्त आन्तरिक विरोधों, असंगतियों और विविधताओं के बीच से एक जीवन्त व्यक्तित्व को उभार देना। इस कार्य में जितनी सहानुभूति और अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है उतनी ही निष्पक्षता और निर्मम तटस्थता की भी। इस दृष्टि से इस बात से इंकार करना कठिन है कि रामविलास शर्मा द्वारा प्रस्तुत निराला का 'जीवन-चित्र' 'वस्तुपरक' से अधिक रोमांटिक है, और उसके पीछे नायक-पूजा का भाव तथा प्रतिभा-सृष्टि का उद्देश्य ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान है। इसीलिए उसमें निराला के व्यक्तित्व का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह उसके बुनियादी अंतर्विरोध का बेझिझक सामना करने की बजाय उसके मनोविश्लेषण-मूलक या अन्य प्रकार के औचित्य खोजने में उलझ जाता है। निराला के जीवन को रामविलास ने सफलता की कुछ ऐसी रोमांच-कथा के रूप में प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार सुर्जकुमार तेवारी नामक एक साधारण ग़रीब परिवार में जन्म लेने वाला बालक, शिक्षा के अवसरों, साधनों और सुविधाओं से वंचित और अपने सहज स्वाभाविक क्षेत्र से दूर प्रतिकूल प्रदेश में रहकर भी, केवल अपनी 'कल्पना, मेधा और ऊर्जा' के बल पर, अपने अनवरत स्वाध्याय और अथक परिश्रम के सहारे, अपनी भीतरी क्षमता, प्रतिभा और प्रेरणा के ज़ोर से, अमानवीय परिस्थितियों, विरोधों और शोषण के विरुद्ध संघर्ष करता हुआ, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—तुलसीदास के बाद हिन्दी का महानतम कवि—बन गया। निराला के बारे में इस तस्वीर की शायद ज़्यादातर बातें, अलग से अपनी-अपनी जगह कमोबेश सही हैं। पर रामविलास शर्मा ने उन्हें जिस चौखटे में और जिस अभिभूत भाव से पेश किया है वह इस समग्र चित्र को वस्तुपरक से अधिक कल्पना-रंजित बना देता है। इस रुझान से सामना पहले ही अध्याय में होता है जिसमें बालक सुर्जकुमार की कथा बड़े प्रगीतात्मक लहजे में, किसी उपन्यास के काल्पनिक चरित्र की सृष्टि के अन्दाज़ से, कहानी जैसी सजावट और बुनावट के साथ, लिखी गई है। निस्संदेह यह अंश अपने आप में बड़ा रोचक लगता है पर उसकी विश्वसनीयता वस्तुपरक जीवनी जैसी न होकर एक जीवनीमूलक कहानी जैसी है। कम-से-कम यह प्रारंभिक अध्याय लिखते समय रामविलास का आदर्श अर्विंग स्टोन, माइकेल एंजेलो के जीवन पर लिखे उपन्यास 'दि ऐगनी एंड दि एक्सटेसी' ही रहा है, जिसे वे मानते हैं कि "वास्तव में यह पुस्तक उपन्यास कम जीवनी अधिक है, अनेक जीवनी कहलाने वाली पुस्तकों से प्रामाणिक है।" (पृ० ५१७)।

'निराला की काव्य-साधना' में भी प्रारंभ में शायद ऐसी औपन्यासिक प्रकार की प्रामाणिकता की ही तलाश ज़्यादा थी। मगर शैली की दृष्टि से दरअसल यह रामविलास शर्मा का अपना स्थायी निजी रंग नहीं। उनका असली रंग है किसी पूर्व-निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए सुविधानुसार तथ्यों तथा तर्कों की एक पर एक चुनाई और प्रतिकूल तथ्यों और तर्कों की या तो उपेक्षा या व्यंग के द्वारा उनकी धुनाई। इस पुस्तक के बाद के 'मृत्यु से संघर्ष' तक बाकी अध्यायों में रामविलास ने अपनी इसी सुपरिचित पद्धति का बेझिझक उपयोग किया है। 'साधना-प्रारम्भ' में निराला को नई कविता का नेता और योद्धा सिद्ध करने के लिए लिखा है: "निराला की निगाह इस समय हिन्दी की हर प्रसिद्ध पत्रिका पर थी। कहाँ क्या निकला, छायावाद के पक्ष में कहाँ क्या लिखा गया, विरोध में क्या, यह सब कुशल नेता की तरह वह चौकन्ने होकर देखते थे। प्रसाद वाद-विवाद से दूर रहते थे। पंत अभी उभर रहे थे। गद्य वैसे भी न लिखते थे। केवल 'निराला' ललकार-ललकार कर शत्रुओं का वध करने में लगे थे। पर जो साहित्य की सेवा कर रहे थे अथवा नई कविता को सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे, उनके प्रति वह आदर और स्नेह भी प्रकट करते थे।" (पृ० ७७)। और आगे "ऐसी व्यापक प्रसिद्धि उतने कम समय में अब तक हिन्दी में किसी कवि को न मिली थी, उन कवियों को भी नहीं जिनकी रचनाएँ स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में छापी थीं। एण्ट्रेन्स फ़ेल सुर्जकुमार ने अपनी प्रतिभा और पौरुष से युगप्रवर्तक सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की इस भव्य मूर्ति का निर्माण किया था। आँखों में चकाचौंध पैदा करने वाली उस छवि पर कुछ विस्मित, कुछ मुग्ध, वह उचित ही गर्व कर सकते थे।" (पृ० ८१)। इस पुस्तक में रामविलास भी अपने द्वारा रची निराला की 'छवि' पर 'कुछ विस्मित, कुछ मुग्ध' ही हैं। इसलिए निराला के विरोधियों की चर्चा में उनकी खबर लेते हैं: "वे मौक़े की तलाश में थे कि ऐसा दबोचें कि युगप्रवर्तक महाशय ज़मीन से फिर उठ न पाएँ।" (पृ० ६७)। या, "ज़्यादा अच्छा होता कि राष्ट्रवादी कवि छायावादियों के साथ मिलकर नायिकाभेद और समस्यापूर्ति वाली परम्परा का मूलोच्छेद करते। पर उन्हें लग रहा था कि छायावादी कवि उनकी गद्दी छीने ले रहे हैं।···भावापहरण की बात सही थी पर इस सही बात से यह ग़लत नतीजा निकाला गया था कि निराला का समस्त कवि-कर्म बँगला की नक़ल है, युगप्रवर्तन का दावा ढोंग हैं, उनकी मौलिकता की चर्चा धोखा है।" (पृ० १०५)। और यदि चर्चा निराला के पक्ष की हो तो इस प्रकार—"लेख मुंशीजी ने लिखा, उसमें युक्तियाँ निराला की दीं। मौलिकता का अर्थ पूछने वाला दाँव निराला का था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं आवेश में आने पर विरोधी पर आवेश का आरोप लगाना उन्हीं की कला थी।···सारी तर्क-योजना हिन्दी में अपने विरोध से चिड़े हुए निराला की थी।" (पृ० १०२-१०३)।

दरअसल रामविलास ने अपने इस ग्रंथ में निराला को शत्रुओं, विरोधियों और शोषकों से घिरे हुए पीड़ित किन्तु निरन्तर संघर्षशील क्रांतिकारी योद्धा की भाँति ही देखा और अंकित किया है। दुनिया निराला-समर्थक और निराला-विरोधी दो शिविरों में बँटी हुई थी जिसमें जो निराला का आलोचक या विरोधी था वह अक्षम्य था। उन्होंने कवि के जीवन की प्रायः सारी घटनाओं और स्थितियों को इसी अंदाज़ में अपनी खास और 'विचित्र द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति' से क्रमबद्ध और संयोजित ही नहीं किया, बल्कि उनको संपादित और संतुलित किया है, उनका वज़न घटाया या बढ़ाया है, उन्हें शामिल किया या छोड़ दिया है। इसलिए सारे प्रसंग यथार्थ होकर भी खास ढंग से सजाए हुए लगते हैं, चाहे रवीन्द्रनाथ से श्रेष्ठता का दावा हो, चाहे मतवालामंडल के सदस्यों से मतभेद हो, चाहे महावीरप्रसाद द्विवेदी, उग्र, रूपनारायण पांडेय, बनारसीदास चतुर्वेदी से झड़प हो। हर प्रसंग में कुछ ऐसा आभास निरन्तर होता है कि रामविलास निराला के व्यवहार या विचार को उचित और सही तथा दूसरे को अनुचित और ग़लत साबित करने का पहले से ही निश्चय कर चुके हैं। शायद इसीलिए ऐसे प्रसंगों को, जिनमें उनकी निगाह में कवि की तस्वीर कुछ कम गौरवशाली दिखाई पड़ती, या तो वे टाल गए हैं, बचा गए हैं, या छूकर छोड़ दिया है, या गोलमोल रहने दिया है। कई जगह उन्होंने कहने के लिए कुछ उल्लेख भर कर दिया है जिससे औपचारिकता तो पूरी हो जाए पर बात खुले नहीं। ऐसे प्रसंगों में निष्पक्षता या वस्तुपरकता से अधिक चतुराई ही अधिक प्रकट होती है। निराला के व्यक्तिगत जीवन और आचरण या चरित्र पर उस ज़माने के दक़ियानूसी या बहुत-से समझदार लोगों की प्रतिक्रिया सहानुभूतिपूर्ण न थी, बल्कि निराला के बहुत-से विरोध या उपेक्षा का एक कारण यह भी था। पर रामविलास उनके जीवन के इस पक्ष के बारे में कोई तथ्य या विवरण नहीं देते। उनके 'व्यसनों' का ज़िक्र भर केवल औपचारिकता के लिए ही करते हैं। रामविलास को तो निराला की 'आधे मन से भोगी और आधे से संन्यासी' की प्रतिमा गढ़नी है। इसलिए उन जैसे सौंदर्य-प्रेमी, ऐंद्रिक जगत के रूप-रस गंध-वर्ण के वैभव के प्रति असाधारण रूप से संवेदनशील, कवि के जीवन में किसी अनुराग का, प्रेम-प्रसंग का, किसी भावनात्मक अंतर्द्वन्द्व या उलझाव एक भी उल्लेख इस इतने बड़े ग्रंथ में नहीं है। निराला की पत्नी का देहान्त बहुत जल्दी ही हो गया था। पर रामविलास के विवरण से कुछ ऐसा आभास होता है जैसे उसके बाद कोई स्त्री उनके जीवन में कभी आई ही नहीं। बल्कि पत्नी मनोहरादेवी के प्रति निराला के भाव को कुछ इस ढंग से रक्खा गया है जैसे वे आजीवन उसी याद का व्रत निभानेवाले गृहस्थ थे। परवर्ती काल में पुत्र रामकृष्ण के साथ उनके संबंध अच्छे न थे, बल्कि शायद बहुत अप्रिय और कष्टदायक थे। पर इसका भी कहीं कोई आभास नहीं मिलता। बल्कि पूरे ही परवर्ती जीवन का चित्र बड़ा अस्पष्ट, अधूरा और भ्रामक है। लगता है रामविलास कोई ऐसा प्रसंग या घटना या व्यवहार नहीं देना चाहते जो निराला की वेदी पर प्रतिष्ठित मूर्ति को नीचे उतार दे। जो कुछ प्रसंग दिए भी हैं उनका औचित्य दिखाने की या कारण खोजने की कोशिश की है। "निराला के चरित्र की बड़ी चर्चा थी इसलिए कि निराला निर्धन थे और पुरानी समाज-व्यवस्था की नींव हिलानेवाले क्रांतिकारी भी थे।" (पृ० ५३६)। "निराला में युग की असंगतियाँ पुंजीभूत थीं।" (पृ० ६१२)। ऐसी ही बहुत-सी गोलमटोल और सामान्य प्रकार की बातों से पूरा जीवनचित्र एक निराशाजनक आत्मपरकता से धुंधला पड़ गया है। निराला की महानता को, कम-से-कम उनके काव्य की महानता को, किसी आड़ या बचाव की ज़रूरत नहीं है। उनके जीवन के दो-टूक स्पष्ट और तथ्यपरक चित्र से तो उनका कवि-व्यक्तित्व और भी अधिक स्पष्टता से उभरेगा और उनके परवर्ती मानसिक असंतुलन को सही परिप्रेक्ष्य मिल सकेगा। इस बात से बड़ी खीझ होती है कि निराला की नायक या योद्धा-जैसी तस्वीर बनाए रखने के मोह में रामविलास ने या तो जानबूझकर उनके जीवन की बहुत-सी घटनाओं का संग्रह ही ज़रूरी नहीं समझा, या संग्रह किया भी तो उन्हें छोड़ दिया, और जिनको शामिल भी किया उन्हें पूरी निरपेक्षता और वस्तुपरकता से नहीं रक्खा। बल्कि एक पूर्व-निर्धारित चित्र के अनुसार उनका संपादन-संयोजन और उनके बलाबल में इतनी घटा-बढ़ी की है कि पूरी तस्वीर ही अधूरी, धुंधली, विकृत और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए अप्रामाणिक तथा असंतोषजनक हो गई है।

शायद यही कारण हो कि पूरा जीवनवृत्त दे चुकने के बाद पुस्तक के सोलह से बीस तक पाँच अध्यायों में—व्यक्तित्व और परिवेश, विक्षेप-अर्ध-विक्षेप ?, मूल्यांकन, पंत और निराला तथा उपसंहार में—विस्तार से निराला के व्यक्तित्व का विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है, उसकी कई एक अप्रीतिकर अथवा अवांछनीय समझी जानेवाली 'ग्रंथियों' के संबंध में भ्रम दूर करने के लिए व्याख्या की गयी है। मगर इतने लम्बे जीवनवृत्त के बाद यह अतिरिक्त व्याख्या या मूल्यांकन किस लिए? क्या वह उस वृत्त में ही निहित नहीं होता या होना चाहिए? क्या यह इस बात का सूचक नहीं कि वृत्त से कुछ ऐसे प्रश्न उठ गए हैं या छूट गए हैं जिनका समाधान अलग से आवश्यक है? दरअसल इस ग्रंथ की एक बड़ी असफलता इसकी रूपगत अराजकता है। इसमें कहीं कथात्मक शैली अपनाई गई है, कहीं विशुद्ध वर्णनात्मक, कहीं व्यंग और वाद-विवाद की और कहीं शुद्ध निबंध की। पद्धतियों को इस प्रकार गडमड करने के कारण प्रभाव की समग्रता खंडित हो गई है। सामग्री के चयन और उपयोग में न केवल आवश्यक बौद्धिक तटस्थता और वस्तुपरकता की कमी है, बल्कि रचनात्मक विवेक, संवेदनशीलता का अभाव भी खटकता है। लेखक का मुख्य उद्देश्य विवरण को अधिक रोचक बनाना है, रचना के आंतरिक या बाह्य रूप के बारे में वह लापरवाह है। बहरहाल, ग्रंथ के अंतिम कुछ अध्याय इसलिए दिलचस्प और विचारणीय हैं कि निराला के जीवन की कुछ विशेष घटनाओं और प्रसंगों पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त स्वयं रामविलास शर्मा की अपनी दृष्टि को, उनकी पक्षधरता और एकांगी निष्कर्षवादी प्रवृत्ति को एकदम स्पष्ट कर देते हैं।

सबसे पहले निराला के मानसिक असंतुलन के प्रश्न को लें। उसके बारे में एक दृष्टिकोण यह हो सकता है कि उनमें अद्वितीय प्रतिभा और सर्जनशीलता के साथ-साथ एक प्रकार का मानसिक असंतुलन भी प्रारम्भ से था, जिसने एक स्तर पर यदि उनके रचनाकार्य में एक विशेष प्रकार की तीव्रता, सघनता और कल्पनाशीलता उत्पन्न की, तो एक अन्य स्तर पर उनका जीवन से और परिस्थितियों से समायोजन कठिन ही नहीं असंभव बना दिया। यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण हो सकती है, पर इससे एक रचनाकार की अद्वितीयता या महानता में कोई अन्तर नहीं आता। महानता पर आँच आने की झूठी आशंका से निराला के विक्षेप के तथ्य पर, उसके कारणों और परिणामों पर, लीपा-पोती या उनकी बड़ी-बड़ी सैद्धांतिक व्याख्याएँ न केवल ग़ैर-जरूरी हैं बल्कि वे बौद्धिक खोखलेपन की सूचक हैं, भले ही वे निराला के प्रति सच्चे भक्ति भाव से ही उत्पन्न हुई हों। रामविलास ने अपनी पुस्तक में निराला के मानसिक असंतुलन की जैसी व्याख्या की है वह उनके भावुकतापूर्ण भक्तिभाव को सूचित करने के साथ हास्यास्पद भी लगती है। अपने 'विक्षेप—अर्ध-विक्षेप ?' अध्याय के शुरू में वे मानते हैं कि प्रारम्भ से ही निराला के व्यवहार में असाधारणता थी, वे जल्दी आवेश में आ जाते थे, विरोधियों के बारे में अद्‌भुत कल्पनाओं द्वारा उनसे प्रतिशोध लेते थे, या अपने जीवन के अभावों की पूर्ति कल्पना द्वारा, कहानियाँ, गाथाएँ गढ़कर करते थे। "इन सब सपनों के साथ त्रास की भावना जुड़ी हुई थी। त्रास से बचने के लिए ही वह अपनी महिमा के भव्य स्वप्न रचते थे। लोग उनका पीछा कर रहे हैं, उन्हें अपमानित करते हैं, उन पर हँस रहे हैं, अपना बड़प्पन दिखाते हैं, उनका राज़ लेकर उन्हें षड्यंत्र में फँसाना चाहते हैं, इस तरह का भय उन्हें सताता था।" (पृ० ५०१)। मानसिक असंतुलन की यह एक आम स्थिति है जो कई कारणों से, परिस्थितियोंवश, कुछ लोगों में होती है। यह त्रास, कम-से-कम उसकी मात्रा या तीव्रता, प्रायः काल्पनिक ही होता है, पर उससे छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे व्यक्ति के समर्थ जीवनीकार का यह दायित्व है कि चरितनायक के जीवन में यथार्थ और भ्रम के आजीवन प्रतिफलन को सही-सही वस्तुपरक रूप में देखे और प्रस्तुत करे, और रचनाकार तथा उसके व्यक्तित्व के ऊपर उसके प्रभावों की सही पड़ताल और मूल्यांकन करे। पर रामविलास इस त्रास और उससे उत्पन्न असुरक्षा-भाव के कुछ विवरण के बाद उसके मनोविश्लेषणात्मक तथा समाजशास्त्रीय कारणों की खोज में जुट पड़ते हैं। "निराला का मानसिक संतुलन बिगाड़ने में उनके साहित्यिक विरोधियों का बड़ा हाथ था। निराला इस विरोध को बढ़ा-चढाकर देखते थे पर वह विरोध था वास्तविक।...यदि वह एक संगठित कुटिल अभियान का रूप ले ले तो उससे लेखक के मन को चोट लगेगी ही।" (पृ० ५११)। विरोध किस प्रतिभाशाली लेखक का नहीं होता, पर मानसिक असंतुलन का कारण विरोध को बढ़ा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चढ़ाकर देखना ही होता है। 'मन को चोट लगने से असंतुलित हो जाना ज़रूरी नहीं। पर रामविलास इस विरोध को ही असंतुलन का असली और मुख्य कारण मानते जान पड़ते हैं। ऐसा मानने में दो लाभ हैं: उससे निराला की महान् योद्धा वाली प्रतिमा भी पुष्ट होती है और विरोधियों की दुष्टता और नीचता भी स्थापित हो जाती है। "निराला का लिखना बन्द कराने के लिए, साहित्य-संसार से खदेड़ कर उन्हें बाहर कर देने के लिए जितने दिनों तक, जिस तीखेपन से, जितने निम्न स्तर पर, जितने संगठित तरीक़े से आन्दोलन चला, वह साहित्य के इतिहास में अनुपम और अद्वितीय है। आश्चर्य यह नहीं कि उनका मानसिक संतुलन बिगड़ा, आश्चर्य यह कि वह इतने दिनों तक यह सब झेल कैसे गए, उस सब के बावजूद इतना लिख कैसे गए।" (पृ० ५१५)। पर यह साफ़-साफ़ लफ़्फ़ाज़ी है, भावुकतापूर्ण, पर एकदम बेकार और झूठी। असलियत यह है कि निराला के व्यक्तित्व का ही एक अंश स्वयं अपने विरुद्ध विरोध को निरन्तर उकसाता रहा, अपने असंतुलन से उसको तीव्र करता रहा, और दूसरा अंश उसी भीतरी शक्ति से रचनाशील भी रहा। प्रचारवादी राजनैतिक आन्दोलन की शब्दावली में निराला के मानसिक असंतुलन की बात करना बेमानी और भ्रामक ही नहीं, बौद्धिक ईमानदारी की कमी भी सूचित करता है। इसी तरह निराला के अहंकार की चर्चा करते हुए रामविलास कहते हैं: "किस कलाकार में अहंकार नहीं होता? अगर वह समझता है कि दूसरे बड़े हैं, वह छोटा है, तो उसे क़लम रख देनी चाहिए; दूसरों का लिखा पढ़े, व्यर्थ काग़ज़ रँगने से फ़ायदा! ···जिस समाज में सम्पत्ति पुजती हो, उसमें प्रतिभा का धनी अहंकारी न हो तो नाक रगड़ते-रगड़ते उसकी कला भी घिस जाए।" (पृ० ५१६-१७)। यह मानना मुश्किल है कि रामविलास यह नहीं समझते कि निराला का अहंकार ठीक इस प्रकार का नहीं, बल्कि भीतरी असंतुलन से उपजा अन्य प्रकार का अहंकार था जिसने उन्हें पागलपन की ओर धकेला। दरअसल इस तथा ऐसे ही अन्य वक्तव्यों में भोलेपन की अदा के बावजूद बड़ी चतुराई से बात को ग़लत रास्ते पर ले जाने की कोशिश है। इसीलिए रामविलास यहीं नहीं रुकते, वे इस संदर्भ में हैमलेट, लियर, माइकेल एंजेलो के पागलपन और शेक्सपियर द्वारा चित्रित पागलपन के लम्बे सैद्धांतिक विवेचन के बाद अंत में अपने चरम निष्कर्ष तक पहुँचते हैं: "पर हैमलेट, लियर और निराला का मानसिक असंतुलन, उनकी चिन्ताएँ, थकन-ग्लानि के भाव, उत्पीड़न और आत्मगरिमा के सपने एक ऐसे टाइप के हैं जो पूँजीवादी परिस्थितियों की विशेष देन हैं।" (पृ० ५२१)। मनोविश्लेषणशास्त्र और समाजशास्त्र का यह प्रदर्शन इतना अधकचरा और सतही है कि इस पर कोई भी टिप्पणी बेकार है। इस खोखले 'रेटारिक' से अब कुछ सिद्ध नहीं होता। बस खेद की बात यह है कि रामविलास इस घटिया साधन का उपयोग निराला के लिए करते हैं।

यही निष्कर्षवादी सरलीकरण की प्रवृत्ति अन्य अध्यायों में निराला के समग्र व्यक्तित्व के विश्लेषण में भी प्रायः मौजूद है, जो बहुत-सी तथ्यपरक सामग्री और कई स्थलों पर सूझ-बूझ के बावजूद, पूरे विवेचन को आत्मपरक, नायकपूजाग्रस्त और भावुकतापूर्ण बना देती है। पुस्तक के इन अन्तिम अध्यायों में रामविलास के चिन्तन के बारे में एक बड़ी आश्चर्यजनक जानकारी मिलती है: फ्रायड और मनोविश्लेषणशास्त्र में उनकी अचानक भक्ति। या संभवतः यह इतनी अचानक नहीं है। शायद सरलीकृत समाजशास्त्र के समुद्र में डूबते को सरलीकृत और अधकचरा मनोविश्लेषणशास्त्र सदा तिनके का सहारा सिद्ध होता है। 'व्यक्तित्व और परिवेश' वाले पूरे अध्याय में 'व्यक्तित्व' और 'परिवेश' की मूलतः मनोविश्लेषणशास्त्र की शब्दावली में परिभाषा और व्याख्या करने की कोशिश है। "निराला के मन में बहुत-सी ग्रंथियाँ, बहुत-से तनाव, अनेक अन्तःविरोध, अनेक निषेध भावनाएँ और दमित कामनाएँ, एक-दूसरे से उलझी हुई, सतत क्रियाशील, उन्हें बेचैन करती रहती थीं।" (पृ० ४८१)। इस सन्दर्भ में उन्होंने निराला की बहुत-सी 'ग्रंथियों' की चर्चा की है: 'पंत-ग्रंथि', 'जवाहर-ग्रंथि', 'रवीन्द्र-ग्रंथि', 'गांधी' सम्पूर्णानन्द, नरेन्द्रदेव आदि को लेकर दो-चार गाँठें'।

इनमें 'पंत-ग्रंथि' पर तो एक पूरा अध्याय है: 'पंत और निराला'। छायावादी दौर के इन दो प्रमुख कवियों का आपसी सम्बन्ध लगातार चर्चा और विवाद का विषय रहा है। रामविलास ने इस 'परस्पर सम्बन्ध' को 'वशीकरण और उच्चाटन की विरोधी लहरों के संघर्ष' के रूप में देखा और पेश किया है: "छायावाद के दो प्रमुख कवि, व्यक्तित्व में समानता और बहुत बड़ा वैषम्य, दोनों में परस्पर आकर्षण और दुराव, दोनों के दुःस्वप्नों की प्रक्रिया काफी मिलती-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलती-सी।" (पृ० ५८०)। दोनों के तुलनात्मक मूल्यांकन के सन्दर्भ में : "निराला जितने आत्मकेन्द्रित उतने ही वस्तु-केन्द्रित, जितने अन्तर्मुख उतने ही बहिर्मुख, जितने कल्पना-शील, उतने ही यथार्थदर्शी। पंत···आत्मकेन्द्रित अधिक, वस्तु-केन्द्रित कम।···निराला जितने धार्मिक थे उतने ही संशय-वादी। पंत के मन में धार्मिक विश्वासों की जड़ खोदनेवाली वृत्तियाँ निर्जीव थीं। निराला मूलतः रूढ़ियों के ध्वंसक क्रांतिकारी थे; पंत मूलतः मध्यमार्गी, समझौताप्रेमी, जीवन में उच्च वर्गों के सहयोगी थे। निराला में कल्पनाशीलता, मेधा, ऐन्द्रिय विलासप्रियता, वैराग्यभावना—इन सबको प्रेरित करने वाली दुर्धर्ष ऊर्जा थी। पंत में···ऊर्जा की ही कमी थी जिसके बिना उदात्त की सृष्टि नहीं होती। दोनों अर्ध-नारीश्वर, निराला में शिव अधिक पंत में पार्वती।" (पृ० ५६६)। या, "मान, अपमान, घृणा, ग्लानि, अवसाद,—सब कुछ निराला में उदात्त, पंत में सब कुछ वातानुकूलित। निराला ने अपनी काव्य-गरिमा की कीमत चुकाई मानसिक सन्तुलन देकर; पंत अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रहे, काव्य-गरिमा खोकर।" (पृ० ५६५)। यह सब तुलना बेहद दिलचस्प और कई बातों में सूक्ष्म होकर भी कुल मिला-कर प्रभाववादी ढंग की और अर्ध-सत्यों से भरी है और दोनों कवियों के विवेकपूर्ण तुलनात्मक मूल्यांकन की बजाय राम-विलास के पूर्वाग्रह को ही अधिक जाहिर करती है। पुस्तक में और भी कई स्थलों पर रामविलास ने पन्त को प्रायः या तो कृपा के स्वर में या व्यंग्य के साथ याद किया है। निस्संदेह पन्त के काव्य और व्यक्तित्व के प्रति रामविलास का यह रुख कोई नया नहीं है। पर इसमें मनोविश्लेषणशास्त्र की शब्दा-वली कुछ नयी है; और उसमें ध्वनित तथ्य या निष्कर्ष बहुत सुरुचिपूर्ण नहीं है, कम-से-कम उतना कुरुचिपूर्ण तो है ही जितना 'लोकायतन' में पंत द्वारा माधोगुरु के रूप में निराला का चित्रण। क्या यह उसी का जवाब है? पन्त-निराला के सम्बन्धों का यह विवेचन पढ़ने में चाहे जितना रोचक और नया लगे, पर वह आलोचक या जीवनीकार रामविलास की 'वस्तुपरक' दृष्टि का सूचक नहीं है।

निराला की 'ग्रन्थियों' के अतिरिक्त रामविलास ने उनकी अपने विषय में गाथाओं की रचना करने की प्रवृत्ति का ज़िक्र किया है : अपनी जन्मतिथि के बारे, पिता की हीन स्थिति के बारे में, बँगला-संस्कृत ज्ञान के बारे में, मुक्त छन्द की सृष्टि तथा मतवालामंडल के बारे में। तथ्यों की दृष्टि से यह अंश उपयोगी है और निराला के सम्बन्ध में कुछ सही जानकारी देता और भ्रमों को दूर करता है। पर उसकी मनोविश्लेषण शास्त्रीय शब्दावली निरा धोखा है जिसका उद्देश्य है एक सीधी बात को घुमा-फिराकर रखना, निराला के बारे में एक अप्रिय सत्य के तीखेपन को कम करना और एक नये 'क्लिशे' का उपयोग करें तो, चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारने से बचना। दरअसल रामविलास निराला के व्यक्तित्व में मौजूद एक विभाजन को, एक आत्मपीड़क या आत्मघाती रुझान को, निर्ममता से स्वीकार नहीं कर पाते। इसे वह तरह-तरह के तथाकथित 'उदात्त' कोटि के अन्तर्विरोधों के रूप में रखने का प्रयास इस पुस्तक में लगातार करते हैं : बैसवाड़े के सिपाहियों के धार्मिक संस्कार और इन्द्रजाल की पोथियाँ तथा बंगाल के तंत्रमंत्र; योग और भोग; संन्यास, त्याग-तपस्या, भक्ति और राजसी ठाट-बाट, वैभव, श्रृंगार; संन्यास और राजनीति; परमपद लाभ और साहित्य सेवा; संस्कृत और भदेस, आदि। निराला के जीवन में संभवतः इन सबसे बुनियादी अन्तर्विरोध उनके सहज स्वाभाविक रुझान या कामना और परिस्थितियों के दबाव के बीच रहा। इन दोनों के तनाव ने उनके रचनाशील व्यक्तित्व को तो शक्ति और तीव्रता दी, पर जीवन में इस तनाव को वह सहन नहीं कर सके और टूट गये। इस तनाव और उसकी परिणति का अन्वेषण एक बहुत ही उत्तेजक और मार्मिक दस्तावेज़ बन सकता था जो अधिक मानवीय भी होता और प्रामाणिक भी। पर रामविलास अपने भक्ति-भाव से छुटकारा न पा सके और उसके उदात्तीकरण में लगे रहे। उन्होंने इस तथा-कथित 'वस्तुपरक जीवन-चित्र' में निराला के दुर्दम्य, लगभग असामाजिक, व्यक्तित्व को, उसकी तीखी चुभनेवाली नोकों को, उसके प्रचंड वेग और रूढ़िमुक्तता को, तराश-छाँटकर कुछ स्वीकार्य, कुछ आकर्षक बनाने की कोशिश की है। ऐसी कोशिश न केवल लेखक की प्रामाणिकता को संदिग्ध बनाती है, बल्कि स्वयं निराला के व्यक्तित्व के साथ अन्याय भी है, जिसे निराला के प्रति भक्ति के बहाने भी क्षमा करना कठिन है। इसीलिए 'निराला की साहित्य-साधना' एक जीवनी के रूप में इतनी अधूरी, एकांगी और असन्तोषजनक है।

जैसा पहले कई बार कहा गया, पुस्तक में तथ्यों और सामग्री का संग्रह बहुत उपयोगी है। इसने शायद यह संभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बना दिया है कि निराला की सही जीवनी अब अधिक सफलतापूर्वक लिखी जा सके। जिन बहुत-से अंशों में सामग्री अधूरी, या नामौजूद है, उनके कुछ-कुछ स्रोतों का भी अंदाज़ इस पुस्तक से हो जाता है। साथ ही, निराला के जीवन के अतिरिक्त, हिन्दी साहित्यिक इतिहास के चालीस साल के इतिहास से संबंधित भी बहुत-सी नयी और उपयोगी सामग्री इसमें मौजूद है। विशेषकर सन् २० से ५० तक के दौर के साहित्यिक वाद-विवादों, उलझनों, समस्याओं और उनके संदर्भ में व्यक्तियों और संस्थाओं के व्यवहार का बहुत ब्यौरा बड़ा रोचक और जानकारीभरा है। इससे कई स्थलों पर निराला के सामाजिक और सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवेश की बड़ी जीवन्त तस्वीर तो बनी ही है, कई साहित्यिक तथा राजनैतिक-सामाजिक घटनाओं के गहरे बुनियादी सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ा है और एक पूरे युग का साहित्यिक जीवन उभर आया है। कई जगह इस जीवन के चित्रों में सर्द ब्यौरा भर नहीं, एक प्रकार की सर्जनात्मकता सजीवता है। इसलिए इस जीवन में हिस्सा लेनेवाले कई साहित्यिक व्यक्तित्व बड़े जीवंत रूप में, बड़ी कुशलता से आँके हुए रेखाचित्रों की भाँति या किसी उपन्यास के पात्रों की भाँति, सामने आते हैं: महावीरप्रसाद द्विवेदी, महादेवप्रसाद सेठ, मुंशी नवजादिक लाल, शिवपूजन सहाय आदि। एक युग के साहित्यिक जीवन की झाँकी की दृष्टि से इस पुस्तक का निश्चित महत्त्व है।

स्वयं निराला के सम्बन्ध में भी दो-एक बातें इस पुस्तक में बहुत उपयोगी हैं। जैसे, निराला के पारिवारिक जीवन के कुछ पक्षों और सम्बन्धों का बड़ा आत्मीय और संवेदनशील प्रस्तुतीकरण है, विशेषकर पिता रामसहाय तेवारी, पत्नी मनोहरादेवी तथा उनकी माँ, पुत्री सरोज आदि से सम्बन्धित विवरण मन को छूनेवाले हैं। इसी प्रकार निराला की कुछ कविताओं को और उनके काव्यसंसार की कुछ समस्याओं को उनके जीवन की घटनाओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों से जोड़ने में भी रामविलास ने बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। इससे कई कविताओं के एकदम नये और अनोखे अर्थ तथा व्यंजनाएँ उभर आती हैं। किसी कवि के व्यक्तित्व को उसके परिवेश से जोड़ना साहित्यिक इतिहास के लेखन तथा मूल्यांकन का बड़ा महत्त्वपूर्ण और ज़िम्मेदारी का काम है। इस पुस्तक में जहाँ रामविलास, अपने पूर्वाग्रहों और सरलीकरण की प्रवृत्तियों के बावजूद, इस कार्य में सफल हुए हैं वहाँ उन्होंने एक नयी दिशा और सफलता की सूचना दी है।

किन्तु ये सब गौण सफलताएँ हैं। जीवनी के रूप में 'निराला की साहित्य-साधना' की बुनियादी कमज़ोरी इतनी बड़ी है कि वह निराशा और खीझ ही पैदा करती है। यह शायद इसलिए भी हो कि उससे अपेक्षाएँ बहुत अधिक थीं, और इसलिए भी कि रामविलास शर्मा की क्षमताओं के साथ उनकी दृष्टि और पद्धति की सारी कमज़ोरियाँ इस बड़ी कृति में पूरी तीव्रता से उभर आयी हैं। सरलीकरण, वस्तुओं और विचारों के सतही, ग़ैर-बुनियादी सम्बन्धों पर अत्यधिक बल, किसी पूर्व-निश्चित धारणा के अनुकूल तथ्यों और सामग्री का चुनाव, व्यंजित की अपेक्षा व्यक्त और ऊपरी बातों का मोह, धारणावादी प्रतिपादन और विवेचन, आदि 'गुण' रामविलास शर्मा के अधिकांश लेखन की भाँति यहाँ भी मौजूद हैं। यहाँ उनमें जाने-अनजाने एक और मोह जुड़ गया जान पड़ता है। पुस्तक के अंत में उन्होंने कहा है: "जीवनी को आधार बनाकर उपन्यास लिखने में कुछ साहित्यकारों ने बड़ी सफलता प्राप्त की है। वे जीवनी लिखने का दावा नहीं करते, रोचक कथा गढ़ते हैं, परिवेश और व्यक्तित्व का सजीव चित्र खींचते हैं। मैं उनके इस साहित्यिक कृतित्व का आदर करता हूँ। पर अनेक जीवनी लेखक जो उपन्यास लिखने का दावा नहीं करते, फिर भी उपन्यास लिखने लगते हैं, उनके कार्य की प्रशंसा नहीं की जा सकती।" (पृ० ६०१)। 'निराला की साहित्य साधना' में दोनों रुझान ऐसे गड़मड हैं कि वह जीवनीमूलक उपन्यास और प्रामाणिक पर सर्जनात्मक जीवनचरित, दोनों में से एक भी ठीक नहीं बन पाया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सलीके से किस्सा कहने की दुर्लभ कला

विजयदेव नारायण साही

इधर अरसे से एक हवा ऐसी रही है कि गाँवों को लेकर कथा रचना एक तरह का पिछड़ापन है, आधुनिकता से वंचित होना है। आधुनिकता का लक्ष्य जब लक्षणों की तरह गिनाया जाने लगे, तब यह ज़रूरी हो जाता है कि यह सवाल पूछा जाए कि आधुनिकता भी एक साहित्यिक रूढ़ि तो नहीं होती जा रही है जिसके फन्दे से बाहर निकला जाए।

कुछ बरस पहले गाँव बनाम महानगर का विवाद चला। यहाँ तक कहा गया कि गाँव से ज्यादा आधुनिक कस्बे के बारे में लिखना है, कस्बे से ज्यादा नगर के बारे में, नगर से ज्यादा महानगर के—और शायद हिन्दुस्तानी महानगर से भी ज्यादा यूरोप या अमरीका के महानगर के।

यह बहस ज्यादातर कथा-साहित्य को लेकर चली। कविता में भी महानगर का एक झोंका आया, लेकिन इस झोंके ने उतना साफ़ कठघरा नहीं बनाया। कथा-साहित्य में भी कहानी में ही ज्यादा शोर मचा। जितनी तन्मयता लोगों ने कहानी लिखने और कहानियों के बारे में बड़ी-बड़ी घोषणाएँ करने में लगायी, उतनी उपन्यासों में नहीं। पिछले बीस वर्षों पर निगाह डालने से उपन्यासों का रक़बा काफी खाली-खाली-सा लगता है। जो कुछ उपन्यास हैं भी, वे ऐसे नहीं हैं जिन्हें केन्द्र में रखकर आन्दोलन का शोर मचाया जा सके। उतना भी नहीं, जितना कुछ और पहले आंचलिक उपन्यासों को लेकर मचा था।

कहानी और उपन्यास की इस भिन्न गति को देखकर क्या नतीजे निकाले जा सकते हैं? ऐसा नहीं है कि कहानियों की दुनिया में उलटफेर नहीं हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि सिरे से बदला हुआ यथार्थ कहानियों में ही व्यक्त होता रहा। इसमें उपन्यास के क्षेत्र में वैसी ही हलचल पैदा करने की क्षमता नहीं थी।

कहानी को लेकर तेज घोषणापत्र लिखे गये, या लेख लिखे गए, जिनका लहजा घोषणापत्रों सरीखा था। नतीजे निकाले गए जैसे पूरा युग-यथार्थ सिरे से बदल गया। घोषणाओं का स्वर कुछ ऐसा था कि युगबोध-सम्बन्धी ये नतीजे अगर कहानियों पर लागू होते हैं, तो उपन्यासों पर भी। नयी कहानी तो चमत्कारी ढंग से स्थापित हुई, पर नया उपन्यास नहीं जन्मा।

लेखकों के द्वारा दिए गए युग-परिवर्तन सम्बन्धी घोषणा-पत्रों से सिर्फ इतना नतीजा निकलता है। कुछ लेखकों को घोषणापत्रों की भाषा में बोलने की ज़रूरत महसूस हुई। आलोचक के लिए घोषणा-पत्र कच्चे माल की ही तरह हैं, युग-परिवर्तन के प्रामाणिक संकेत नहीं। कोई ज़रूरी नहीं है कि युग वैसा ही हो जैसा घोषणापत्र में कहा गया है। या कृतिकार मानस का रिश्ता युग से उसी तरह जुड़ता हो जिस तरह बताया गया है।

कहानियों का इस तरह बहस के केन्द्र में आ जाना जैसे साहित्यिक कृतित्व का पूरा दारोमदार—बल्कि युग की पूरी परिभाषा—उन्हीं पर निर्भर हो, कुछ उसी तरह असन्तुलित लगता है जैसे एकांकियों की बाढ़ के साथ घोषित कर दिया जाय कि नाटक का कायाकल्प हो गया है, जबकि वास्तविक बड़े नाटक न लिखे जाएँ। इस तरह के आन्दोलन में एक क्षीणता, एक तरह का सतहीपन वर्तमान रहेगा, जो कभी-न-कभी खटकेगा। कहानियों के नाम पर तथाकथित आधुनिक कथादृष्टि की परिभाषा के साथ यह सवाल हमेशा बना रहेगा, कि यदि यह कथादृष्टि प्रामाणिक और अनिवार्य है तो उपन्यासों तक आती-आती क्यों सूख जाती है। या तो उपन्यास रचती नहीं, या रचती भी है तो कमज़ोर, खपाचियों से जोड़े हुए, दिमाग़ पर हावी होने में असमर्थ।

शायद इसी तरह की उलझन से उकताकर डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहानी आन्दोलन के पूरे उभार पर यह कहा कि कहानी कलात्मक विधा है ही नहीं। मैं इतनी दूर तक तो नहीं जा सकता, क्योंकि इतना कहते ही दिमाग़ में बहुत से उदाहरण मँडराने लगते हैं, लेकिन इतना तो ज़रूर लगता है कि कहीं-न-कहीं कथाकार होने का दावा करने वाले के लिए, उपन्यास की कसौटी पर चढ़ना ज़रूरी है। खास तौर से तब जब दावा लम्बे-चौड़े इन्कलाब से जुड़ा हुआ हो। गम्भीर आलोचना में उपन्यास के मुकाबले में कहानी का अध्याय निश्चय ही छोटा होगा।

अगर उपन्यास और कहानी की दुनियाएँ अलग-अलग हों, तो ज्यादा प्रामाणिक उपन्यास की ही दुनिया माननी

अलग-अलग वैतरणी : लेखक शिवप्रसाद सिंह, प्रकाशक लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद । मूल्य ७.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी। इस दृष्टि से देखने पर कहानी की तेज़ रफ्तार उपन्यास पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाती बल्कि उपन्यास की मन्थर गति कहानी के तमाम कुहराम पर प्रश्नचिह्न लगाती दिखती है।

●

बहुत-कुछ इसी प्रश्नचिह्नित मन:स्थिति में मैंने श्री शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अगल वैतरणी' को पढ़ा। काफी अरसा पहले श्री नरेश मेहता का उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' पढ़ा था। उसकी याद आई। 'वैतरणी' नाम से ही प्रेमचन्द्र के 'गोदान' की याद भी आई। पता नहीं वैतरणी नाम रखते समय भी शिवप्रसाद सिंह को गोदान के प्रतीक की याद थी या नहीं। दोनों प्रतीकों में कितना साम्य है। उपन्यास पढ़ जाने के बाद इन दोनों उपन्यासों में प्रतीकों का रिश्ता भी दिखने लगा। प्रेमचन्द का होरी भी वैतरणी में ऊभ-चूभ कर रहा है। लेकिन पूंछ शायद वैतरणी को पार कराने में मदद कर दे। श्री शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास में संस्कारों की गऊ न जाने कहाँ खो गई है, शेष सिर्फ वैतरणी ही वैतरणी है जिसमें सब ऊभ-चूभ कर रहे हैं। इस वैतरणी को पार नहीं किया जा सकता, सिर्फ इससे भागकर जाया जा सकता है, गाज़ीपुर में डिग्री कालेज की अध्यापकी करने के लिए।

श्री नरेश मेहता के उपन्यास 'वह पथ बन्धु था' की याद आई, इसलिए कि उसमें भी वैतरणी की तलाश है। उसका नायक भी गाँव की वैतरणी से भागता है, लगभग उसी ललक से जिस तरह विपिन भागता है, या यों कहिए कि पढ़ाई और तकदीर के सहारे छूटकर जाता है, करैता ग्राम से। लेकिन श्री नरेश मेहता का नायक उपन्यास के बीच में ही निकलता है। नागपुर, फिर बनारस। लेकिन वैतरणी फिर भी पीछा नहीं छोड़ती। कथा चलती रहती है। एक के बाद दूसरी वैतरणी। स्वर्ग कहाँ है? लेकिन 'यह पथ बन्धु था' का वैतरणी बनाम स्वर्ग का नाटक इतना खरा नहीं है। उसमें अक्सर ऐसी जगहें हैं जो न स्वर्ग है न वैतरणी, सिर्फ सपाट है। जैसे नाटक का एक दृश्य खत्म होने के बाद परदा देर तक गिरा रहे, फिर उठे और दूसरा दृश्य हो।

श्री शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास शुरू किया तो अन्त तक पढ़ता गया। उपन्यास काफी भारी-भरकम है, लगभग सात सौ पृष्ठों का। मगर बीच में सरसरी तौर पर सफहे पलटने की नौबत नहीं आई। शुरू से आखिर तक एकतान प्रवाह खतम करके आश्चर्य हुआ, क्योंकि ऐसा अनुभव इधर कम हुआ था। श्री अमृतलाल नागर के बड़े-बड़े उपन्यासों में, जिनका बड़ा नाम है, बीच-बीच में बहुत-से पृष्ठ छोड़ने पड़े थे। किसी उपन्यास की प्रशंसा में इस चीज़ का ज़िक्र करना कोई बहुत बड़ी या ज़रूरी बात नहीं है। लेकिन बिना उलझे या उलझाये सात सौ पृष्ठों तक सलीके से क़िस्सा कह सकना जहाँ इतना अलभ्य हो वहाँ यह सुथरापन भी मन को खुश करता है। प्रेमचन्द के 'गोदान' पर आज तक लोग आरोप लगाते हैं कि उसके बहुत से हिस्से की बनावट कमज़ोर है। अज्ञेय का 'शेखर: एक जीवनी' तो पूरा ही न हो सका। 'नदी के द्वीप' में भी, अपनी तमाम दुर्लभ अनुभूतिशीलता के बावजूद, लगता है कि क़िस्सा खत्म कैसे हो, यह सवाल भारी सवाल बन गया है। मैं यह नहीं कहता कि "बुनावट का सुथरापन" बहुत बड़ा गुण है, लेकिन है। इसलिए मुझे लगा कि मुझे उपन्यासकार के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। जैसे इबारत खुशखत लिखी देखकर एक तरह का कलात्मक सुख मिलता है।

लेकिन इबारत पढ़ जाने के बाद यह सवाल ज़रूर दिमाग़ में फिर घूमने लगा—क्या गाज़ीपुर किस्से का अन्त है? अलग-अलग वैतरणी की परिभाषा की तलाश है तो इस उपन्यास का एक दूसरा खण्ड होना चाहिए जहाँ विपिन गाज़ीपुर डिग्री कालेज में नौकरी शुरू करता है। फिर क्या गाज़ीपुर का डिग्री कालेज एक नयी वैतरणी या नये किस्म की अलग-अलग वैतरणियों की टकराहट नहीं होगा। उपन्यास का अन्त इन शब्दों के साथ होता है:

> "उधर पच्छिमी छोर पर पेड़ों की पाँत में खोया गाँव का हाशिया, काजल की लकीर की तरह। बीच में ढलते सूरज की रोशनी में फैला है करैता का सिवान, कहीं हरियाली नहीं, कहीं जल नहीं, बिल्कुल वीरान, तेज़ बुखार में तपती उदास आँख की तरह…"

गाँव का हाशिया और उस हाशिए के बाहर गाज़ीपुर की एक दूसरी दुनिया, जहाँ चार सौ रुपये माहवार की तनखाह है, इतिहास की अध्यापकी है, और देख-रेख करने के लिए गाँव के एकमात्र सबके सगे, मस्तमौला, खुदाई खिदमतगार दयाल महाराज।

वैसे वैतरणी से गाज़ीपुर को अलग करने के लिए श्री शिवप्रसाद सिंह ने हाशिया भी खींच दिया, और चार सौ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुपये की नौकरी का थोड़ा झूठ भी बोला। क्योंकि सब जानते हैं कि गाज़ीपुर क्या किसी डिग्री कालेज में शुरू में चार सौ रुपये की नौकरी नहीं मिलती। मुझे झूठ पर एतराज़ नहीं है। हाशिए में किसी कुलबुलाती हुई वैतरणी पर एतराज है। मन में सवाल अटका रह जाता है। अभी कहानी आधी हुई है। एक खण्ड और होना चाहिए। फिर गाज़ीपुर से भागकर वाराणसी, एक खण्ड और। वाराणसी से दिल्ली··· कहाँ तक वैतरणी का विस्तार है।

राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाँव' की याद इस उपन्यास के साथ आना स्वाभाविक है। दोनों ही गाँव के महाकाव्य की तरह लिखे गए हैं। गंगोली हो या करैता—वही लोगों का व्यक्ति से ज्यादा रिश्ता होना—ज़मींदार, हरवाह, काश्तकार, पट्टीदार, फौजदारियाँ, इमामबाड़ा या देवी थान, शादियाँ, बच्चों की पैदाइश, खेतों का झगड़ा या जला दिया जाना, ज़मींदारी का टूटना, कुलीनों का पतन, राजनीति, छोटी जातियों का उठना, दारोगा, लूटपाट, लड़कियों का जवान होना, भागना, नाजायज़ बच्चे पैदा करना, बलात्कार, तीज-त्योहार, और इन सबके साथ पस्ती, गिरावट, उठने की बार-बार कोशिश करने के बावजूद भी एक तरह की लाज़िमी पराजय, और इन तमाम चलती हुई गतियों में फँसे हुए लोग, लोग अनगिनती लोग जिनके नाम भी उपन्यास पढ़ते समय बार-बार भूल जाएँ, एक सपाट परदे पर तिलमिलाती हुई तसवीरें जिनमें तीसरा आयाम नहीं है, और यदि है तो वह तीसरा आयाम सबके लिए समान है—दूर-दूर तक फैला हुआ सीवान तपती उदास आँख की तरह।

फिर भी दोनों उपन्यासों में फ़र्क है। राही मासूम रज़ा का उपन्यास एक गाँव या गाँव के सामाजिक अंश के, गंगोली के शीया-सैयदों के सामाजिक दस्तावेज़ की तरह लिखा गया है। राही मासूम रज़ा के सामने एक मुकदमा है, जिसे उन्हें साबित करना है। एक तसवीर पेश करना है। श्री शिवप्रसाद सिंह का उद्देश्य ज्यादा जटिल है। उन्हें एक अन्वेषण यात्रा करनी है। वह अन्वेषण है वैतरणी का। करैता भी सामाजिक दस्तावेज़ है। लेकिन वह एक रूपक के आवरण में लिपटा हुआ है। श्री शिवप्रसाद सिंह की समस्या उन सभी उपन्यासकारों की समस्या है जो सामाजिक दस्तावेज़ के ज़रिए जीवन की परिभाषा तलाश करना चाहते हैं। एक तरह से इस समस्या का जन्म उपन्यास के साथ-साथ ही हुआ। क्या उपन्यास को सामाजिक दस्तावेज़ होना है या ज़िन्दगी का रूपक? और यदि इन दोनों लक्ष्यों में तनाव या टकराहट हो तो उपन्यास का क्या होगा? इस तनाव ने उपन्यास के रूपविधान में बड़े-बड़े प्रयोगों की नींव डाली। सामाजिक दस्तावेज़ को कई बार उपन्यास से निकाल बाहर किया गया। लेकिन वह घूम-फिरकर बारम्बार उपन्यास में उपस्थित हो जाता है।

चूँकि राही मासूम रज़ा का उद्देश्य सरल है इसलिए उनके उपन्यास का अन्त उतना असन्तोषप्रद नहीं लगता। जिस तरह झूले झुलाने वाली बड़ी चरखी की अनगिनत कुर्सियों के ऊपर तरह-तरह के लोग ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्कर काटते हैं, उसी तरह तमाम तसवीरें राही के उपन्यास में आधी पहचानी, आधी अनपहचानी आँखों के सामने से गुज़रती रहती हैं—फिर एक वक्त आता है जब उपन्यासकार चरखी का चक्कर बन्द कर देता है, और कहता है—'इत्यादि, इत्यादि'। उपन्यास इसी 'इत्यादि, इत्यादि' पर खत्म हो जाता है। लोगों से घिरे हुए हकीम अली कबीर आखिरी साँस लेते हैं।"

> कामिला चीख-चीख कर रोने लगी,
> ऐन उसी वक्त फद्दू आया और उसने फिस्सू मियाँ के कान में कहा,
> 'जल्दी से घर चलिए! सैयदा के हाँ लड़का भवा है।'
> फुस्सू मियाँ लाश पर एक निगाह डालकर चुपके से बाहर आ गए!

किस्सा गंगोली से शुरू होता है, गंगोली पर खत्म हो जाता है। और यह गंगोली ज्वार-भाटा से भरे हुए समुद्र की तरह, एक इकाई है जिसमें मौत और पैदाइश की लहरें उठती-समाती रहती हैं। मगर समुद्र खुद एक अव्यय की तरह कायम है। राही की कहानी का कोई तार्किक अन्त नहीं है। वह कहीं भी खत्म हो सकती है, आगे भी चल सकती है, 'इत्यादि' की तरह। वह जिस अनन्तता को कायम करना चाहते हैं वह अनन्तता गणित के अंकों की अनन्तता है: १, २, ३......इत्यादि। यह अनन्तता अर्थ की अनन्तता नहीं है। इसीलिए उपन्यास के बाद यह नहीं लगता कि अभी आधी बात कही गई है।

सामाजिक दस्तावेज़ पर रूपक आरोपित करना खतरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का काम है। यद्यपि हर महत्त्वाकांक्षी उपन्यास इस खतरे को उठाता है। 'अलग-अलग वैतरणी' का असन्तोषप्रद अन्त इस महत्त्वाकांक्षा के ही कारण होता है। छोटी-सी भूमिका में लेखक ने कहा है :

"इस उपन्यास पर मैं कई बरसों से काम करता आ रहा हूँ। कई बार काटा-पीटा और रद्दोबदल किया है। जानता हूँ यह अन्तिम रूप भी मेरे मन के करैता की सही 'ठनक' को बाँध नहीं पाया है।..."

यदि यही सृजनात्मक प्रेरणा इस उपन्यास की मूल भाषा है तो लेखक को 'आधा गाँव' की तरह हाशिए के भीतर ही रहना चाहिए था। अर्थ के अन्वेषण का प्रयास नहीं करना चाहिए था। उसी भूमिका में इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए थी कि कहीं यह उपन्यास 'आंचलिक' उपन्यासों की पंक्ति में न डाल दिया जाए। शायद 'ठनक' बँध जाती, तो उपन्यास निश्चय ही आंचलिक होता। रेणु का 'मैला आंचल' में 'ठनक' नहीं तो क्या है, जो आंचलिकता उत्पन्न करती है ?

और फिर करैता, सिर्फ करैता कहाँ रह जाता है ? वह भी तो 'गाँव' हो जाता है—एक रिश्ता। लोगों का एक जमाव जो पटवारी के कागज़ात की एक भौगोलिक सीमा में घेर दिया गया है ताकि जन्मे, मरे, और खेती से पुरखों से, और वकील खलील मियाँ के 'जहालत, गरीबी और तंगखयाली' की जमती हुई परतों में डूबता-उतराता रहे।

यह सवाल बना रहता है कि कहानी करैता की है या करैता के माध्यम से मझगँवा, बिराहिमपुर, जाठी, कठौता या इसी तरह के नामों वाले सभी गाँवों की कहानी है ? तब इसमें 'ठनक' अकेले करैता की कैसे होगी ? उपन्यास के अन्त में जब जग्गन मिसिर कहते हैं :

"कीनाराम वाली कथा में तो विपिन बाबू यह भी आता है कि उन्हें कनवाँ के लोगों ने शरबत पिलाया। आदर-सत्कार किया। और उन्होंने खुश होकर वरदान दिया था कि तुम्हारी बस्ती फूलती-फलती रहेगी। यानी कनवाँ आबाद, करैता बरबाद, यही न ?

हाँ ऐसा ही कहते हैं लोग।

तो कनवाँ की हालत तो करैता से अच्छी होनी चाहिए न ? आप कभी वहाँ गए हैं ? साल-भर यहाँ रहे पर बगल के गाँव में तो गए न होंगे।

जाकर वहाँ देखिए। शायद तब आप करैता को गाली देना छोड़ दें। तब लगता है करैता को टँकने वाले हाशिए की स्याही फैलती जा रही है और उस हाशिये के पीछे जो ठनकता है वह महज़ करैता नहीं है, और कुछ भी है।"

इसीलिए मैं श्री शिवप्रसाद सिंह के इस उपन्यास को आंचलिकता की पंक्ति में न रख, सामाजिक दस्तावेज़ों के साथ ही नत्थी करूँगा, बहुत ही खुशखत लिखी हुई दस्तावेज़। सामाजिक दस्तावेज़ तो राही मासूम रज़ा का उपन्यास 'आधा गाँव' भी है, लेकिन उसमें आंचलिकता के रंग कहीं-कहीं झलकते हैं। शुद्ध सामाजिक दस्तावेज़ दोनों में कोई नहीं है। 'आधा गाँव' शुद्ध आंचलिक और शुद्ध सामाजिक दस्तावेज़ के बीच में स्थित है, जबकि 'अलग-अलग वैतरणी' शुद्ध सामाजिक दस्तावेज़ और जीवन के प्रतीकात्मक अर्थ के बीच स्थित है।

●

इस कशमकश में ही विपिन, जो कथा का केन्द्र है, लुंज-पुंज हो गया है। करैता को एक इकाई या तत्त्व की तरह महसूस करने के कारण वह करैता से कटकर अलग हो गया है। उसका बाहरीपन, करैता के प्रति लेखक के तथा पाठक के बाहरीपन का प्रतीक है। उसके लिए करैता एक कठिन समस्या की तरह है जिसके साथ उसका एक ही रिश्ता बन सकता है कि वह उसे झुठलाने की कोशिश करे। यह रिश्ता अपने-आप में एक दिमाग़ी रिश्ता है। करैता से विपिन के जितने और सम्बन्ध हैं पैदायशी, खानदानी, या पुष्पी के साथ हलकी सिहरन वाले, उनकी भूमिका सिर्फ इतनी ही है कि दिमागी रिश्ते को थोड़े वक्त के लिए करैता से जोड़ दें। सिर्फ समस्या को इस तरह उपस्थित कर दें कि विपिन के लिए समस्या का साक्षात्कार करना अनिवार्य हो जाए। मगर उन रिश्तों में इतना दम नहीं है कि विपिन को विचलित कर सकें, या भीतर का आदमी बना सकें।

जग्गन मिसिर कहते हैं कि विपिन उन थोड़े-से लोगों में से है जिनके पास चेहरा है। बाकी भीड़ बिना चेहरे वालों की है। विपिन के पास चेहरा सिर्फ इतना ही है कि वह पढ़ा-लिखा है, गाँव को समस्या की तरह देखता है। वर्ना उसके जैसा बिना चेहरे का पात्र पूरे उपन्यास में नहीं है। क्योंकि विपिन व्यक्ति नहीं है, देखने का ढंग है।

विपिन जैसे पात्र को केन्द्र में रखने का मतलब है, करैता को बौद्धिक रूप से देखे जाने वाले गाँव की तरह प्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना। इस तरह के गाँव के साथ एक ही सार्थक सम्बन्ध कायम किया जा सकता है—उसे सुधारने की कोशिश। उपन्यासकार की यह दृष्टि अगर 'ठनक' बाँधने के कर्तव्य से दूर चली जाए तो क्या आश्चर्य? मगर, फिर विपिन सुधारने की कोशिश में लगता क्यों नहीं, देखता ही क्यों रह जाता है?

विपिन का दिमागी सहोदर शशिकान्त मास्टर है। वह सुधार के कठिन और ईमानदार परिश्रम में लगता है। लेकिन उसकी सक्रियता उसे करैता के भीतर का ही एक तत्त्व बना देती है। वह पूरी तसवीर का एक हिस्सा-भर बन जाता है। 'बिना चेहरे वाले' लोगों की भीड़ में से एक उसकी असफलता पूरे माहौल की असफलता है।

सुधारक के लिए जरूरी है कि वह सम्पूर्णता से सीधे न टकराए। उसके लिए सम्पूर्ण को टुकड़े-टुकड़े में बाँटना ज़रूरी है, नहीं तो वह सुधार की शुरुआत कर ही नहीं सकता। और टुकड़ों में बाँटने के साथ ही वह बाहर का नहीं रह जाता। पूरी दृश्य-छवि का अंग बन जाता है। शशिकान्त मास्टर सामाजिक दस्तावेज़ का अंग है।

विपिन के माध्यम से उपन्यासकार उस सम्पूर्ण इकाई से टकराने की कोशिश करता है। इस भूमिका को मान लेने के बाद विपिन के लिए दो ही औपन्यासिक स्थितियाँ हो सकती थीं—वह या तो क्रान्तिकारी हो जाता या पलायनवादी। वह पलायनवादी ही होना स्वीकार करता है। या यों कहें कि बराबर पलायनवादी ही रहता है।

●

राही के उपन्यास में विपिन जैसा कोई पात्र नहीं है। यहाँ तक कि उपन्यास के भीतर का मासूम भी औरों की तरह भीड़ में खोया रहता है। इस कारण किसी तरह का उलझाव पैदा होने की गुंजाइश नहीं होती। गाँव के भीतर की ज़िन्दगी समस्या की तरह नहीं, बल्कि एक ममता पूर्ण प्रवाह की तरह सामने आती है। सवाल सब-कुछ को सोचकर, अपनी परिस्थिति को परिभाषित करने का नहीं है बल्कि अपने को उस प्रवाह में बेहिचक छोड़ देने का है, उसके साथ गड्डमड्ड हो जाने का है ताकि मासूम को कोई गंगोली से उठाकर रायबरेली न ले जा पटके। लेकिन विपिन की समस्या मुख्यतः विचारक की समस्या है—इस कुलबुलाती वैतरणी को किस तरह अर्थ दिया जाए।

उपन्यासकार बहुत-कुछ विपिन से अभिन्न है। लेकिन पूरे उपन्यास की समस्या विपिन से एक कदम और आगे है। यह वैतरणी है क्या—कहाँ तक इसका पाट है, कहाँ उद्गम है?

इस गहरे प्रश्न के सन्दर्भ में ही—उपन्यास के अन्त का प्रश्न दिमाग़ में घूमता है। सीपिया नाले में ऐसा क्या है, कि कथा वहीं आकर खत्म कर दी जाए?

●

विपिन के चेहरे में औरों से भिन्न सिर्फ इतना ही है कि वह पढ़ा-लिखा है, शहर हो आया है, और अच्छी नौकरी पा सकता है। सिर्फ इतना ही क्यों?

इसके प्रतिलोम-स्वरूप विपिन के बाहर जो करैता है, उसकी तसवीर भी इन्हीं रेखाओं से बन जाती है। करैता जाहिल है, ग़रीब है, और करैता के बाहर भी कोई दुनिया है, यह नहीं जानता। वह वैतरणी इसी कारण है कि बाहर की दुनिया उससे इतनी भिन्न हो चुकी है कि उसके मुकाबले में करैता ने अपना अर्थ खो दिया है। और इसकी गरीबी की मार।

प्रेमचन्द्र की आरम्भिक ग्राम-कथाओं में ग्राम-जीवन की धुरी आर्थिक समस्याएँ थीं। आपस के नैतिक-अनैतिक संबंध परम्परा से कुछ-न-कुछ झंकृत ज़रूर होते थे, लेकिन ये सारे सम्बन्ध मूलतः सामाजिक ही थे। 'गोदान' में पहली बार उन्होंने उस एक नये आयाम को स्पर्श किया जो मात्र आर्थिक या नैतिक नहीं है—एक गहरे अवचेतन स्तर पर सांस्कृतिक है, आदिम विश्वासों का आयाम है। होरी की मँडराती हुई आकांक्षा आर्थिक और नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण करती लिखती है।

सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में श्री शिवप्रसादसिंह का उपन्यास आर्थिक विघटन और चुनाव वाले जनतंत्र के दौर में नैतिक-सामाजिक परम्पराओं की झंकार को टूटता हुआ या नपुंसक दिखाता है। सांस्कृतिक मानस तो जलते तवे पर पड़ी हुई पानी की बूँद की तरह कभी का ग़ायब हो चुका है। यहाँ तक कि देवी थान का मेला भी सामाजिक रिपोर्ट ही है। यह तसवीर कहाँ तक सही है इसके बारे में राय ज़ाहिर करना न मेरे लिए सम्भव है, न उचित ही। क्योंकि सही या ग़लत दो में से कुछ भी कहने पर मैं एक अतिरिक्त गवाही ही दे सकूँगा। और लेखक इतना तो हमेशा ही कह सकता है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात करैता की हो रही है। अगर सैयदराजा या चकिया या गंगापुर की हालत इससे भिन्न हो तो भी इस दस्तावेज़ का सत्य कैसे घट जाता है।

इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि धारणाओं के जिस चौखटे में यह साफ़-सुथरी तसवीर पेश की गई है, वह सामान्य धारणाओं से कहीं ख़राश पैदा नहीं करती। इस अर्थ में उपन्यास कहीं चौंकाता नहीं। और एक तटस्थ तसवीर का आभास देता है जिसके बारे में सुन काफी रखा था, तफ़सील से देखने का मौक़ा अब मिला है। सिवाय एक सरूप भगत और उसके गिरोह के जो न केवल मेरे लिए एक लगभग अपरिचित तसवीर की तरह ताजगी देता है बल्कि कल्पना और मानवीय सहानुभूति के घेरे को अप्रत्याशित विस्तार देता है। अगर इस बहुत सुथरेपन के साथ बिने हुए पूरे थान में से कुछ ताने-बाने अलग ही करने हों, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरूप भगत और दुलारी और उनके पूरे हजूम के निर्माण के लिए ही इस उपन्यास का मूल्य रहेगा।

पात्र बहुत हैं, फिर भी वे भरमार होने की उकताहट नहीं पैदा करते। इनमें से कुछ पर निगाह कुछ ज्यादा देर तक ठहरती है: दयाल पण्डित, सरूप भगत, दुलारी जग्गन मिसिर, कनिया और चंचल बदचलन सुगनी—न जाने कितने खुराफातों की जड़। मगर इनमें से कोई इतना नहीं उभरता कि उस पर से करैता की धूल बिलकुल झड़ जाए। और न शेष इतने ही दब गए हैं कि धूल और इन्सान में फर्क करना कठिन हो जाए। इस नक्काशीदार बुनावट पर ही ध्यान सबसे पहले जाता है।

•

अगर इस उपन्यास के ऊपर भावुकता की बेठन होती तो सवाल यह उठता कि गाँव को लेकर लिखी हुई कथा कहाँ तक हमारे आधुनिक मन के साथ मेल खाती है। वैसे 'भावुकता' शब्द को लेकर कोई विश्लेषण करना खतरे से खाली नहीं है। एक तरह का सघन सम्बन्ध तो दृष्टि और दृश्य-छवि के बीच हर कलाकृति में रहता है, जो किसी-न-किसी समय भावुकता की तरह लग सकता है। आज नहीं तो दस बरस बाद। लेकिन यहाँ मैं भावुकता के सिर्फ दो उपकरणों को ध्यान में रखकर इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ: एक तो करुणा वाली भावुकता, दूसरी आंचलिकता की रंगीनीवाली भावुकता। गाँवों को लेकर दो तरह से भावुक हुआ जा सकता है, या अब तक हुआ गया है। या तो 'अहा, ग्राम्य-जीवन भी क्या है' की शैली में आंचलिक छबीलापन इसी दृष्टि का एक विस्तृत रूप है। दूसरे 'उफ् कितने दुखी हैं लोग, कुछ करना चाहिए' की शैली में। यह दृष्टि कहीं-न-कहीं अपनी अपराध-भावना से बचने के लिए अन्तरात्मा के कलंक धोने की मुद्रा का निर्माण भर करती है। क्योंकि 'कुछ करना चाहिए', निरन्तर 'कुछ किया नहीं जा सकता' की दीवार से टकराता रहता है।

'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़कर लगा कि जिस ज़मीन को चुक गया मानकर चलने की हवा चल पड़ी थी, अभी भी उसम निरन्तर नयी उद्भावनाओं की गुंजाइश है। यों भी, हिन्दुस्तान में लिखा गया उपन्यास कितने दिनों तक गाँवों को छोड़कर मनुष्य को परिभाषित करने की कोशिश में निःशरीर खड़ा रह सकता है?

कभी विषय-वस्तु के आधार पर चलाया हुआ आन्दोलन कुछ ही दिनों में सतही या यांत्रिक हो जाता है। नगरों और महानगरों में कथाकार को गहरे स्तर पर अनुप्राणित करने की क्षमता अभी तक नहीं पैदा हुई है इतना पिछले दस वर्षों की कोशिशों के जो परिणाम निकले हैं उन्हें देखकर कहा जा सकता है। इस तरह के परिवर्तनों में कहानी तभी तक चमकती है जब तक विषय-वस्तु नयी या अछूती हो। इतने नयेपन की आधुनिकता का मूल्य हर रोज़ छपनेवाले अखबार के ताज़े समाचार से कुछ अधिक हो, इसके लिए विषय-वस्तु की नवीनता से अधिक भी कुछ होना चाहिए। उपन्यास या कहानी को महज़ अखबारी 'स्कूप' की शैली में कब तक चमत्कारी बनाया जा सकता है?

उदाहरण के लिए, निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' का उल्लेख कर सकता हूँ। विषय-वस्तु की दृष्टि से, जेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राहा में स्थिति, इस उपन्यास और करैता में ठनकते शिवप्रसाद सिंह के 'अलग-अलग वैतरणी' में शब्दशः ज़मीन-आसमान का अन्तर है। यदि प्राहा और करैता ही आधुनिकता की कसौटी बन जाएँ, तो सिर्फ विषय-वस्तु का चुनाव ही करैता पर भारी पड़ेगा। लेकिन 'अलग-अलग वैतरणी' का प्रभाव ज्यादा सन्तोषप्रद अनुभव है। निर्मल वर्मा भी सामाजिक विघटन के बीच छटपटाती हुई मानवीयता, या मानवीयता पर जकड़ते हुए शिकंजे की कथा कहते हैं। लेकिन कथा-प्रवाह के बीच हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठ पर इतने होटल और इतनी बियर एवं अन्य किस्म की शराबें हैं कि यह महानगर कहानी की मदद नहीं करता। बीच-बीच में करकता रहता है। यूरोप और अमरीका के बहुत उपन्यास पढ़ने का अवसर मिला है। लेकिन इतना ज्यादा बियर कहीं पीने का मौक़ा नहीं मिला। उकताहट पैदा होती है।

ऐसा क्यों हो जाता है? हो सकता है कि इसके पीछे कथाकार की कमज़ोरी हो। लेकिन शायद जिस माहौल को कथाकार प्रस्तुत करना चाहता है, उसके ऊपरी लक्षणों में उलझने का मोह भी एक कारण है। इसी तरह स्वर्गीय राजकमल चौधरी का उपन्यास 'मरी हुई मछली' का भी हाल है। राजकमल के अन्य लेखन की तरह यहाँ भी लगता है कि लेखक को ज़िन्दगी की अनुभूति तो बहुत बड़ी हुई, लेकिन वह उस अनुभूति को पचा नहीं सका। उपन्यास का तार बीच-बीच में खूँटी से उतर जाता है, और एक तरह का प्रदर्शनवाद हावी हो जाता है।

यह नहीं है कि नयी विषय-वस्तु के इस आग्रह ने कलात्मक अनुभूति को आगे नहीं बढ़ाया। किन्तु वह परिपक्वता जो कलाकार की अकड़ नहीं, आत्म-विश्वास का आभास देती चलती है, अभी हाथ नहीं लगी है। जब उपन्यास को पढ़कर महसूस हो कि हम कलाकृति नहीं, किसी बड़े पुस्तकालय में उपलब्ध देश-विदेश के अखबार पढ़ रहे हैं, तब शंका के साथ माथे की त्योरियों पर बल पड़ जाना स्वाभाविक ही हो जाता।

ज़रूरी नहीं है कि 'अलग-अलग वैतरणी' की प्रशंसा करने के लिए औरों की बुराई की ही जाए। लेकिन मैं इस तुलना के साथ अपने भीतर की उस बेचैनी को ज़रूर ही व्यक्त करना चाहता हूँ जो पिछले दस वर्षों में विषय-वस्तु को बदलने की अधूरी सफलताओं से उत्पन्न होती है। और इन तमाम महानगरी छटपटाहटों के बीच करैता का करैत अपनी पूरे तेवर से ठनकता है तो ज़रूरी हो जाता है कि हम अपनी धारणाओं, पूर्वग्रहों और प्रतिमानों पर फिर से नज़र डालें। औपन्यासिक सृजनशीलता का अप्रतिहत, अबाधित स्रोत किस ज़मीन से फूटता हुआ दिखता है।

यों भी, यह मानना कि बीसवीं सदी की स्वाभाविक लय नगरों या महानगरों में ध्वनित होती है, गाँव किसी विशेष अर्थ में अठारहवीं या उसके पहले की किसी सदी के अवशेष हैं, एक तरह का ऐतिहासिक दृष्टिदोष है। बीसवीं सदी को खण्ड-खण्ड करके देखना अपने को एक दिमाग़ी भँवर में डाल देना है। बीसवीं सदी के कमल कीचड़ से अलग नहीं किए जा सकते। अब इस दृष्टिभ्रम का अन्त होना चाहिए, क्योंकि यह यूरोप की उन्नीसवीं सदी दिमाग़ी विरासत में उपजी हुई चीज़ है। करैता मैनहाटन से कम बीसवीं सदी की उपज नहीं है। इस तथ्य की पहचान औपन्यासिक सृजनशीलता के लिए चुनौती है।

कसौटी यही है कि विषय-वस्तु का चयन केवल पृष्ठभूमि के लिए ही होना चाहिए। यदि ऐसा लगने लगे कि कथा केवल विषय-वस्तु के लिए ही लिखी गई, चाहे वह गाँव हो या मैनहाटन, तो उपन्यास में एक उबाने वाला आग्रह पैदा हो जाएगा। इस शर्त के साथ, हमें यह स्वीकार करके चलना होगा कि आज के मानवीय महानाटक के लिए, और उसका साक्षात्कार करने वाले लेखक के लिए करैता जैसे लाखों गाँवों को भूल जाना, या उसका कोई अनुभव ही न होना, एक बड़ा सृजनात्मक अभाव होगा। आज भी मनुष्य की परिभाषा करैता की उपेक्षा करके नहीं दी जा सकती। यदि दी जाने की कोशिश की जाएगी तो उसका शायद वही परिणाम होगा जो तड़पते-छटपटाते राजकमल चौधरी का हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतुकान्त* और निरर्थकता का कवि

प्रमोद सिनहा

लक्ष्मीकान्त वर्मा की चौंसठ कविताओं का संकलन 'अतुकान्त' मैंने बार-बार पढ़ा है, और हर बार अलग-अलग तरह के सवालों से सीधा टकराना पड़ा है। ऐसा इसलिए हुआ कि ये सवाल लक्ष्मीकान्त की कविता-यात्रा से कहीं-न-कहीं बहुत गहरी तरह जुड़े हुए हैं, और हर बार उनका कवि उन्हीं मूल्यों के बीच अपने-आपको यंत्रस्थ करता रहा है। ऐसे लिखने के नाम पर लक्ष्मीकान्त प्रायः उपन्यास, नाटक और आलोचना में भी उपस्थित रहे हैं पर भाषा, संवेदना और अभिव्यक्ति की एकसूत्रता में कविता इनकी अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। कवि का एकमात्र कविता संग्रह होने से इस संग्रह की सार्थकता बढ़ी है।

यदि नये कवि का संकलन निकले तो वह उसकी संभावनाओं की ओर इंगित करता है, पर लक्ष्मीकान्त की स्थिति कुछ दूसरी है। तैंतीस वर्ष तक की कविता-यात्रा के बाद आज ये नयी कविता के स्थापित कवियों में हैं। इस स्थिति में इस संकलन से अपेक्षाएँ और भी बढ़ जाती हैं। ऐसे भी ये विवादास्पद और बहुचर्चित कवि रहे हैं और समय-समय पर विशेषकर विजयदेव नारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने इनकी कविताओं पर अपने मन्तव्यों के साथ सामयिक टिप्पणियाँ भी की हैं जो कि लक्ष्मीकान्त और नयी कविता दोनों के लिए ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही हैं। पर संकलन के अभाव और उनकी कविताओं के बिखराव के कारण अब तक उन सारी बातों की पुनः परख हो सकने की संभावना नहीं थी। इसीलिए लक्ष्मीकान्त का कवि अनायास ही कुछ लोगों के लिए महिमामंडित होता रहा। इन बातों के अतिरिक्त भी इस संकलन से ढेर सारी बातें साफ हुई हैं और अब तक की प्रचलित धारणा से इतर लक्ष्मीकान्त का कवि सामने आया है, जिसकी सहज अभिव्यक्ति ने वह सब-कुछ धोया है, जो आरोपित था और उसका नहीं था।

बारह खण्डों में विभाजित इस संग्रह में प्रस्तुत कवि की विश्लेषक दृष्टि कविताओं को भी अनुभूति के आधार पर खण्ड-खण्ड बाँटकर देखती है। यह बात इन कविताओं तक पहुँचने में मदद दे या नहीं, पर यह स्पष्ट है कि बहुत गहरे इस विभाजन का कोई खास सन्दर्भ नहीं लगता। यदि संकलन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कथन रहता कि कवि की कब से कब तक की कविताएँ अतुकान्त में संकलित हैं तो कवि की कविता-यात्रा और उसके उतार-चढ़ाव को समझने में आसानी होती। पर समय का उल्लेख न करना कदाचित कवि के 'शरारतपूर्ण सह-संयोजन' का ही एक अंग है और यह एक दाँव का बचा जाना है, क्योंकि इन कविताओं के विषय में कुछ भी कहने पर वह कहेंगे कि ये प्रारम्भिक कविताएँ हैं और पहला संकलन होने के कारण अच्छी कविताओं को एक साथ देना सम्भव न था, जबकि खुद उसी ने अपने सेंसर के बाद इसका वर्तमान रूप दिया होगा। यहाँ इन कविताओं पर कुछ भी लिखते समय लक्ष्मीकान्त की पूरी कविता-यात्रा की अपेक्षा सारी बातों को केवल इसी संग्रह के आधार पर कहना अधिक युक्तिसंगत होगा।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ अतुकान्त में ऐसा क्या कुछ है जो कि मुझे एक से अधिक बार पढ़ने और सोचने को विवश करता है। इस प्रश्न के कई उत्तर एक साथ मन में उठते हैं और सही उत्तर की तलाश में उसी तौल का विकल्प ढूँढ़ना पड़ता है।

अतुकान्त की कविताएँ गहरे दायरे में लिखी गई हैं और इनसे कवि की सीधी टकराहट का पता चलता है। लेकिन सीधी पकड़ की अभिव्यक्ति जिस एकालाप की शैली में हुई है वह बहुत-कुछ स्वगत नाट्य बन गई है। एकालाप की यह स्थिति कविताओं में दो धरातलों पर प्रकट हुई है। एक तो नितान्त व्यक्तिगत स्तर पर जिसमें कवि के रमने का भाव अधिक है। दूसरे में पारिवारिकता से अलग सामाजिक और ऐतिहासिक परिवेश को भी भाषा दी गई है। लेकिन जब भी कवि बड़ा कैनवास लेकर चलता है तो भाषा के शिथिल ढाँचे को अपनाने के कारण सब-कुछ अव्यवस्थित और गड्ड-मड्ड हो जाता है। कभी-कभी तो जो कुछ अभिव्यक्ति देना चाहता है, उससे इतर दे जाता है। यह खतरा हर ढीली भाषा की बुनावट वाले कवि के साथ सहज और स्वाभाविक है। ऐसा नहीं है कि कवि इस खतरे से परिचित नहीं है। पर परिचित होते हुए भी सारी सायासता को खोना चाहता है। उसकी सारी अव्यवस्थिति और टूटे-टाटेपन को 'शरारतपूर्ण सह-

* अतुकान्त : लक्ष्मीकान्त वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी। मूल्य ५.००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोजन' में आत्मसात् करना चाहता है। कवि का सेंसर जान-बूझकर यह सब करने की छूट देता है। ऐसा इसलिए कि यह सारे जमाव से बहुत जल्दी ऊब जाता है। किसी भी जमाव के प्रति प्रतिक्रिया लक्ष्मीकान्त की विशेषता है। यह प्रतिक्रिया पहले से सार्थकता देगी या निरर्थकता, यह बात इनके लिए गौण हो जाती है। वे एकरसता की नीरसता से मुक्ति चाहते हैं, मुक्ति पाने का प्रयत्न करते हैं; भले ही प्रयत्न में असफलता ही हाथ लगे। पर इस बदलाव में 'निरर्थकता' और 'ऊलजलूलपन' पर भी उन्हें पर्याप्त सन्तोष मिलता है। कम-से-कम अतुकान्त की कविताओं से तो ऐसा ही लगता है।

लेकिन आखिर क्या कारण है कि इन सारी बातों के बावजूद लक्ष्मीकान्त का कवि समस्याओं, अनुभूतियों और अभिव्यक्ति की निजता को इतना गहरा और सार्थक अर्थ दे पाता है, और इस अर्थ की सार्थकता में एक निजी अनुभूति को व्यापक स्तर पर इस तरह प्रकट करता है कि वह बहुत गहरे व्यक्ति का सत्य बन जाती है। शायद इसका कारण सारी विपरीत परिस्थितियों से टकराते-टकराते सत्य को खोजना है, जिस खोज में वह अपने को भी एक भोक्ता मानता है—

यज्ञ मैंने भी किये थे
मानसरोवर के हंसों को मैंने भी बुलवाया था
पर क्या करूँ
वे मोती जिन्हें हंस चुनते हैं
जिन्हें मैंने असली समझ, सँजोया, रखा, वे सब
नक़ली निकल गये [४१]

उन मोतियों के नकली निकल जाने का स्वीकार शायद किसी बड़ी असफलता का स्वीकार है, और सहज स्वीकार है; जिसकी सारी योजना यज्ञ की क्रिया और पवित्र फल से सम्बन्धित होकर भी असफल हो जाती है। अगर यज्ञ की पवित्रता और उसके फल की अपेक्षा मान भी ली जाए तो भी यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि इस असफलता या अस्वीकार की मुद्रा में भी क्षोभ या खीझ नहीं बल्कि सारी याज्ञिक क्रिया पर एक व्यंग्य और उसकी निरर्थकता ही मिलती है और वह भी इसे स्वीकार करता है कि—

'...यज्ञ के पुरोहित। सब बन गये कबाड़ी।' [४३]

अगर कवि की मानसिक बुनावट बारीक नहीं होती तो सामयिक घटित होने वाली बातों की छानबीन भी कविताओं में करने की आवश्यकता न थी। पर लक्ष्मीकान्त सहज प्रति-क्रिया के कवि हैं और उनकी निजी कविताओं में भी सामाजिक परिवेश का उभार है। जहाँ कहीं स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं है वहाँ भी इस उभार का छायाभास है। कवि का यज्ञ और उसका संघर्ष नयी कविता के प्रारम्भ और उसके स्थापित होने की स्थिति है। जिसकी 'ताज़ी कविता' कविता के वक्तव्य में उसने खुद ही कपाल-क्रिया कर दी क्योंकि उसे लगा कि उसकी सारी यज्ञ-क्रिया का अन्त पलायनवादी और 'हिमबिद्ध' होकर ही रह जाना था। खुरदरे यथार्थ से यह एक पलायन था जिसमें अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' से लेकर 'चकित है दुख' और 'जो बँध नहीं सका' की कविताएँ भी शामिल हो जाती हैं।

पर यह शामिल होने की बात खुद कवि को उस खुरदरे यथार्थ से पलायन करने वालों की कतार में नहीं खड़ा करती। वह खुद उस कतार में खड़ा होना चाहता है। पर कुछ विशिष्ट कारणों से खुद-ब-खुद अलग कर दिया जाता है। कदाचित इस अलग कर दिये जाने का कारण इसका अपने ढंग से ईमानदार होना है। वह सारी विपरीत और रूखड़ी परिस्थितियों से टकराने और टूटकर हल खोजने की अपेक्षा भारतीय संस्कृति के परम्परागत अपने बचाव के तरीके के अनुसार कछुए की तरह सिकुड़कर आत्मलीन होना अधिक उपयुक्त समझता है। इस तरह आत्मलीन होने में उन्हें दो फायदे हैं: एक तो उन्हें अनायास विपरीत परिस्थितियों से टकराना नहीं पड़ता; दूसरे उनका स्वाभिमान भी आत्मस्थ होने से सुरक्षित रह जाता है और वे गर्वोन्नित बने रह सकने का अहम् रखने में समर्थ होते हैं—यथा—

मैं आत्मलीन हूँ
रहूँगा आत्मलीन
बन नहीं सकता आवाज़ मैं किराये की
नहीं हूँ भोंपू, प्रतिध्वनि किसी विज्ञापन की [३६]

और—

अपना सिर बचा लिया है। ताकि वक्त ज़रूरत काम
आये। [५१]

पर लक्ष्मीकांत की यह आत्मलीनता अध्यात्म से कोई ताल्लुक नहीं रखती और न रख ही सकती है क्योंकि उनमें समर्पित होने जैसा कुछ भी नहीं है। उनकी सारी आस्था और संवेदना हरे बाँस की तरह है जो कि आँधी गुज़र जाने पर यथावत् हो जाती है, झुकती है, टूटती नहीं और यह झुकना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी सामयिक हुआ करता है। सारे विपरीत सवालों की बौछार में वे चुप रहते हैं और जब मन पर एक बोझ बन जाता है तो उसे अपनी अभिव्यक्ति से धो देते हैं।

लक्ष्मीकांत में बहुत गहरा स्वीकार है और यह अस्तित्व-बोध के स्तर पर अभिव्यक्ति में बहुत गहरे उतर जाता है—

कभी-कभी सोचता हूँ
यह मैंने क्या किया
मेरा घर
एक हरा-भरा गुलदस्ता हो सकता था
लेकिन इस युग में
मैंने क्यों वह चुना
जिसमें सिर्फ़ रेत है
मरु है, विष है, व्यंग है ? [७०]

सोचता हूँ क्या यह कवि का पश्चात्ताप है जिसमें वह अपने चुनाव को ही गलत ठहराये जाने की बात सार्थक करता है ? यह भी संभव है कि शायद यह उसकी विवशता हो, पर ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं था कि रास्तों के विकल्प नहीं थे पर विकल्पहीन रास्ते का चुनाव उसने खुद ही अपनी रुचि से किया और इसके लिए कविताओं में पश्चात्ताप की मुद्रा नहीं मिलती। यह इस बात का प्रमाण है कि वह इन सारी असफलताओं से ऊबा नहीं है और कम-से-कम 'अतुकांत' का कवि ऊब या पश्चात्ताप का कवि नहीं है। हालाँकि हताशा और थकावट की मुद्रा मिलती है पर इन कविताओं में आत्मविश्वास के टूटने जैसा भाव नहीं मिलता।

'…सोचता हूँ,
जो भी किया, अच्छा किया।
ऐतिहासिकता को भोगा,
इतिहास का भोग नहीं बना' [७५]

लक्ष्मीकांत की कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जिनमें सामाजिक और ऐतिहासिक संस्कारों को भाषा मिली है। लेकिन आखिर क्या कारण है कि निजी कविताओं में वे जितने ही सफल हैं, सामाजिक और ऐतिहासिक स्तर की कविताएँ उन्हें उतने ही पीछे छोड़ देती हैं। कदाचित् इसका कारण सामाजिक स्तर की व्यापक दृष्टि का न होना है या उनकी पूरी-की-पूरी मानसिकता का केवल व्यक्ति के ही गहरे धरातल पर जुड़ सकना है। ऐसा नहीं है कि उनमें सामाजिकता नहीं है, पर यह सच है कि उनकी कविताओं में व्यक्तिगत स्तर की गहरी अनुभूति सार्वजनिक रूप से एक टाइप और तबके का सत्य बनकर उभरती है; वहीं दूसरी ओर जहाँ वे समाज और इतिहास का शोर और उसकी पुनरावृत्ति करते हैं तो वह एक चिप्पी की तरह लगता है और बावजूद सारी कोशिशों के तालमेल बैठाने में उसका भदेसपन अलग से दिख जाता है। 'इतिहास के दर्पण में' खण्ड के अन्तर्गत रखी गई प्रायः सभी कविताएँ कहीं भी इतिहास-परम्परा और उसकी सार्थकता और समझ को गहरे संदर्भों से नहीं जोड़ पातीं। सारा प्रयत्न 'इतिहास का कीड़ा' (५६) बनकर रह जाता है। इसका कारण यह है कि कवि एक साथ ही दो धरातलों पर जीने का एहसास बनाये हुए है, साथ ही दोनों धरातलों के झूठ या सच की प्रामाणिता को बिना अपने 'सेंसर' के यथावत् व्यक्त कर देता है, जिसमें एक ओर वह इतिहास और प्रेतात्माएँ, इतिहास और चरवाहा, इतिहास और डी० टी० टी०, इतिहास और चूहे में—इतिहास और उसकी परम्परा की निरर्थकता में जीता है तो वहीं इतिहास-सेतु में इस प्रामाणिक निरर्थकता का एहसास भी देता है कि—

'इन पर चढ़कर यात्राएँ की जा सकती हैं
इन्हें वरण कर जिया नहीं जा सकता।' [६४]

प्रश्न उठ सकता है कि इतिहास पर चढ़कर यात्राओं का संकेत कवि की मरमोत्तर ख्याति की लालसा तो नहीं ? यदि ऐसा न भी हो तो कोई खास फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि अतुकान्त का कवि इतना अधिक काल्पनिक नहीं लगता है कि यथार्थ का खुरदरापन भूल जाये और सब-कुछ इतिहास बनने की काल्पनिकता में ढक दे। अतुकान्त की कविताएँ भी इस बात की साक्षी हैं कि वह आज के जीवन में व्यावहारिक है क्योंकि अव्यावहारिकता का वरण कर आज के जलते प्रश्नों के उत्तर की तलाश नहीं की जा सकती। अतः उपर्युक्त दोनों धरातलों को देखने पर सहज ही कहा जा सकता है कि अतुकान्त में कवि जहाँ एकालाप की शैली में निजी स्तर पर सारी बातें कहता है वहाँ उसकी बातों में गहरी पकड़ है। पर जब उससे अलग हटकर वह बड़ा परिवेश लेना चाहता है और उसके अनुरूप सारी अनुभूति को यथावत व्यक्त करना चाहता है, वहीं उसकी एकालाप की शैली रुद्ध हो जाती है और उपयुक्त भाषा की तलाश में लगातार अपने से टकराते-टकराते असमर्थता पैदा हो जाती है। इस एकालाप की शैली में कवि की आत्मरति भी मिलती है। आत्मरति के सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विजयदेवनारायण साही का 'मछलीघर' और लक्ष्मीकांत वर्मा का 'अतुकान्त' दोनों एक ही धरातल के कविता-संग्रह हैं। ऐसे यह अलग बात है कि आत्मरति की यह विशेषता साही और लक्ष्मीकांत की ही विशेषता है या पूरी नई कविता की ही?

अतुकान्त की कविताओं को लेकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसकी भाषा के सम्बन्ध में उठता है। आखिर अतुकान्त की भाषा क्या है और यह भाषा शेष नयी कविता के कवियों की भाषा से कितनी भिन्न है। यों तो इस बात को देखने के पहले उनकी कविता-यात्रा के उन सारे आयामों को भी देखना चाहिए जिसमें उर्दू ग़ज़ल से लेकर उनके 'अतुकान्त' तक की भाषा का विकास हुआ। पर बात फैल जाने के डर से सारी बात को इसी कविता-संग्रह पर केन्द्रित करना अधिक सार्थक होगा।

लक्ष्मीकान्त जो भी कहना चाहते हैं एकदम सीधे तरीके से कहते हैं और अधिकतर उसमें कथ्य और कथनशीलता की भाषा के बीच असमर्थता की भाषा का एहसास नहीं दीखता। ऐसा होने का कारण अभिव्यक्ति के अनुरूप भाषा की तलाश है जिसके लिए वह लगातार अपने से टकराता रहा है। उससे अनुरूप भाषा की बुनावट पैदा होती रही है। शायद इसीलिए आवरणशीलता और निहायत पच्चीकारी का जो दृष्टिकोण विजयदेवनारायण साही में और गलदश्रु भाषा का जो स्वरूप जगदीश गुप्त में मिलता है, उससे अतुकान्त की भाषा अलग है और यह मुक्तिबोध की तराशी गई भाषा से भी अलग है। पर अलगाव का यह स्तर इस एक कविता-संग्रह में भी भिन्न-भिन्न है। शायद ऐसा होने का कारण इस संग्रह में लक्ष्मीकान्त की लम्बी कविता-यात्रा की कविताओं का गड्ड-मड्ड रूप में संकलित होना है। इस संग्रह में कवि की कुछ आरंभिक नयी कविताएँ हैं जिनके कुछ अंशों पर छायावादी कवियों का प्रभाव देखा जा सकता है—

···वह सब कुछ है जो ऋजु है, पावन है, मंगल है,
शुभ है
किन्तु वह भी है जो रौरव है, गलित, वीभत्स, कुरूप,
अपरूप है
वह भी है जो प्रत्येक क्षण बढ़ता क्षयी है
वह भी है जो चिर ध्वंस में एक मंगल-सूत्र-सा अक्षय है
वह भी है जिसके आभा-मण्डल में असंख्य सौर-मण्डल हैं
वह भी है जिसके अस्तित्व से बँधा धूमकेतु अमंगल है
वह भी है विघटन, विपर्यय, विसर्जन, लांछन, व्यंग्य
अपवाद
वह भी है जो संगठन, सक्षम, सम्बोधन, संचरण,
आल्हाद··· [१०]

भाषा की दृष्टि से यहाँ सुमित्रानंदन पंत की लोकमंगल की कामना का टोन स्पष्ट है। अन्यत्र भी कवि ने छायावादी टोन में ही खुद स्वीकार किया है कि—

···वेदना का लेप दे दो।
मुक्ति है निष्काम! [१६१]

छायावादियों की विराट् अस्तित्व-भावना और लोकमंगल की कामना तथा प्रगतिवादियों के सामाजिक व्यक्तित्व के विपरीत नयी कवितावादियों ने लघु मानव का जीवन-दर्शन गढ़ा। यह सामयिक था। पर इस सारे गढ़ाव से वे खुद घिरते गये। बाद में उनके व्यक्तिवादी केन्द्र ने भी अपना घेरा तोड़ा। उनकी तर्क-पद्धति जब निष्क्रिय हुई तो उनके सामने अपने छोटेपन के एहसास और कमज़ोरियों के दर्शन के अतिरिक्त कुछ भी न था। इसी बोध के परिणामस्वरूप लक्ष्मीकान्त पंत की तरह अध्यात्म के नज़दीक होने की स्थिति में हो जाते हैं। पर जब उन्हें अपने पूरे परिवेश और सामयिक वक्तव्यों का ध्यान आता है तो ये फिर अतीत से वर्तमान में लौट आते हैं और सहज रूप से स्वीकारते हैं कि—

मैं दोनों का साक्षी
दोनों का भोक्ता
दोनों से विलग व्यक्तित्व हूँ
अपनी सहज लघुता के परिवेश में
अपने सौर-मण्डल से प्रदीप्त केन्द्रस्थित, अपरिहार्य,
अनिवार्य···
मेरी अपनी लघुता है रक्षणीय [१०]

लघुता का स्वीकार आज के ईमानदार आदमी की अभिव्यक्ति है। पर कवि जब उस पर गर्व करता हुआ और उसे रक्षणीय मानकर 'गलत-सलत' और 'उलजलूल' वक्तव्य देता है तो यह उसके मथित का अहम् लगता है।

अतुकान्त में कहीं भी भाषा का अनगढ़पन नहीं है। लक्ष्मीकान्त जिसे 'गलत', 'ऊलजलूल' और 'ऊबड़खाबड़ भाषा' कहते हैं वह भी इसमें नहीं है। दरअसल ये शब्द कवि की मानसिक रुकावट के प्रतीक हैं जिनका उपयोग वह जहाँ-तहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सायास या अनायास ढंग से किया करता है। इस संग्रह में नयी कविता से ऊब के बाद इनकी तलाश से सम्बन्धित कविताएँ नहीं हैं। इन कविताओं में नयी कविता की सही और थिराई हुई शब्दावली का प्रयोग हुआ है। कम-से-कम भाषा की सतह पर अधिक कुछ नहीं खोजना पड़ा है। इसीलिए अभिव्यक्ति का स्तर सपाट और चिकना है और आरोपित या महिमामंडित नहीं लगता। इन्हें पढ़ने से ऊब नहीं होती, न कहीं अतिरिक्त दबाव से समझने की कोशिश करनी पड़ती है। पर यह एक अजीब बात है कि कविता के इतिहास में भी कभी-कभी ये पीछे लौट जाते हैं। अतुकान्त में आत्मस्वीकृति की भाषा मिले यह तो अनपेक्षित नहीं, पर गीत भी संवेदना में 'समय : एक कार्निवाल' की बात नयी कविता की भाषा और संवेदना से उन्हें एकदम अलग कर दे तो यह एक चौंकने जैसी बात लगती है—

कार्निवाल के खुले द्वार पर
खाली-खाली पैराम्बुलेटर
दूध की शीशी—खाली बोतल
टूटे-फूटे सड़े खिलौने
प्लास्टिक के ये नन्हें बौने
पड़े हुए हैं शव-से सूने—
कार्निवाल के खुले द्वार पर
सोती आया सोती आया [१२०]

इसके पढ़ने से यह लगता ही नहीं कि ये नवगीतकार से इतर भी हैं। पूरी-की-पूरी यह कविता इसी लयात्मक एकरसता में डूबी हुई है। सारी चीज़ों को एक लगाववादी तरीके से देखा गया है और इसमें तटस्थ अभिव्यक्ति और तटस्थ भाषा की दृष्टि नहीं मिलती।

अतुकान्त के कवि में शिल्पगत आग्रह अतिशयता में नहीं है। यह अच्छा भी है, क्योंकि इससे कथ्य का स्वरूप फीका नहीं पड़ा है और न ही संस्कारगत बिम्बों के माध्यम से उन्होंने कहीं भी आभिजात्यवर्गीय बनने की कोशिश की है। यही कारण है कि अभिव्यक्ति का रूप बहुत-कुछ आरोपित नहीं लगता। अधिकांश बिम्ब जीवन के सीधे बहते धरातल से उठाए गए हैं। इसीलिए वे सहज हैं और भाव और मुद्रा की प्रेषणीयता रखते हैं। उन्हें पढ़ने पर ग्रहणशीलता में कहीं बाधा नहीं पड़ती और कवि-काव्य और काव्य-पाठक के बीच एक सीधा ग्राफ बनता है। लक्ष्मीकान्त बिम्बवादी कवि नहीं हैं। बिम्ब-प्रयोग करना और बिम्बवादी होना दोनों दो बातें हैं। काव्य में प्रयुक्त इनके बिम्बों की यह एक विशेषता है कि उनका कोई बिम्ब अलग से कोई सार्थकता नहीं रखता बल्कि पूरी कविता को सार्थकता प्रदान करने में मदद देता है। लेकिन इस संग्रह में ही जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते गए हैं क्रमशः बिम्ब-विधान में भी उनकी काव्य-भाषा की तरह ढीलापन आता गया है और अन्तिम कुछ खण्डों में तो यह कहीं-कहीं प्रयोजनहीनता की ओर भी चलते नज़र आते हैं। लेकिन इस प्रयोजनहीनता में भी सायास या अनायास नये अर्थ-संदर्भों की सृष्टि हुई है। यही उनके बिम्ब-विधान की सार्थकता है।

किसी समय यह माना जाता था कि सशक्त और विकसित पौराणिक प्रतीक नयी कविता की अपनी विशेषता है। पर यह प्रवृत्ति दिनों-दिन कम होती गई है। अतुकान्त की बहुत कम कविताओं में पौराणिक प्रतीकों का उपयोग किया गया है फिर भी जहाँ है वहाँ काफी उभरा है—

रम्भा के घुंघरू : कालबेल पर दौड़ने वाले चपरासी
इन्द्र के वज्र : काठ की इंचों-खानों वाली पटरी
नारद की वीणा : वेश्या के कोठे पर झंकृत सारंगी
शंकर का नाग : पिटारी में बंद स्थिति की लाचारी
[२१]

और इसके अतिरिक्त—

अर्जुन वह
बदल गया रूप-रंग
अस्तित्व-बोध
सभी-कुछ बदल गया
राशन की दूकान पर द्रौपदी का चीर
कट-छंटकर महज़ चार गज़ अड़तालीस इंच
गाण्डीव का वज्र : केवल हाफ़ पौण्ड
प्रत्यंचा : केवल एक फुट इलैस्टिक
कर्ण-कुण्डल : केमिकल गोल्ड
गीता और न्यूज़ प्रिण्ट
व्यास आज का : केवल क्यूरेटर
गणेश : पटवारी
कृष्ण और कृष्णमाचारी
कुछ समझ मे नहीं आता
ओ व्यास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओ अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र···
कहा हूँ मैं···?
मैं कहाँ हूँ···?
कहाँ हूँ···?
कहाँ हूँ···? [२२]

धर्म और पुराणों के प्रतीक आज के दोहरे पाटों के बीच किस तरह झूठे और निरर्थक हो गए हैं और मानवीय आस्था किस तरह बदली है, यह दर्शनीय है। सारे बड़े सवालों के बीच केवल अपने को खोजने की प्रवृत्ति खुद को पहचानने की शुरुआत है जिसे पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से 'क्यूरियो मार्ट में अर्जुन की तलाश करते कृष्ण,' 'स्टैम्पीड' और 'यज्ञ मैंने भी किए हैं' में पकड़ा गया है। इनमें आज के खुरदरे यथार्थ और मूल्यों के अवमूल्यन होने की स्थिति, नैतिकता, धर्म, विकृति, विसंगति और आस्था के स्खलन की सहज स्वीकृति है।

लक्ष्मीकान्त का कवि संघर्ष का कवि है। जहाँ संघर्ष है, टकराहट है, अस्तित्व का खतरा है, जटिलता है, विपरीत और विरोधी परिस्थितियाँ हैं, वहाँ कवि और भी संवेदनशील है और सारे उलझाव की एक सुलझी अभिव्यक्ति करता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों के 'टेम्पर' की ही तरह लक्ष्मीकान्त की कविताओं का भी 'टेम्पर' है। प्रेमचन्द जहाँ मध्यवर्गीय या निम्न-मध्यवर्गीय चरित्रों की बात करते हैं वहाँ उनमें सजीवता और गहरी पकड़ देखने को मिलती है। पर जहाँ वे विलासितापूर्ण जीवन का स्पर्श करते हैं वहाँ उनकी पकड़ थोड़ी ढीली पड़ जाती है। लक्ष्मीकान्त की कविताओं में तो यह कमी और भी अधिक उभरी है। अतुकान्त की अधिकांश कविताओं में मध्यवर्गीय संघर्ष और संघर्ष का तनाव है और यह तनाव तटस्थता का भोग और भोग की तटस्थता के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पर कवि जहाँ कहीं मध्यवर्गीय जीवन से इतर विलास की शब्दावली का प्रयोग करता है वही असफल हो जाता है। यहाँ इस बात के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। पर तीन ही पर्याप्त होंगे—

मैं बिना बोतल का शराबी [५५]
शराबी की बोतल [१७]
जिंजर बॉटल काली भौं है [१२१]

यहाँ ऊपरी दिखावट और केवल स्पर्श की क्षमता ही प्रकट होती है। उसमें रमने या नशे की खुमारी जैसी कोई बात नहीं मिलती। भोंडापन वहीं है जहाँ कि लीकर की पूरी संवेदना को वह बोतल से स्पष्ट करना चाहता है। यह सतही और अनुभवहीनता की बात लगती है। इस सम्बन्ध में अव्यावहारिकता की एक बात और भी उल्लेखनीय है कि कवि ने अपने उपन्यास 'एक कटा हुआ कागज़, एक कटी हुई ज़िन्दगी' में तो फ्रेंच शराब में भी पानी मिलाकर पीने की बात लिखी है, जबकि उसे यह सब लिखने से बाज़ आना चाहिए था।

कवि 'कुछ गलत यादों के सहारे सार्थक वेदनाएँ' अपने गले से चिपकाये जीने का आदी है। उदाहरणार्थ—

उसे किसी की याद सता नहीं रही थी
पर वह चाहती थी
कोई याद बनकर आये
वह कुछ गुनगुनाये [१७५]

और—

उस दिन शाम उदास नहीं थी
लेकिन वह चाहती थी—शाम उदास लगे। [१७५]

यह एक अजीब बात है कि उदासी की चाह महज़ चेंज के लिए है। उदासी की ऊब और उसकी संवेदना यहाँ फैशन के लिए है। कवि ने उदासी को भी विलास बनाना चाहा है, वहाँ उसकी असफलता अलग से ही दिख जाती है।

इस संग्रह की कविताओं में अंग्रेज़ी शब्दों का (१२, १६, २३, ५१, ११६, १२०, १२१, १३२, १७३, १७७, १८२ आदि) खूब खुलकर इस्तेमाल किया गया है और वे कहीं भी पेबन्द की तरह नहीं लगते। अर्द्धबौद्धिक कवियों में जिस तरह इनका उपयोग होता है उसका यथावत् उपयोग कवि ने किया है। पर कुछ शब्द उनके लिए कमज़ोरी हैं जिनका वे अक्सर प्रयोग करते हैं। 'पैराम्बुलेटर' (११६, १२०, १७३, १८२ आदि) भी उनमें से एक है। लक्ष्मीकान्त के लिए 'पैराम्बुलेटर' एक विशेष आकर्षण है और उसका उपयोग वे बड़ी ही ललक से करते हैं। सम्भवतः 'पैराम्बुलेटर' उनके लिए एक मानसिक रुकावट है। ऐसे ही दो शब्द लघु और 'लघुमानव' भी हैं जिनका उपयोग अतुकान्त में बार-बार किया गया है।

लक्ष्मीकान्त मानते हैं कि साहित्य या कला की कोई भी प्रवृत्ति शाश्वत नहीं होती ('ताज़ी कविता : कुछ जोड़-बाकी' क ख ग अंक ६) पर घूम-फिरकर परम्परागत शाश्वत मूल्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर झुकाव और उन्हीं सारी बातों से तादात्म्य किस बात का संकेत है? उनकी इन कविताओं में विराट् के प्रति अब भी एक मोह बचा हुआ है। (१=४) वे अपनी लघुता का अस्तित्व भी परमाणुवादी सार्थकता ही के साथ जोड़कर देखते हैं। (११) साथ ही मरणोत्तर ख्याति की निरर्थकता में पूरी आस्था से विश्वास करते हैं—

'ओ जनमेजय / मैं उस समय मरकर भी / तुम्हारे आस-पास / जीवित रहूँगा।' [४८]

उनकी सारी आस्थावादिता ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं के आगे नतमस्तक है। कवि खुद मानता है कि आज के सारे अभावों की कुंठा से सुरक्षा के लिए कहीं-न-कहीं समर्पित होना आवश्यक है। वह समर्पित भी है पर उसका समर्पण एकदम निर्जीव है। एक ओर वह अपने आराध्य का भी परिष्कार करता है, उनमें परिष्कृति की चेतना देने का स्वांग करता है और फिर दूसरी ओर सहारे के लिए उनसे खुद के परिष्कार की माँग करता है—'इसीलिए मैं कहता हूँ / संस्कारच्युत, विस्थापित क्षयी रावण से / तुम डरो नहीं / तुम राम हो / मर्यादा के निर्जीव वाहक पुरुषोत्तम नहीं / विश्वास मेरा/मेरी भक्ति है तुम पर / इसलिए डरो नहीं / मेरा परिष्कार करो।' [५०] कवि की पूरी अनुभूतिगत चेतना दो धरातलों पर बँटी हुई हैं। एक में वह परम्परागत विराट् के प्रति नतमस्तक है; दूसरे में वह खुद और उसके आत्मीय क्षण हैं, और वे खुरदरी परिस्थितियाँ हैं जिनके आगे उसे झुकना पड़ता है। वह दोनों को ही अपने जीवन का अभिन्न अंग मानता है। उदाहरणार्थ—

'वह विराट स्वप्न जिसके समक्ष सारा ब्रह्माण्ड केवल तीन / क़दमों में बँध जाता है।'

और

'हाँ यह मैं हूँ / अकेला राहगीरों से अलग / मगर / मेरे साथ भी एक कारवाँ है।' [१४४]

उपर्युक्त दोनों बातों के उदाहरण हैं। यह कारवाँ ही उसे अतीतजीवी होने से रोकता है और उसके इस प्रयत्न को असफल करता है। पर आगे चलकर तो उसके निजी सम्बन्धों की उपयोगिता भी निरर्थक हो गयी है और 'वेस्ट पेपर बास्केट में फेंके हुए उसके प्रेमपत्र' [१६६] भी उसे कोरे कागज़ की तरह लगते हैं। लेकिन फिर भी सारी याददाश्त को तराशने से कतराने का भाव उसे रोमानी वातावरण में डुबोये रखता है, अलग नहीं करता।

पर रोमानी भाव और उससे रिलीफ़ की प्रवृत्ति भी अतुकान्त के कवि में धीरे-धीरे कम हुई है और विसंगतियों को भाषा देने की ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ी है। कविताएँ अगर समाज की विसंगति को इंगित करें एक बात होगी, पर कविताएँ खुद ही विसंगत हों—दूसरी बात। इधर विसंगति की ओर कविता का मोह बढ़ा है और उसकी भाषा में दिनों-दिन कसाव कम होता गया है। वह उसके तराश के प्रति पहले जैसा मोहासक्त नहीं है, और किसी भी मोहभंग की स्थिति एक अच्छी और स्वस्थ बात हुआ करती है।

लक्ष्मीकान्त की इन कविताओं में 'अतिकथन' या अल्पकथन नहीं मिलता। यों तो अतुकान्त में १६१ पृष्ठ तक नयी कविता की पारम्परिक शब्दावली में अधिकांशतः घिसी-पिटी शब्दावली की नितान्त एकरसता में डूबी हुई कविताएँ हैं। पर 'कुछ ग़लत कविताएँ' खण्ड से संग्रह को एकरसता की रोशनी से मुक्ति मिली है; और इस मुक्ति के बाद ही वह समाज के सारे बिखराव, विसंगति, असफलता और निरर्थकता को सपाट भाषा देने में समर्थ होता है। यह अभिव्यक्ति समाज के उस चेहरे को दिखाती है जिस पर एक आवरण था। लक्ष्मीकान्त ने सब-कुछ निरावरण देखा है और उसे इन कविताओं में भाषा दी है। यहीं ये विसंगत (एब्सर्ड) कवि होते-होते रह गये हैं और विसंगति (एब्सर्डिटी) के कवि के रूप में अपनी भाषा स्थापित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदतन लिखते रहने की नियति

विष्णु खरे

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संग्रह[1] में ब्लर्ब पर चूँकि उन्हें शिल्पकुशल कवि सिद्ध किया जा चुका है अतएव उनके शिल्प से ही प्रारंभ करना अनुचित न होगा, हालाँकि यह मुझे मालूम नहीं है कि किसी कवि के शिल्प पर बात करते समय उसके कथ्य से कैसे बचा जा सकता है। राहत की बात है कि इन कविताओं में शिल्पवैविध्य इतना नहीं है कि पूरे संग्रह को छानना पड़े—प्रथम कुछ कविताओं से ही ज़रूरी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, पहली कविता 'दो पाटों की दुनिया' की पहली तीन पंक्तियों में दो शब्द 'चारों तरफ़' तीन बार आते हैं, फिर हर चरण की अन्तिम दो पंक्तियों में 'हम क्या करें' तथा '···के क्रम से कैसे छुटें' का उपयोग हुआ है। इसी तरह दूसरी रचना 'सत्य का अपराध : एक स्वप्न' में, जो चार चरणों में विभक्त है, प्रत्येक चरण के पहले 'मैंने देखा' तथा अंत में 'वह···मेरा है' शब्द आए हैं। 'बौनों की दुनिया' में उनके शिल्प का दूसरा रूप प्राप्त होता है—'हम सब बौने हैं' कहने के पश्चात् उन्हें इस रहस्यमय वक्तव्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है और वे 'अमुक से, अमुक से भी' तिहराते हैं और फिर दसवीं पंक्ति के पश्चात् एक लम्बी फ़ेहरिस्त शुरू होती है जिसमें इसकी गिनती की गई है कि यदि हम बौने न होते तो किसे क्या न मिलता। 'इतिहास का सिंहासन' में प्रथम दो कविताओं का फार्मूला दृष्टिगोचर होता है—कविता चार चरणों में विभक्त है और प्रत्येक चरण की अन्तिम पंक्ति का गठन इस तरह है—विशेषण + 'दर्शक' + क्रियापद। 'इतिहास : एक बच्चा' में यह गणित फिर मौजूद है—प्रत्येक चरण की व्याख्यात्मक पंक्ति 'इतिहास अमुक है' की टेक है। इससे पहले कि यह कहा जाय कि मैंने संग्रह की प्रारंभिक कविताएँ ही देखी हैं, अन्तिम कविताओं में से 'साक्षात्कार', 'अ-नया वर्ष', 'अवस्तु करुणा' तथा 'सार्थकता' की चर्चा भी की जा सकती है। 'साक्षात्कार' में प्रत्येक चरण की अन्तिम पंक्ति "अमुक ने पर अमुक किया नहीं" है, 'अ-नया वर्ष' में टेक 'इसके पहले' है, 'अवस्तु करुणा' में यह 'जब मेरी / मेरे अमुक में' है और 'सार्थकता' में यही 'अमुक हो गई अमुक' है। विस्तार-भय से अन्य उदाहरण देना संभव नहीं है।

स्पष्ट है कि माथुर ने अपने इस 'शिल्प' को एक आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया है वरना वह इतने दफ़ा उसका उपयोग न करते। किन्तु आदर्श को लत बनते देर नहीं लगती और कविता में आदत का अर्थ है एक सुविधाजनक मैनरिज़्म का शिकार हो जाना। परिणामतः माथुर अपनी इस तरह की कविताओं में एक साँचाबद्ध कवि बनकर रह गए हैं। इन कविताओं का एक चरण पढ़कर ही मुक्त हुआ जा सकता है क्योंकि वही मूवमेन्ट अगले प्रत्येक चरण में अपनी समस्त दुर्भाग्यपूर्ण एकरसता के साथ आपका रास्ता देख रहा है। कवि साँचे तभी तैयार करता है जबकि उसमें बैठा हुआ स्रष्टा अपनी ऊर्जा खो बैठा हो और केवल आदतन लिखते रहना उसकी नियति बन गई हो या लेखन उसके लिए 'अस्तित्व का संकट' का प्रश्न बन गया हो। हिन्दी के वरिष्ठ लेखकों के लिए 'सृजनरत' रहना कलात्मक आवश्यकता नहीं होती, अधेड़ अभिनेत्री द्वारा बार-बार 'कमबैक' की त्रासद कोशिश होती है। इस प्रयत्न में कोई अध्यात्मवाद—रूमानी-रहस्यवाद-गांधीवाद और यहाँ तक कि अस्तित्ववाद भी ओढ़ लेता है, कोई सीधा गाली-गलौज पर उतर आता है और कोई कविताओं से उत्तजना प्राप्त करने के लिए 'रिजुविनेशन' के आयोजन करता है।

माथुर की प्रिय 'डिवाइस' एक ही विचार को बदले हुए शब्दों में दुहराने-तिहराने की है और जबकि वे यह समझते होंगे कि इससे कविता में 'वैविध्य' तथा 'वैराट्य' आ रहे हैं, सचाई यह होती है कि प्रत्येक दूसरे शब्द के बाद कविता अनावश्यक रूप से लम्बी और सतही होती चली जाती है। 'समझाने' की यह कोशिश कवि की आत्मरति अथवा अहम्मन्यता का दूसरा स्वरूप है। वह यह समझता है कि उसे शब्दों का जादू आता है और वह सर पर चढ़कर बोलेगा, किन्तु शब्दों के 'रोप-ट्रिक' की रस्सी एक सीमा तक ऊँची पहुँचती है और उसके बाद द्रुत गति से नीचे आकर गले में लिपटने लगती है और भाषा तथा अर्थ में संभावित इन्द्रजाल की परिणति हास्यास्पद अवमूल्यन में होती है। माथुर की कविताओं में तरह-तरह के शब्द भरे पड़े हैं और उनकी मुद्रा कभी बहुत आक्रामक तथा कभी बहुत मृदु प्रतीत होती है, किन्तु यह

१. जो बँध नहीं सका : गिरिजाकुमार माथुर, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य ३ रुपये, पृष्ठ १०२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीति शाब्दिकता के अलावा कुछ भी नहीं है। सम्भव है कि माथुर की कविता में पाठक को रोष, व्यंग्य आदि दीख पड़े किन्तु वह रोष और वह व्यंग्य एक भाषणबाज़ का है, सकारण टूटते हुए व्यक्ति का नहीं—

पुस्तकालय 029564 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

"राहें सभी अंधी हैं
ज़्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या ग़ाफ़िल हैं
खलनायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े से ईमानदार हैं
लगते सिर्फ़ मुजरिम हैं"

इन पंक्तियों में एक आत्मतुष्ट पवित्रता का स्वर यदि पहचाना नहीं जा रहा है तो शायद इसलिए कि भाषा वक्तव्य-बाज़ी तक पहुँच चुकी है जिसका रज़ामन्द शिकार प्रत्येक मध्यमवर्गीय बन चुका है जो चहुँमुखी गालियाँ देने के पश्चात् पुनः सुबह वहीं दुम हिलाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह एक किस्म की घटाटोपी भाषा है जिसका इस्तेमाल कमज़ोरी ढँके रखने की धोखादेही के लिए हुआ है और दूसरी ओर एक दूसरे तरह का लिंग्वादलमोतवादीवत् घटाटोप है :

"सघन भी, मुलायम भी
अस्खलित, अनिर्वच
गोल-गोल-गोल क्षणों में वलय
गंधपार अन्वितियों में उठती
एक स्निग्ध, सिल्कन लय
बीज धारण को मुड़ते चरणों से पूर्व की
मन्द उदित मुग्धता
आसन्न अमरता में बन्द होता
दूरी से लौटा हुआ एक लाल उत्तर"

सम्भव है इन पंक्तियों का कोई 'अर्थ' हो, किन्तु शब्दों और बिम्बों का जो गोल-गोल गोलमाल इनमें हुआ है वह उसका 'आनन्द' उठाने की फुर्सत भी देगा? स्पष्ट है कि माथुर को अभी भी अपनी काव्यभाषा का सन्तुलन प्राप्त करने की सख्त ज़रूरत है।

संग्रह किन्हीं अज्ञात कारणोंवश तीन खंडों में विभक्त है—शायद 'विविधता' का तक़ाज़ा रहा हो—और बीच का खंड, जिसका शीर्षक 'काल दृष्टि' है, अपने विषय में कहता है : "काल की चतुर्थ विभा के रहस्यमय बिम्बों में प्रवेश करनेवाली कुछ रचनाएँ, जिनमें देश काल-संहति की स्पर्श-पार सूक्ष्मानुभूतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, कलात्मक अभिव्यक्ति की एक सर्वथा अछूती दिशा तथा प्रेरणाभूमि इन रचनाओं द्वारा साहित्य में प्रथम बार उद्घाटित हुई हैं।" सड़कों पर अभी भी ऐसे मदारी दीख जाते हैं जो पहले कपड़े के एक टुकड़े का साँप बनाते हैं और उसके फन में एक बीड़ी फँसाकर ऐलान करते हैं कि वे उस कपड़े के साँप से बीड़ी पिलवाएँगे। कहना न होगा कि तमाशा पूरा हो जाता है, शीशियाँ बिक जाती हैं और वह साँप बीड़ी नहीं पीता। 'काल दृष्टि' की कविताओं को एकाधिक बार पढ़ चुकने के बाद मुझे ऐसा कहीं नहीं लगा कि कोई 'सर्वथा अछूती दिशा' उनके द्वारा 'साहित्य में पहली बार उद्घाटित' हुई हो। विश्व साहित्य में 'ए कनैक्टिकट यैंकी इन किंग आर्थर्स कोर्ट' तथा 'द टाइम मैशीन' से लेकर साइंस-फिक्शन कॉमिक्स तक तथा 'कैन्टोज़' में पाउंड से लेकर 'फ़ोर क्वार्टेट्स' में इलियट तक 'काल' पर बहुत-कुछ बहुत पहले लिखा जा चुका है। हाँ, यदि 'साहित्य' का अर्थ माथुर के यहाँ 'केवल उनका साहित्य' होता हो तो बात अलग है। जो भी हो, इस खंड की पहली कविता 'समानान्तर-सत्य' : "निर्जन दूरियों के / ठोस दर्पणों में / चलते हुए / सहसा मेरी एक देह / तीन देह हो गयी / उगकर एक बिन्दु पर / तीन अजनबी साथ चलने लगे / अलग दिशाओं में / और यह न ज्ञात हुआ / इनमें कौन मेरा है" में न तो 'देशकाल-संहति' पार की गई है, न यह एक सर्वथा 'अछूती दिशा' है और न ही यह 'प्रथम बार उद्घाटित' हुई है। खंडित व्यक्तित्व पर श्रीकान्त वर्मा की कविता 'दूसरे का डर' कहीं ज्यादा अनुभव के समीप है और तात्कालिक है।

"छायावाद में न केवल शब्द, चित्रभाव, बिम्बभाव और काल्पनिक उद्भावनाओं की एक रीतिकालीन रूढ़ि स्थापित हुई, अपितु शब्द-नाद भी रीतिकालीन कवियों की भाँति अनुप्रासात्मक रहा। कलकल-टलमल, सरसर-मर्मर, पुलकन-सिहरन, खगकुल-कुलकुल अथवा लहर-छहर, अरुण-तरुण या दल-बादल आदि एक नहीं सैंकड़ों उदाहरण इसी ओर संकेत करते हैं।" और यह दुःखद आश्चर्य की बात नहीं तो और क्या है कि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जो इस ओर संकेत करते हैं कि माथुर के इस संग्रह के अन्तिम खण्ड की अधिकांश

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविताएँ नव्य-छायावादी हैं। हिन्दी के जिन कवियों में अभी-भी छायावादी संस्कार कसमस कर रहे हैं वे इस भ्रांति में गिरफ्तार हैं कि महज़ लिरिक शब्द तथा बिम्ब प्रयोग से लिरिक कविता बन जाती है—पिछली शताब्दी में स्विनबर्न भी इसका शिकार हुआ था। 'वसंत की पहली शाम' की अन्तिम पंक्तियाँ : "फूले हुए नीबू रातरानी की महक का / महीन मन्द / बहुत दूर बजता / मुलायम झनक आर्केस्ट्रा / उँगलियाँ तुम्हारी हैं" विश्लेष्य हैं। 'महक' का आर्केस्ट्रा 'बज' रहा है। अब चूँकि दुर्भाग्यवश ऑर्केस्ट्रा वास्तविक जीवन में 'सुना' जा सकता है 'सूँघा' नहीं—किन्तु माथुर का आग्रह है कि उसे 'सूँघा' जाए—इसलिए कविता में जो पंक्ति अन-लिखी है वह 'नाक' को 'कान' की उपमा देने से ताल्लुक रखती है। बात यहाँ समाप्त हो जाती तो भी ठीक था किन्तु अन्तिम पंक्ति 'अँगुलियाँ तुम्हारी हैं' हमारे सँभलते हुए मासूम आश्चर्य को भौंचक्केपन में बदल देती हैं। माथुर हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि नीबू रातरानी की महक का जो सुदूर आर्केस्ट्रा है वह 'तुम्हारी उँगलियों' से छेड़ा जा रहा है। मैं जानता हूँ कि आज के कवि की सफलता का एक माप-दंड उसका कम समझ में आना भी है किन्तु पाँच छोटी पंक्तियों में इतना कन्फ़्यूज़न पैदा करना माथुर की उप-लब्धि है।

इस अनुभव के बाद 'रूप-विभ्रमा चाँदनी' की प्रथम दो पंक्तियाँ ही हमें सचेत कर देती हैं। छरहरी चाँदनी समझ में आ भी जाए, किन्तु उसका स्लीवलेस ब्लाउज़ क्या हो सकता है? फिर यह चाँदनी 'मुँह' में मन्द-मन्द 'इलायची चबाती' है, 'सेक्स रचे' (?) नखरे से अठखेलियाँ करती है, तत्पश्चात् 'हाथों को झुलाती' हुई, 'रुकती', 'मुस्काती', 'नीचे कुछ देख फिर तिरछी नज़रों में पुतलियाँ उठाती है', चाँदनी के यह सब कर लेने के बाद बरबस कवि को स्मरण हो आता है—'तुम्हारी' भी तो आदत कभी चाँदनी-सी थी। इस प्यारी-प्यारी कविता में गड़बड़ क्या है? पहले तो चाँदनी का 'मानवीयकरण' या 'मानवीकरण' किया गया—उस पर तमाम अभिसार-गुण लादे गये और शरीरीकृत किया गया—तदु-परान्त इस मानवीकृत अपार्थिवता से ठोस, जीवित, वास्त-विकता का मुकाबला किया गया। बात कुछ इस तरह की है कि पहले प्रेतों में आदमियों के गुण स्थापित कर दिए जाएं और फिर आदमी से भेंट होने पर कहा जाए—अरे, पहले तो तुम प्रेत सरीखे हुआ करते थे!

स्पष्ट है कि गिरिजाकुमार एक बिम्बप्रिय कवि हैं किन्तु यदि कवि में बिम्ब-नियोजन की शक्ति न हो तो 'कोणार्क पर तीसरा पहर' सरीखी कविता प्राप्त होती है। पहली दो पंक्तियाँ कुछ आकृष्ट करती हैं (माथुर को कविता प्रारम्भ करना अवश्य आता है, यह बात और है कि पहले मोड़ के पहले ही स्टियरिंग व्हील हाथों से निकल जाता है)—"यह मंदिर/एक पथरीला पेड़ है"—किन्तु प्रत्येक अगली पंक्ति के साथ बिम्ब अविश्वसनीय होने लगता है और 'एक और गढ़ी हुई शिला दूर तक उड़ जाती है' तक पहुँचते-पहुँचते अपनी श्रम-सिद्धता में असह्य हो जाता है। गिरिजाकुमार की कविता की तमाम बाज़ीगरी 'शिलाओं' को 'टूटे पत्ते सरीखे उड़ाने' में सफल नहीं हो सकती और फिर पुनः इसी बिम्ब को दुहराने का भला और क्या अर्थ हो सकता है—"एक विशाल पत्थर तरु/और सहसा छूटकर उड़ते दूर तक/पत्थर के पत्ते/चारों ओर"—कि कवि को वह अपनी समस्त दुर्भाग्य-पूर्णता में प्रिय है और वह उसे पाठक को 'सेल' करना चाहता है।

'गंध लेने लगी आकार' फिर एक बिम्बहत रचना है। अपने शब्द-चयन, गठन, शैली आदि में यह स्व० माखनलाल चतुर्वेदी की दुरूहतर कविताओं का स्मरण दिलाती है। शब्दों की लक़दक़ में जब अर्थ खो जाता है तो मतलब यही होता है कि कवि अपने कथ्य-दारिद्रय को मध्ययुगीन जिरह-बख्तर पहना रहा है। 'गंध लेने लगी आकार' एक प्रकृति-चित्र से अधिक कुछ भी नहीं है, किन्तु उसे ऐसी छायावादी भाषा, बिम्ब-जाल और रूमानियत दिये गए हैं कि संप्रेषणीयता पलायन कर गई है और 'कुहू', 'दिपनार', 'ज़री', 'रोमशर', 'किशमिशी अंशुकों', 'चम्पई चीकनी', 'सँवला गए', 'छूमुई', तथा 'गुँथीली गुराई' के लिजलिजे दलदल में अर्थ का हाथी हौदे तक धँस चुका है।

गिरिजाकुमार तथा उनके हमउम्र कवि के सामने उनकी वरिष्ठता एक विचित्र समस्या उपस्थित करती है। वे इकट्ठे तीन चीज़ें होना चाहते हैं—अग्रणी, समसामयिक तथा जैसे वे वास्तव में हैं (अन्तिम उनकी लाचारी है)। अग्रणी होने की आकांक्षा उन्हें इस या उस आन्दोलन का संरक्षक बनने तथा उसके अनुरूप कविता छपाने, लम्बे-चौड़े मैनिफ़ेस्टो, स्पष्टीकरण तथा 'भूल-सुधार' शाया करने तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास-पुरुष (इतिहास-थीम पर कविताओं की बाढ़ आना आकस्मिक नहीं है) कहलाने को बाध्य करती है; सम-सामयिक होने की ललक उनसे अपनी रजतवर्ण कविताओं में आधुनिकता का खिज़ाब लगवाती है—उनके पास न आज को महसूस करने की शक्ति है और न ही उसको अभिव्यक्त करनेवाले बलिष्ठ शब्द; जबकि जैसे वे हैं वैसा होने की उनकी नियति उनसे इस तरह की कविताएँ लिखवाती है जो विवेन्द्र-रसेन्द्र आचार्यद्वयी को भले ही रुचती हो आज की स्थितियों से उतनी ही दूर है जितना आकाशवाणी से आकाश। अपनी करुण स्थिति को यह न पहचानते हों, इतने 'नाइव ये नहीं हैं, किन्तु रचनाओं की संख्या और ग्रन्थों के वजन से ही हिन्दी-साहित्य में दाखिल हो सकने की परम्परा में इनका विश्वास निराधार नहीं है। इन्हें यह बतलाने से भी कोई लाभ नहीं होगा कि १९४३ में, 'फोर क्वार्टेट्स' के प्रकाशन के बाद १९६५ में मृत्यु तक इलियट का 'इधर आपने क्या नया लिखा है' वाला कोई संग्रह न आने के बावजूद भी उसे लोग विश्वकवि मानते रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आलोचना" के पुराने अंकों में से अब केवल निम्न अंक ही उपलब्ध हैं

वर्ष	महीना	अंक	मूल्य	पृष्ठ संख्या	विशेषांक
१९५३	अप्रैल	७	३.००	१३४	
"	जुलाई	८	३.००	१४६	
१९५४	जनवरी	१०	३.००	१३६	
"	अप्रैल	११	३.००	१३२	
"	जुलाई	१२	३.००	१३०	
१९५५	जनवरी	१४	३.००	१३२	
"	अप्रैल	१५	३.००	१३२	
१९५६	जनवरी	१७	३.००	१४६	
"	अप्रैल	१८	३.००	१३८	
"	अक्तूबर	२०	३.००	१२१	
१९५७	जनवरी	२१	४.००	१२८	
"	अप्रैल	२२	४.००	१२०	
"	जुलाई	२३	४.००	१३६	
"	अक्तूबर	२४	४.००	१२४	
१९५९	अप्रैल	२६	४.००	१८०	काव्यालोचनांक शेषांक
१९६३	अक्तूबर	२८	३.००	१४४	
१९६४	जुलाई	३१	३.००	२१०	
१९६४	अक्तूबर	३२	३.००	१४८	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य विशेषांक भाग १, २, ३, ४, ५
१९६५	जून	३३	६.००	२५२	
१९६६	जनवरी	३५	४.००	१८४	
"	अप्रैल	३६	४.००	२२०	
"	दिसम्बर	३७	४.००	१७०	
१९६७	जुलाई	३९	५.००	१५८	आचार्य ह० प्र० द्विवेदी की षष्ठीपूर्ति पर विशेषांक
१९६८	जुलाई	४३	३.००	१२४	
"	दिसम्बर	४४	३.००	१०९	
१९६९	जनवरी	४५	३.००	१४४	

079564

राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आगामी अंक में

- लेनिन : एक साहित्यिक सिद्धांतकार के रूप में—स्तेफान मोरावस्की
- मार्क्सवाद और समकालीन बूर्ज्वा विचारधाराएँ—सुरेन्द्र चौधरी
- चिति की लीला में प्रतीक के प्रकार्य—रमेश कुंतलमेघ
- भारतीय काव्य शास्त्र की नयी व्याख्या ?—राममूर्ति त्रिपाठी
- कविकर्म : सौन्दर्य का उत्स—विजेन्द्रनारायण सिंह
- स्वच्छंदतावादी समीक्षक नंददुलारे वाजपेयी—विष्णुकांत शास्त्री
- निराला का 'कुकुरमुत्ता' : पुनर्मूल्यांकन—नेमिचन्द्र जैन
- परिवेश : संस्कार और संवेदना (कहानी के संदर्भ में)—रमेशचन्द्र शाह
- विष्णुचन्द्र शर्मा, श्रीराम वर्मा, नीलाभ और विष्णु खरे की कविताएँ।
- 'नौ साल छोटी पत्नी' (रवीन्द्र कालिया), 'रिश्ता तथा अन्य कहानियाँ' (गिरिराज किशोर), 'अंधेरे की आँखें' (श्रवणकुमार) आदि नये कहानी-संग्रहों की समीक्षा
- 'नयी कविता : स्वरूप और सम्भावना' (जगदीश गुप्त), हिन्दी उपन्यास कोश (गोपाल राय) आदि आलोचना पुस्तकों की समीक्षा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
की
एक नई महत्त्वपूर्ण कृति

ललित्य तत्व

- *लालित्य तत्व*
- *वाक् तत्व और*
- *सृजन शक्ति एवं सृजन प्रक्रिया*

पर सर्वथा मौलिक चिन्तन

आचार्य द्विवेदी का कथन है कि **सौन्दर्य शास्त्र** के लिए भारतीय चिन्तन के अनुरूप लालित्य तत्व अधिक सार्थक शब्द है। लालित्य तत्व में आचार्य द्विवेदी ने साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला में निहित सिद्धान्तों की भी मौलिक व्याख्या की है।

रेखाकृतियों और चित्रों से सुसज्जित

शीघ्र प्रकाश्य

राजकमल

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

दिल्ली-६ • पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2008

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri